॥ श्रीः ॥

श्रीमन्मानसनामवंदना.

तत्त्वार्थसुमिरनीटीकासहिता।

श्रीअयोध्या-गोलाघाटनिवासी महात्मा श्रीराम-
वल्लभाशरणजीके कृपापात्र श्रीकान्तशरणकृत
श्रीतुलसीदासजीके नामवन्दनारूप
रामनामार्थपर नामाराधनरीतिकी
अखिल साधनसम्पन्न व्याख्या.

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
मालिक "लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस,
कल्याण-मुंबई.

संवत १९८५, शके १८५०.

यह पुस्तक गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासने कल्याण, निज-" लक्ष्मीवेंकटेश्वर "
स्टीम् प्रेसमें छापकर प्रकाशित की.

विज्ञापन ।

विदित हो कि यह ग्रंथ श्रीरामनामपरत्व प्रकाशक है । इसमें श्रीमद्गोस्वामी **तुलसीदासजीकृत** मानसरामायणकी नामवंदनाके नव दोहोंपर टीका हुई है, इसीसे मूल ग्रन्थका नाम " **श्रीमन्मानसनामवन्दना** ". है. इसकी भूमिकामें प्रथम ग्रन्थकारके स्वरूपपर विचार करके उन्हें वेदवक्ता ब्रह्माजीके अवतार श्रीमद्वाल्मीकिजीका अवतार होना सप्रमाण सिद्ध किया गया है और स्वकीय सब ग्रन्थोंके आधारपर इनकी श्रीरामनाम इष्टता दिखाई गई है, पुनः मूलके प्रथम दोहेको इस नामवन्दनाका आधार दिखाकर पहिली चौपाईमें रामनामसे राममन्त्रोद्धार तथा जीव और ईश्वरके नवसंबंध दिखाये गये हैं फिर उनका प्रयोजन जिस लिये होता है वे नव आवरण भी जीव और ईश्वरके निरूपण किये गये हैं और उन्हीं नवों सम्बंधोंके साधनरूपमें नवों दोहोंका अर्थ लक्ष्य, भावार्थ तथा अनुसन्धानार्थरूपसे पृथक् पृथक् किया गया है, तथा प्रत्येक दोहोंके ' **अखिलप्रकरण** ' (तात्पर्यार्थ) में नामान्तर्गत ज्ञान, भक्तिआदि सभी प्रसिद्ध साधन सर्वाङ्ग सहित पृथक् २ टिप्पणियोंमें लिखे गये हैं, जिनसे " **नाम आधीन साधन अनेकम्** " (वि० ४७)का चरितार्थ हुआ है । इसके प्रथमके पाँचवें दोहेतकमें आत्माकी ध्याननिष्ठा तकके जो २ कार्य नामद्वारा हुए हैं उनके गुण रूपके लक्ष्यसे आगेके चार दोहोंमें दिखाये गये हैं. और उन्हींसे जीवके सूक्ष्मविषयानुरागकी निवृत्ति भी हुई है । पुनः अंतमें जापककी अर्चिरादिमार्गसे नित्यधामप्राप्ति तथा अर्थपञ्चक भी नामांतर्गत दिखाया गया है, इसकी टीकाका एक चित्र भी सुमिरनीके रूपकमें ग्रन्थके साथ हैं, इसीसे इस टीकाका नाम " **तत्त्वार्थसुमिरनी** " है ।

इसमें दोहोंके अङ्क श्रीअवधकी शुद्ध मानस प्रतियोंके अनुसार हैं इसके प्रमाणाधार ग्रन्थ और सब ख्यात हैं तिनमें रहस्यत्रय तथा बृहद्रहस्यत्रय श्रीअग्रस्वामिकृत और जिज्ञासापंचक तथा बृहज्जिज्ञासापंचक श्रीजनकराजकिशोरीशरण (रसिकअली) कृत हैं श्रीअयोध्या मिथिला आदिमें प्रसिद्ध हैं और सूचीपत्रके साथ सांकेतिक अक्षरोंकी सूची तथा शुद्धाशुद्धिपत्र भी है उसे प्रथम पढकर विषय समझनेमें सुलभता होगी और इस टीकामें जो कहीं २ आध्यात्मिकप्रसङ्ग लक्ष्यरूपमें हैं वे ग्रन्थकारकेही सम्मतसे हैं, क्योंकि आपने स्पष्टरूपमें रावणके लक्ष्यमें मोहका नाश और ताडका मारीच तथा सुबाहुके लक्ष्यपर दुराशा, दोष तथा दुःखकानाश क्रमशः कहा है और यही विषय विनय पत्रिकाके ५९ वें पद (**देहि अवलंब करकमल०**) में विस्तारसे है, तथा औरभी बहुत ग्रन्थोंमें है, इसका तात्पर्य इस टीकाके ही आद्योपांत मननसे स्पष्ट हो जायगा ।

इस टीकाके होनेमें प्रधान रूपसे प्रेरक नाम ही हैं, क्योंकि मेरी विद्या बुद्धिकी अल्पताकी साक्षी तो यह लेख ही है । इससे नामके गूढ विषयोंका समझना पत्थरपर

कमल उगनेकी तरह असम्भव था, पर नामहीकी कृपासे प्रथम सामान्य सत्सङ्गसे नामकी किञ्चित् प्रतीति हुई तो मैं आलस प्रमाद सहित 'सीताराम' नाम लेने लगा तब कुछ नामार्थमें भी रुचि हुई तो नाम कामतरुकी कृपासे कुछ २ समझ पडा । यथा—
"तुम्हरिहिं कृपा तुम्हहिं रघुनंदन । जानहिं भगत भगत उर चन्दन ॥"
(अ० दो० १२६) तब सत्संगमें स्थानीय संत श्रीविदेहजाशरणजी तथा श्रीमिथिला-विहारीशरणजी प्रभृति सुहृद्गणोंने कहा कि, जैसे यह अर्थ सुमिरनीके रूपकमें है, इसका एक चित्र भी बनाओ. जब मैंने अर्थके विषयोंका एक साधारण चित्र बनाकर दिखाया तो सबकी टीका लिखनेकी भी प्रेरणा होने लगी इसपर जब श्रीरामाज्ञा ग्रन्थसे सकुन विचार कर देखा तो मुझमें अत्यन्त अयोग्यता देख पडी इससे वह रुचि उपराम हुई । फिर संयोगतः स्थानीय पुजारी गुरुभ्रातृवर श्रीरामहरखशरणजीने वह चित्र देखा और अनन्त श्रीगुरुमहाराजजीको भी दिखाया, तब श्रीगुरुमहाराजजीने मेरी उपरोक्त असमर्थतापर ध्यान न देकर यही कहा कि, यथाशक्ति लिखो, सब पूरा होगा । इस आज्ञा बलपर जब फिर विचारा तो 'श्रीरामाज्ञा' से यही दोहा मिला । यथा—"**सुरुष जानकी जानि कपि, कहे सकल संकेत । दीन्हि मुद्रिका लीन्हि सिय, प्रीति प्रतीति समेत ॥**" (सर्ग ५ सप्तक ३ दो० १) तब हर्ष सहित इसी आधारपर लिखना प्रारंभ किया और छः महीनोंमें टिप्पणियोंकी तरहपर हुआ । पुनः तीन महीनेमें उसे टीकाकी रीतिसे लिखा तब यहाँके सुप्रसिद्ध महात्मा पंडितवर श्रीरामवल्लभाशरणजी (श्रीजानकी-घाट) को सुनाया; आपने अनुग्रह पूर्वक सुना और जहाँ तहाँके विषयों तथा अशुद्ध शब्दोंके सुधारकी भी कृपा की पुनः इसके छपानेकी भी अनुमति दिया अब भी इसमें बहुतही त्रुटियां होंगी वह सब मेरी मंदबुद्धिके निमित्त होनेके विकार हैं, परंतु सज्जन तो मधुकरसम गुणग्राही होते हैं इसी बलपर मैं प्रार्थना करता हूँ, कि इस ग्रंथरूप केतकी वृक्षके नामगुणरूप पुष्पोंपरही दृष्टि रक्खें. जिससे नामानुरागमें मेरे समूहदोषरूप कंटकोंका चुभना जान ही न पडे यदि विशेष हानिकारक भूल देखें तो मुझे सूचित करें कि जिससे पुनर्मुद्रणमें ठीक कर दिया जाय यह वात्सल्य प्रदान करके मुझे कृतकृत्य करें ॥

पुनः जगदुपकारकारक सेठ **रगंनाथ, श्रीनिवासजीको** अनेकानेक धन्यवाद हैं कि जिन्होंने इसे निजव्ययसे छापकर नामानुरागियोंका परमहित किया है अतः इसका पुनर्मुद्रणाधिकार उक्त महानुभावको ही समर्पण है कि ऐसेही सदा प्रकाश करते रहें ।

विनीत—
श्रीकान्तशरण.
श्रीसद्गुरुसदन गोलाघाट—श्रीअयोध्याजी, जिला—फैजाबाद.
तथा—श्रीजानकीकुंड श्रीचित्रकूट, जिला बांदा.

भूमिका।
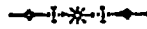
कविवृन्ददिवाकर 'श्रीमद्गोगोस्वामी तुलसीदासजी' के ग्रंथोंके अवलोकनसे ही जाना जाता है कि, आप एक अलौकिकपुरुष ही नहीं, किंतु साक्षात् आदिकवि ब्रह्मर्षि श्रीमद्वाल्मीकिजीके अवतार थे। जैसे कि ब्रह्मसंहितामें लिखा है कि, एक दिन महर्षि (श्रीवाल्मीकि) जी श्रीरामजीके दर्शनार्थ श्रीसाकेतलोक पधारे वहाँ भी द्वारपर आपने श्रीरामजीको राजकुमार कहा यह वचन श्रीलक्ष्मणजीको अप्रिय लगा और शाप दिया कि, आप नरशरीर धरकर राजकुमार श्रीरामजीका पुनः ऐश्वर्यमिश्रित यश गान करें तो वे ही श्रीमद्गोस्वामीजी हुए। इसका प्रमाण श्रीवसिष्टसंहितामें भी है। यथा—"**वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि भविष्यति। रामचन्द्रकथां साध्वीं भाषारूपं करिष्यति॥**" (यह श्रीवसिष्ठवचन है) तथा श्रीनाभाजीने भी लिखा है यथा (छप्पय) "**कलि कुटिलजीव निस्तारहित, वाल्मीकि तुलसी भयो।**" (१२९) वे श्रीब्रह्माजीके अवतार हैं यथा स्कांदे शिववाक्यं पार्वतीं प्रति—"**वाल्मीकिरभवद्ब्रह्मा वाणी वक्तृत्वरूपिणी। चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः॥**" तथा मात्स्ये चोक्तं—"**ब्रह्मणा निर्मितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्। वाल्मीकिना च यत्प्रोक्तं श्रीरामोपाख्यानमुत्तमम्**" इसीसे जो वेद प्रथम चतुरानन ब्रह्माजीके मुखसे प्रकट हुआ वही रामायणरूपसे उन्हींके द्वितीयविग्रह श्रीवाल्मीकिद्वारा प्रकटा। यथा—"**वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना॥**" (वाल्मी० मूल रा० माहात्म्य) पुनः वे ही श्रीगोस्वामीजी हुए तो रामायणभी मानसरूपसे इन्हींसे प्रकटी, इसीसे लिखे हैं कि—"**नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।**" (मं० श्लो०) तथा इनके और वचनोंसे भी पाया जाता है। यथा—"**जनम जनम जानकीनाथके गुनगन तुलसिदास गाए।**" (गी० लं०) यहाँ स्पष्ट हुआ कि, आपनेही इसको पूर्व भी गान किया है। तथा—"**मेरे जान जवतें हौं जीव ह्वै जनम्यों जग तव ते वेसाह्यों दाम लोह कोह काम को।**" (क० उ० ७०) इस वाक्यसे भी जान पडता है कि, आप पहिले ब्रह्मारूपसे ईश्वरकोटिमें थे तब श्रीवाल्मीकिरूपसे जीवकोटिमें हुए क्योंकि वहाँ भी प्रथम क्रोध, कामके वश थे और सवके आदिआचार्य होनेसे ही इनके ग्रंथोंमें सवके सिद्धान्त पाये जाते हैं। पुनः आपने कर्म, ज्ञान, उपासना और प्रपत्तिका जगह २ यथार्थस्वरूप निरूपण किया है क्योंकि, इन्हींसे जीवोंका अभीष्ट सिद्ध होना वेदका सिद्धान्त है और इन्हीं चारोंकी अभीष्टसुलभताके लिये श्रीरामजीने अवतार लेकर लीला, नाम, रूप और धामपरत्वका विस्तार किया है कि, जिससे जीव क्रमशः उपरोक्त कर्मादि चारोंके लाभ उठावें। चारों नित्य और सच्चिदानंद स्वरूप हैं यथा—"**रामस्य नाम रूपं च लीलाधामपरात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानंदविग्रहम्॥**" (वसिष्ठ सं०) इसीसे इन चारोंको इस

मानसमें आपने भलीभाँति प्रतिपादन किया है रूप-यथा-"श्रीरघुनाथरूप उर आवा । परमानंद परमसुख पावा ॥" (बा० दो० ११०) "अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ । बसहिं लखन सिय राम बटाऊ ॥ रामधामपथ पाइहिं सोई ।" (अ० दो० १२३) पुनः लीला यथा-"भवसागर चह पार जो पावा । रामकथा ता कहँ दृढ नावा ॥" (उ० दो० ५२) छंद-"मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथकी ।" (बा० दो० ९) "मंत्र महा मनि विषय व्याल के । मेटत कठिन कुअंक भाल के ।" (बा० दो० ३१) "जीवनमुक्त ब्रह्मपर, चरित सुनहिं तजि ध्यान । जे हरिकथा न करहिं रति, तिनके हृदय पषान ॥" (उ० दो० ४२) तथा धाम यथा-"चारिखानि जग जीव अपारा । अवध तजे तनु नहिं संसारा ॥ रामधामदा पुरी सुहावनि । उत्तरादिसि सरजू वह पावनि ॥" (बा० दो० ३४) "कवनिहुँ जनम अवध बस जोई । रामपरायन सो परि होई ॥ अवधप्रभाउ जान तब प्रानी । जब उर बसहिं राम धनु पानी ॥" (उ० दो० ९६) इत्यादि बहुत कहे हैं परंतु परत्ववर्णनपर विचार करनेसे इनके सर्वस्व नाम ही जान पडते हैं यथा-"रामनाम मातुपितु स्वामि समरथ हितु, आस रामनामको भरोसो रामनामको । प्रेम रामनाम ही सों नेम रामनाम ही को, जानों न मरम पद दाहिनो न वाम को । स्वारथ सकल परमारथको रामनाम, रामनामहीन तुलसी न काहू काम को । रामकी सपथ सरबस मेरे रामनाम, कामधेनु कामतरु मोसे छीन छामको ॥" (क० उ० १७८) "संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जारि जीहगरो । अपनो भलो रामनामहिंते तुलसिहिं समुझि परो ॥" (वि० २२७) "और ठौर न और गति अवलंब नाम बिहाय ।" (वि० २१९) "नाना पथ निरवानके नाना पुरान बहु भाँति । तुलसी तू मेरे कहे जपु रामनाम दिन राति ॥" (वि० १९३) "नामअवलंबु अंबु दीन मीन राउ सो । प्रभु सों बनाय कहौं जीह जारि जाउ सो ॥" (वि० १८२) "रामनाम ही कि गति जैसे जल मीनको ।" (वि० ६९) "मोको गति दूसरी न विधि निरमई ।" (वि० २५२) "नाम भरोस नामबल नाम सनेहु । जनम जनम रघुनन्दन तुलसिहिं देहु ॥ जनम जनम जहँ २ तन तुलसिहिं देहु । तहँ तहँ राम निबाहव नामसनेहु ॥" (बरवा रा०) "तुलसी जाके बदनतें, धोखेहुँ निकसत नाम । ताके पगकी पगतरी, मेरे तनुको चाम ॥" (वैराग्यसंदीपनी) "रामनाम कलि कामतरु, सकल सुमंगलकंद । सुमिरत करतल सिद्धि सब, पग पग परमानंद ॥" (रामाज्ञा सर्ग ३) "राम-नाम-पर रामतेंप्रीति प्रतीति भरोस । सो तुलसी सुमिरत सकल, सगुन सुमंगल कोस ॥" (रामाज्ञा सर्ग २) "यथा भूमि सब बीज मै, नखत-निवास अकास । रामनाम सब धर्ममय, जानत तुलसीदास ॥" (दोहा० २९) "बिगरी जनम अनेककी

सुधरै अवहीं आजु । होहि रामको नाम भजु, तुलसी तजि कुसमाजु ॥" (दोहा० २२) इत्यादि उपरोक्त ग्रंथोंमें इसी प्रकार कविके नामइष्ट होनेमें बहुत प्रमाण हैं तथा इस मानसके आदि, मध्य और अंतमें नामपरत्वकी प्रधानता भी वही सूचित कर रही है यथा– "जेहि महँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ॥ " (उ० दो० ६०) यह वचन शिवजीका गरुडजीसे है प्रसङ्गानुसार भाव यह कि, जिस ग्रंथके आदि मध्य और अंतमें निज इष्टका प्रभु प्रतिपाद्यत्व हो वही उपास्य है, वैसे ही इस मानसके आदि मध्य और अंतमें ग्रन्थकारने नामको प्रभु प्रतिपादन करके अपना इष्ट तथा उपास्य दिखाया है वह भी क्रमशः दिखाते हैं ॥

अथ मानसके आदिका नामप्रतिपाद्यत्व ।

यथा–वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥ १ ॥

अर्थ–वर्ण (अक्षर) अर्थ समूह, रस, छन्द और मंगलके करनेवाले वाणी (सरस्वती) और विनायक (गणेश) की वन्दना (मैं) करता हूँ * ॥

अथ श्रीरामनामसंबन्धि–अर्थ ।

'अहं वाणी विनायकौ वंदे' अर्थात् मैं वाणी जो रसना उसके विशेष नायक जो दोनों वर्ण (रा-म) हैं तिनकी वंदना करता हूँ । नामके नायक होनेमें प्रमाण यथा–" भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ । रामनाम विनु सोह न सोऊ ॥ विधुवदनी सव भाँति सँवारी । सोह न वसन विना वर नारी ॥ " (बा० दो० ९) " रामनाम विनु गिरा न सोहा ।" (सुं० दो० २२) "सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी ॥" (बा० दो० १०४) इसमें रूपका प्रकरण है तो भी वाणी नामद्वारा तथा तदर्थभूत चरित्रद्वारा ही रूपसे रमण करती है और नाम रूप अभिन्न भी हैं अर्थात् वाणी जिन रामनाममें रमण करे वे उसके नायक हैं तिसमें भी यहाँ विशेषनायक कहा है । जैसे श्रीरामजी लोकोत्तर-विशेषनायक मर्यादापुरुषोत्तम हैं । यथा–"श्रीरामः सर्वभूतानां नायकः करुणार्णवः ॥" (रहस्यत्रये) तथा–"पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि०" (बा० दो० ११६) वैसा ही उनका नाम भी है । अतएव ग्रंथकार दोनों वर्णोंसे ही सहेतुकवंदना करते हैं कि, आप विशेष नायक हो अतः अपनी नायिकारूप इस मेरी रसनाको अपने योग्य मर्यादायुक्त नायिका बनाइये, क्योंकि इस रसनासे ही गृहीत रसोंसे सब इन्द्रिय तथा अंतःकरणमें विकार उत्पन्न होते हैं । अर्थात् इसीसे गंधसे नासा, रससे रसना (स्वयं), रूपसे नेत्र, स्पर्शसे त्वचा, शब्दसे कान

नोट–*इस अर्थके अनुसार आगेके छवों श्लोकोंका मिलान चरित्रसंबंधी और टीकाओंमें देखिये, मैं विस्तारभयसे नहीं लिखा ।

तथा अहंकार बुद्धि, प्रकृति और मन, यह नवों विकारों सहित प्रबल रहते हैं तिन्हें अपने, नव संबंधोंसे + शुद्ध कीजिये । तब यह आपके योग्य हो । **शंका**—उपरोक्त 'शुद्धकीजिये' यह कहाँसे आया ? **समाधान**--'**वंदे**' से. क्योंकि, वंदनाका अर्थ नमस्कार है और नमः शब्द उपायवाचक है इसी उपायके लिये प्रार्थना है । अब विकारों और संबंधोंको क्रमशः दिखाते हैं ॥

(१) यथा—'**वर्णानां**' अर्थात् वर्ण जो जाति, उसके संबंधसे जो तीनों ऋणों (देव-ऋषि, पितृऋण) में वासना रहनेसे तिनका भय रहता है यह वासनारूप विकार गंधतन्मात्राका है इसे अपने '**पिता-पुत्र सं०**' के ध्यानसहित आराधनसे शुद्ध कीजिये । इसके साथ २ नामार्थमें सातोंकांड चरित्रका भी मिलान करते चलेंगे, यथा ऋणत्रय जीवकी अज्ञानदशामें हैं उस अज्ञान अर्थात् मोहको तमरूप कहा है । यथा—"**जीव हृदय तम मोह बिसेषी ।**" (उ० दो० ११६) वही तमरूप पिनाक धनुषको कहा है । यथा—"**टारि न सकहिं चाप तम भारी ।**" (बा० दो० २३८) उसका भंग होना बालकांडका प्रधान अंग है । तथा वर्ण अर्थात् जातीयकार्य जन्मसे विवाहपर्यंत इसीमें हुआ, अतः इस संबंधमें '**बालकांड**' हुआ ॥

(२) '**अर्थसंघानां**' अर्थात् अर्थसमूहों, अर्थ द्रव्यादि भोग सामग्रीको कहते हैं । यहाँ जीवका प्रकरण है, इसके शरीरसंबंधसे इन्द्रियाँ ही अर्थ हैं क्योंकि, जैसे सबकी सुखइच्छा द्रव्यादिसे पूर्ण होती हैं, वैसे ही जीवकी अज्ञदशामें इन्द्रियोंसे । पुनः विचार करनेसे इन्द्रियाँ ही जीवके शत्रु हैं । यथा--"**इन्द्रियाणि पराण्याहुः**" (गीता. अ० ३) इन इन्द्रियोंको पोषण कर २ के प्रमादकारक 'रसना' है. यह रसतन्मात्राकी इन्द्रिय है, इसे अपने '**रक्ष्य-रक्षक सं०**' से शुद्ध कीजिये । इस संबंधका कार्य जो इन्द्रियनिग्रह और रक्षक जानकर प्रीति करना है । वह श्रीभरतजी तथा अवधवासियोंने अयोध्याकांडमें किया । यथा"**देह दिनहिंदिन दूबरि होई ।**" "**नित नव राम प्रेम पन पीना ।**" (अ० दो० ३२४) तथा—"**पय अहार फल असन यक, निसि भोजन यक लोग । करहिं रामहित नेम ब्रत,परिहरि भूषन भोग ॥**" (अ० दो० १८८) अतः यहाँ '**अयोध्याकांड**'हुआ॥

(३) '**रसानां**' अर्थात् रस शृंगार यथा—"**शृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः**" इत्यमरः । उसका विषयरूप, तथा रस वीर्य, अर्थात् उसका परिणाम शरीरसमेत रूप जो नेत्रका विषय है, उसे अपने '**शेष-शेषी सं०**' से शुद्ध कीजिये । इस रूपविषयसे विरागकी शिक्षा आरण्यकांडमें हुई यथा--परपुरुषकी रूपासक्तिपर शूर्पणखाकी नाक कान काटी गई और पर स्त्रीके रूप वश होनेसे खरदूषणादि मारे गये, क्योंकि उन सबोंने श्रीजानकीजीको माँगा था । यथा—"**तुरत देहिं निज नारि दुराई । जीवत भवन जाहिं दोउ भाई ॥**" (अ० दो० २०) और कांडके अंतमें विरक्तोंको स्त्री आदिकी रूपासक्तिसे अत्यंत निवारण किया है । अतः यहाँ '**आरण्यकांड**' हुआ ॥

नोट—+ इन संबंधोंका निरूपण बा० दो० १८ चौ० १ में और उद्धार बा० दो० १९ भरमें तथा साक्षात्कार क्रमशः प्रत्येक दोहोंके प्रकरणभरमें देखना चाहिये ।

(४) "छन्दसां" छन्द जैसे कोटिन जातिके होते हैं वैसे पंच प्राणोंके वेगसे चेष्टा होने पर तदनुसार कोटिन भाँतिके शुभाशुभ कर्म होते हैं। उनमें जो जीव कर्तृत्वाभिमान कर २ के बँध जाता है, इस स्पर्श विषयके विकारसे अपने 'भर्तृ-भार्या सं०' से रक्षा कीजिये यह चाहे। इस संबंधके स्पर्शविषयका दोषी वालि था, उसे श्रीरामजीने प्राणघातदंड देकर भविष्यके लिये भी शिक्षा दिया और शुद्ध किया। तथा ज्ञानस्वरूप सुग्रीवकी राज्यग्रहण करनेसे दुर्दशा हुई उससे ज्ञानियोंको कर्तृत्वाभिमानरूप राज्यके न लेनेकी शिक्षा हुई और शरण होनेसे सुग्रीवकी रक्षा हुई वैसे ही ज्ञानी भी भगवदाश्रित होनेसे सुरक्षित रहता है। अतः इसमें '**किष्किंधा-कांड** हुआ * ॥

(५) '**अपि**' अर्थात् निश्चय होना, इससे अपने स्वरूपका निश्चय (आत्मज्ञान) रूप भूषण माँगे जिसके आप्तकामादिगुणोंसे शब्दतन्मात्राकी तदर्थभूत अनेकों कामनाओंसे शुद्धि चाहे तथा शब्दविषयमें ही निजस्तुति आदि सुनकर जो आत्मज्ञान विरोधी मानादि-विकार होते हैं यथा–"**ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं।**" (आ० दो० १६) इनकी शुद्धि '**ज्ञातृ-ज्ञेय सं०**' द्वारा चाहे। इस संबंधकी व्यवस्था सुंदरकांडमें हुई क्योंकि कामना-ओंका त्यागना श्रीजानकीजीने दिखाया। यथा–"**तृन धरि ओट कहति वैदेही।**" (सुं० दो० ८) अर्थात् रावणके दिखाये हुए ऐश्वर्यको आपने तृणकी समान समझा और उसकी ओर ताका भी नहीं। पुनः अपनी दुःखमय अवस्थासे जीवोंकी बद्धअवस्था दिखाया तब श्रीहनूमान्‌जीने उनकी शक्तिसे प्रवृत्तिरूप लंका जलाय निष्कामता पाया, यही आत्मज्ञानकी अवस्था है। पुनः लौट आनेपर श्रीरामजीने प्रशंसाआदि भी करके परीक्षा किया पर इन्हें मान न हुआ और सब कार्य होना श्रीरामप्रतापसे कहा अतः यहाँ '**सुंदरकांड**' हुआ ॥

(६) "**मङ्गलानां च**" अर्थात् मंगलसमूह भी इससे इसके प्रतिकूल जो अमंगल हैं तिनका नाश कराकर मंगल चाहे, यह अमंगल जीवका कारणमायाके संग करनेसे होता है, उस मायाके ही कार्यरूप तीनों शरीर हैं। तिनमें स्थूल शरीरका अमंगल पाँचों स्थूलतत्त्वोंकी शुद्धिमें मिटा शेष जो सूक्ष्म और कारणशरीर हैं तिनमें सूक्ष्म शरीरको अपने '**शरीर शरीरी सं०**' से शुद्ध करके 'अहंकारका' दाग ढाँककर संबंधरूप भूषण पहिराइये यह चाहे ॥

(क) तथा–'**कारणशरीर**' का अमंगल अपने '**भोक्ता-भोग्य सं०**' से मिटाकर संबंधरूप भूषणसे 'बुद्धि' का दाग छिपाइये ॥

---

* **नोट**—यहाँपर्यंत जब तक कि भार्या भाव न प्राप्त हुआ था. प्रकटमें दोष दिखा २ कर शुद्धिकी चाह किये अब अंतरंग निवास हुआ इससे प्रकट दोष कहनेमें मर्यादापुरुषोत्तमको लज्जा होगी ऐसा विचार कर जैसे घरमें आई हुई भार्या भूषणादि माँगती है, तैसे ही आगेके पाँच संबंधोंसे ज्ञानादि पाँच दिव्यभूषण माँगते हैं जिनसे क्रमशः अंतरंग पांच विकाररूप दाग भी ढँक जायँ ॥

(ख) ऊपर अमंगल मिटा, तो **मंगलानां च**' से मंगलकांक्षाका अभिप्राय यह कि, तीनों शरीरोंसे भिन्न तुरीयावस्था जो मंगलकी खानि है उसकी स्थिति '**आधार-आधेय सं०** ' से माँगे जिस संबंधरूप भूषणसे प्रकृति का दाग छिपे॥ इस '**मङ्गलानां च**' से संपूर्ण लंकाकांड तथा उत्तरकांडका पूर्वार्द्ध हुआ । क्योंकि तीनों शरीरोंके अमंगलमें प्रथमके स्थूलशरीरका अमंगल तो उपरोक्त सुंदरकांडके लंकादहनके लक्ष्यमें हुआ जहाँ उस (लंका) की स्थूल शोभा जली और लंकाकांडके सेतुबंधप्रसंगमें सूक्ष्मशरीर तथा रावणादिवधके लक्ष्यमें कारणशरीरका अमंगल नाश होना हुआ, इसे मूलके छठें और सातवें दोहामें दिखावेंगे । अतएव इस छठें—सातवें संबंधमें '**लंकाकांड**' हुआ पुनः जैसे पुष्पक विमानपर सब परिकरोंसहित श्रीरामजी अयोध्या आये जो मंगलमय है यथा—"**रामपुरी मंगलमय पावनि ।**" (बा० दो० २९९) तब जीवरूप विभीषण तथा सब परिकर यहाँ नित्यपार्षदरूप होकर ' नितनवमंगल ' को प्राप्त हुए, यथा—"**नित नव मंगल कौसलपुरी ।**" (उ० दो० १४) इस प्रकार आठवें संबंधमें '**उत्तरकांडका पूर्वार्द्ध**' भी आया ॥

(७) '**कर्तारौ**'—कर्ता राजा तथा स्वामीको कहते हैं यह कहनेका भाव यह कि, ऊपर जो तुरीयावस्थारूप मङ्गलमय संपत्ति प्राप्त हुई, उसकी काम क्रोधादि तथा काल कर्म, गुणादि चोरोंसे रक्षार्थ युगलवर्णरूप नायकको राजा कहा और आप प्रजा होकर उनके '**स्व-स्वामी सं०** ' से रक्षा चाहा क्योंकि, स्व नाम प्रजाका और स्वामी नाम राजाका है, यहाँके इस संबंधरूप भूषणसे मनकी स्वतंत्रतारूपी दाग छिपाना चाहे । यहाँ राजा कहनेमें उत्तरकांडका उत्तरार्द्ध भी आया *॥

प्रसंग मिलान ।

ऊपरके प्रथम श्लोकमें जो नामका अर्थ हुआ तदनुसार दूसरे श्लोक '**भवानीशङ्करौ वन्दे ०**' से नामके श्रद्धा विश्वाससहित जपके विशेषप्रकाशक जानकर श्रीशिवजी तथा श्रीपार्वतीजीकी वन्दना किये । (इनका आराधन मूलके पहिले संबंधभरमें है) पुनः तीसरे '**वंदे बोधमयं ०**' से अपने नामोपदेष्टा गुरुको वंदे तथा चौथे '**सीतारामगुणग्राम ०**' से नामानन्यश्रीवाल्मीकिजी तथा श्रीहनूमानूजीकी वंदना किये, इसमें गुणग्रामविहार विरोध नहीं क्योंकि नाम जपते हुए तदर्थभूत गुणग्रामका मनन ही विज्ञानधाम जापकोंकी रीति है, जैसे श्रीभरतजीको कहा है यथा—"**राम राम रघुपति जपत०रटहु निरंतर गुन गन पांती ।**" (उ० दो० १) पुनः पांचवें और छठवें श्लोकसे श्रीसीतारामजीके क्रमशः मंत्रार्थसहित वंदना-कर उपरोक्त नामजपकी विधि दिखाये क्योंकि नामके अर्थ रूपही मन्त्र हैं इस लिये प्रथम मन्त्र जपकर नाम जपनेसे उसका अर्थ विचार हुआ करता है । यथा—"**जपात्तदर्थभावनात्**"

नोट—* मूलके ' जीह जसोमति० ' में जिह्वाकी ही शुद्धिमें संपूर्ण शुद्धि दिखावेंगे अतएव इस श्लोकमें रसनारूप नायकाकी शोभा प्रापकतामें नामका पूर्ण ऐश्वर्य सूक्ष्मरीतिसे दिखाया गया है तथा नामान्तर सातोकांडचरित्रकी भी स्थिति प्रकट हुई ॥

(योगसूत्र) अर्थात् जपते हुए उसका अर्थ विचारना चाहिये। पहिले श्रीजानकीजीकी वन्दनाका यह हेतु है कि, प्रथम इनकी कृपा विना श्रीरामजीकी प्राप्ति नहीं होती। यथा—" **द्रष्टुमिच्छसि यद्रूपं मदीयं भावनास्पदम्। आह्लादिनीं परां शक्तिं स्तूयाः सात्वतसम्मताम्॥ तदाराध्यस्तदारामस्तदधीनस्तया विना। तिष्ठामि न क्षणं शंभो जीवनं परमं मम॥** " (अगस्त्य सं० जानकीस्तवराजे) यह वचन श्रीरामजीका शिवजीसे है अतएव युगलनाम जपना ही विधि है (यह ग्रंथके अंतमें विस्तारसे है) अतः उपरोक्त पाँचवें छठें श्लोकका अर्थ दिखाते हैं:—

यथा—उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥५॥

अर्थ—उत्पत्ति स्थिति (पालन) संहारकी करनेवाली दुःख हरनेवाली संपूर्ण कल्याणकी करनेवाली श्रीरामप्रिया श्रीसीताजीको मैं प्रणाम करता हूँ॥ ५॥

श्रीसीतामंत्रसे मिलान।

इसमें जो ' उत्पत्ति पालन और संहारकर्त्री ' विशेषण है वह इनके मंत्रके प्रथमाक्षर वीजके श्रीका प्रथमार्थ है यथा—" **श्रीशब्देन समस्तसमाश्रयणीया** " (रहस्यत्रये) अर्थात् सम्यक् प्रकारका आश्रय वही होता है जिससे उपरोक्त उत्पत्ति आदि तीनों कार्य होते हों। यथा श्रुतिः—" **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते॥ येन जातानि जीवन्ति॥ यत्प्रयंत्यभिसंविशंति॥ तद्विजिज्ञासस्व॥ तद्ब्रह्मेति॥** " (तैत्तरीयो० तृ० वल्ली) पुनः ' **क्लेशहारिणीम्** ' यह उसीका द्वितीयार्थ है यथा—" **श्रु—श्रवणे** " धातुसे श्रीशब्द होता है तदनुसार " **श्रीरामं भगवंतं चेतनाचेतनविज्ञापनं श्रावयन्ती** " (रहस्यत्रये) अर्थात् जीवोंके उद्धारार्थ श्रीरामजीसे तिनका दुःख सुनाकर क्लेश हरती हैं तथा—" **श्रण-दाने गतौ च** " से भी श्री हुआ, अतः गति अर्थात् जीवोंका स्वस्वरूप प्राप्त कराकर कल्याण करनेवाली हैं यही ' **सर्वश्रेयस्करीं** ' का अर्थ होनेसे उसी श्रीका तृतीयार्थ हुआ। पुनः श्रीका अर्थ शोभा भी है इससे अपनी शोभासे श्रीरामजीको वश करनेवाली, यथा—" **देखि सीय शोभा सुख पावा। हृदय सराहत वचन न आवा॥** " (बा० दो० २२९) " **प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभाकी खानी॥ परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं॥** " (बा० दो० २३४) इसी शोभासे वश होकर श्रीरामजीने धनुष तोड़कर श्रीवाच्य श्रीजानकीजीको वल्लभा किया अतः ' **रामवल्लभाम्** ' यह उसी श्रीका चतुर्थार्थ है। पुनः श्लोकका शेष ' **अहं सीतां नतः** ' है इसके ' सीतां ' से मंत्रका चतुर्थीसहित सीताशब्द और ' नतः ' से मंत्रके नमःका अर्थमें अभेद है। अतः यह श्लोक श्रीसीतामंत्रका अर्थ है॥

तथा—यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुराः
यत्सत्त्वादमृषेव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।

यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥६॥

अर्थ—जिनकी मायाके वश ब्रह्मादिदेवता, असुर सर्वजगत् है। जिनकी सत्तासे सम्पूर्ण (जगत्) सत्यसा जान पड़ता है· जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम भवसागरसे तरनेकी इच्छा करनेवालोंको जिनके चरणकमल ही केवल एक नाव है, सम्पूर्ण कारणसे परे दुःखहरनेवाले ईश्वर जिनका राम ऐसा नाम है उनकी मैं वंदना करता हूँ ॥ ६ ॥

अथ रामनाम और मंत्रसे इसका मिलान।

इस श्लोकमें तीन वार '**यत्**' शब्दके प्रयोगसे क्रमशः तीनों अक्षर 'र अ म' के अर्थ हैं यथा—'र' ब्रह्मवाचक है, 'अ' प्रकृतिवाचक और 'म' जीववाचक है तिन्हें क्रमशः दिखाते हैं, प्रथम र यथा—"**रश्च रामेऽनिले वह्नौ**" (एकाक्षरकोशे) अर्थात् र श्रीरामजीका वाचक है जो ब्रह्म हैं यथा—"**राम ब्रह्म परमारथरूपा।**" (अ० दो० ९२) ब्रह्मस्वरूपका लक्ष्य यथा—"**वंधमोच्छप्रद सर्वपर, मायाप्रेरक सींव।**" (आ० दो० १७) अर्थात् सींववाच्य ब्रह्म वह है जो बद्ध जीवोंको अपनी दैवीमायासे जब चाहे, मुक्त करे। यथा—"**हरि सेवकहिं 'न व्याप अविद्या। प्रभुप्रेरित तेहि व्यापइ विद्या॥**" (उ० दो० ७८) तथा—मुक्तोंको जब चाहे आसुरीमायासे बद्ध करे। यथा नारद कामवश तथा सनकादि क्रोधवश हुए। यथा—"**जो चेतन कहँ जड़ करइ, जड़हि करइ चैतन्य। अस समरथ रघुनायकहिं।**" (उ० दो० ११९) तथा— "**सतरंज कैसो साज काठको सवै समाज महाराज वाजी रची प्रथम न हत।**" (वि० २४७) अर्थात् प्रथम जीवोंके हृदयमें आसुरीसंपत्ति ही प्रवल रहती है, जब वे शरण होते हैं तब भगवत् दैवी संपत्तिको प्रवल करके जिताते हैं; दोनोंके प्रेरक आप ही हैं। अब ऐसे ही रकारार्थ ब्रह्मका स्वरूप श्लोकके प्रथम 'यत्' सहित प्रथम चरणमें दिखाते हैं यथा—**यन्मायेति**—का भाव यह कि, जिनकी मायाके वश सब जगत् दैवीसंपत्ति और आसुरीसंपत्तिसहित वर्तता है। यथा—"**द्वौ भूतसर्गौलोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।**" (गीता. अ० १६) (यहाँ दोनों संपत्तिसे जगद्व्यापार कहा गया) तथा—"**दैवी संपद्विमोक्षाय निवंधायासुरी मता।**" (गीता. अ० १६) अर्थात् दैवीसंपत्तिसे छोरता व आसुरीसंत्तिसे बाँधता है यह कार्य भी स्पष्ट हुआ, यह दोनों कार्य ब्रह्मका ही है। यथा—"**तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँधे सोइ छोरै॥**" (वि० १०३) यहाँ तकमें रकारवाच्य ब्रह्मवाचक श्लोकका प्रथमचरण सिद्ध हुआ, अब मंत्रका अंग दिखाते हैं कि, जैसे यह नामका रकार षडक्षरमंत्रके बीजरूपसे दैवी सं० द्वारा आसुरी सं० का नाश करता है। आसुरी संपत्ति यथा—"**मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः। राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥**" (गीता. अ० ९) **अर्थ**—राक्षसीं

नोट—१ "अकारः स्वरो मकारो व्यञ्जनं यः स्वरः सा प्रकृतिः" (एकायन ब्राह्मण श्रुतिः)

अर्थात् राजसवासनावाले और आसुरी अर्थात् तामसवासनावाले भ्रष्टचित्त जो मेरी मोहनेवाली मायाके आश्रित हैं उनके आशा, कर्म तथा ज्ञान सभी निष्फल हैं । क्रमसे यथा—मोघाशा, मोघकर्म, मोघज्ञान, राजसवासना और तामसवासना, ये पाँच आसुरीसंपत्ति हैं. इन पाँचोंको मूलके मंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपणके अनुसार रकार राममंत्रके बीजरूपसे पाँच संबंधरूप दैवीसंपत्ति द्वारा नाश करते हैं, यथा—मोघाशा अर्थात् संसारीसंबंधोंकी तथा स्वर्गादिसुखोंकी वासना जो (मूलके आवरण निरूपणके अनुसार) गंधविषयमें परिगणित है इसका नाश प्रथमके ' पिता-पुत्र ' संबंधसे होता है । तथा मोघकर्म अर्थात् इन्द्रियोंकी ईहा (चेष्टा) पूर्तिहेतु कर्म करना यह दूसरे ' रक्ष्य-रक्षक ' संबंधसे नाश होता है । पुनः मोघज्ञान अर्थात् अनित्यदेहको ही अपना रूप मानकर इसके सहायक संबंधियोंका शेष होना यह तीसरे ' शेष—शेषी ' सं० से निवृत्त होता है और राजसवासना जिससे कर्तृत्वाभिमानपूर्वक कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है यह चौथे ' भर्तृ—भार्या ' सं० से दूर होती है तथा तामसवासना जो ज्ञानावरणकर शब्दादिकामना उपजाती है, यह नामके ' ज्ञातृ-ज्ञेय ' सं० से निवृत्त होती है । इस प्रकार पाँचों आसुरी संपत्तिका नाश उपरोक्त पाँचों संबंधोंके सारांशमें देखना चाहिये ॥

(२) अब नामके द्वितीयवर्ण अकारको दूसरे ' **यत्** ' सहित श्लोकके दूसरे पाद ' **यत्सत्वादमृषैव०** ' से दिखाते हैं, जैसे अकार सब वर्गोंमें व्यापकरूपसे रहता है, तभी सब सार्थक होते हैं वैसे अकारवाच्य वासुदेव हैं । यथा—" **अकारो वासुदेवः स्यात्** " (एकाक्षरकोशे) तिनकी ही सत्तासे जड़प्रकृतिके व्यवहारोंमें सत्यकी प्रतीति होती है । यथा— " **सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः** " (गीता. अ० ११) मूल श्लोकके इस दूसरे पादमें ' **सकलम्** ' से जगत्का अर्थ ग्रहण हुआ है जो सुत कुटुंब मातापितादि तथा भोग पदार्थादिको कहते हैं । यथा—" **सुत वित देह गेह नेह इति जगत्** " और जो जगत्का साधारण अर्थ चलते हुएका होता है, वह भी इसमें घटित है, क्योंकि उपरोक्त सुतवित्तादिनेहसे ही जीव योनियोंमें चला करते हैं । यहाँ दृष्टांतमें रज्जु और सर्प तथा दार्ष्टान्तमें श्रीरामजी और जगत् है, जगत्के अर्थभूत सुतकुटुंबादिमें श्रीरामजीके वासुदेवरूपकी व्यापकता है, वेही इन अनेकरूपोंसे जीवोंको सुख देते हैं । यथा—"**जासों सब नाते फुरैं तासों न करी पहिचान ।** " (वि० १९०) " **गुरु पितु मातु बंधु पति देवा । सब मोकहँ जानइ दृढ़ सेवा ॥** " (आ० दो० १७) " **पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ॥** " " **गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ॥** " (गीता अ० ९) इस प्रकारका जीवोंका रमावना श्रीराममंत्रके मध्यके ' **राम** ' शब्दका एक अर्थ इस नामांतर्गत अकारमें हुआ और जगत्के अर्थभूत देहगेहादि भोगपदार्थोंमें व्यापकता इस प्रकार है कि श्रीरामजीही जलमें रस (स्वाद) पृथ्वीमें गंध, अग्निमें तेजादि होकर जीवोंके सुखके लिये जड़प्रकृतिको रमणीय करके उससे जीवोंको सुख देते हैं । इससे जड़प्रकृतिका रमावना उसी ' **राम** ' शब्दका द्वितीयार्थ हुआ । पुनः यहाँके ' **रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः** ' का भ्रम

उपरोक्त रीतिसे दूर होनेसे ज्ञात हुआ कि, जो जगत्को हितू जानकर उसके तीनों ऋणोंके ऋणी हो सर्पकाटनेके मूर्छाकी भाँति मोहवश थे नहीं अब रस्सीसम जान पड़ा अर्थात् जगत्द्वारा भये हुए उपकारोंको श्रीरामजीका जानकर उनके लिये अपनी स्थिति समझ आराधनरूप पकड़कर भवकूपसे ऊर्ध्वगतिरूप ऊपरको चढें यही श्रीराममंत्रके चतुर्थीका अर्थ है यही सब तीनों कार्य मूलके मंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपणमें स्पष्ट हैं । पुनः नामके तृतीयवर्ण मकारका अर्थ श्लोकके तीसरे पाद '**यत्पादप्लव०**' में यों है कि, इसमें सर्वोपाय श्रीरामजीको कहा है यही मूलके मंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपणमें मकारार्थमें मंत्रके नमःका अर्थ 'स्व–स्वामी' सं० प्रकाशक सप्रमाण दिखाया गया है । अतः यह पूर्णश्लोक श्रीरामनाम और मंत्रका सूक्ष्म अर्थ है × ॥ ६ ॥

सिंहावलोकन ।

उपरोक्त छवों श्लोकोंमें श्रीरामनामके अनन्य और चरित्रके भी प्रधान २ श्रोता वक्ता तीनके नाम आये हैं, उनकी भी श्रीरामनामइष्टता उनके चरित्रसे प्रकट है और उन्हे भी नाम हीसे चरित्रकी प्राप्ति हुई । यथा–श्रीशिवजी नाम ही जपकर मंगलरूप हुए, यथा–"**मंगलभवन अमंगलहारी । रमासहित जेहि जपत पुरारी ॥**" (बा० दो० ९) तब श्रीरामनाम प्रतिपादक चरित्र कहे । यथा–"**यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं० सत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमः शांतये ।**" (उ० अंतिमश्लोक) पुनः श्रीवाल्मीकिजी भी नाम ही जपकर शुद्ध होकर चरित्रकी योग्यता पाय नाम हीके आधारपर श्रीरामचरित्र कहे क्योंकि इनकी रामायणके चौबीस सहस्र श्लोक चौबीस अक्षरात्मक ब्रह्मगायत्रीपर हैं उस गायत्रीका मूलाधार प्रणव (ॐ) है उसके भी कारण यद्वा अभेद श्रीरामनाम हैं यथा–"**रामेत्येकाक्षरं ब्रह्म कारणं प्रणवस्य च । तस्माद्ब्रह्मा हरिश्शंभुर्योगिनः समुपासते ॥**" (महारामायणे) यहाँ एकाक्षर नामके बीजस्वरूपको कहा है तथा व्याकरणसे भी सिद्ध होता है, यथा–'**राम**' इस पदमें 'र् अ अ म् अ' ये पांच अक्षर हैं उनमेंसे वर्णविपर्यय करनेपर 'अ र् अ म् अ' होता है उसमें "**अतो रोरप्लुतादप्लुते**" (६ । १ । ११३) इस सूत्रसे 'र का उ' हुआ और '**आद्गुणः**' (६ । १ । ८७) सूत्रसे 'अ उ' के स्थानमें 'ओ' और '**एङः पदान्तादति**' (६ । १ । १०९) से द्वितीय 'अ' का पूर्वरूप और अंतिम 'अ' का पृषोदरादित्वसे वर्णनाश होकर '**ओम्**' बनता है । अथवा '**राम**' शब्दकी प्रकृतिभूत '**रम्**' धातुमें वर्णविपर्यय मानकर पूर्वोक्त '**अतोरो०**' से 'र' से 'उत्व' और उपरोक्त '**आद्गुणः**' से 'ओत्व' करनेपर '**ओम्**' बनता है । तथा श्री हनूमान्‌जीकी नामानन्यता मूलके बा० दो० २९ चौ० ८ में भक्तमालके प्रमाणसहित विस्तारसे है । पुनः चरित्रका हेतु कहते हैं कि, जब ये श्रीरामनामांकित मुद्रिका श्रीरामजीमे

नोट– × ग्रंथके आदिमें छः श्लोकोंमें वंदनाका यह भाव है कि, रामनाममें छः ही कला होती हैं आगेका सातवाँ श्लोक तो चरित्रकी भूमिकारूप है ॥

पाकर श्रीजानकीजीको खोजने चले तब व्याकुल होकर वानरों समेत समुद्र तटपर जा बैठे क्योंकि नाम-प्रभाव भूल गये थे। जब ब्रह्माजीके अवतार चन्द्रमा मुनिकी कही हुई कथा (आधी) संपातिद्वारा सुने। यथा—" **त्रेता ब्रह्म मनुज तनु धरि हैं।** (बालकांड) * **तासु नारि निसिचरपति हरि हैं॥** (आरण्य कां०) **तासु खोज पठइहिं प्रभु दूता। तिन्हें मिले तैं होव पुनीता॥** (किष्कि०) इतना सुननेसे इन्हें बल प्राप्त हुआ क्योंकि इसके आगे कहा है कि, **लीलहिं लाँघउँ जलनिधि खारा॥ सहितसहाय रावणहिं मारी। आनौं इहाँ त्रिकूट उपारी॥**" (कि० दो० २८–३०) इत्यादि पुनः शेष आधीकथा ब्रह्माजीके ही अंशावतार श्रीजाम्बवंतजीसे सुना। यथा—" **यतना करहु तात तुम जाई। सीतहिं देखि कहो सुधि आई॥** (सुं० कांड) **तब निज भुज-बल राजिवनैना। कौतुक लागि संग कपिसैना॥** (छं०) **कपिसैन संग सँहारि निसिचर राम सीतहिं आनि हैं॥** (लं० कांड) **त्रैलोक पावन सुयश सुर मुनि नारदादि बखानि हैं॥** (उ० कांड)" (कि० दो० ३०) उत्तरकांडका लक्ष्य—यथा—" **रिपु रन जीति सुयस सुर गावत।**" (उ० दो० १) तथा नारद व सनकादिकोंका आ २ कर यश गान करना उत्तरकांडमें स्पष्ट है, जब यह भी नामार्थभूत चारित्र सुने तब इन्हे अप्रमेय बुद्धि प्राप्त हुई यह सुरसाकी परीक्षामें प्रकट है। कथासे ही बल बुद्धि प्राप्तिका प्रमाण-यथा—" **सुनि सब कथा समीर कुमारा। नाँघत भयो पयोधि अपारा॥**" (उ० दो० ६६) पुनः यह कथा रामायणी लोगोंमें प्रसिद्ध है कि, युद्धोपरांत श्रीहनूमान्‌जीने श्रीरामजीका ऐश्वर्यमिश्रित चरित्र शिलाओंपर लिखा। उस रामायणके प्रकट होनेपर अपनेकी शिथिलता अनुमानकर महर्षिजीने आकर इन्हें कुछ माँगनेके लिये वचनबद्ध करके उसे समुद्रार्पण करा दिया तब पवननन्दनजीने भी कहा कि, हम कलियुगमें ' **तुलसीदास** ' नामक कविद्वारा अपनी इस रामायणकी भी बातें प्रेरणा कर २ के कहेंगे तो आपको इस प्रकार मना करनेका अधिकार न होगा, तब भक्तवत्सल श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीको प्रेरणा करके शाप दिवाकर इन्हीं (महर्षिजी) को तुलसीदासजीका अवतार कराके अभीष्ट रक्खा (यह पूर्व ही कह आये) उपरोक्त रीतिसे श्रीहनुमान्‌जीने भी नाम ही से चरित्र पाया। इस मानसमें उपरोक्त

नोट—*यहाँ अयोध्याकांडके छोड़नेका हेतु यह है कि उसमें प्रधानतया श्रीभरतचरित्र है क्योंकि, उसके फल वर्णनमें कहा है कि, " भरतचरित करि नेम० " (अ० दो० ३२६) यद्यपि यह भी नामार्थभूत रामचरित्रांतर्गत है, तथापि यह मुद्रिकांकित नामका अर्थ है जो हनूमान्‌जीके पास थी, वह मुद्रिका सती शिरोमणि श्रीजानकीजीने अपनी अँगुलीसे निकालकर श्रीरामजीको केवट उतराई देनेके लिये दिया था, जब उसने नहीं लिया तो वह श्रीरामजीके पास रही, उसे ही इन (श्रीहनूमान्‌जी) को दिया था अतएव यहाँ कविके विचारकी अगाधता विचारणीय है॥

तीनों वक्ताओंका चरित्र मिला हुआ है क्योंकि शिवजीसे तो इसकी परंपरा ही है और वाल्मीकिजी ही गोस्वामीजी हुए तथा श्रीहनूमान्जीने प्रेरणा करके कहा ॥

ग्रंथके मध्यका नामप्रतिपाद्यत्व ।

यथा—यह श्रीरामचरित्र मानस सात कांड हैं तिनमें मध्यका किष्किंधाकांड है इसके आदिके मंगलाचरणमें प्रथमका श्लोक ध्यानात्मक तथा कांडकी भूमिका रूप कहा है और दूसरा "**ब्रह्माम्भोधि ०**" जीवमात्रको एक नाम ही प्रधानोपाय दिखाता हुआ युगल (सीताराम) नाम जपविधि और माहात्म्य प्रकाशक है इससे यह विचारणीय है कि, ग्रन्थकारने प्रकटरूपमें नामके परत्वका श्लोक यही एक लिखा है जो कि, अर्थ विचारसे भी एक अर्थात् अद्वितीय है । इसका अर्थ यथामति ग्रन्थके अंतके "**भाय कुभाय अनख आलसहूँ ।**" में लिखा है ॥

ग्रंथके अंतका नामप्रतिपाद्यत्व ।

यथा—"**यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्नोतु रामायणम् । मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वांतस्तमःशांतये भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम् ॥**" ग्रंथके फलरूप इस अंतिम श्लोकमें '**तद्रघुनाथनामनिरतं**' से नामवैभवप्रकाशक चरित्रको कहा है, अतः नाम प्रतिपाद्यत्व यहाँ भी है ॥

ग्रंथके अनुबंधमें भी नामपरत्व ।

यथा—प्रत्येक ग्रन्थमें चार अनुवंध होते हैं, वे विषय, अधिकार, संबंध और प्रयोजन नामसे कहे जाते हैं । तिनमें जो ग्रंथका मुख्य ध्येय हो वही विषय है इसमें वह भी नाम ही हैं. यथा—**भनिति मोरि सब गुनरहित, बिस्व-बिदित गुन एक । सो बिचारि सुनि हैं सुमति, जिनके बिमल बिवेक ॥** (बा० दो० ९) **अर्थ**—मेरी कविता सब काव्यगुणोंसे रहित है परन्तु संसारमें प्रसिद्ध एक गुण है, उसे अंगुल्यानिर्देश करते हैं यथा— चौ० **यहि महँ रघुपति नाम उदारा । अतिपावन पुरानश्रुतिसारा ॥ १ ॥ अर्थ**—उपरोक्त विश्वविदित गुण यही उदार रघुपति (राम) नाम है जो अति पवित्र और वेद पुराणका सार है । वही '**यहिमहँ**' अर्थात् मेरी इस भणित (ग्रन्थ) का विषय है । '**विश्वविदित**' यथा— श्रुतिः "**रामनामभुविख्यातमभिरामेण वा पुनः ।**" (रामतापनीये) लक्ष्य यथा—हर एक मनुष्य परस्पर मिलनेमें राम, राम सीताराम, कहते हैं, वैश्य दूकान खोलते समय प्रातःकाल 'राम' कहकर खोलते हैं तथा तौलनेमें प्रथम एककी जगह 'राम' कहते हैं और कपडा विक्री समय भी 'राम' कहकर फाडते हैं तथा सत्यप्रतिपादनमें भी सब कोई 'रामौ राम ! वा 'रामौ राम' ऐसा कहते हैं । पुनः शपथमें भी 'रामध्वाई' कहते हैं, पुनः परदुःखाश्वासनमें भी 'राम, राम सीताराम हाराम इत्यादि कहते हैं, और किसीके गिरने पडने पर भी राम, राम, सीताराम कहते हैं यहाँतक कि, इस देशके कृषिकारलोग पुर मोटादि कुयेंपर ढालते समय प्रत्येक बार 'राम' यह दिन भर कहते हैं और अपनी बीमारी

आदि व्याकुलतामें भी 'हा राम अरे राम' इत्यादि कहते हैं और भी आश्चर्य प्रभाव यह कि, चाहे शैव शाक्तादि कोई हो, मृतकसंग अंतिमसमयका अंतिम आधार होनेसे 'रामनाम सत्य है' यही कहते हुए चलते हैं। पुनः यही विख्याति अभिप्राय सूचक आर्षवचन है। यथा–"**रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः। रामभूतं जगदभूद्रामे राज्यं प्रशासति ॥**" (वाल्मी० युद्ध०) अर्थात् राम, राम, राम यह महा मंगलमय ध्वनि सब प्रजाओंकी दशों दिशामें हुई जिस समय श्रीरामजी राज्य किये सब सृष्टि राममयी होगई। (इसमें रीतिसे नामपरत्व कथन है) पुनः '**उदारा**' से पात्रापात्रविवेकरहित पालक सूचित किये तथा–'**पुरान श्रुति सारा**'से यह दिखाये कि, सब श्रुतिपुराणका साररूप जो यह '**मानसरामायण**' है यथा–"**नानापुराणनिगमागमसंमतं यद्रामायणे निगदितं०**" (मंगलश्लोक) इसका भी यही सार है। यथा–"**रामचरित सतकोटि महँ, लिय महेस जिय जानि॥**" (बा० दो० २९) पुनः चौ०–**मंगलभवन अमंगलहारी। उमासहित जेहि जपत पुरारी ॥ २ ॥ भनिति विचित्र सुकविकृतजोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ॥३॥ बिधुवदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बरनारी ॥ ४ ॥ सब गुनरहित कुकबि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी ॥ ५ ॥ सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥ ६ ॥** इन पाँचों चौ० का अर्थ सुगम है। ऊपर दोहेमें जो '**बिस्वविदितगुन**' से नामका लक्ष्य करके उपक्रम किये थे उसे ही छः चौपाइयोंमें कहकर यहाँ अंतकी चौ० के '**गुनग्राही**' पर उपसंहार किये। जैसे पूर्व मंगलाचरणमें छःही श्लोकोंमें नामपरत्व कहे थे, वैसे यहाँ भी छः चौपाईमें दिखाये, क्योंकि नाममें छःही कला हैं। यथा–"**रामनाम्नि तु विज्ञेयाः षण्मात्रास्तत्त्वबोधकाः। जानन्ति तत्त्वनिष्णाता रामनामप्रसादतः॥**" (शिवरहस्ये) और उपरोक्त छठवीं चौ० से आगे '**सुमिरत सुहावनि पावनी**' तक इस नामविषयवाले यशका संग पानेसे अपनी भणितकी बड़ाई किये यहाँ तकमें ग्रंथका विषयनामको दिखाये। इसके आगेसे '**परिहरहिं सज्जन बिमल उर**' में '**अधिकारी**' और '**सारद सेष महेस बिधि**' तकमें काव्य '**संबंध**' पुनः आगे '**एक अनीह अरूप अनामा। ०**' के प्रसंगसे '**प्रयोजन**' कहा है जो नामहीद्वारा मूलके प्रत्येक अ०प्र०टि०(८) में 'भगवत्साधर्म्यप्राप्ति' रूपमें प्राप्त हुआ ॥

इस प्रकार श्रीमद्गोस्वामीजीकी नामइष्टता है इसीसे आपने नामका ऐश्वर्य दिखाते हुए नव दोहोंमें वंदना की है जिसका मैंने इस ग्रंथसे यथामति दिग्दर्शन मात्र कराया है॥ इति ॥

विनीत–

श्रीकान्तशरण.

सङ्केतसूची ।

अ० = अयोध्याकाण्ड तथा अध्याय.
अ० प्र० = अखिलप्रकरण.
अव० = अवतारिका = आगेकी प्रतिज्ञा.
आ० = आरण्यकाण्ड रा०
उ० = उत्तरकाण्ड रा०
क० = कवितावली रा०
कि० = किष्किंधाकाण्ड रा०
गी० = गीतावली रा०
गीता. = श्रीमद्भगवद्गीता.
चौ० = चौपाई.
टि० = टिप्पणी.
दो० = दोहा.
दोहा० = दोहावली रा०
त० = तन्मात्रा.
नं० = नंवर.
ना० = नामान्तर (नामांतर्गत)
निरू० = निरूपण.
बा० = बालकाण्ड रा०
मं० = मंगल
लं० = लंकाकाण्ड रा०
रा० = रामायण
वि० = विनयपत्रिका रा०
सं० = संवंध तथा संहिता
सुं० = सुन्दरकाण्ड रा०

संवंधनिर्णय
संवंधशारांश
संवंधोद्धारप्रकरण
ना० साधनचतु० प्र०
जीवकी स्व० स्थिति
ना० नवों सं० तथा विभव ईश्व०

यह सब शिरनामे (हेडिंग) समष्टिमें कई २ जगह आये हैं इनका व्यष्टि रूप अनुक्रमणिकाके अनुसार है ।

शुद्धाशुद्ध पत्र ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धशब्द	शुद्धशब्द
१	२०	कावत	कवित
,,	,,	करहि	करहिं
१२	७–८	‘अपिपासः’	‘अपिपास’
१३	२५	‘अपहलपाप्मा’	‘अपहतपाप्मत्व’
१४	२	आलीपर	चुंगलीपर
,,	६	जैसेहि	जैसेही
१५	१	टीक	टीका
१७	२६	०	अथ रेफका मातृत्व
५५	१६	विशिष्ठाद्वैत	विशिष्टाद्वैत
,,	३०	अगुण सगुण	प्रथम द्वितीय
५६	१	अगुण	प्रथम
८६	९	है, यही	है, (यही
,,	१०	)	०
,,	११	माको,	माको,)
२०२	२१	भगद्गुणदर्पणे	भगवद्गुणदर्पणे

श्रीमन्मानसनामवन्दनाकी अनुक्रमणिका ।

× इसके विस्तृत विषयोंकी सूची आगे पृथक् है–

इति अनुक्रमणिका समाप्ता ।

अथ अखिल प्रकरण सूची ।

टि.नं.	विषय.	अ. प्र. नं.–१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	जापकके हृदयरूप गर्भमें नामकी अवस्था और अवतारका प्रसंग	पृ० ५२	१००	११८	१२५	१६५	१९०	२११	२४५	२७२	२९४
२	नामरूप ईश्वरकी पंचधा स्थिति	अर्चा प्र० पृ० ५७	विभव प्र. १००	व्यूह प्र० ११८	पर प्र० १२६	अंतर्यामी प्र० १६६	पर द्वि० १९१	व्यूह द्वि. २११	विभव द्वि० २४५	अंतर्यामी द्वि० २७३	अर्चा द्वि. २९४
३	ना० दश अवतारोंके साक्षात्का प्रसंग	मीन पृ० ५६	कमठ १०१	वाराह ११८	नरसिंह १२६	वामन १६६	परशुराम १९१	श्रीराम २११	श्रीकृष्ण २४५	बुद्ध २७३	कल्की २९५
४	ना० भक्तिरस प्रकरण	वात्सल्य साध० पृ० ५७	शृंगार सा० १०१	सख्य सा० ११९	दास्य सा० १२७	शांत सा० १६६	दास्य सिद्धा० १९१	सख्य सि० २१२	शृंगार सि० २४६	वात्सल्य सि० २७३	शांत सि. २९५
५	ना० पंचसंस्कार प्रकरण	नाम साध० पृ० ५८	कण्ठी (माला) सा. १०२	ऊर्ध्व पु-ण्ड्र सा० ११९	मुद्रा सा० १२८	मंत्र-सा० १६७	मुद्रा सिद्धा० १९१	ऊर्ध्वपु-ण्ड्र-सि० २१२	माला सि० २४६	नाम सि० २७३	मंत्र-सि० २९५
६	ना० भक्ति प्रकरण	नवधा १–९वीं पृ० ५९	नवधा २–८वीं १०४	नवधा ३–७ वीं १२०	नवधा ४–६ ठीं १४५	नवधा पांचवीं १६७	प्रेमा साध० १९१	प्रेमा सि. २१२	परा २४७	प्रौढा २७४	प्रौढास्था. २९५
७	ना० ज्ञान प्रकरण	पहिली भू० पृ० ६०	दूसरी भू० १०५	तीसरी भू० १२१	चौथी भू. १४५	पाँचवीं भू० १६७	०	छठवीं भू० २१३	सातवीं भू० २४८	सिद्धा० २७४	सिद्धा० २९५
८	ना० भगवत्साधर्म्य	एक पृ० ६१	अनीह १०६	अरूप पृ०१२१	अज १४७	अनाम १६८	सत् १९२	चित् २१४	आनंद २४९	परधामा २७४	पर० साक्षात्२९६
९	ना० पंचकोशोत्क्रमण क्रम	०	०	अन्नमय पृ० १२१	०	प्राणमय १६८	०	मनोमय २१४	विज्ञान० २५०	आनंद० २७५	कोशातीत २९६

ॐ नमो गुरुभ्यः ॥

श्रीमन्मानसनामवन्दना.

श्रीसीतारामनाम्ने नमः ॥

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
वीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥ (हनुमन्नाटके)

प्रथमोऽध्यायः ।

मूल ।
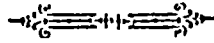
दोहा–गिरा अरथ जल वीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ।
बंदौं सीताराम पद, जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न ॥ १८ ॥

अथ तत्त्वार्थसुमिरनी टीका ।

दोहा–श्रीवैदेही पदकमल, अरु रघुवरपद ध्याय ।
भरत लषण रिपुहन बहुरि, पवनसुवन सिर नाय ॥
श्रीगुरुपदपंकजसुरज, अञ्जन हियदग लाय ।
नामवन्दना अर्थ जेहि, अगम सुगम दरसाय ॥
बंदौं श्रीतुलसीचरण, बालमीकि अवतार ।
तत्त्वमहत्त्वसमेत जिन, रामनाम विस्तार ॥
तासु कावत तिनहीं कृपा, कराहि तो कछु दरसाय ।
पाठ अरथ गति कीर ज्यों, पाठक हाथ सदाय ॥
श्रीमन्मानसनामकी, वन्दन नव दोहाय ।
श्रीतत्त्वार्थसुमीरनी, टीका रची बनाय ॥

(इति मंगलाचरण)

टीका—मैं श्रीसीतारामजीके चरणकमलोंकी वंदना करताहूँ, जिन्हें दीन अत्यन्त प्यारे हैं और जो (परस्पर) शब्द और अर्थ, जल और जलकी लहरके समान कथनमात्रमें भिन्न हैं, पर यथार्थमें भिन्न नहीं हैं॥ १८ ॥

टिप्पणी—भावार्थ।

(१) श्रीगोस्वामीजीने पूर्वमें सबकी वंदना करते हुए नित्यपरिकरोंकी भी किया तथा श्रीसीतारामजीकी भी पृथक् २ सहेतुकवंदना करके युगलरूपके भिन्न २ गुण दिखा आये. यथा— **" जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसयप्रिय करुनानिधानकी॥ ताके जुगपदकमल मनावउँ। जासु कृपा निर्मल मति पावउँ॥ "** (बा० दो०–१७) इसमें ' युगपद ' मनावनेका हेतु यह कि जैसे बालक जब माताके दोनों चरण पकड कर मचलता है, तो अभीष्टवस्तु लेकर छोडता है, अर्थात् अवश्य पाता है वैसेही मैं निर्मल बुद्धिके लिये मचला हूँ, सो पावउँ, अर्थात् दीजिये पुनः उसके आगे श्रीरामजीकी वंदनाके गुण यथा—**" पुनि मन बचन करम रघुनायक। चरनकमल बंदउँ सब लायक॥ राजिद नयन धरे धनु सायक। भगतविपति भंजन सुखदायक॥ "** (बा० दो०–१७) इसमें प्रथम पुनि कहनेका भाव यह कि मति निर्मल हो तो पीछे मन वचन कर्म श्रीरामजीमें लगते हैं, तब जो इन तीनों सहित भजन करे तो श्रीरामजी कृपाकर विपत्ति भंजन करके सुख देते हैं, अर्थात् प्रथम इन चेतनोंपर माता श्रीकिशोरीजी कृपा करती है, तो इनकी बुद्धि निर्मल करके शरण होनेके योग्य बना देती हैं, अनुकूलकी तो बात ही क्या ? जयंतने बडा भारी अपराध किया, यथा—**" यद्यपि द्रोहकियो सुरपतिसुत कहि न जाय अति भारी। "** (वि० १६७): परन्तु आपने उसकी चूक सुधार कर (अर्थात् विपरीत दंडवत किया तिसे निज करसे फिरा कर सन्मुख कर दिया, वाल्मीकीयमें प्रसिद्ध है,) हठात् रक्षा कराया. पुनः जब लंकामें श्रीहनुमानजीने इनको दुःख देनेवाली राक्षसियोंका विजयोपरांत चित्रवध करना चाहा, तो तिनकी रक्षार्थ आपकी असीम करुणा विदित है, यथा— **" पापानां वा शुभानां वा वधार्हाणां प्लवंगम। कार्य्यं करुणमार्येण न कश्चिन्नापराद्ध्यति॥ "** (वाल्मी०लं०); अर्थात् श्रीजानकीजीका वचन है, कि हे हनुमान् ! पापी हो चाहे शुभी हो, चाहे वध करनेके योग्य हो श्रेष्ठ लोगोंको करुणा ही करना चाहिये, क्योंकि काई ऐसा नहीं है जो अपराध न करता हो, यहाँ, जैसे माता सुपूत कूपूत सब पर दया करती है तैसे ही आप जीव मात्रके लिये कहती हैं. इससे जीवमात्रकी पुरुषार्थरूपा हैं यह निश्चय हुआ, अर्थात् जैसे माता बालकका शृंगार कर देती है, तो पिता प्रसन्न हो कर गोदमें बिठा लेता है, इसी तरह जगज्जननी, श्रीजानकीजी करुणा करके निर्मलमति देकर संबंध योग्य कर देती हैं तो श्रीरामजी स्वीकार करते हैं, यथा— **" जब लगि मैं न दीन दयालु तुम मैं न दास तुम स्वामी। "** (वि० ११३) **शंका**—यहाँ सुखदायक व विपत्तिभंजन श्रीरामजीको कहा, तो क्या जानकीजी केवल निर्मलमति ही देती हैं ? **समाधान**—नहीं नहीं,

ऊपर " **जासु कृपा निरमल मति पावउँ** " कहे हैं अर्थात् अपनी कृपासे मति सुधार कर शक्ति रूपसे श्रीरामजीके संग विपत्ति नशाने व सुखदेनेमें भी रहती हैं, जैसे आपने अपना प्रतिबिंब रूप लंका पठाके मुख्य तो जीवरूप विभीषणकी रक्षाका तथा पतितराक्षसोंके उद्धारका संबंध लगा दिया और अपने मुख्यरूपसे प्रभुसंग ही रहीं, यथा–" **प्रभुपद धरि हिय अनल समानी ।** " (आ० दो० २९) अर्थात् आप अग्निमें प्रवेश करके संग रहीं, क्योंकि अग्निदेव ही चित्रकूटको आते समय तेजपुंज बालकरूपसे आकर मिले थे, उनका जाना ग्रंथकारने नहीं लिखा, क्योंकि वे अलक्ष्यरूपसे संग रहे थे और आगे युद्धादि कार्योपरांत वे (अग्निदेव) ही प्रत्यक्ष होकर सौंपे, यथा–" **धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग विदित जो०** " **रामहिं समर्पी आनि सो** " (लं० दो० १०८) पूर्व अलक्ष्य रूपसे रहे यथा–" **कविअलखित गति वेष विरागी ।** " (अ० दो० १०९) इसीसे यहाँ प्रकटरूप धरना कहा क्योंकि सबको देखपडे । यदि ये संग न होतीं, तो श्रीरामजी शक्तिविना अकेले राक्षस वधादि कार्य कैसे करते, क्योंकि शक्ति तो यही हैं, यथा– "**आदि सक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरिहिं मोरि यह माया ॥** " (बा० दो १५१) यहाँ अपनी आदिशक्ति तथा माया कहकर कृपारूपिणी जनाये, यथा " **माया दंभे कृपायां च** " अतएव श्रीसीता और श्रीरामका नित्य संयोग है इसीसे वे नित्य सर्व शक्तिमान् कहाते हैं इसी स्पष्टताके लिये इस दोहामें अभिन्न वर्णन किये ॥

(२) यथा–**गिरा अरथ**०अर्थात् जिनको लोकसुख दुःखरूप लगा तिससे दुःखी होकर और जाति, विद्या, महत्त्वादि मदरूप द्रव्यसे हीन होकर खिन्नता (दीनता) आई, ते जिन्हें परम प्रिय हैं अर्थात् साधारणमें सब ही जीव प्रिय हैं, ऐसे श्रीसीतारामके पदकमलोंकी मैं वंदना करता हूँ, कि जो कहने तथा देखनेमें भिन्न हैं, परन्तु विचारमें अभिन्न हैं, जैसे वाणी और अर्थ, इस वाक्यसे प्रथम ऐश्वर्यकी एकता दिखाते हैं, कि जैसे वाणीमें अर्थ गुप्त रहता है, विद्याबलसे अर्थ करके जाना जाता है, तैसेही श्रीजानकीजीकी शुद्ध इच्छासे मूलप्रकृति होती है, यथा–" **भृकुटि बिलास जासु जग होई । राम वामदिसि सीता सोई ॥** " (बा० दो० १४७) ; तिस प्रकृतिमें श्रीरामजीका तेजरूप अगुणब्रह्म व्यापक रहता है, यथा " **यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलम्** (बा० मं० श्लो०) पूर्व भूमिकामें कह आये, सो गिरा अर्थवत् कभी भिन्न नहीं होता और ज्ञानबलसे जाना जाता है, इस प्रकार ऐश्वर्यमें अभिन्न हैं ॥

(३) पुनः जो कृपा, दया, उदारता, सौशील्य, सौलभ्यादि गुणसहित सगुणरूपसे लोकोद्धारहेतु अवतार लेकर देख पडते हैं, सो जल और जलकी लहर समान हैं, अर्थात् अवतार नाम नीचे उतर आनेका है, वैसेही आप दोनों रूपसे जल वीचि सम नित्यविलासयुक्त श्रीसाकेतलोक (नित्य अवध) में रहते हैं । वहाँ आनन्दरूपी जलसे समुद्रवत् पूर्ण रहते हैं, यथा– " **जो आनंदसिंधु सुखरासी ।** " (बा० दो० १९६) जैसे वायु वेग पाकर अथवा

पूर्णिमाके चन्द्रमाको देखकर समुद्र वीचिके साथ उमडकर किनारारूप मर्यादा छोडकर कुछ दूर भी चला जाता है, तो लोगोंको स्नानादिकी सुलमता होती है, तैसे (बद्धजीवका रूपक चन्द्रमासे. आगे, बा० दो १८ (१) तथा दो० १९ (६) में विस्तारसे दिखावेंगे, जैसे चन्द्रमा जब रातमें आकाशके तारागण रूपी कुटुंबसहित प्रकाश करके सुखी होता है, तो उसी तिथिमें राहु आकर ग्रास करता है, तैसे ही जीवरूप विभीषणजी हैं, यथा—" **जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिन्ता।** " (वि० ५९), अर्थात् जीव चन्द्रमाकी भाँति अज्ञानरूपी रात्रिमें जो कि तम (अँधेरा) रूप ही है, आकाश सम यथार्थसुखशून्य जगत्में, सुतकलत्रादिरूप तारागणोंसहित अभिमानरूप प्रकाशमें अपनेको सुखी हुआ मानता है, तो एकदिन कालरूपी राहु ग्रास करलेता है, जैसे विभीषणजी रात सम मोहरूप रावणवश रहे, यथा—"**जीव हृदय तम मोह विसेषी**"(उ०दो० ११६), और " **मोह दसमौलि** " (वि. ५९); तहाँ आकाशवत् प्रवृत्तिरूप लंका रही और तारागणसम उनके कुटुंब राक्षसादि रहे,) सब जीवोंको तथा जीवरूप विभीषण जीको पूर्णमासीके चन्द्रमा सम पूर्णबद्ध देखकर तिनके उद्धारार्थ कृपारूपी वायुका वेग हुआ, जैसे विभीषणप्रति श्रीमुख वचन है, यथा— " **तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥** " (सुं० दो० ४७); यहाँ अन्य हेतुओंका निषेध किये हैं। समुद्रमें प्रथम तरंग उठनेकी भाँति श्रीजानकीजीकी करुणा उदय हुई तो तिनके संग श्रीरामजी भी नित्यविभूतिकी मर्य्यादासे बाहर इस लीलाविभूतिमें पधारे, क्योंकि इस विभूतिके आनेमें श्रीजानकीजीकी ही करुणा प्रधान रहती है, यथा—"**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।** " (गीता अ. ४); मायाके अर्थमें कृपारूपिणी श्रीजानकीजीको ऊपर कह आये तो उपरोक्त स्नानादि की भाँति दर्शनादिके लिये भी सुलभ हुए॥

(४) जैसे जल और वीचि, शब्द और अर्थ दोनों परस्पर एक ही तत्त्व हैं, तैसे ही ये दोऊरूप भी एक ही तत्त्व हैं, इसीसे यहाँ इन्हें कथनमात्रमें भिन्न पर तत्त्वमें एक कहा है, यथा—"**तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥** " (सुं० दो० १४); यह श्रीमुख वचन है. प्रथमके दृष्टान्तमें प्रथम स्त्रीलिंग विशेषण कहकर श्रीजानकीजीको कहे. पुनः दूसरेमें प्रथम पुल्लिंग दृष्टान्तसे श्रीरामजी कहे गये इससे दोनोंमें कार्य कारणका निषेध किये तथा आगे पीछे उलट पलटसे यह भी दिखाये, कि चाहे सीताको राम कहो, चाहे रामको सीता कहो, कोई भेद नहीं है. यथा— श्रुतिः " **रामस्सीता जानकी रामचन्द्रो नित्याखण्डो ये च पश्यन्ति धीराः॥** " (अथर्वणे), पतिपत्नीस्वरूपको ब्रह्म अपनी इच्छासे धारण किये हैं, यथा श्रुतिः " **स एवात्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्** " इति (बृहदारण्यके), अर्थात् वह एकही ब्रह्म स्त्रीलिंग पुल्लिंग दोनों है जैसे वाणी और अर्थका तथा जल और बीचिका संबंध सनातन है, तैसे ही दोनों रूप सनातन हैं, यथा—श्रुतिः" **नित्यां निरञ्जनां शुद्धां रामाभिन्नां महेश्वरीम्। मातरं**

मैथिलीं वन्दे गुणग्रामां रमारमाम् ॥" (मै० उ० वाल्मीकि सं०) जैसे वाणीसे अर्थका तथा जलसे वीचिका ज्ञान किया जाता है, वैसे ही रामसे सीताका और सीतासे रामका बोध होता है **"द्वौ च नित्यं द्विधा रूपं तत्त्वतो नित्यमेकता। राममंत्रे स्थिता सीता सीतामंत्रे रघूत्तमः ॥"** (विष्णुपुराणे); तथा—**"श्रीसीतारामनाम्नस्तु सदैक्यं नास्ति संशयम् । इति ज्ञात्वा जपेद्यस्तु स धन्यो भाविनां वरः॥"** (ब्रह्मरामायणे) तत्त्वतः एकताके और भी स्फुट प्रमाण हैं, यथा **"तत्त्वमसि"** यह सामवेदका महावाक्य है; सो दोनों नामोंको एक भाँति सिद्ध करता है; यथा—**" रकारस्तत्पदो ज्ञेयस्त्वंपदाकार उच्यते । सकारोऽसिपदं ज्ञेयं तत् त्वं असि सुलोचने ॥"** (महारामायणे) तथा **" लिखितं त्रिविधं सीताकंकणाकृति शोभितम् । चित्रकाव्यं भवेत्तत्र जानंति कविपंडिताः ॥ तकारं तत्पदं विद्धि त्वंपदाकार उच्यते। दीर्घता च असि प्रोक्तं तत् त्वं असि महामुने ॥"** (महासुन्दरीतंत्रे);

(९) अथवा—यहाँ दोहेके पूर्वार्द्धसे ध्यान कहे, पुनः आगे वंदौं **" सीताराम पद "** कहनेका दूसरा यह भी आशय है कि, पद नाम शब्दका भी होता है अर्थात् " सीताराम सीताराम " इस प्रकार दोनों नामके शब्दरूपकी वंदना करता हूँ, कि जिनके जपसे खिन्नोंका उद्धार होता है, इस भाँति जिन (युगलनाम) को खिन्न परमप्रिय हैं, क्योंकि युगलनाम जपसे दश नामापराध भी नहीं होते, इसीसे खिन्नोंको सुगम हैं, यथा **" सीतया सहितं यत्र रामनाम प्रकीर्तितम् । न तत्र नामदोषाणां प्रवृत्तिः स्यात्कथंचन ॥ "** (लोमशसं० शिववाक्यम्); इस प्रकार युगलनाम जपसे नामापराध नहीं लगते, इसका विशेषरूपसे विवरण इस ग्रंथके अंतमें (अर्थात् बा० दो० २७ (१) के "भाय कुभाय अनख " के प्रसंगमें) दिखावेंगे । इस दोहेमें दोनों रूप व नामको तत्त्वतः एक कहनेका आशय यह है कि आगे " वंदौ नाम राम रघुवरको " ऐसा कहेंगे, तो जिससे किसीको यह संदेह न हो कि ग्रंथकार तो एक ही नामके उपासक थे तथा आगे केवल रामनामसे नवों संबंधोंकी व्याख्यामय वंदना करेंगे, तो जिससे सीतानामकी भी आशय उसीमें समझी जावे. विचार इतना ही है, कि जो ऊपर कह आये, कि सीतानामसे निर्मलमति प्राप्त होकर जीवमें संबंध योग्यता होगी, तो राम शब्द द्वारा दोऊरूपसे रक्षा करेंगे । जैसे प्रथम " पिता-पुत्र" संबंधका प्रसंग है, तिसमें प्रथम पुत्रवत् निर्मलबुद्धि श्रीकिशोरीजी करदेंगी, तब पितारूप श्रीरामजी सहित संबंधानुसार अभीष्ट सिद्ध करेंगी । ऐसे ही नवो संबंधोंमें विचारना चाहिये, जैसे ऊपर कह आये, कि प्रथम माता शृंगार कर देती है, तब पिता स्वीकार करता है । **शंका**—तो सीतानाममें ही सब अर्थ आगेके क्यों न कहे ? **समाधान**—इसी तरह रामनामके लिये भी शंका होती, पुनः माधुर्यरीतिसे लोकमें पुरुषका नाम प्रधानरूपसे ख्यात रहता है, और स्त्रीका तिसके नामान्तर समझा जाता है, ऐसे विचारसे भी आगे रामनाम ही की व्याख्या करेंगे ॥

अव०—इस दोहाके सारभूतशब्द " **जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न** " की आशयके आधार पर ही आगेका संबंध अगली चौपाईसे आठवीं तक दिखावेंगे, अतएव वंदनाधार जानकर इसे भी इस नामवन्दना प्रकरणमें गणना किया है, स्पष्टरूपसे नामवंदना अगली चौपाईसे कहेंगे—

अथ नामवंदना ।

मूल (चौ०)

बंदउँ नाम राम रघुवरको । हेतु कृसानु भानु हिमकरको ॥१॥

टीका—श्रीरघुवरके रामनामकी बंदना करता हूँ, जो अग्नि, सूर्य, और चन्द्रमाके हेतु हैं॥१॥

टिप्पणी (अनुसंधानार्थ)

अथ मंत्रोद्धार तथा संबंध निरूपण ।

(१) इस चौपाईके अर्थमें रामनामके तीनों वर्णों (र. अ. म.) को क्रमशः अग्नि. सूर्य और चन्द्रमाका हेतु कहनेका भाव यह है, कि रकार अग्निवाचक है, यथा—" **रश्च रामेऽनिले वह्नौ** " (एकाक्षरकोशे) और अग्निसंज्ञा षडक्षर रामतारक मंत्रके बीजकी है, यथा—**रामो ङेन्तो वह्निपूर्वो नमोन्तः स्यात्षडक्षरः । तारको मंत्रराजोऽयं संसारविनिवर्तकः ॥"** (रहस्यत्रय) तिस बीजसे पाँच संबंध प्रकट होते हैं, तिनका धात्वर्थसहित निरूपण आगे प्रत्येक दोहोंके ' संबंधनिर्णय ' प्रसंगमें दिखावेंगे । यहाँ निर्देशमात्र लिखते हैं, जैसे—बीजमें प्रथमाक्षर रकार है, सो अव्यक्त चतुर्थ्यात्मक है यथा—" **तत्र प्रथमपदं रकारः अव्यक्तचतुर्थ्यात्मकः** " (रहस्यत्रये) तिसकी रेफसे '**पिता—पुत्र** ' संबंध हुआ, तथा रेफकी ह्रस्व अकारसे '**रक्ष्य—रक्षक** ' संबंध और अव्यक्तचतुर्थीसे ' **शेष—शेषी** ' सं० होता है, और बीजके द्वितीयाक्षर अकार से '**भर्तृ—भार्या**' सं० होता है, तथा तृतीयाक्षर मकारसे '**ज्ञातृ—ज्ञेय** ' सं० होता है, यहाँतक अग्निके कारण रामनामके रकारका अर्थ हुआ ॥

(२) अब नामके द्वितीयवर्ण (अकार) का जो सूर्यका कारण है, अर्थ दिखाते हैं, यथा— " **अकारो भानुबीजं स्याद्वेदशास्त्रप्रकाशकः । नाशयत्येव सद्दीप्त्या या विद्या हृदये तमः॥** " (महारामायणे) इस अकारके कार्यरूप भानुसे तन्मंडलस्थ श्रीरामजीका ग्रहण होगा, यथा—"**सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्** " (सनत्कुमार सं०) अथवा—भानुशब्दसे भानुकुलभानु श्रीरामजीका भी ग्रहण होगा, इस प्रकार भानुसे ' राम ' यह सिद्ध हुआ । पुनः हेतु शब्द जो कि कृशानु भानु और हिमकर तीनोंके साथ है; वह इस भानु शब्दके साथ अपने एकरूपसे तो अकारकी कारणता दिखाया, दूसरे श्लेषार्थ (हेतुभानु) से भानु वाच्य उपरोक्त श्रीरामके हेतु अर्थात् वास्ते, ऐसा अर्थ हुआ, तो इस हेत्वर्थसे ' राम ' शब्दके आगे

नोट (१)—इस चौ० के प्रथमार्थमें श्रीरामनामसे षडक्षरमंत्रराजका होना (सांकेतिक) जनाय, जीवेश्वर (नवधा.) संबंध दिखावेंगे जिसके आधारपर पुनः इस (चौ०) के दूसरे अर्थसमेत नवो दोहोंका अर्थ होगा ॥

चतुर्थी (आय) भी आ विराजी, अतएव रामनामके अकारसे मंत्रराजके मध्यका चतुर्थी सहित रामशब्द सिद्ध हुआ, अब जिससे तीनं सं० जैसे होते है सो दिखाते है, यथा–" **जीवान् श्रीरमयत्यसौ त्रिजगतां स्वानंदकारी वपुस्तस्मै सद्विभवे करोमि शरणं न स्याम्यहं देहभृत् ॥**" (श्रीराममंत्रार्थे); अर्थात् 'राम' शब्दका यह अर्थ है, कि जो सम्पूर्ण जीवोंको तथा श्रीवाच्य प्रकृति (दोनों) को रमण करावे, अतएव इस (राम) के ' जीवान् रमयति ' से ' **शरीर–शरीरी** ' सं० तथा ' श्रीरमयति ' से ' **भोक्ता–भोग्य** ' सं० होताहै और चतुर्थी (आय) जो कि तादात्म्य वाचकहै, यथा–**श्रुतिः "तादात्मिका या चतुर्थी तथा चायेति कथ्यते**" (रामतापनीये), तादात्म्य अर्थात् तद्भिन्नत्वे सति 'तदभिन्नसत्तावत्त्वं तादात्म्यम्' अर्थात् जो ब्रह्मसे भिन्न होते हुए भी उसके आधार विना न रह सके सो तादात्म्य कहाता है। इससे ' **आधार–आधेय** ' सं० हुआ, तथा केवल अकारके कार्य रूप (भानु) सूर्यके अर्थसे भी तीनों सं० होते है, यथा–'**सविता सर्वभूतानां नानाभावान् प्रसूयते। सवनात्पूवनाच्चैव सविता तेन उच्यते ॥** ' (योगियाज्ञवल्क्यः), अर्थात् उपरोक्त अकार अपने कार्यरूप सूर्यसे सब जीवोंको नाना भावों सहित उत्पन्न करके तिनके भावानुसार सुख देता है, इससे उपरोक्त ' जीवान् रमयति ' का साक्षात्कार हुआ, तथा ' पूवनात् ' के ' पवित्रकरनेसे ' इस अर्थसे सब जीवोंको प्रकृति विकारसे पवित्र करता है, अतः ' श्रीरमयति ' भी हुआ ' और ' सवनात् ' अर्थात् सवन नाम वर्ष भेदका है, ऐसे तीन सवनका एक वर्ष होता है, जो कि चार २ महीने गर्मी, वर्षा और जाडा नामसे ख्यात हैं, अर्थात् सूर्य ही अपनी किरणोंसे गर्मी द्वारा जीवोंकी चाह पुराते है, और जल शोषणकरके पुनः वर्षाते हैं, जिससे सबकी अन्नादिसे चाह पुराते हैं, यथा–" **आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥** " (मनुस्मृतौ); और सूर्य ही दक्षिणायन होकर शीतद्वारा भी जीवोंकी चाहपुराते हैं, अतएव ' सवनात्' से सब प्रकार जीवमात्रकी चाह पुरानेसे वही (उपरोक्त) ' **आधार–आधेय** ' सं० हुआ, क्योंकि आधार नाम चाहपुरानेवालेका तथा आधेय चाहकरनेवालेका है, यहाँ सूर्यसे तन्मण्डलस्थ श्रीसीतारामजीका ही तीनों सं० का कार्य है ऊपर प्रमाण भी दिखा आये ॥

(३) पुनः हिमकरके हेतु (कारण) मकारसे मंत्रराजके 'नमः' शब्दका होना तथा स्व-स्वामी सं० दिखाते हैं यह मकार चन्द्रबीज है यथा–" **मकारश्चन्द्रबीजं च** " (महा-रामायणे); और चन्द्रमासे उसका परमकारण हृदय लिया जाता है और हृदयसे तन्त्रागम-प्रसिद्ध नमः लिया जाता है, यथा--**श्रुतिः" हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः** " (ऐतरेयो०)" कार्यसे कारण लेनेमेंभी श्रुति ही प्रमाण है, यथा–"**ता अन्नमसृजन्त**" (छान्दोग्य अ. ६) यहाँ अन्नसे उसका कारण पृथ्वी ली जाती है, इस भाँति मकारसे नमः, हुआ, " अथवा अक्षरशः भी चन्द्रबीज मकारसे नमः शब्द होता है, जैसे "**नकारस्तु गुणे चन्द्रे**" यहाँ नकार आया, और "**मः शिवश्चन्द्रमाः**" (एकाक्षर कोषे); इस प्रकार मः भी आया. इस तरह भी नमः हुआ" (मानसतत्त्वविवरण टीका); और यह नमःशब्द उपाय वाचक है, यथा–"**नमः**

शब्देनानन्योपायत्वमिति" (रहस्यत्रये); जो उपाय होता है, वह स्वामी कहाता है, जैसे राजा प्रजाकी सब विघ्नबाधादिसे रक्षाकरने व उद्यम तथा चाकरी आदि भी करा २ व शरण मात्रसे भी रक्षा व पालनकरनेसे उपाय व स्वामी कहाता है,इसी तरह नमःशब्दसे यहाँ 'स्व-स्वामी' सं० हुआ, क्योंकि स्व नाम प्रजाका व स्वामी नाम राजाका है ॥

(४) इस प्रकार मंत्रराजमें नवों संबंधोंकी स्थिति रामतापनीयोपनिषद्की श्रीहरीदासकृत भाष्यमें विस्तारसे कहा है, इन नवोंका स्फुटप्रमाण यथा--" **पिता च रक्षको भ्राता भर्ता ज्ञेयो रमापतिः । स्वाम्याधारो ममात्मा च भोक्ता चेति मनूदिता ॥** " (बृहज्जिज्ञासापञ्चके तृतीयजिज्ञासायाम्) ; इसमें ' भ्राता ' से शेषीका ही ग्रहण होगा, जैसे श्रीरामजी भरतजीके भ्राता तो थे ही, परन्तु श्रीभरतजी उन्हे शेषी ही मानते थे, यथा- " **गुरु गोसाइँ साहिब सियराम ।** " (अ० दो० २६०); इन नवों संबंधोंको विशेषरूपसे श्रुति आदि प्रमाणों सहित नामवंदनाके दूसरे संबन्धमें भी दिखावेंगे ॥

अथ जीवेश्वर आवरण निरूपण।

ऊपर बा० दो० १८ (१) के आधारपर जो नवो संबंध कहे गये, तिनकी अपेक्षा होनेका कारण दिखाते हैं, यथा--"**ईस्वर अंस जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी ॥ सो मायावस भयउ गोसाईं । बंध्यो कीर मरकटकी नाईं ॥ जड चेतनहिं ग्रंथि परि गई ।** " (उ० दो० ११६) ; अर्थात् यह जीव ईश्वरका अंश अबिनाशी है, अंश अर्थात् भाग-हिस्सा, यथा-"**अंशस्तु भाग वंटके**" जैसे एक वस्तु चार भाइयोंमें बाँटी जावे तो प्रत्येक चतुर्थांश उन हरएकका भाग होगा, और वह (भाग) उनके ही निमित्त समझा जायगा; तैसे ही ईश्वर अंशरूप यह जीव ईश्वरके वास्ते है अर्थात् तच्छेष है, 'शेषः परार्थः 'अर्थात्' शेष वह है, जो किसीके लिये हो, यह जीव यदि अपना शेषत्व सम्हाले रहे तो. इसकी सहजस्वरूपता अविनाशी रहे, जो कि यह '**चेतन**' अर्थात् चिद्रूप और '**अमल**' अर्थात् कामादि मल रहित एकरस रहनेवाला अर्थात् सत, तथा '**सहज सुखरासी**' अर्थात् स्वाभाविक आनंदस्वरूप है, अर्थात् नित्य सच्चिदानन्द स्वरूप है, परन्तु वह मायावश हुआ, माया विचित्रकार्यकारित्वसे प्रकृतिका नाम है, जो कि तीनों गुण (सत, रज, तम) की मूर्ति है, और आठ प्रकारकी है, यथा--" **महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च** " (गीता अ. १३.); अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आकाश (इति पंचमहाभूतानि,) अहंकार, बुद्धि (महत्तत्त्व), और अव्यक्त (प्रकृति) ये आठ अंग हैं, इनके वश जैसे जीव होता है, सो दिखाते हैं, यथा-" **मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् । संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥** " (गीत अ० १४) अर्थात् भगवद्वचन है, कि मेरी शेषभूत महत्तत्वादि समग्र जड प्रपंचकी योनि अर्थात् कारणभूत जो प्रकृति है,उसमें गर्भ अर्थात् चेतन जीवात्माको रखता हूँ अर्थात् संबंध कर देता हूँ, तब यह समग्र भूत अर्थात् शरीरादि उत्पन्न होते हैं ।पुनः यह ही कहे हैं, यथा--"**कल्पादौ विसृजाम्यहम् ।**" (गीता अ०९);अर्थात्

कल्पके आदिमें मैं अपनी इच्छा मात्रसे सृष्टि कर देता हूँ, महाप्रलय उपरांत जब भगवान् योग-निद्राको छोडकर प्रथम कालका अनुमान करते हैं, यथा-- " **भृकुटि विलास भयंकर काला ।** " (लं० दो० १४), तब जीवोंके कर्मानुसार भगवान् संकल्प करते हैं, तो अपनी शरीररूप प्रकृतिमें, कि जिसे जीवोंसे प्रथम ही निज इच्छासे विस्तार किये रहते हैं। निज कर्मानुसार जीव परवश आय तिस (मूल प्रकृति) के अंश मनरूप चन्द्रमण्डलमें प्राप्त होते हैं, तो प्रथमप्रकृतिके निर्मल सत्त्वगुणमें ज्ञान व सुखहेतु बँधते हैं अर्थात् देखकर मोहते हैं। यथा- ' **तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम् । सुखसंगेन बध्नाति ज्ञान-संगेन चानघ ॥** ' (गीता अ० १४), तो प्राकृत सुखकी इच्छा होते ही इसका ज्ञाना-नंदमय स्वरूप विस्मरण हो जाता है, वही मोह हैं, जो कि तमरूप तमोगुणका कार्य हैं। इस भाँति तमोगुणके बढनेसे उस सुखका हेतु कर्म विचारकर यह (जीव) रजोगुणपर दृष्टि देता है, तो तिसकी भी वृद्धि होते ही कर्मकी इच्छा होती है । यथा- ' **सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत । ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥** ' (गीता अ० १४) पुनः इन्द्रियदेवादि द्वारा कर्मोंको करानेवाले सत्त्वगुणको ग्रहण करता है, यहांतकमें प्रथम तमोगुण बढनेसे आनंदस्वरूपता गई, रजोगुणसे जो कि जड है। कर्मेच्छा होनेमें 'चिद्रूपता' भी गई। पुनः सतोगुणसे जो कि कर्मोंके परिज्ञान पूर्वक उनका उत्साह बढाता है,'सत् (एकरसस्थिति) रूपता' भी गई। तो सच्चिदानंद स्वरूपता विसारकर स्वभाव वश हुआ, जो कि इसके पूर्वगृहीत तीनों गुणोंका ही परिणाम रूप है । जैसे तमोगुणसे काल रजोगुणसे कर्म और गुणमें सतोगुण प्रधानता सहित पूर्वोक्त दोनों गुणोंके भी अंश रहते हैं। यथा-"**सत्त्वगुण प्रमुख त्रय कटककारी ।**" (वि० ९९), इति गुण. यही तीनों मिलकर स्वभाव होता है, यथा-"**काल कर्म गुन दोष स्वभाऊ ।**" (उ० दो० ११३) स्व अर्थात् अपना और भाव अर्थात् सत्ता क्योंकि'भू-- सत्तायाम् 'धातु है । इस प्रकार पूर्व जो भगवत्को अपना शरीर रूप मानता रहा, सो विसार कर अपनी सत्ता अर्थात् गुणमय स्वरूप अलग माना अर्थात् निज गुण प्रकाशक स्वयं बना, उसी स्वभावसे निजकर्मानुसार व्यष्टि शरीरकी इच्छा हुई । यहाँ प्रकृतिके अंशरूप चन्द्रमण्डलमें आकर जीव काल, कर्म, गुणके स्मरण पूर्वक स्वभाव वश हुआ । यथा-' **कालाद्गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः । कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥** ' (श्रीमद्भागवतद्वितीय स्कं०अ० ५) इस श्लोकानुसार प्रथम जीव कालानुसार शशिमंडलमें आया । पुनः गुण विषम होकर स्वभावयुक्त हुआ । आगे इस स्वभावहीसे परिणाम पाकर कर्मानुसार महत्तत्त्वकी भी उत्पत्ति दूसरे आवरणमें दिखावेंगे और पुरुषकी अधिष्ठातृता तो प्रत्यक्षही है अतएव जीव ईश्वरसे बिलग होकर ' **शुद्धजीवकी इच्छा नामक** ' पहिले आवरणमें आया. यहाँसे असत्रूप योनियोंके संकल्प करनेसे इसका " **सत्यसंकल्प** " गुण नाश हुआ, जो कि मुक्त दशामें आठ गुण सब जीवोंमें रहते हैं, यथा-श्रुतिः" **य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्य-कामः सत्यसंकल्पः ॥** " (छां०) **शंका**-यहाँ जो मनरूप चन्द्रमंडलकी व्यवस्था कही

गई, तो मनकी तो इन्द्रियोंमें गणना है । यथा " **इन्द्रियाणां मनश्चास्मि** " (गीता अ० १०), अभी तो बुद्धि अहंकारादि ही न ग्रहण हुए तो मन कैसे ? **समाधान**—यहाँ मन मूलप्रकृतिका अंशभूत कहा गया है, जिसे भगवत्का शरीररूप पूर्व ही कह आए । पुनः यथा "**मन ससि चित्त महान** " (लं० दो० १५) ' अर्थात् जहाँसे समष्टिरूपसे सब जीव प्राप्त होकर व्यष्टि शरीरोंमें प्राप्त होते हैं, यथा- " **तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ।** " (गीता०अ०८), पुनः यथा-- " **वपुष ब्रह्मांड सो प्रवृत्ति लंकादुर्ग रचित मनदनुज मयरूप धारी ॥** " (वि०५९) अर्थात् यहाँ कारणमायाके अंशभूत मनको कहा है, कि जैसे मयदानवने लंका रची, परन्तु प्रथम देवता प्रवल रहे, उन्हे भगाकर रहने लगे थे, तो फिर जब रावण हुआ, तो उन्हें भी जीतकर रहने लगा । (यह प्रसंग बा० दो० १७७ में देखो) तैसेही यहाँ कारणमायाका अंश मन शरीरकी इच्छामात्र रचना किया । पीछे प्रकृति व बुद्धि आदिके ग्रहणपर्यंत मानो देवतोंका निवास रहेगा । पुनः चौथे आवरणमें जब यह जीव व्यष्टि बुद्धिसे चित्तद्वारा जो राजसाहंमनको ग्रहण करेगा, तो उस समय चित्तका सात्त्विकांश दब जायगा । और राजसाहं प्रवल होकर हृदय राक्षसनिवास होजायगा । तहाँके ही राजासाहंमनकी इन्द्रियसंज्ञा भी प्रकट देख पडेगी ॥

अब दूसरा आवरण प्रकृतिका दिखाते हैं ।

यथा--तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है । इस अवस्थामें तीनों गुणोंका समान ही व्यवहार रहता है । पूर्वकथित स्वभावानुसार यह जीव निजकर्मानुकूल योनियोंका संकल्प करता है, सो भी सर्वज्ञ अंतर्यामीकी ही प्रेरणासे होता है । यथा-- " **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।** " (गीता अ० ४); तथा—**सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः । तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥** " (गीता अ० १४); यहाँ " **बीजप्रदः पिता** " का भाव यह कि पूर्वोक्त चन्द्रमण्डलमें योनियोंकी कामनासे जीव मनोमय पूर्वसे ही रहनेसे जलरूप रहा ही, क्योंकि मनका जलमय रूप है, यथा-" **सलिलान्मन एव स्यात्** "(जिज्ञासापंचके); पुनः चन्द्रमाकी किरणोंद्वारा प्रकृति-बिकार देहके लिये चला, तो वायुमें तथा मेघमें आकर वृष्टिरूपसे अन्नादिमें प्राप्त होता है, (अन्नोंमें कुछकाल रहता है) पुनः पुरुषोंके खानेसे वीर्यरूप होकर स्त्रीके गर्भरूप पृथ्वीमें आता है । (क्योंकि गर्भके मेदादि पृथ्वीतत्त्वके होते हैं)तहाँ पृथ्वीकी तन्मात्रा गंध पाकर शरीरोंकी वासना हुई, क्योंकि पूर्व प्रथमावरणमें सत्त्वादिगुणोंके संसर्गसे कर्मोंकी इच्छा हुई थी, उसीसे यहाँ गंधतन्मात्राकी सहायतासे देहकामना हुई, क्योंकि इसीसे कर्म होते हैं, यहाँ असत् (देह) कामनासे इसका " **सत्यकाम** " गुण भी नाश हुआ और दूसरा आवरण हुआ ॥

तीसरा आवरण महत्तत्त्वका ।

पूर्वोक्त प्रकृतिके तीनों गुणोंका विषमविकार होकर जो पहिला परिणाम होता है, वह महत्तत्त्व है, यह तत्त्व तीनों गुणयुक्त है और धर्मी है, अर्थात् उन गुणोंकी क्रियादिका आश्रय

है। उपरोक्त शरीरवासना सहित कर्मकी इच्छासे महत्तत्त्व (बुद्धि) को ग्रहण किया, क्योंकि पृथ्वीसे ही बुद्धि होती है, यथा--" **बुद्धिर्जाता क्षितेरपि** " (जिज्ञासापंचके); पुनः बुद्धि-सहित तमोगुण बढनेसे सुखकी इच्छा सहित कर्म करनेके लिये रजोगुण बढाया, तो उससे कर्माभिमानसहित तीसरा आवरण हुआ ॥

चौथा आवरण अहंकारका ।

उपरोक्त महत्तत्त्वका जो कार्य है, वही अहंकार है, यह सात्विक, राजस तामस इन तीन भेदोंवाला है, इनमें सात्विकसे एकादश इन्द्रियां होती हैं, और तामसाहंसे शब्दतन्मात्रा होती है और राजसाहं उपर्युक्त दोनों अहंकारोंका सृष्टि करनेमें सहायक है, इस (अहंकार) की अग्निसे उत्पत्ति है, यथा--" **अहङ्कारोऽग्निसंजातो रुद्रस्तस्यास्ति देवता** " (जिज्ञासा-पंचके); इस अग्निरूपके ग्रहण करनेसे जीव वीर्य रूपसे खौलकर पिंडरूप होता है, पुनः सात्विकअहंकार (चित्त) जो कि वायु और आकाशांशसे होता है. यथा--**वायोः सकाशाच्चित्तश्च नभोंऽशाच्च प्रवर्तते ।** " (जिज्ञासापंचके); उसके वायु तथा आकाशांशसे उपरोक्त पिंडमें पोल होता है, पुनः पूर्णरूपसे यह सात्विकअहंकार पंचतन्मात्राओंकी सहायता लेता हुआ. प्रथम पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति करता है, **पंचतन्मात्रा**--तामसाहंकार कार्य और प्रथमावरणमें कहे हुए पंच महाभूतोंकी सूक्ष्मावस्थाका नाम तन्मात्रा है, वे शब्द तन्मात्रा, स्पर्शत० रूपत० रसत० और गंधत० इन भेदोंसे पांच हैं, तिनकी **उत्पत्तिका क्रम**--शब्दत० से आकाश और स्पर्शत०, स्पर्शत० से वायु और रूपत०, रूपत० से अग्नि और रसत०, रसत० से जल और गंधत०, गंधत० से पृथ्वीमात्रकी उत्पत्ति होती है, **पुनः पांच ज्ञानेन्द्रिय**--शब्दत० से श्रवण, स्पर्शत० से त्वच, रूपत० से नेत्र, रसत० से रसना, गंधत० से नासिका इन भेदोंसे पाँच हैं, इन ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायतासे वही चित्त **पाँचो कर्मेन्द्रियोंको** उत्पन्न करता है, वे आकाशादि भूत तथा तिनकी तन्मात्राओंके क्रमसे वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, पायु इन भेदोंसे पाँच हैं पुनः वही सात्विक अहंकार चित्त, ज्ञानेन्द्रियों सहित राजस अहंकार मनकी उत्पत्ति करता है, यह मन इस चित्तके वाय्वांशको पाकर अधिक चंचलता सहित पूर्वके सात्विक अहंकार चित्तको दाबकर बलात् उपरोक्त दशो इन्द्रियोंके ऊपर शासन करने लगता है, तो चित्तके छहों गुण इस मनके छहों विकारोंसे दबकर बेकार हो जाते हैं. (इस गुण--विकारका विषय आगे नाम वंदनाके छठे दोहेमें विस्तारसे दिखावेंगे) और प्रथमावरणमें कहा हुआ ' **स्वभाव** ' जो इस (मन) का कार्य है वर्तने लगता है इस मनके ही विकारोंका व्यापार होने लगता है, जैसे प्रथमावरणमें लंकामें रावणके अधिकार होनेका लक्ष्य कह आये, अर्थात् जैसे विभीषणको दबाकर रावण अपना विकारमय व्यापार करता था क्योंकि राजसाहंरूपही रावण है जैसे चित्तके देवता जीवरूप विभीषण हैं यथा--"**चित्तस्य देवता जीवो मनसश्चन्द्रमास्तथा** " (जिज्ञासा पंचके) यथा--" **जीव भवदंघ्रिसेवक बिभीषण बसत मध्यदुष्टाटवी ग्रसित**

चिन्ता । " (वि० ५९), इन (रावणादि) में तीनों भाई तीनों अहंकारोंके विकार हैं, तिनमें दोको तो कह आये, तीसरा कुंभकर्ण तामसाहंका विकार रूप था. क्योंकि यह अहंकाररूप कहाता है, तथा–"**मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार**" (वि० ५९) और अहंकारमें प्रधान तमोगुण ही रहता है, क्योंकि इसके देवता शिवजी तमोगुण व्यापार-वाले हैं. पूर्व प्रथमावरणसे-चाहता हुआ मन यहाँ अपने सुखसाधनकी सामग्री इन्द्रिया-दिको पाकर तृष्णामय हुआ, जैसे रावण लंकाकी प्राप्तिसे हुआ था, तो इसका पूर्वके अपह-तपाप्मादि आठोमेंसे '**अपिपासः**' भी नाश हुआ इस प्रकार त्रिधाऽहंकारका यहाँ चौथा आवरण हुआ, **शंका**–उपरोक्त 'अपिपासः' गुणका दो आवरणोंमें क्यों नाश हुआ ? **समाधान**–यह अहंकार ऊपरके महत्तत्त्वका कार्यरूप ही है इसलिये.

अथ पाँचवाँ आवरण आकाशकी सूक्ष्मावस्था शब्दत० का ।

ऊपर चौथे आ० में सात्विक और राजसाहंका कार्य प्रधानरूपमें प्रकट हुआ, और तामसाहंसे होनेवाली तन्मात्राओंको गौणमें कहा था तिन प्रत्येक तन्मात्राओंकी दो २ इन्द्रियोंके ग्रहण करनेसे क्रमशः शेष पाँचों आवरण होते हैं, तिनमेंसे प्रथमका (शब्दत० का पांचवां) यहाँ दिखाते हैं, जैसे तामसाहंसे शब्दत० होती है, तिसकी ज्ञानेन्द्रिय श्रवण और कर्मेन्द्रिय वाक्से तिनके विषयोंकी चाह होती है, शब्दसे तदर्थभूत विषयोंकी कामनाओंमें चित्तवृत्तिका अवकाश (फैलना) होता है तो इस (शब्द त०) से ही उत्पन्न आकाशके सूक्ष्मांशसे भये हुये अंतःकरणमें अज्ञानावरण हो जाता है, जिसका सहजमें ज्ञान धर्म है और इसकी कर्मेन्द्रिय वाक् तथा मुखका बोलना तथा भक्षण विषय है, यहाँ शब्दसे कामना व तिसकी उपरोक्त क्षुधा आदि होनेसे इसका पूर्वका '**अविजिघत्सा**' गुण भी नाश हुआ क्योंकि इसका अर्थ क्षुधाराहित्य है, यह पाँचवाँ आवरण हुआ ॥

अथ छठवाँ आवरण वायुकी त० स्पर्शका ।

यह स्पर्शत० पूर्वोक्त शब्दत० से हुई इसकी इंद्रियाँ त्वचा और हाथ हैं, तिनके विषयोंकी चाह हुई अर्थात् पूर्व आवरणमें जो विषयोंकी कामना हुई, सो एक स्त्रीहीके संगमें पाँचो इन्द्रियोंके बिषय आजाते हैं, जैसे नासासे उसकी गंधघ्राण, रसनासे अधर रसपान, नेत्रसे रूप, त्वचासे स्पर्श, कानोंसे उसके गान व मनोहर शब्दादि, तथा लिंगसे मैथुन कर्मादि होते हैं, इनमें इस त्वचाके विषय शय्या आदि भी सब (स्पर्श विषयमें ही) आजाते हैं। और इसी (स्त्रीके) विषयसे संतानादि समूह भी होते हैं, कि जिनसे बियोगादिमें जीवको शोकका आवरण होता है, तथा इसी स्पर्श० से वायु हुआ तिसके प्राणादिसे इन्द्रियोंमें कर्मचेष्टा होती हैं, और कर्मेन्द्रिय हाथसे कर्मका उत्साह होता है, जो कि कर्तृत्वाभिमान व फलेच्छा कराकर चौरासीमें पठाय अपार शोकका कारण होता है, अतएव उभय प्रकारके शोकका मूल स्पर्शत० के ग्रहणसे इसका पूर्वका '**विशोक**' गुण भी गया और छठा आवरण हुआ ।

अथ सातवाँ आवरण अग्निकी त० रूपका।

यह रूपत० उपरोक्त स्पर्शत० से हुई, अर्थात् उपरोक्त स्पर्श विषयकी सामग्रीके भोगहेतु रूपकी चाह होती है, जैसे स्त्रीहेतु नारदजीको हुई, यथा–' **आपन रूप देहु प्रभु मोहीं। आन भाँति नहिं पावउँ ओही** ॥ ' (बा दो० १३१) इति नेत्र विषय, तथा नेत्रसे देखे हुए विषय हेतु पगसे उसके तईं जानेकी आवश्यकता पडती हैं, इससे पग विषय गमनकी भी चाह हुई। यहाँ अपना रूपाभिमान व नेत्रका विषय बाह्यरूपासक्ती, कि जिन्हें चल२कर देखनेकी चाह थी यह उभयेन्द्रिय विषय प्राकृत जन्म व मरन करानेवाले हैं क्योंकि रूपोंके लिये जन्म होता है और रूपासक्ति ही मरणमें भी दुःखरूप है, तिस (रूपविषय) की चाह होनेसे इसके ' **विमृत्यु** ' गुणका भी नाश हुआ और सातवाँ आवरण हुआ ॥

अथ आठवाँ आवरण जलकी त० रसका।

यह पूर्वोक्त रूपत० से हुई. क्योंकि रूपाभिमानी होनेसे तिसके पोषणार्थ षड्रसपदार्थोंकी चाह होती है, जिनके भोगनेकी इन्द्रिय रसना है, जो रसोंको सब इन्द्रियोंमें पहुँचाकर तिनसे प्रमाद उपजाती है, तथा स्वयं भी स्वादवश होती है, इसकी कर्मेन्द्रिय लिंग है, तिसके लिये भी रस पैदा करके उससे वीर्य बढाय मैथुनविषयमें लगाती है. अतएव इन्द्रियाभिमानी होनेसे, जो कि प्राकृत रसोंसे पोषित होनेसे घटती, बढती तथा वृद्धापनेको प्राप्त होती हैं, इसका " **विजर** " गुण भी गया और रस त० का आठवाँ आवरण हुआ ॥

अथ नवाँ आवरण पृथ्वीकी त० गंधका।

यह गंध त० उपरोक्त रस त०से हुई. क्योंकि इन्द्रियाभिमानी होनेसे तिनके कार्यव्यापार हेतु पृथ्वीमें जन्म ले संसारसंबंधके सुखकी वासना होती हैं, इस (गंधत०) की जो दोनों इन्द्रियाँ हैं, तिनमें नासाका विषय सामान्य तो इतरादि (गंध) है, तथा विशेषरूपसे संसार संबंधसे स्वर्गादिसुखकी वासना (गंध) करना है, जो (वासना) कि संसारसंबंधी तीनों (देव, ऋषि और पितृ) ऋणोंसे बाँधती है, तथा इसकी कर्मेन्द्रियगुदाका सामान्यविषय मलत्याग (विसर्ग) है, परन्तु विशेषरूपसे ' मल ' अर्थात् पाप तिसका फल जो दुःख जैसे नरकादि तिनके त्याग (विसर्ग) की ही इच्छा व उपायमें रहना (विषय) है अतएव सुख-दुःखका पात्र होनेसे इसका पूर्वका ' **अपहतपाप्मा** ' (जिससे सुख दुःख न व्यापे) गुण भी गया और यह जन्मले संसारके व कुटुंबादिके अभिमानरूप गंधत० के नवें आवरणमें पडा और पूर्णरूपसे भगवद्विमुख हुआ ॥

प्रसंग मिलान।

पूर्व इस आवरणप्रसंगके प्रारंभमें जो जीवका मायावश होना कहा गया सो यहाँ तक उसके क्रमशः ग्रहण करनेमें नवो आवरण दिखाये गये और जो वहाँ ' **बँध्यो कीर मरकटकी नाईं।** ' कहे थे, वह दिखाते हैं, कि प्रथमावरणमें जहाँसे यह शुद्धरूपसे अधोगति अर्थात्

गर्भमें आया कि जहाँ जीव उल्टे जारमें बंधे लटके रहते हैं, सो तोताकी नाईं बँधना हुआ जैसे तोता बालीहेतु आलीपर बैठकर चुंगुलीपरसे बालीके लिये नीचे लपकता हैं, तो चुँगुली घूम जाती है और वह लटक कर टँग जाता है, तब तक बहेलिया आकर पकडकर पिंजडेमें कैद कर लेता हैं, तैसे प्रथमावरणके तीनों गुणोंमेंसे रज, तम,- दोनों बगलकी खडी लकडी हुए सतोगुण बीचकी लकडी तथा बुद्धि चुंगुली और प्राकृतसुख बाली सम हुआ, यह जीवरूपी सुवा जैसेहि बुद्धिरूपी चुँगलीपर बैठकर सुखरूपी बाली चाहा, कि बुद्धि चुंगली घूमनेसम भ्रमित हुई। तो यह गर्भमें आकर बँधा हुआ उल्टा टंगा, तब जन्मकाल रूप बहेलियाने नवें आवरणके संसाररूप पिंजडामें डाल दिया। पुनः जैसे बंदर बझानेके लिये छोटे मूँहका घडा कुछ खाली अन्नसे भरकर पृथ्वीमें गाड देते हैं बंदर उसमें हाथ डालकर जब अन्नकी मुट्ठी बाँध लेता है, तो नहीं निकाल सकता, क्योंकि अति लोभसे मुट्ठी खोलता ही नहीं, तबतक बझानेवाला पकडकर गलेमें रस्सी लगाकर नचाता है, तैसे जीव इस नवें आवरणमें आकर जगसुखवासनारूपी मुट्ठी बाँधकर तीनों ऋणरूपी तीन लरकी दृढ रस्सीमें गला बंधा लिया। पुनः लोभवश अनेकों नाच नाचता है, यथा--"**लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।**" (वि० १९९); यही जड माया (जगत्) और चेतन (जीव) की ग्रंथि पड गई, इस प्रकारके क्लेशभाजन खिन्न जीवोंके उद्धारार्थ इन नवो आवरणोंसे मुक्त होनेके हेतु उपरोक्त नवो संबंध कहे गये ॥

तत्त्वत्रय। (सिंहावलोकन)

उपरोक्त बा० दो० १८ (१) के इस अर्थसे यहाँतकमें विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार तत्त्वत्रय भी सूक्ष्म रीतिसे आगई। जैसे–'मंत्रोद्धारसहित संबंध निरूपण', प्रसंगमें नव प्रकारके स्वामित्वमें ब्रह्मका गुण युक्त स्वरूप तथा तदनुसार नवो प्रकारके स्व-त्व (शेषत्व) में मुमुक्षुतासहित जीवका स्वरूप कहा गया, और आवरण निरूपण प्रसंगमें माया (प्रकृति) का स्वरूप कहा गया। स्पष्ट रूपमें ऊपर प्रकृतिके आठही मुख्य अंगोंकी कहे थे। उन्हींमें यह चौबीस तत्त्वकोभी कही जाती है, यथा–"**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥**" (गीता अ० १३) अर्थात् प्रकृति (१) महत्तत्त्व (१) अहंकार (१) पंचतन्मात्रा (५) एकादशइन्द्रियें (११); और पंचमहाभूत (५); इन भेदोंसे २४ हुई; इन सबोंको इस आवरण प्रसंगमें स्पष्ट करते आये हैं। श्लोकके जो '**पंचचेन्द्रियगोचराः**' की जगह पंच तन्मात्रायें (५) कही गई, सो भेद नहीं, क्योंकि ज्ञानेन्द्रियोंके पाँचों विषय तथा तन्मात्रायें एकही हैं। इनके सिवाय कर्मेन्द्रियोंके भो पाँचोंविषय पाँचमेंसे नवें आवरण तकमें दिखाते आये हैं, जो कि ज्ञानेन्द्रियोंके अनुगामी हैं। इससे मुख्य चौबीस ही तत्त्व हैं ॥

इति श्रीरामबल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्त शरण कृत–श्रीमन्मानस नाम वन्दनायाः तत्त्वार्थसुमिरनीटीकायां प्रथम मणिकानुगतार्थवर्णने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ।

संबंधाधारपर क्रमशः आवरणातिक्रमण अर्थ ।

मूल (चौ०)

बंदउँ नाम राम रघुबरको । हेतु कृसानु भानु हिमकरको ॥ १ ॥
बिधि हरि-हरमय वेदप्रानसो । अगुन अनूपम गुन-निधान सो ॥२॥

टीका—श्रीरघुवरके रामनामकी वंदना करता हूँ, जो अग्नि सूर्य और चन्द्रमाके कारण हैं। सो रामनाम विधि हरि हरमय है, वेदके प्राण हैं, गुणोंसे पर व रहित, उपमारहित और गुणोंके निधान है ॥ १ ॥ २ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) यहाँ '**नाम**' प्रथम कहकर रूपसे नामकी श्रेष्ठता सूचित की. जैसा कि आगे कहेंगे। तथा '**रघुबरको**' यह कहकर रामशब्द वाच्य व्यापक ब्रह्म, परशुराम और वलराम आदिसे इन रघुकुलभूषण श्रीरामजीको भिन्न दिखाया, जैसे श्रीभरद्वाजजीने शंका किया, यथा—"**रामनाम कर अमित प्रभावा०** ।"**राम कवन प्रभु पूछउँ तोहीं०**' '**प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, 'जाहि जपत त्रिपुरारि।**" (बा० दो०—४५ ॥ ४६), वैसेही श्रीपार्वतीजीकी भी शंका है, यथा—'**प्रभु जे मुनि परमारथवादी । कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी ॥ ' राम सो अवध नृपति सुत सोई । की अज अगुन अलख गति कोई ॥**" (बा० दो० १०७), इत्यादि, वहाँ श्रीयाज्ञवल्क्यजीने तो श्रीभरद्वाजप्रति 'उमाशंभु संवाद' की ओट लिया और इन सबका उत्तर जैसे श्री शिवजीने दिया है कि '**पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि०, रघुकुलमनि मम नाथ सोइ** । " (बा० दो० ११६); तैसे ही सबका समाधान यहाँ श्रीगोस्वामीजीने किया, कि रघुवरको राम नाम है, जो परात्पर हैं। ऐसा ही श्रीमुखवाक्य भी है, यथा—"**कोसलेस दसरथके जाये । हम०** " (कि० दो०२) तथा—"**आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्** । " (वाल्मीकीये लं० कां०) ।

(२) श्रीरघुवरके भी अनन्त नामोंमेंसे श्रीरामनामहीकी वंदना करनेका भाव यह है, कि जिस नामसे नामकरण होता है, वही प्रधान होता है। सो श्रीवशिष्ठजीने यही (राम) नाम कहकर नामकरण किया है। यथा—"**इन्हके नाम अनेक अनूपा । मैं नृप कहव स्वमति अनुरूपा ॥, सो सुखधाम राम अस नामा** । " (बा० दो १९६); पुनः परात्परत्वसे भी इसी नामकी वंदना किया, यथा—"**राम सकलनामनते अधिका** । " (आ० दो० ४४); तथा—"**सहसनाम सम सुनि सिवबानी**" (बा दो० १८); इत्यादि, तथा—"**श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्** । " (सनत्कुमारसं० रामस्तवराज); तथा—**श्रीरामाय नमो ह्येतत् तारकं ब्रह्मनामकम् । नाम्नां विष्णोः सह-**

स्त्राणां तुल्य एष महामनुः ॥ श्रियो रमणसामर्थ्यात् सौन्दर्यगुणसागरात् । श्रीराम इति नामेदं तस्य विष्णोः प्रकीर्तितम् ॥ " (हारीतस्मृति अ० ४); (कस्य विष्णोः ? श्रीरामविष्णोः) इत्यादि, तथा--" नारायणादि नामानिकीर्तितानि बहून्यपि । आत्मा तेषां च सर्वेषां रामनाम प्रकाशकः ॥" (महारामायणे); अर्थात् श्रीरामनाम सब नामोंका आत्मा है, इससे भी इन्हें सबका मूल जानकर वन्दना किये, कि जिससे सबकी होजाय ॥

(३) "हेतु कृसानु भानु हिमकरको" का भाव यह कि रामनामके तीनों अक्षर ' र अ म' क्रमशः अग्न्यादिके बीज हैं, यथा–"रकारोऽनलबीजं स्याद्ये सर्वे बाडवादयः । कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम् ॥ अकारो भानुबीजं स्याद्वेदशास्त्रप्रकाशकम् । नाशयत्येव संदीप्त्या याविद्या हृदये तमः ॥ मकारश्चन्द्रबीजं च पीयूषपरिपूर्णकम् । त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च ॥" (महारामायणे); ये तीनों क्रमशः कर्म, ज्ञान और उपासनाके भी कारण हैं, यथा– " रकारहेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते । अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम् ॥ " (महारामायणे); और भाव आगे कहेंगे ॥

(कं)"विधि-हरि-हर-मय"का भाव यह कि इन्हींसे त्रिदेवोंमें शक्तियाँ हैं, यथा--"रामनाम प्रभावेण स्वयम्भूः सृजते जगत् । बिभर्ति सकलं विष्णुः शिवः संहरते पुनः ॥" (महाशंभुसं०); यह मयशब्दके तादात्म्यरूपका लक्ष्य है । जैसे लवण खारमय घट मृत्तिकामय इत्यादि, तथा--मयशब्दके दूसरी प्रकारके अर्थ 'बाहुल्यमय' का लक्ष्य, यथा बाहुल्यमय अर्थात् बहुमूल्य जैसे मणि, अन्नवस्त्रादिमय वा आकाश नक्षत्रमय, इसके लक्ष्य यथा--" रामनामांशतो याता ब्रह्माण्डाः कोटिकोटिशः । " (पद्मपुराणे); यहाँ नामके अंशमें कोटि २ ब्रह्मांडोंका होना मयका अर्थ हुआ । तिन प्रत्येक ब्रह्मांडके अनेकों ब्रह्मा आदि नाममें हुए ।

(खं) " वेदप्रानसो" का लक्ष्य यथा--" वेदे व्याकरणे चैव ये च वर्णाः स्वराः स्मृताः । रामनाम्नैव ते सर्वे जाता नैवात्र संशयः ॥ " (महारामायणे) ' तथा प्रणव (ॐ) वेदका प्राण है, वह रामनामसे सिद्ध होता है, (भूमिकामें दिखा आये) इस प्रकार श्रीरामनाम भी वेदके प्राण हुए, तथा प्राण, सार व तत्त्व आत्माको भी कहते हैं, तिनका लक्ष्य, यथा–" यहि महँ रघुपतिनाम उदारा । अतिपावन पुरान श्रुति सारा " (बा० दो० ९) ' तथा ' वेदतत्त्व नृप तव सुत चारी । ' (बा० दो० १९७) ' इत्यादि ' ।

संबंधनिर्णय (अनुसंधानार्थ) ।

(४) पूर्व संबंधनिरूपणप्रसंगमें रामनामसे मंत्रराजका होना और मंत्रके बीजके प्रथमाक्षर रकारकी रेफसे " पिता–पुत्र " नामक पहिले सं० का होना लिख आये, वही इस नामबंदनाके इस पहिले दोहेमें दिखाया जायगा, कारण यह है कि पूर्व बा० दो० १८ के अर्थमें ' खिन्न ' अर्थात् दीनोंके ऊपर श्रीसीतारामजीका तथा नामका परमप्रियत्व दिखा आये ।

नोट (–१) यहाँ तक वाक्योंका लक्ष्य दिखाया, इनका विशेषार्थ संबंधाधारपर आगे करेंगे ।

तिसके पश्चात् ही यह दोनों चौपाई हैं। इससे निश्चय हुआ, कि ये उन खिन्नोंकेही आधारके लिये हैं, यह दिखानेके लिये प्रथम दीनताका कारण दिखाते हैं, कि पूर्व आवरणनिरूपणप्रसंगमें जीवका नवें आवरण (गंध त०) में आकर पूर्ण रीतिसे मायावश होना दिखा आये, वह माया रामकृपासेही छूटती है, यथा—" **सो दासी, रघुवीरके, समुझे मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा विनु, नाथ कहौं पद रोपि॥** " (उ० दो० ७१) (इसमें मायाका प्रसंग है) और मर्कटसम जीवका बँधना तथा दुःखमय दशामें पड़ना भी तहां ही दिखा आये वह दुःखभी रामकृपाहीसे छूटता है, यथा—"**जब कब रामकृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई॥**" (वि० १२८) तथा—श्रुतिः— '**तरति शोकमात्मवित**' इसके अनुसार आत्मज्ञानसे दुःख छूटता है, वह (ज्ञान) तो श्रीरामकृपाहीसे होता है, यथा—श्रुतिः " **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥** " (मुण्डक उ०) और श्रीरामकृपा जीवोंपर दीनता ही से होती है, यथा—' **जबलगि मैं न दीन दयालु तुम** ' (वि० ११३) इत्यादि. यह सिद्धान्त विचारकर जीव अपने उपरोक्त नवें आवरणके तीनों ऋणोंकी भयानकता पर ध्यान दिया, तो इसे यह संसाराभिमान अति दुःखरूप लगा। और यह विचारकर अधैर्य हुआ कि कोटिनजन्मके पाप तो वन सम हैं, तिन्हे इस एक जन्मकी अल्प आयुमें शुद्ध करना वनको नखसे काटनेकी भाँति असाध्य है, तो दीनता आई, तब नामकी कृपा हुई, (नाम रूप अभिन्न हैं ऊपर दिखा आये) अतः इस दीनको अपना आधार होना इन दोनों चौपाइयोंसे दिखाते हैं। प्रथम दीनताकी आधारभूत शिशु अवस्था जीवकी दिखाते है। क्योंकि इस अवस्थामें यह अति पराधीन और असमर्थ रहता है। वास्तवमें जीवोंकी शिशुवत् ही दशा हैं। क्योंकि जैसे असमर्थ वालक रो २ कर किसी भी वस्तुकी इच्छा करता है, तो माता, पितासे ही पूरी होती है।तैसे जीवोंका भी कर्तृत्वादि ईश्वराधीन है, तो यहाँ प्रथम यह जीव दीन बालक है, तीनों ऋणोंके भयसे रोया अर्थात् खिन्न हुआ, लक्ष्य यथा—"**करि विनती पायन परेउ, दीन्ह वाल जिमि रोइ।**" (अ० दो० ९४) तो इस खिन्नके लिये नाम अपनेमें सुखमय माँ बापका आधार दिखाते है कि जिस आधारसे तीनों ऋण अनायास ही छूट जायँगे।

(४) उपरोक्त रेफके अर्थका पितृत्व ग्रंथकार यहाँ दिखाते हैं। यथा—"**हेतु कृसानु भानु हिमकरको**" अर्थात् "रा—दीप्तौ" इस धात्वर्थसे रेफवाच्य रकार संपूर्ण दीप्ति अर्थात् प्रकाशके हेतु हैं, और प्रकाशके कारण ब्रह्मांड भरमें तीन ही हैं। जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा नामसे ख्यात हैं, इन तीनोंकी कारणता दिखाकर रेफने अपना जगन्मातृत्व दिखाया। कि जो माता गर्भमें रख कर उत्पन्न करके बालअवस्था पर्यंत सेवन करती है, वह कार्य इन तत्त्वोंका ही है, जैसे कि आवरण प्रसंगमें दिखा आये, कि जीव प्रथम चन्द्रमंडलमें आया, पुनः तिनकी किरणों द्वारा मेघोंमें आया। तहाँसे वृष्टिद्वारा (जो कि सूर्यके संयोगसे होती है, तथा

मेघादि भी सूर्यसे कर्षितजलसे ही बनते हैं) अन्नमें आकर वीर्य रूपसे जठराग्नि द्वारा माताके जठरमें पिंडरूप हुआ । क्योंकि अग्निसे ही रूप होता है, यथा--"**जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं ।**" (उ० दो० ८९) तथा सूर्यसे पवनकी भी उत्पत्ति होती है, तो सूर्य ही पवन प्रेरकर प्रसव अर्थात् उत्पन्न करते है, यथा--"**सविता सर्वभूतानां नानाभावान् प्रसूयते । सवनात्पूवनाच्चैव सविता तेन उच्यते ॥**" (योगियाज्ञवल्क्यः) अर्थात् " पूञ--प्राणिप्रसवे " इस धातुसे सविता शब्द बनता है, अर्थात् सूर्य सब जीवोंका प्रसव (उत्पत्ति) करते है, क्योंकि प्रसवकारक पवनके भी कारण है, जैसे '**पूवनात्**' इसी श्लोकमें कहा है, सो इसके अर्थसे सूर्य ही सबको पवित्र करते हैं, जो कि पवनका कार्य है, यथा--"**पवनः पवतामस्मि**" (गीता. अ० १०) अतएव सूर्य पवनके भी प्रेरक व कारण सिद्ध हुए, । **शंका**--यह कार्य तो श्रीरामजीका है, सूर्यका कैसे ? यथा--' **प्रसवपवन प्रेरेउ अपराधी ।** ' (वि. १३७) (इसमें श्रीरामजीकी प्रेरना है) **समाधान**--सूर्य भी श्रीरामजीके सूक्ष्मरूपके शरीर हैं, यथा--' **सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम् ।**' (सनत्कुमार सं०) पुनः जो माता पोषण करके दिनोंदिन बढाती है. वे दिन पल घडी आदि भी सूर्यसेही होते है, अन्नादि उत्पत्ति भी सूर्यसेही होती है, कि जिससे माता पोषण करती है । यह सब मंत्रोद्धारमें ' **सवनात्** ' की व्याख्यामें दिखा आये । और जो माता औषधी आदि करके रक्षा करती है, तिन औषधियोंके कारण चन्द्रमा है , जो माता चलना बोलना आदि सिखाती है, सो सूर्य हीकी शक्तिसे बालक चलता व बोलता है, ऐसा सूर्यपुराणमें लिखा है, तथा दिनोंकी आयुके अनुसार ही चलना बोलना होता है, सो तो सूर्यहीसे होते हैं । **प्रश्न**--जब निमित्त इन प्राकृतमाताओंका रहताही है तो रकारसे ऋणकी निवृत्ति कैसे होगी ? **उत्तर**--माताका भी पालन पोषण भगवतने प्रथमही उसकी मातामें ममतादि गुण प्रेरकर किया है । तथा पूर्व अनेकों जन्मोंमें किये थे, वही ऋण यह माता संतानोंके पोषणद्वारा पुराती है, यथा--" **पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।**" (गीता. अ० ६) अर्थात् पूर्वके अभ्याससे संस्कारविवश होकर जीव तदनुसार वर्तता है । इस प्रकार माताके कई संतानोंके पोषणमें उसके कई जन्मोंके ऋणोंका भरना समझना चाहिये, यही पूर्वाभ्यास है । क्योंकि विना हेतु कोई किसीका कुछ नहीं कर सकता, यथा--'**काहु न कोउ सुख दुख कर दाता । निजकृतकर्म भोग सब भ्राता ।** " (अ० दो० ९१) इसी प्रकार ऋण आनेकी राह पकडकर ऊपर चढें तो माता प्रमाता-वृद्धप्रमातादि क्रमपूर्वक यह मातृऋण इन्हीं अग्न्यादि तीनों तत्त्वोंका सिद्ध होता है और तिनके भी कारण रेफ हैं, तो सब जीवोंके मातृऋणके धनी (महाजन) रेफही है । **शंका**--ऊपर तो टि० (३) में तीनों वर्णों (र. अ. म) को अग्न्यादि तीनोंके कारण कहा है तो यहांके केवल रेफसे कहनेमें विरोध पडेगा । **समाधान**--यहाँ धात्वर्थसे कहा गया अतः प्रबल है, तथा रेफके ही पृथक् रूपसे तीनों वर्णात्मक रामशब्द भी होता है, यथा--"**रश्च रामेऽनिले वह्नौ**" (एका

क्षरकोशे) इससे विरोध नहीं हैं । कहा भी है, कि '**त्वमेव माता च पिता त्वमेव०**'। अतएव रेफही जीवमात्रके '**सत्यमाता**' है, यह एक आधार इस दीन बालकको ज्ञात हुआ ॥

अथ रेफका पितृत्व निरूपण ।

(**खँ**) रा--"आदाने" इस धातुका अर्थ ग्रहण करना होता है, अर्थात् जो रज, सत, तम; इन तीनों गुणोंके अभिमानी क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश द्वारा इस जगत्को ग्रहण किये हैं, वही ऐसे अनेकों ब्रह्मांडोंके त्रिदेवोंको अपने अंशसे उपजाकर ग्रहण करनेवाले रेफ हैं, सोई अर्थ ग्रंथकारने यहाँ "**विधि-हरि- हर-मय**" ऐसा कहकर दिखाया । यहाँ उपरोक्त टि० (**कँ**) के अनुसार बाहुल्यमयका ही अर्थ ग्रहण हुआ, जिसमें नाममें अनेकों त्रिदेवोंकी कारणता है । ऐसे रेफका पितारूप दिखाते हैं कि जो पिता, मातासंगरूपी कर्मसे पुत्रको पैदा करता है, यथा--"**विसर्गः कर्मसंज्ञितः**" (गीता अ० ८) सो यह ऋण भी उपरोक्त मातृ ऋणकी भाँति जाय त्रिदेवोंपर ही ठहरता है, क्योंकि प्रथम सबको ब्रह्मा ही पैदा करते हैं, ब्रह्मा भी इन पिताओंकी भाँति उपरोक्त मातारूप अग्निसंग करके अर्थात् यज्ञकरके सब जीवोंकी उत्पत्ति करते हैं, यथा--"**अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वे प्रभवन्त्यहरागमे** ।" (गीता अ० ८) इसमें अव्यक्त ब्रह्माहीको कहा है, पुनः यथा--"**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०**" (गीता. अ० ३) **शंका**--पिताके और पालनादि कार्य इनमें कहाँ ? **समाधान**--इसीलिये तो त्रिदेवोंमें पितृत्व कहे हैं, एकहीमें नहीं, सो भी दिखाते हैं । कि पिताके अनुरूप बालककी बुद्धि होती है, वह बुद्धि ब्रह्माकी ही अंशभूता है, पितादिसे क्रमशः आकर प्राप्त होती है,इसीसे बुद्धिके देवता ब्रह्मा कहे जाते हैं । यथा--"**अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान** ।" (लं. दो० १५) तथा पिता जो अन्न वस्त्रादिसे पालन करता है, वह विष्णुका कार्य है, उपरोक्त विधिसे ऋणरूपसे आया और प्रत्यक्ष भी द्रव्यादि लक्ष्मीद्वारा पालन होना देखा जाता है, जो इनकी शक्तिका ऐश्वर्य है । और जो पिता विद्यादि अभ्यास कराकर कुलअनुरूप धंधा अर्थात् व्यवहारादि सिखाता है, वह शिवजीका कार्य है, क्योंकि ये अहंकारके देवता हैं, (ऊपर दिखा आये); विना अहंकारजन्य अभ्यासके गुणचातुरी आदि नहीं आती, चाहे पिता कितनाहूँ पढावे सिखावे । यथा--"**प्रेममगन मोहिं कछु न सुहाई । हारेउ पिता पढाइ पढाई** ॥" (उ० दो० १०९) यह अहंकारकी शक्ति क्रमशः शिवजीसे आई, और प्राकृतपितामें निमित्तके भ्रमका निवारण जैसे मातामें ऊपर दिखा आये, वैसे ही यहाँ भी जानना चाहिये । इस प्रकार विचारसे '. रेफ ' ही इस दीनशिशुके नित्य '**सत्यपिता**' हैं । यहाँ तक रेफ पिताका लौकिक पितृत्व दिखाये ॥ [१ यहाँ रलयोरभेदः]

अथ रेफपिताका पारलौकिकपितृत्व निरूपण ।

(**गँ**) रेफ वाच्य श्रीरामजी परात्पर पिता हैं, तो रेफ भी हैं, क्योंकि '**न भिन्नं नाम नामिनः** ।' अर्थात् नाम नामी एकही हैं । और परात्परत्वके सब कार्य ही रेफद्वारा होकर इसके

परात्परत्वका झंडा फहराय रहे हैं " तो प्रमाणोंका और क्या काम ? यथा--"**देखिय रबि कि दीप कर लीन्हें।**" (बा० दो० २९१) परात्परत्व यथा--"**बंध मोच्छप्रद सर्वपर मायाप्रेरक सीव**" (आ० दो० १७) अर्थात् परात्पर वही है, जिसका बाँधने छोरने आदिकी रीतिसे अपनी माया (शक्ति) द्वारा सब जीवोंपर अधिकार हो, यथा--"**तुलसिदास यह जीव मोहरजु जोइ बाँधै सोइ छोरै।**" (वि० १०२) तथा--"**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।**" (गीता अ० १६) "**दैवी संपद्विमोक्षाय निबंधायाऽऽसुरी मता।**" (गीता० अ० १६) वह लौकिकपितृत्व जिससे जीव संसारमें आकर बँधता है पिता मातारूपसे इन रेफ हीमें दिखा आये। अब पारलौकिक दिखाते हैं, (जिससे ये जीवको छोरते हैं) मोक्षपक्षमें 'गुरुमें भी पिता संबंध माना जाता है, तथा जो पालन करनेवाला होता है, उस 'स्वामी' को धर्मपिता कहा जाता है, किंतु यहाँ गुरू जो शरणागति कराते हैं, तिनका प्रसंग नहीं है, वस्तुतः जो वेदविधिसे धर्मकर्म कराते हैं, उनके विचारका प्रकरण है, क्योंकि इनमेंही ऋषिऋणका भी प्रकरण है, और स्वामी भी लौकिक राजा आदि नहीं, किंतु इन्द्रियोंके स्वामी कर्म करानेवाले अथवा यज्ञादिके भाग ग्रहण करनेवाले स्वामी इन्द्रादि देवतोंकेही स्वामित्व विचारका प्रकरण हैं, क्योंकि इनमेंही देवऋण माना जाता है, और यहाँ ऋणत्रयका प्रसंग है, तथा पारलौकिक पक्षके ये ही स्वामी हैं। विधिवत् धर्म करानेवाले गुरू और देवतादि स्वामी इन दोनोंके सहितही स्वर्गादि व मोक्षसाधक कर्म किये जाते हैं। गुरू विधिसहित कर्म कराते हैं, और देवतोंद्वारा किया जाता है, गुरूविना विधि बिगड जाती है, यथा–'**येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥**' (गीता० अ० ९) विना गुरूवाले जिस देवताको पूजते हैं, उसीको प्राप्त होते हैं, यही अविधि है, और गुरुमुख भगवदर्पण करके अक्षय सुख पाते हैं, यह विधि है। देवतोंका स्वामित्व यथा–**कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजंत इह देवताः। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा॥** (गीता. अ० ४) इन गुरु व स्वामीका पितृत्व भी रेफ हीमें दिखाते हैं, उपरोक्त दोनों धात्वर्थोंके ही श्लेषार्थसे यहाँके भी दोनों प्रसंग दिखावेंगे॥

अथ रेफका गुरुत्व।

(घँ) "रा–दीप्तौ" इस धात्वर्थसे दीप्ति नाम प्रकाशका है, और प्रकाश धर्मकर्मके ज्ञानको कहते हैं। यथा–'**सर्वद्वारेषु देहेस्मिन्प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥**' (गीता. अ. १४); यहाँ 'प्रकाशे सति यदा ज्ञानमुपजायते' ऐसा अन्वय होगा, अर्थात् जब चक्षुप्रभृति ज्ञानेन्द्रियोंमें प्रकाशसे धर्मद्वारा ज्ञान बढता है, तथा प्रकाशका अर्थ आत्मसाक्षात्कारका भी है, यथा–"**जबलगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु विषयआस मन माहीं। तुलसिदास तबलगि जगजोनि भ्रमत सपनेहु सुख नाहीं॥**'

(वि० १२४) इस आत्मज्ञान विना धर्मकर्म करना स्वप्नकी यज्ञके समान है, अतएव यहाँ (धर्मगुरुत्वमें) उपरोक्त उभय प्रकारके प्रकाशकी आवश्यकता है, क्योंकि प्रथम आत्माके सामान्य ज्ञानपूर्वक जो कर्म, विधिज्ञान पूर्वक किया जाता है, वही मोक्षदायक होता है। ये दोनों प्रकारके प्रकाश (ज्ञान) वेदसे ही प्रकटे, क्रमशः परंपराद्वारा आकर ऋषियोंको प्राप्त हुए, और वे लोग जो इस दीन (शिशु) को भी सिखाये कराये सो अपना ऋण चुकाये जैसे मातृ ऋणमें कह आये, अतएव जगद्गुरुत्व वेद पर निर्भर हुआ और वेदके प्राणतो रेफ ही हैं, क्योंकि रेफही संपूर्ण प्रकाशके कारण हैं, ऊपर कह आये और वेद भी प्रकाश (ज्ञान) रूप ही है, "विद्-ज्ञाने" इस धातुसे ज्ञानही वेद है। जैसे शरीरमें प्राण अतिसूक्ष्मरूपसे *रहता है; किंतु शरीर भरको कार्यमें आरूढ किये रहता है, तैसे ही वेदकी भी कार्यावस्था* प्रकाश मय रेफके आश्रित है। इस भाँति वेदका भी जगद्गुरुत्व आकर रेफ हीमें पर्यवसान हुआ। इसी गुरुत्वको ग्रंथकारने 'वेदप्रानसो' इस वाक्यसे जनाया। अतएव 'ऋषिऋण' के धनी '**सत्यगुरू**' भी रेफ ही हैं॥

अथ रेफका स्वामित्व।

(४) यथा—'**अगुन अनूपम गुननिधान सो।**' रेफमें 'रा आदाने' इस धातुके एक अर्थसे लौकिक पितृत्व दिखा आये, उसीके श्लेषार्थसे यहाँका स्वामीरूप पितृत्व दिखाते हैं। जैसे आदान नाम ग्रहण करनेका है, अर्थात् जो तीनों गुणप्रधान कर्म, ज्ञान और उपासना द्वारा जीवोंको अपने समीपको ग्रहण करते हैं सो रेफ हैं। क्योंकि कांडत्रय (कर्म ज्ञान उपासना) वेद हैं, सो तीनों गुणमय हैं। यथा— "**त्रैगुण्यविषया वेदाः०**" (गीता' अ० २) अर्थात् तमोगुणप्रधान अहंकारसे कर्मकी क्रिया होती है और रजोगुणप्रधान बुद्धि है, क्योंकि इसके देवता ब्रह्मा हैं, तिससे सत्त्वगुणसहित ज्ञान-साधन होता है और सत्त्वप्रधान चित्तसे अनुरागसहित उपासना होती है, अतः रेफही कर्म द्वारा 'अगुन' अर्थात् वैराग्य [यथा—"**कहिय तात सो परम विरागी। तृनसम सिद्धि तनिगुन त्यागी॥**" (आ० दो० १६)] कराकर ऋणत्रयसे तथा इन्द्रियोंकी विषयाग्निसे रक्षाकरके तज्जन्य संतोषसंपत्ति दे सुखसहित लोकमें सुरक्षित रखते हैं। यथा— "**निज निज धर्मनिरत श्रुतिनीती। यहि कर फल पुनि विषयविरागा॥**" (आ० दो० १७) (इसमें धर्मसे ही वैराग्य होना स्पष्ट है) तथा ज्ञानद्वारा 'अनूपम' करके पर-लोकमें रक्षा करते हैं, यहाँ अनूपमका अर्थ उपमारहित, अर्थात् संपूर्णप्राणी जो जगतमें लीन (आसक्त) रहते हैं, उनकी उपमारहित, जैसे कमल जलमें उससे निराला रहता है, तो जलके तद्लीन जीवोंकी उपमासे रहित है, वैसे जगसे निराले ज्ञानी भी कहे जाते हैं, यथा—"**पद्म-पत्रमिवांभसा**" तथा "**मुनिगन गुरु धुर धीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक से॥ जे बिरंचि निर्लेप उपाए। पद्मपत्र जिमि जगजल जाए॥**" (अ० दो० ३१६) पुनः वही ज्ञानसाध्य परलोकसुख, भक्ति पाकर अक्षय हो सरस रहता है. नहीं तो

ज्ञानीका भी तो ज्ञानके अभिमानसे पतन होता है यथा–" **जे ज्ञानमानविमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी। ते पाय सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥** " (उ० दो० १२) इसलिये ये रेफ स्वामी भक्ति देकर गुन निधान करके अक्षयसुख करा देते हैं, क्योंकि सेवामें स्थूलरूपसे व अंतरंग दिव्यरूपसे गुणनिधान होनाही भक्तिकी पराकाष्ठा है यथा–" **यद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। विपुल सकल सेवाविधि गुनी॥** " (उ० दो० २३) यह कैंकर्यनिपुणता ही जीवका इसके स्वरूपप्रयुक्त सुख है। यथा– " **मकारार्थो जीवः सकलविधिकैंकर्यनिपुणः॥** " (श्रीराममंत्रार्थे) यही (भक्तिका) सुख अक्षय रहता है, यथा– " **कौंतेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥** " (गीता अ० ९) इत्यादि, इस प्रकार लोक परलोकमें अक्षयसुख सहित पालनेवाले स्वामी 'रेफ' हैं, अतः इन कर्मज्ञानादि पुरुषार्थोंद्वारा पालनमें इन्द्रियप्रकाशक देवतोंको स्वामी मानना भ्रम है, क्योंकि इन सबका तो इन रेफहीके इसी धात्वर्थसे 'विधिहरिहरमय' के प्रसंगमें कह आये कि रेफसे अनेकों त्रिदेव होते हैं जो अपर देवोंके कारण हैं, और देवता तो तिनके नियत किये हुए रहते हैं, तो ये देवता स्वामी कैसे ? अतः सबके प्रकाशक होनेसे रेफही सबके स्वामी है यथा–" **विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥ सबकर परमप्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥** " (बा० दो० ११६) (रेफ श्रीरामजीका वाचक है यथा–" **रश्च रामेऽनिले वह्नौ** ") अतएव देवतोंमें " देवऋण " मानना भ्रम है, इसके भी धनी " रेफ " ही हैं और 'सबके '**सत्यस्वामी**' हैं॥

चारों प्रकारका पितृत्व तथा संबंध।

जीवोंके जगत्में चारही आधार मुख्य हैं, शिशुपनमें माताका, तब पिताका, फिर गुरुका, पुनः आयुपर्यंत स्वामीका आधार रहता है। सो इस प्रपन्न दीन (शिशु) को चारों आधार 'रेफ' में प्राप्त हुए और इन चारोंकी पितासंज्ञा भी दिखा आये अतएव यहाँ तक रेफका नित्य पितृत्व और प्रपन्न खिन्नजीवका अनादि पुत्रत्व सिद्ध हुआ और इन दोनों (दो० १८ (१) ८ (२)) चौपाईके अर्थमें 'पिता–पुत्र' संबंध जीव और ईश्वरका सिद्ध हुआ। इस संबंधमें जीवके पुत्रत्वके प्रकाशक श्रीरामजी हैं क्योंकि आप मातापिताके भक्त थे. यथा–" **राम सत्य सब जो कछु कहहू। तुम पितुमातु बचनरत अहहू॥** " (अ० दो० ४२) तथा उपरोक्त चारोंप्रकारके पितावर्गमें पुत्रत्व उपदेशका वचन श्रीरामजीका लक्ष्मणजीके प्रति है यथा–" **मातु पिता गुरु स्वामि सिख, सिरधरि करहि सुभाय। लहेउ लाभ तिन जन्मके, नतरु जनम जग जाय॥** " (अ० दो० ७०)।

तीनों ऋणोंपर सिंहावलोकन।

(५)उपरोक्त 'संबंध निर्णय' प्रसंगमें पित्र, ऋषी तथा देवऋण मुमुक्षु खिन्न जीवके लिये भ्रमरूप दिखाकर तत्वसंबंधी संसारका भय मिटाये ऋणत्रय यथा–" **ऋणानि त्रीण्य-**

पाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेव्यमानो व्रजत्यधः ॥ " (मनुस्मृतौ) अर्थात्–तीनों ऋणोंको दूर करके मोक्षमार्गके विषयमें मनको प्रवेश करे इसके विना अधोगति होती है। इन तीनों ऋणोंसे निवृत्त होना अपने पुरुषार्थसे अगम है। परंतु अनन्य शरणागतको इनका भय नहीं है। यथा–" देवर्षीणामाप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन् । सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यम् ॥ " (श्रीमद्भागवते) तथा–" ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् । भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ " (गीता. अ० १२) पुनः यथा–"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥" (श्रीमद्वाल्मीकीये) अतः पूर्वोक्त रीतिसे जो संसारसे डरकर खिन्न है, अनन्यभावसे नामकी ओट लिया है, उसके ये ऋण बेप्रयास ही छूट जाते है। जैसे लोकमें जो कोई व्यापारी अनेकों महाजनोंका ऋणी होता है, वह असमर्थ होनेसे जब अपना शेषधन राजाको समर्पण करके शरण होजाता है, तो राजा इसके महाजनोंको उसी अल्पधनमें समझाकर इसे मुक्त कर देता है, यह ' दिवाला' (कानून) कहा जाता है। वैसेही जो यह जीव शेषआयुरूपी धन भगवदर्पण करके शरण होता है, अर्थात् आयुरूपी धनको कोषमें जमा करनेकी भाँति तिनकी सेवामें लगाता है तो भगवत् इसे मुक्त कर देते हैं। यहाँ तो प्राकृत-राजाओंकी भाँति दूसरों (महाजनों) को समझाना भी नहीं है, तीनों ऋणोंके महाजन आप (रेफ) ही है, ऊपर दिखा आये ॥

(क) प्रश्न–तो क्या लौकिक संबंधत्यागसहित ही नाम जपसे तीनों ऋण छूटते है ? यदि हाँ ! तो फिर इन वाक्योंकी क्या दशा होगी, जो श्रीमुखोच्चरित है। यथा–" चारि पदारथ करतल ताके। प्रिय पितुमातु प्रानसम जाके॥ " (अ० दो० ४९) यहाँ चार पदार्थोंमें मोक्ष भी तो है। तथा–"मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू । सकल धरम धरनी धर सेसू ॥" (अ० दो० ३०५) (इसमें उपरोक्त चारों प्राकृत नातोंके सेवनकी आज्ञा है,) इत्यादि. उत्तर–नहीं नहीं, सामान्य धर्मोंका छोडना तो दश नामापराधमें एक अपराध है, यथा–"सन्निन्दा सतनाम० त्यागो च धर्मान्तरैः । " (शिवसंहितायां) (इन दशोंको इस ग्रंथके अंतकी चौ० में दिखावेंगे) उपरोक्त त्यागविधि तो जिनका पूर्वसंस्कारसे अथवा धर्मानुष्ठानद्वारा संसारसे चित्त उपराम होगया, तिनको कही गई, कि जो 'खिन्न' हुए हैं, और जो वर्णाश्रम-धर्मानुष्ठान-सहित नाम जपैं, तिनको भी उपरोक्त विचार-पूर्वक नामाराधनमें परमलाभ है,क्योंकि श्रीमुखवचन है, यथा–" अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥"(गीता.०अ ९) पुनः " येऽप्यन्यदेवताभक्ताः० " (ऊपर टि० (४) में देखो) अर्थात् तीनों; ऋणोंके स्वामी व तदर्थकर्मोंके भोक्ता आपही हैं, यह विना जानेही जीव संसारमें पडते हैं।

अतः यह ज्ञान सबको आवश्यक है। रही बात ग्रहण त्यागकी, तिसकी मीमांसा यों है, कि जैसे राजाका कर उसके नियत किये हुए तहसीलदारादिके यहाँ जमा करे, तो भी राजाहीको पहुँचता है, वैसेही तीनों ऋणोंके अधिकारियोंको उपरोक्त विचारानुसार भगवत्के अंग मानकर नामाराधनसहित यथा वकाश नियतधर्मोंको करना चाहिये। यथा–"**गुरु पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोकहँ जानइ दृढसेवा॥**" (आ० दो० १७) इस प्रकारमें सब धर्म निर्विघ्न होते हैं, और दशगुने बढते हैं। विना नामके सब साधन निष्फल होते हैं। यथा– "**रामनामको अंक है, सब साधन हैं सून। अंक गए कछु हाथ नहिं, अंक रहे दसगून॥**" (दोहावली १०) "**श्रीरामनाम लेत होत सुलभ सकल धरम।**" (वि० १३२) और यदि संसारसंबंध हीमें रहे, और धर्मोंका सामर्थ्य न हो, वा नामजपसे अवकाश विना न कर सके, और केवल नाम हीकी ओट ले, तो भी नामहीसे उन (धर्मों) के अपेक्षित तथा और भी संपूर्ण धर्मोंके फल प्राप्त हो जाते हैं। और वह जापक ऋणोंसे मुक्त हो जाता है। यथा–"**यथा भूमि सब बीज मैं, नखत निवास अकास। राम नाम सब धर्म मैं, जानत तुलसीदास॥**" (दोहा० २९) "**तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्। येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥**' (वि० ४७) तथा–"**रामसुमिरन सब विधिही को राजरे।**" (वि० ६७) प्रीति मान जापककी तो बातही क्या यहाँ तो यवन अजामिलादिकी भी मुक्ति हुई। इसीसे तो कहा है। यथा–"**नाम प्रभाउ सही जो कहै, कोउसिला सरोरुह जामों।**" (वि० २२९) इत्यादि रीतिसे रामनाम सब धर्मोंके पोषक हैं।

कुछ शंका समाधान।

(६) **शंका**–ऊपर जो कृसानु, भानु, हिमकर तथा विधि, हरि, हर पुनः इसी क्रमानुसार वेदोंमें भी प्रधान तीनहीं लिये जायँगे। यथा–'**ऋक्साम यजुरेव च**' (गीता० अ०९) और अगुन, अनूपम, गुननिधान इत्यादिमें बराबर तीन २ ही के क्रम होते आये। इन्हें प्रायः बहुती टीकाओंमें तीनों वर्णों (र. अ. म.) के क्रमशः अर्थ माने गये हैं, सो यद्यपि टि. ग॑ में धात्वर्थके आधार तथा रेफहीमें तीनों वर्णोंका भी होना दिखानेमें समाधान हुआ, परंतु कहीं स्फुट प्रमाण भी हैं ? **समाधान**–हाँ, हाँ, श्रीरामतापनीयोपनिषद् साक्षी देरही है, यथा–'**रेफारूढा मूर्त्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एवचेति॥**' (द्वि० उ० २श्रुतिः) यह श्रुति स्पष्टरूपमें तीन २ मूर्तियोंको केवल रेफमें कह रही है। इसके टीकाकारोंने तीन २ मूर्तियोंके उपलक्षमें त्रिदेव, त्रिवेद, त्रिकांड और अग्नि, सूर्य, चन्द्रमादि (जिनका अर्थ रेफसे कर आये) तथा इसी प्रकार और भी कहकर तो शक्तियोंमें भी तीन २ दिखाया है। तथा और भी प्रमाण यथा–"**बीजे यथा स्थितो वृक्षः शाखापल्लवसंयुतः। तथैव सर्ववेदा हि रकारेषु व्यवस्थिताः॥ रकाराज्जायते ब्रह्मा रकारा-**

ज्जायते हरिः । रकाराज्जायते शंभू रकारात्सर्वशक्तयः ॥ " (पुलहसं०) इत्यादि बहुत प्रमाण हैं ।

(६ क) शंका–इस प्रकार माता, पिता, गुरु और स्वामी यह चारों नाते ग्रंथकारने स्फुट क्यों न कहा । तथा इन चार विशेषणोंसे विशिष्ट पिताके आश्रित संसारके इन चारों संबंधोंको छोडकर कोई शुभगति पाया और तीनों ऋणोंसे बचा ? क्योंकि आचरण वही किया जाता है, जो पूर्वज बडेलोग कर आये हों, यथा–'महाजनो येन गतः स पंथाः' ऐसा कहा है तथा–'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥' (गीता अ० ३) अत एव प्रमाणोंकी आवश्यकता है । समाधान–नाममें उपरोक्त चारों संबंध ग्रंथकारने स्फुट भी कहा है यथा–' माय बाप गुरु स्वामि राम कर नाम । तुलसी जेहि न सोहाइ ताहि विधि वाम ॥' (बरवा रा० उ०) तथा इन चारोंके यथार्थ प्रकाशक श्रीलक्ष्मणजी है, जो सब जीवोंके आचार्य हैं । और शेषत्व (उपरोक्त दीन पुत्रके योग्य जो अवस्था) के जाननेमें ऐसे प्रधान हैं, कि जिन्हें, शेषपनेमें ' शेष ' की उपाधि प्राप्त है, यथा–"नाना विधि प्रहार कर सेषा ॥" (लं० दो० ९३) "एक जीहकर लछिमन दूसर सेस ।" (बरवा २७) इन्होंने इन नातोंको श्रीरामजीमें भली भाँति दिखाया, और फल पाया है । यथा–" गुरु पितु मातु न जानौं काहू । कहौं स्वभाव नाथ पतियाहू ॥ जहँलगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निज गाई ॥ मोरे सबहि एक तुम स्वामी । दीनबंधु उरअंतरजामी ॥" (अ०दो०७१) यहाँ श्रीरामजीको स्वामी संबोधन देकर गुरु पिता माताके विषयका ज्ञातृत्व प्रकट किये और स्वामीसंबंध तो निरावरण प्रकटही था, यथा–"बारेहिते निज हित पति जानी । लछिमन रामचरन रति मानी ॥ " (बा० दो० १९७) अर्थात्–ये अन्य लोगोंकी तरह देवतोंके चाकर न थे, श्रीरामजीको ही स्वामी मानते थे, क्योंकि इन्द्रियजित रहे, नींद नारि आदि त्यागे हुये थे, तब मेघनादका वध किये । जैसे बद्ध जीव इन्द्रियसुखसंपादनरत रहनेसे उन देवतोंके शेष बने रहते हैं, वैसे ये श्रीरामजीके सुखहेतु अपनी स्थिति रक्खे थे, यहाँतक तन्मय थे, कि मेघनादकी शक्ति लगनेसे देहकी पीर श्रीरामजीको हुई यथा–" हृदय घाउ मेरे पीर रघुवीरै " (गी० लं० १९) (यह श्री लक्ष्मणजीका वाक्य है) और गुरु पिता माता भी कहे ही नहीं. किंतु कर देखाये कि वन जानेमें गुरु व पितासे आज्ञा भी न मांगे और मातासे आज्ञा मांगनेमें तो श्रीरामजीकी आज्ञा पालन किये और ऊपर जो ' जगतसनेहसगाई ' कहे. सो जगत्संबंधका मूल स्त्री है. यथा–" मायारूपी नारि " (अ० दो० ४६) सो पाणिग्रहीता (स्त्री) श्री उर्मिलाजीसे तो बोले भी नहीं, किंतु फंदा जान त्यागकर भागे यथा–" बागुर विषम तोराइ, मनहुँ भाग मृग भागवस । " (अ० दो० ७९) इत्यादि, सब संबंध त्यागे और किसीके ऋणका दोष न लगा । इस संबंधमें जो जीवको दीनता दशा, शिशुवत् असमर्थता तथा जगद्वासना त्यागादि चाहिये

वह सब दिखाया है, यथा—" **दीनबंधु उर०** " (ऊपर कह आये) इसमें इनकी दीनता प्रकट है, " **मैं सिसु प्रभुसनेह प्रतिपाला । मंदर मेरु कि लेहिं मराला ॥** " (अ० दो० ७१) इसमें शिशुता और असमर्थता प्रकट है। और " **राम बिलोकि बंधु कर जोरे । देह गेह सब सन तृन तोरे ॥** " (अ० दो० ६९) इसमें जगत्‌वासनात्याग स्पष्ट है, क्योंकि " **सुत वित देह गेह नेह इति जगत्** " यह प्रसिद्ध है, इस प्रकार इस संबंधके सब प्रकार प्रकाशक श्रीलक्ष्मणजी हैं। **शंका**—इनमें परस्पर पिता-पुत्र संज्ञा कहाँ ? प्रकटमें तो भाई रहे। **समाधान**—प्रकटमें इनकी तरह जीवका भी नित्यत्व व सच्चिदानंद स्वरूपतादिमें समानतासे भाई अर्थात् सखा संज्ञा है यथा—श्रुति " **द्वासुपर्णा सयुजा सखाया०** " (श्वे०।४।६) और उपासनारीतिसे पुत्रवत् सेवकपना इसका सहजधर्म है, तिसे स्वयं उपासनाशक्तिरूपा श्रीसुमित्राजीने जीवरूप श्रीलक्ष्मणप्रति कहा है, यथा—" **तात तुम्हारि मातु बैदेही । पिता राम सब भाँति सनेही ॥** " (अ० दो० ७३) ऐसेही महर्षिजीने भी कहा है। यथा—" **रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्** " (वाल्मीकीये अ०) इस रीतिसे '**पिता-पुत्र**' संज्ञा भी प्रकट है, इसी सिद्धान्तके प्रकट करनेके लिये आगेके संबंध (रक्ष्य—रक्षक) में, सब संबंधोंका उद्धार करते हुए इस संबंधके प्रति " **राम-लषन-सम प्रिय तुलसीके ।** " से यही आशय दिखावेंगे और इस संबंधफलके उपलक्षणमें अंगदको भी देखिये। उन्होंने भी अपने पिताके समर्पणसे श्रीरामजीसे पुत्रत्वभाव पाया था, तदनुसार उनका वचन है यथा—" **मोरे प्रभु तुम गुरु पितु माता । जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता ॥** " (उ० दो० १७) इसी ज्ञानमय वचन पर श्रीरामजीने अपने भूषणवसनादिसे इन (प्रियपुत्र) को निजकरसे श्रृंगार करके ' सारूप्य-मुक्त ' करके तीनों ऋणोंसे अभय करके किष्किंधापुरीको भेजा, यह प्रत्यक्ष है ॥

अथ रेफपिताका काल, कर्म, गुण, स्वभावसे रक्षकत्वका भरोसा देना ।

(७) रेफपिता इन शिशुचेतनोंको अपने अंतर अर्थसे यह भी भरोसा दिये कि हम तुम्हें काल, कर्म, गुण, स्वभावादिसे भी बचावेंगे क्योंकि (जीवोंके) ये सदाके शत्रु हैं। यथा—" **फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल करम स्वभाव गुन घेरा ॥** " (उ० दो० ४३) (इसमें जीवका प्रकरण है) उपरोक्त चारों संबंधोंसे इन चारोंसे बचावेंगे। **काल**—जैसे यह जीवोंके प्रति माताका व्यवहार करता है, सो दिखाते हैं। जिस कालमें जीव कारण मायावश चन्द्रमंडलमें आया तदनुसार ही इसका कारण शरीर हुआ यथा—" **कालाद्गुणव्यतिकरः०** " (आवरण प्रकरणमें देखो) पुनः चंद्रकिरणसे जिस कालमें पृथक् है, महत्तत्वमें आय सूर्यसंग होनेसे सूक्ष्मशरीर हुआ, उसकी भी प्रकृति कालानुसार हुई। पुनः जठराग्नि संसर्गसे इन्द्रियों सहित शरीर बनकर जिस कालमें जन्म लिया, तदनुसार ज्योतिषमतसे गुण स्वभावादिसहित स्थूलशरीर हुआ, अर्थात् तीनों शरीरोंके पैदा करनेवाले क्रमशः मातारूप चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि हैं, सो कालहीके स्वरूप हैं, तो हम (रेफ) तिनके भी कारण हैं,

यथा–" **हेतु कृसानु भानु हिमकरके।** " **प्रश्न**–सूर्य चन्द्रमा तो दिनरातके करनेवाले कालात्मा प्रकट हैं, अग्नि कैसे ? । **उत्तर**–जिस प्रकारके शुभ अशुभ कालमें जीव मरते हैं, तदनुसार ही कालमें जन्मते हैं, तो महाप्रलयरूप भयंकरकाल तो अग्निही द्वारा होता है और अग्नि सूर्यका भी कारण है, इससे कालका अंग है, तो तिनसे रक्षा करेंगे, अर्थात् इनको विषम न होने देंगे।

(क) **कर्म**–यह जीवोंका शरीर संबंधका पिता है, यथा–' **कर्मणो जन्म महतः०** ' (आवरण प्रसंगमें देखो) उस कर्मके मुख्य तीन अंश हैं। यथा–"**ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।**" (गीता. अ० १८) इसमेंका जो ज्ञान है, वह बुद्धिका कार्य है, और ज्ञेय अर्थात् कर्म यह अहंकारका कार्य है, तथा परिज्ञाता, अर्थात् जाननेवाला यह सत्त्वगुणमय चित्तका कार्य है, तिनके प्रकाशक देवता–बुद्धिके ब्रह्मा, अहंकारके शिव और चित्तके महान् अर्थात् व्यापक हैं, वहाँ व्यापकही विष्णु हैं, यथा–"**विशप्रवेशने धातोर्विष्णुरित्यभिधीयते।**" (महारामायणे) अर्थात् जो अपने तेजरूपसे सबमें बसे वही विष्णु व वासुदेव हैं। प्रमाण यथा–"**अहंकार सिव बुद्धि अज, मन ससि चित्त महान।**" (लं० दो० १५) इन तीनों (देवों) के कारण भी तो हम (रेफ पिता) ही हैं, (यह ' विधि हरिहरमय ' में दिखा आये,) तो इनकी विषमता निवारि कर्मरूप पितासे भी रक्षा करेंगे ॥

(ख) **गुण**–यथा–"**त्रैगुण्यविषया वेदाः०** " (गीता. अ० २) अर्थात् तमोगुणकी प्रधानतासे मन द्वारा कर्म तथा रजोगुणप्रधान बुद्धिद्वारा सत्त्वगुणसहित ज्ञान, और सत्त्वप्रधानचित्तद्वारा उपासना होती है, ये सकामता व कर्तृत्वाभिमान द्वारा जीवोंको बाँधते हैं, ऐसा जो त्रिकाण्डवेद है, तिसके तईं रेफगुरु अपने '**बेदप्रानसो**' के अर्थसे भरोसा देते हैं, कि तुम प्रपन्नको हम इन गुणोंकी भी विषमतासे बचावेंगे, क्योंकि हम इनके भी प्राण हैं ॥

(ग) **स्वभाव**–यह काल, कर्म और गुणोंके दूषित अंशका मिलित स्वरूप है, यथा–'**काल करम गुन दोष स्वभाऊ।**' (उ० दो० ११३) यह अति दुरतिक्रम (अगम) है, यथा–"**एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरतिक्रमः॥**" (वाल्मीकीये, रावण वाक्य) यहाँतक कि इसकी आधीनता ज्ञानीको भी किसी २ अंशमें स्वीकार करनी पडती है। यथा–"**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि॥**" (गीता अ० ३) (इसमें प्रकृति नाम आदत अर्थात् स्वभावका है) इससे भी रक्षार्थ रेफ (स्वामी) अपने "**अगुन अनूपम गुननिधान सो।**" के अर्थसे भरोसा देते हैं, कि हम तुम्हें, अगुन अर्थात् वैराग्यसे इस (स्वभाव) के गुणांशसे बचावेंगे। यथा–"**कहिय तात सो परम बिरागी। तृनसम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥**" (अ० दो० १६) तथा अनूपम अर्थात् ज्ञानसे कर्मांश जला देंगे। यथा–**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।**" (गीता अ० ४) गुननिधान अर्थात् दृढउपासनाद्वारा कालांशसे बचावेंगे, यथा–"**कबहूँ काल न व्यापिहिं तोहीं। सुमिरि**

स्वरूप निरंतर मोहीं ॥" (उ० दो० ८७) (इन तीनों अगुनादि शब्दोंसे वैराग्यादिका होना पूर्वही टि. (४) में दिखा आये) इस प्रकार स्वभावसे भी वचावेंगे ॥

अथ रेफपिताके षडैश्वर्यका विचार ।

(८) रेफ पिता अपने परमप्रिय खिन्नशिशुको अपना षडैश्वर्य अपने ' हेतुंकृसानु भानु हिंम करके । तथा ' विधि हरि हर मय ' के अनुसंधानार्थसे दिखाकर आगे संपूर्ण षट्विकारोंसे रक्षा करनेका भी भरोसा देते हैं । **षडैश्वर्य** यथा—"**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरिगा ॥** " (**भगवद्गुणदर्पणे**) वह यहाँ दिखाते हैं । जैसे (अग्निसे यज्ञ होती है, और यज्ञसे संपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त संसार होता है । यथा—"**तस्मात्सर्व गतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।**" (गीता अ० ३)' **सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥** " (गीता अ० ३) इति '**ऐश्वर्य**' तिसका मूलकारण जो अग्नि है, तिसके भी रेफ कारण हैं । पुनः सूर्यके ही आश्रय दिन वडी मुहूर्तादिसहित, व तिनकी प्रकटसाक्षी सहित सब धर्म होते हैं । उन सब धर्म (ऐश्वर्य) के कारण रूप सूर्यके भी कारण रेफ हैं । तथा चन्द्रमा सबको यशदाता हैं । यथा— "**भेन्दुर्यशो निर्मलम् ।** " (श्रुतवोधे) अर्थात् काव्यके भगणके देवता चन्द्रमा हैं, सो सबको निर्मल यश देते हैं, अतः सब **यश** (ऐश्वर्य) के कारण चन्द्रमाके भी रेफ कारण हैं । तथा ' विधिमय ' अर्थात् अनेकों ब्रह्मा इन रेफसे होकर अनेकों ब्रह्मांड रचते हैं, तिन२ में वे अनन्त२ जीवोंमें पूज्य हो ' श्री ' ऐश्वर्य अर्थात् शोभायुक्त विराजते हैं, यथा—" **प्रजापतिसमः श्रीमान् ।** " (वाल्मी० मूल रामायणे) यहाँ प्रजापति ब्रह्माको कहा है । अतः रेफमें ' **श्री** ' (ऐश्वर्य) भी अनंत है । तथा ' हरिमय ' अर्थात् रेफसे अनन्त विष्णु होते हैं, वे सब ज्ञानके धाम हैं, यथा—"**ज्ञान धाम श्रीपति असुरारी ।** " (बा० दो० ९०) अतएव रेफका '**ज्ञान**' (ऐश्वर्य) भी अप्रमेय है । कहीं २ इस ज्ञानकी जगह मोक्षका भी पाठान्तर मिलता है । यह भी युक्त है, क्योंकि विष्णुभगवान् मोक्षधाम भी हैं । पुनः रेफ ' हरमय ' हैं अर्थात् इनसे अनेकों शिव होते हैं, जो वैराग्यके प्रकाशक हैं, यथा '**वैराग्याम्बुजभास्करं ह्यघघनध्वान्तापहं तापहम् ॥**' (आ० मं० श्लो०) (इसमें शिवजीकी बंदना है) अतः जब रेफ ऐसे अनन्तशिवजीके कारण हैं, तो इनका ' **वैराग्य** ' (ऐश्वर्य) भी अप्रमेय है । इन षडैश्वर्योंके कारणों (अग्न्यादि) की उत्पत्ति प्रथमही रेफमें ' दीप्तौ ' और आदाने, इन धातुवोंके प्रथमार्थ हीमें कह आये । इस प्रकार ब्रह्मा विष्णु महेश तथा सूर्यादि जो २ भगवान् कहे जाते हैं, सबको षडैश्वर्य इन (रेफ) हीसे प्राप्त हैं, ऐसे रेफपिता ऐश्वर्यधनी हैं* ।

(९) **प्रश्न**—जैसे उपरोक्त संसारी संबंधके चारों प्रकारके पिताकी भक्तिसे चारों फल भी मिलते हैं । यथा—"**चारि पदारथ करतल ताके । प्रिय पितुमातु प्रान सम जाके ॥**"

नोट * इन षडैश्वर्योंसे षट्विकारोंका नाश होना आगे पाँचवें संबंधमें प्रसंग पाकर दिखावेंगे ॥

(अ० दो० ४९) वैसे क्या रेफसे भी ? यद्यपि षडैश्वर्यवान् हैं परन्तु कुछ देते भी हैं ? उत्तर—हाँ हाँ इनके यहाँ तो चारों फलोंके अवटकोष है और प्रिय पुत्र जापकको उनकी चाभी ही दे देते हैं । अपने पाने वा लेनेकी तो वातही क्या चाहे ब्रह्मांड भरको लुटाया करै, तब भी नहीं घटनेका यह आगेकी पांच चौपाइयोंसे ग्रंथकारही दिखाते है ॥

मूल (चौ०)

महामंत्र जोइ जपत महेसू । कासी मुकुति हेतु उपदेसू ॥२॥

टीका—श्रीरामनाम महामंत्र हैं, जो श्री शिवजी जपते है, और जिसका उपदेश काशीजीमें मुक्तिका कारण है ॥ २ ॥

टिप्पणी (भावार्थ) ।

(१) '**महामंत्र**' का भाव यह है, कि और मंत्रोंका राजा तो षडक्षरमंत्रराज ही है, यह (रामनाम) उसका भी कारण है, जैसे पूर्व मंत्रोद्धारमें दिखा आये इससे यह महामंत्र है। क्योंकि 'राज' विशेषणसे ' महा 'श्रेष्ठ है, जैसे राजासे महात्मा, प्रमाण—' **महामंत्र जपिए सोई जो जपत महेस**' । (वि. १०९) महेश क्या जपते हैं ? वह यथा—' **तुम पुनि रामराम दिनराती । सादर जपहु अनंग अराती ॥**' (बा० दो० १०७) पुनः यथा—"**यत्प्रभावं समासाद्य शुको ब्रह्मर्षिसत्तमः । जपस्व तन्महामंत्रं रामनामरसायनम् ॥** " (शुकपुराणे) तथा—" **सप्तकोटिमहामंत्राश्चित्तविभ्रमकारकाः । एक एव परो मंत्रः श्रीरामेत्यक्षरद्वयम् ॥**" (वृद्ध मनुस्मृतौ) (इसमें महाशब्द श्रेष्टतावाचक है ॥)

तथा—कोई यहाँ '**महामंत्र**' से षडक्षरका ही अर्थ करते हैं, वह ऐसे कि जोई रामनाम है, सोई) महामंत्र षडक्षर है जो काशीजीमें शिवजी जपते हैं। क्योंकि श्रीरामतापनीयोपनिषदमें लिखा हैं, कि शिवजी काशीजीमें षडक्षर उपदेशसे ही मुक्ति देते हैं,यथा—**श्रुतिः "क्षेत्रेऽस्मिन्योऽर्च्चयेद्भक्त्या मंत्रेणानेन मां शिव। ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥६॥ त्वत्तोवा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्।जीवन्तो मंत्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवंति ते॥७॥"** (चतुर्थकंडिकायां) किंतु इस प्रकारके खींचखांचकी आवश्यकता तो तब होनी चाहिये, जब दोनोंमें कुछ तत्त्वतः भेद हो वह तो है नहीं. मंत्रोद्धारमें दिखा आये कि रेफसे रामनाम और तिससे षडक्षर मंत्रराज होता है, इसीसे युगाक्षर (राम) से काशीमें गति देना ग्रंथकारने बहुत ठौर कहा है, यथा—"**जासु नामबल संकर कासी।देत सबहिं समगति अविनासी॥**" (कि० दो० १०) तथा—"**महिमा रामनामकी जानमहेस । देत परमपद कासी करि उपदेस॥**" (बरवा०) अतएव यही एकता ग्रंथकारकोभी अंगीकार है, तथा ग्रंथान्तरमें भी लिखा है, यथा—"**सर्वेषां राममंत्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम्।षडक्षरमनुं साक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम्॥**" (मत्स्यपुराणे) **प्रश्न**—तो उपदेशकालमें षडक्षर ही क्यों दिया जाता है ? **उत्तर**—जैसे विद्यार्थियोंको प्रथम अक्षरोंके बडे २ स्वरूप दिखाये जाते हैं, तो पीछे अक्षरोंके सब अवयव (अंग) छोटे अक्षरमें भी समझ पडते हैं वैसे ही नामका बडास्वरूप षडक्षरमंत्र नामके अर्थ-

रूप अवयवोंको अपने सुगमअर्थसे प्रवोध करता है, तो युगाक्षरमें भी वही २ अनुसंधान होने लगता है, इसी लिये नित्य प्रति प्रातःकाल षडक्षरके जपकी विधि है, कि जिससे दिनभर वही अर्थ युगाक्षरमें भी बोध हुआ करे ॥

अथवा—जो इ जपत महेसू, अर्थात् जो इसे महान् ईश शिवजी जपते हैं, इससे महा-मंत्र है, क्योंकि शिवजीने महा अमंगल अपावन चिताभस्म व मुंडमालादि धारण किये हुए भी जपा तो भी जैसे और मंत्रोंमें अपावनता व अमंगलादि अविधि होनेसे वे रुष्ट होकर जापकको ही विनाश करते हैं, वैसे नामने नहीं किया, किंतु मंगलराशि किया और नाशकी जगह अविनाशी किया। इसीसे आज दिन पर्यंत महाअमंगलमें अर्थात् मृतक लिये हुए लोग '**रामनामसत्यहै**' ऐसा कहते हुए चलते हैं। प्रमाण यथा— '**नामप्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगलरासी**॥'' (बा० दो० २९) तथा शिवजी इसी नामके बलसे मोक्षके अनधिकारी जंतुओंको भी गति देते हैं यथा—**कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नामबल करौं बिसोकी**॥ '' (बा० दो० ११८) इस प्रकार विषमसाजधारी शिवजी आप गति पाये। तथा पात्रापात्रविवेकरहित इन्हीं (नाम) के बल जंतुवोंको भी गति देते हैं, अतः जो इन्हें देवनमें ' महा ' देव जपते हैं, इससे तथा उदारतासे ये महामंत्र हैं, क्योंकि दीनोंका हितैषी ही बड़ा कहाता है, यथा—'' **जे गरीबपर हित करैं, ते रहीम बडलोग** ॥ '' ऐसा कहा है ॥

अथ रेफपिताका मोक्षकोष।

(अनुसंधानार्थ)

(२) इन रेफपिताकी शरण होकर शिवजी जो अमंगलसाजवाले हैं, तथा तीनोंलो-कोंका संहार भी करते हैं। तिसपर भी अविनाशी मुक्ति पाये तथा उस मोक्षके कोषकी चाभी भी पाये, कि जिससे काशी भरमें फाटक खोलकर मोक्षफल लुटा रहे हैं। जंतुवोंको भी लुटानेसे नहीं घटता, जैसे लोग भारी भंडारामें वस्तु अति अधिक जानकर पशुओंको भी खिलाते हैं। सज्जनों! ध्यान देनेकी बात है, और कैसा आश्चर्य महत्त्व है, कि जो कोटिनजन्मके साधनसे श्रीराम प्रीति होती है,तो भक्तिकरके मुक्ति प्राप्त होती है। यथा— ''**अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**।'' (गीता अ० ६) वही मुक्ति शिवजी नामके बल जंतुओंको भी लुटाते हैं ॥

अथ रेफ़पिताके कालरक्षाका चरितार्थ निरूपण।

(३) ऊपर चौ० (१) टि. (७) में जो रेफके काल रक्षणगुण कह आये, वह यहाँ इस प्रकार चरितार्थ किये। क्योंकि वहाँ अग्नि आदि तीनोंकी विषमता मिटाकर रक्षा करना कहे थे, यहाँ वेही तीनों शिवजीके नेत्र हैं, रेफने इन्हें तिस दृष्टिसे नाम रटाया, अर्थात् अग्निदृष्टिसे रटाय विराग, सूर्यदृष्टिसे ज्ञान और चन्द्रमादृष्टिसे उपासनाका अधिकारी किया, तो विराग पुष्टि ज्ञान सहित तुष्टि तथा भक्ति सहित अमरत्व मय, ऐसा तीनों गुणमय नामामृत पान कराये

(यहाँ पान कराना विरुद्ध नहीं क्योंकि रेफसे नामका होना दिखा आये) तो अविनाशी करके कालसे बचाये। इस प्रकार कालकी नियामकता रेफकी प्रत्यक्ष हुई। इसी प्रकार इस पुत्ररूप जीवको भी इन रेफपिताद्वारा अग्निआदि तीनों नेत्रोंकी दृष्टि अर्थात् इनके तात्पर्यार्थ जाननेकी बुद्धि प्राप्त होकर नामामृतपानसे मोक्षपाकर कालरक्षा होगी, अतः इसी लक्ष्यपर विश्वास सहित जपना चाहिये ॥

जापकको भी कालनियामकताप्राप्तिका चरितार्थनिरूपण।

(४) जब तक पुत्रमें माता पिताके गुण व लक्षण नहीं आते, तबतक पुत्रत्व नहीं माना जाता। जैसे कि कहावत प्रसिद्ध है, कि "**बापका बेटा सिपाहीका घोडा, कुछ नहीं तऊ थोंडायोडा ॥**" अर्थात् कुछ २ माता पिताके लक्षण अवश्य चाहिये। वैसे ही यहाँ रेफाश्रित शिवजीमें कालनियामकता भी चरितार्थ हुई। कि उपरोक्त अग्न्यादि, नेत्र होनेसे इनके आश्रित हुए। जैसे अग्निसे प्रलय होती है, वैसे ही शिवजीके भी तीसरे नेत्रके खुलनेसे प्रलय होती है, और काशीमें औरोंको भी कालकी विषमतासे बचाते हैं, अर्थात् मुक्त करते है. हाँ, इतना अंतर अवश्य है, कि शिवजीका एकही ब्रह्मांडकी काशीमें जीवोंकी कालसे रक्षा करनेका सामर्थ्य है और इन माता-पिता रूप रेफमें अखिलब्रह्मांडमें, अत एव इन (रेफ) का अप्रमेय सामर्थ्य है। इसी लक्ष्यसे जापक भी उपरोक्त तीनोंकी दृष्टि टि० (३) की भाँति पाकर आत्मबुद्धिरूपी काशीमें स्थित हो, तहाँके वासी मनुष्योंकी तरह शुभगुणोंको और जन्तुओंकी तरह प्राकृत गुणोंको भक्तिमें लगाय, तिनके सहित अविनाशी गति पावेगा, जैसे शिवजी प्रलयकालमें प्रलय करनेमें समर्थ हैं, वैसे यह जापक भी अपने देहरूपी ब्रह्मांडका अंतसमय आनेसे हर्षसहित इसे त्यागनेमें समर्थ होगा, (अंतके दोहेमें दिखावेंगे)। इस प्रकार जीवमें रेफाश्रित केवल निज देहमें जो, सामर्थ्य है, वही उन (रेफपिता) में अनंत ब्रह्मांडमें रहता है, यही लक्षणकी एकता और ईश्वर जीवका सामर्थ्यमें भेद है ॥

अथ रेफका उपरोक्त मातृत्व चरितार्थ।

(५) ऊपर टि० (३) में जो अग्न्यादि तीनोंकी दृष्टिसे वैराग्यादि तीनों गुणोंकी प्राप्ति शिवजीमें कह आये उसीसे मातृत्व दिखाते हैं कि जैसे माता दूध पिलाय रोगोंसे बचाय पुष्ट करती है, वैसेही विरागसे पुष्टि हुई। यथा—"**जानेहु तब मन विरुज गोसाईं। जब उर बल विराग अधिकाई ॥**" (उ० दो० १२१) पुनः माता उबटनादिसे अंग साफ करती है, तैसे यहाँ ज्ञानसे तुष्टिद्वारा कामादिमल साफ हुए। यथा—"**बिमलज्ञानजल जब सो नहाई।**" (उ० दो० १२१) तथा माता काजलादि लगाय वस्त्रादिसे जैसे शृंगार करके पिताकी गोद प्राप्तकराय सुख देती है तैसे रेफने यहाँ भक्तिके गुणोंका शृंगार करके शिवजीको अक्षयसुखरूप बनाय दिया यथा—"**तब रह राम भगति उरछाई।**" (उ० दो०

१२१) इनकी गोदप्राप्ति यह कि रेफरूप श्रीरामजी इनके मानसमें रह कर सदा सुख देते हैं तथा पुत्र जैसे गोदमें प्राप्त हो पिताका मुख देख २ कर प्रसन्न रहता है, वैसेही शिवजीकी रेफपितामें इतनी भक्ति है, कि अपने मुखचन्द्रकी किरणरूप आह्लादभरी वाणीसे रटनरूप प्रकाशमें बिराजमान कराये हुये बुद्धिके ज्ञान, विरागरूप दोनों नेत्रोंसे शोभा देख२ कर प्रसन्न रहते हैं। यथा–' **श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुंदरवरं संशोभितं सर्वदा** ॥ " (कि० मं० श्लोक) इस रीतिसे रेफका अग्न्यादि तीनोंद्वारा मातृत्व चरितार्थ हुआ, इसी लक्ष्यसे जपनेसे ऐसाही मातृत्व इस शिशुजापकको भी प्राप्त होगा ॥

अथ जापकमें भी रेफके मातृत्व लक्षण ॥

(६) जैसे रेफपिताके आश्रित शिवजी मंगलरूप पाकर काशीवास स्वयं पाये। तैसे वे भी पंचकोस काशीमें जीवोंको यही मंत्र दे तिसका अर्थ ज्ञान कराकर उसका मंगलरूप जो आत्मरूप है सो पैदाकरके मातृत्व करते हैं, वैसेही जीवभी जब स्वयं मंगलरूप होकर उपरोक्त टि० (४) की भाँति आत्मबुद्धिरूप काशीका वासी होगा, तो और जीवोंके प्रति ऊपर टि० (५) में कहे हुयेकी भाँति उपदेशद्वारा मातृत्व कर सकेगा * ॥

मूल (चौ०)

महिमा जासु जान गनराऊ । प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ ॥ ४ ॥

टीका–जिस (रामनाम) की महिमा गणेशजी जानते हैं, नामहीके प्रभाव (सब देवों) से प्रथम पूजे जाते हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी (अनुसंधानार्थ)

श्रीगणेशजीकी कथा ।

(१) यह कथा शैवतंत्र, पद्मपुराण, नंदीश्वरपुराण तथा गणेशपुराणादिमें प्रसिद्ध है। कल्पान्तरभेदसे कहीं २ परस्पर कुछ भेद भी है। यहाँ सारांश लिखते हैं, एक समय शिवजीने गणेशजीको योग्य समझकर स्वामिकार्तिक (अपने ज्येष्ठ पुत्र) तथा और २ देवतोंके समक्षमें कहा, कि हम गणेशजीको प्रथम पूज्यपद दिया चाहते हैं। ऐसा सुनकर स्वामिकार्तिकने कहा, कि हमं बडे हैं, यह पद हमें चाहिये, तथा और २ देवतोंने भी अपनी २ इच्छा प्रकट की। तो शिवजीने न्यायहेतु ब्रह्माजीके पास भेजा, तो विचारकर ब्रह्माजीने कहा, कि यहपद इस लिये

नोट * इस चौपाईके अर्थसे इस भगवद्वाक्यका भी साक्षात्कार हुआ. यथा–" इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च ॥"(गी० अ० १४) तथा ' काल ' से डरेहुये ' चित्त ' को मातारूपसे रेफने धैर्य दिया। क्योंकि मोक्षइच्छा सत्त्वप्रधानचित्तका धर्म है ॥

दिया जावेगा । कि तीनोंलोकोंमें परस्परभेदसे जो विघ्न होते हैं, कि देवतोंकी पूजामें दैत्योंसे विघ्न होता है; तथा देवताभी परस्पर ईर्षासे विघ्न करते है, तिन (विघ्नों) के निवारणार्थ जो सर्वत्र पहुँचकर रक्षा कर सके। इस लिये आपलोगोंमें जो कोई तीनों लोकोंकी परिक्रमा करके प्रथम आवे, वही प्रथम पूज्य हो, ऐसा सुनकर स्वामिकार्तिक मोरपर तथा और देवगण निज २ वाहनों पर चढ २ कर चले और गणेशजीका तो मूसा वाहन है. उसपर चढकर धीरे २ चले । इनके साथ ही साथ सूर्य और चन्द्रमा भी चले जाते थे । इतनेमें एकतो मूसाका अग्रभाग नीचा, दूसरे गणेशजी लंबोदर भी हैं, अढुक कर गिर पडे. यह देखकर चन्द्रमा जोरसे हँसे,क्योंकि इनको सबसे तेज चलने व नित्य परिक्रमा करनेका घमंड था । तब गणेशजीने इन्हें शाप दिया, कि आजसे जो तुम्हें देखे सो कलंकी हो तो देवतोंमें निरादर पाकर चन्द्रमा छिप रहे । फिर गणेशजी मूसेपर चढकर उदासीन हो पूर्ववत् पुनः चले । तो दयालु भगवत्की प्रेरणासे श्रीनारदजी मिले. और इनकी चेष्टा देखकर कारण पूछा, इन्होंने सब कहा, सुन कर नारदजीने उपाय बतलाया, कि श्रीरामनाम त्रिलोकमय है, अतः पृथ्वी पर लिखकर परिक्रमा करके जाकर ब्रह्माजीसे कहदो, कि कर आये विश्वासपूर्वक इन्होंने वैसाही किया । और स्वामिकार्तिक देवतोंके सहित जहाँ २ गये, मूसेका पैरचिह्न आगे २ मिला, तो आकर स्वयं निराश हुए और श्रीगणेशजी प्रथम पूज्य पद पाये । पीछे ब्रह्माजीने देवताओं समेत आकर चन्द्रमाको शापानुग्रहके लिये कहा कि आपके अधिकार होनेसे देवतोंको सुखी होना चाहिये, किंतु चन्द्रमा विना वहुत ही दुःखी हैं, यथा— **"विष्णुको सारो सिंगार महेसको सागरको सुत लच्छिको भाई । तारनको पति देवनको धन लोगनको है महा सुखदाई ॥"** तो देवताओंकी प्रार्थनासे गणेशजीने क्षमा करके चौथ २ को रक्खा, पीछे पितामह (ब्रह्मा) जीकी याचनासे एक चौथ मात्र रक्खा, जिस भादों सुदी चौथको हंसे थे । क्योंकि इनका शाप मिथ्या नहीं हो सकता । उसीको आजकल गणेशचौथ कहते हैं । फिर चन्द्रमा पूर्ववत् रहने लगे । यथा—" **अहं पूज्योऽभवं लोके श्रीमन्नामानुकीर्तनात् । अतः श्रीरामनाम्नस्तु कीर्तनं सर्वदोचितम् ॥**"(गणेशपुराणे)।

अथ रेफपिताका कामफल कोष ।

(२) इन रेफपिताके कार्यरूप नामद्वारा गणेशजीकी अपनी कामना सिद्ध हुई, और संसारकी कामना सिद्ध करते हैं । इसीसे संपूर्ण शुभकार्योंमें इनका प्रथम ही पूजन होता है । अतएव इन्हें '**काम फल**' का अघटितकोष प्राप्त हुआ । कि जिसे खोलकर बैठेहुए लुटा रहे हैं ॥

अव०—ऊपर चौ० (१—२) के ' विधि हरि हरमय ' के अर्थसे जो कह आये उसीको यहाँ चरितार्थ दिखाते हैं— [जैसे कि ऊपर चौ० (३) में दिखा आये]

अथ रेफका पितृत्व चरितार्थ ।

(३) जैसे लोकमें पिता पुत्रको पैदा करके, पढाय, पालनकर, अपना (युवराज) पद देता है तैसेही रेफमें भी गुण ऊपर चौ० (२) टि. (खँ) में दिखा आये । उसीका

यहाँ साक्षात्कार दिखाते हैं । सो इन (गणेशजी) के प्रसंगमें युवराज पदसम वही पूज्यपद है, तिसके वास्ते गणेशजीको शिवजीने पैदाकरके पूज्यपद रूप युवराजकी योग्यताहेतु ब्रह्माजीके यहाँ भेजा । जैसे पिता पढनेको गुरुके यहाँ भेजता है तो ब्रह्माजीने योग्यताकी विद्यारूप त्रिलोकपरिक्रमा बतलाई । तो विष्णुभगवान्के मनरूप नारदने आकर पालनकर अर्थात् युव-राजयोग्य कर दिया । तब ये कामना पाये अर्थात् पूज्यपदरूप पितापद पाये । इस भाँति रेफ हीके कार्यरूप त्रिदेवोंद्वारा पितृत्व कहकर रेफका ही जनाये ॥

अथ जापकमें रेफके पितृत्वका लक्षण ।

(४) यहाँ लक्ष्यरूपसे गणेशजीमें भी रेफके पितृत्वका लक्षण दिखाते हैं । यथा-" **जेहि सुमिरत सिधि होइ, गननायक करिवरबदन । करउ अनुग्रह सोइ, बुद्धिरासि सुभगुन सदन ॥**" (बा० सो० १) अर्थात् गणेशजी देवतोंके नायक सिद्धि करनेवाले बुद्धिके राशि और शुभ गुणोंके सदन हैं, । पहिले सिद्धि कहकर और गुण पीछे कहे, भाव-जब नामसे सिद्धिदाता हुए, तब सब गुण आये । यहाँ जो सिद्धि कहे हैं, सो आत्मसाक्षात्कारको कहते हैं, । वही '**त्रिलोकपूज्यपद**' भी है, यथा-" **अनुरागसो निजरूप जो जगते बिलच्छन देखिए० त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई ।**" (वि० १३७) इसीको गीतामें भी सिद्धि कहा है । यथा-" **सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।**" (गीता. अ० १८) इसका साधन भी गीतामें निष्कामकर्म ही को कहा है । यथा-" **असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥**"(गीता अ० १८) जैसे इनके सिद्धिरूप पूज्यपदको पितारूप रेफके कार्यरूप शिवजीने पैदा किया । जिन्हें अहंकारद्वारा कर्मके तीन अंशोंमें 'ज्ञेय' अर्थात् कर्मके प्रकाशक ऊपर चौ० (२) की टि०(कँ) में दिखा आये तैसे इनके सुमिरनेसे सिद्धि पैदा होती है, अतएव पितातुल्य हुए । पुनः बुद्धिके राशि हैं, इसमें ब्रह्माजीके गुण भी प्रत्यक्ष हैं, अर्थात् जैसे ब्रह्माजी परिक्रमा कराये, तैसे ये बुद्धि दे निजाश्रितजीवोंके तीनों लोकरूप जो देहरूपीब्रह्मांडमें 'इन्द्रियविषय' इन्द्रियाँ तथा तिनके देवता क्रमसे तामस राजस और सत्वगुणकी विभूति हैं, इनकी परिक्रमा कराते हैं, अर्थात् इनके द्वारा जीव इन तीनोंको घूमकर अपने भीतर अर्थात् आधीन करता है । तब इन तीनों लोकोंसे पूज्य हो(चौथा)अपनारूप (पद) पाता है, यथा-"**विषय करन सुर जीव समेता।सकल एकते एक सचेता॥**"(बा०दो०११६)अर्थात् विष-यादितीनों (चौथे) जीवके ही आश्रित हैं, इससे चाहे तो उपायद्वारा वशकर सकता है । इसी विचारसहित जैसे वहाँ ब्रह्मप्रेरित, तैसे यहाँ बुद्धिप्रेरित तथा जैसे वहाँ गणेशजी मूसापर चढकर चले, तैसे यहाँ जीव कर्मरूप मूसापर चढ़कर चला । क्योंकि ऊपर दिखा आये, कि इस सिद्धिका कर्म ही साधन है, तो जैसे वहाँ चन्द्रमा हँसे, तैसे इसका मन हँसता है । क्योंकि मनके प्रकाशक चन्द्रमा हैं । कि यह धीमीचालसम कर्ममार्ग है जिसमें फलेच्छारूप अधो-गति है । पुनः ममता होनेसे जीव लंबोदर भी होजाता है, और कर्तृत्वाभिमान रूप ठोकर तो

लगता ही रहता है। ऐसा विचारकर कि इस उपायरूपी चालसे कैसे उपरोक्त तीनों लोक परिक्रमा अर्थात् आधीन करेंगे, मन अविश्वास किया, यही हँसना अर्थात् निरादर करना है, जैसे गणेशजीने शापसे उसे (चन्द्रमाको) दूर किया, तैसे जीवको लक्ष्यरूप बुद्धिराशि गणेशसे बुद्धि मिलती है कि, यथा-" **यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥** " (गीता अ. १८) अर्थात् जिस प्रभुकी प्रेरणासे जीवोंका यथायोग्य योनियों तथा जातियोंमें प्रवेश होता है वही सर्वत्र अर्थात् तीनों ऋणोंके अधिकारियों तथा पृथिव्यादिमें व्याप्त है। तो ' मानवः'अर्थात् मनुष्यवर्गको मनुआदि स्मृतिकारोंने जो २ धर्म नियत कर दिया हैं, तिसे करनेसे तिनसे उस अंतर्यामीकी ही पूजा होती है तो वह इस (मनुष्य) को मुक्तकर फलरूप 'सिद्धि' अर्थात् आत्मसाक्षात्कार कर देता है, इस विश्वाससे जीव अपने मनका निरादरकर इसे कलंकी अर्थात् व्यभिचारी समझता है, कि यह हमारी ' व्यवसायात्मिकाबुद्धि ' के आत्मरतिरूप पतिव्रतका बाधक है, यही शाप है। वहाँ भादों चौथको शाप हुआ। तैसे यहाँ भादोंरूप नाम है। यथा-"**रामनाम वर बरन युग, सावन भादों मास॥** " (बा० दो० १९) भादोंमें सिंहराशिके अतिप्रबल सूर्य होते है, तैसे नाम भी सिंहरूपमें अतिप्रबल हुए। यथा-" **रामनाम नरकेसरी** " (बा० दो० २७) तिन (नाम) के आश्रित जीवके ज्ञानरूप सूर्यके प्रकाशरूप कोपसे उपरोक्त शापरूप ज्ञान हुआ और चौथ यह कि जीवके चौथे आवरणमें मनकी विकारिक-दशा पूर्व आवरणप्रसंगमें दिखा आये। **शंका**-जीवको तो ऊपर गणेशाश्रित कहे फिर नामाश्रित कैसे? **समाधान**-यह भी तो कह आये कि गणेशजीके संपूर्णगुण नामहीके विभव हैं। यथा- ' **पिता वै जायते पुत्रः** ' अर्थात् पिताही पुत्ररूप होता है, सो रेफ (नाम) का पुत्रत्व इनमें दिखा आये। वस्तुतः यहाँ गणेशजी तो लक्ष्यमात्र हैं। इस प्रकार मनके दूर होनेसे शुद्धचित्त रह गया। क्योंकि पूर्व चौथे आवरण निरूपणमें कह आये. कि चित्तको मनने दाब दिया। पुनः जैसे चित्तके देवता वासुदेव (विष्णु) के मनरूप नारद आये और इनको शुभ गुण उपदेशे, विष्णुभगवान्के मन होनेसे नारद शुभगुणमय हैं। क्योंकि '**विष्णुसकलगुनधाम।**' (बा० दो० ८०) ऐसा कहा है। तैसे यहाँ गणेशजी भी शुभ-गुण-सदन हैं। जैसे नारद गणेशजीको परिज्ञाता कर दिये, कि राम नाम तीनों लोकमय हैं, इन्हीको परिक्रमा अर्थात् भीतर कर लो तो तीनों लोक हो जायँगे। तैसे इन (गणेशजी) के लक्ष्यसे जीवके चित्तमें यह शुभगुण नामकी प्रेरणासे प्राप्त होता है। यथा-" **यथा भूमि सब बीज मै, नखत निवास अकास। रामनाम सबधर्ममय, जानत तुलसीदास॥** " (दोहा० २९) तब यह जैसे ही गणेशजीकी तरह मन वचन कर्मसे दीन है पृथ्वीपर लिखनेकी तरह बुद्धिमें निश्चय किया, क्योंकि बुद्धि पृथ्वीका रूप है, यथा-' **बुद्धिर्जाता क्षितेरपि** ' (जिज्ञासापंचके) और परिक्रमाकी तरह भीतर किया अर्थात् हृदयस्थ किया, तो उपरोक्त पूज्यपदमें क्या देरी, यथा-" **बिगरी जन्मअनेककी, सुधरै अबहीं आज। होहि रामको नामजपु,**

तुलसी तजि कुसमाज ॥ " (दोहा० २२) इस भाँति रेफपिताके आश्रित गणेशजी लक्ष्यरूपसे जगत्के कामफलदाता पिता हुए । जीवका शुद्धअभीष्ट अर्थात् 'कामफल' आत्मरति ही है । यथा-" **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन ।** " (गीता अ०२) इसमें 'एकेह' में आत्मरतिका प्रसंग है ॥

अथ रेफपिताकी कर्मबाधारक्षाका चरितार्थ ।

(५) कर्म जीवोंको फलेच्छा, ममता और कर्तृत्वाभिमानसे बाँधता है, इन बाधाओंसे जो कर्मके उपरोक्त चौ० (२) टि०(४क) में कहे हुए ज्ञेय, ज्ञान और परिज्ञाता इन तीनों अंगोंको क्रमशः बचा जाय, तो आत्मसाक्षात्कार (सिद्धि) रूप फल मिलता है. सो गणेशजीके पूज्यपदकी प्राप्तिमें जो कि कर्मका ही फल है, इन तीनों बाधाओंसे रक्षा करना रेफका, अपने कार्यरूप ' विधि-हरि-हरमय ' से प्रकट है, जैसे जो पूज्यपदके साधनांशमें ' ज्ञेय ' अर्थात् कर्म है तिसके बीज बोनेवाले शिवरूपसे रेफही हुए । यदि ये (गणेशजी) स्वयं उस कर्मकी इच्छा अपने अहंकारसे करते तो उसकी फलेच्छामें बँध जाते । इसी तरह उसके उपायरूप ' ज्ञान ' ब्रह्माके बिना जो स्वयं करते तथा विष्णु प्रेरित नारदके बिना स्वतः चित्तके परिज्ञानसे '**परिज्ञाता**' होते तो बुद्धिमें ममता और चित्तमें कर्तृत्वाभिमान बलात् आजाते इन तीन बाधाओंका स्वरूप यथा-" **असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥** " (गीता० अ० १८) अर्थात् सब कर्मोंमें ममतारहित, फलेच्छारहित और कर्तृत्वाभिमान विना, निष्कामकर्मयोगसे उपरोक्त त्रिलोकपूज्यपदको प्राप्त होता है । ये ही तीन बाधायें यहाँ प्रकट हैं, तिनसे रक्षा होना चरितार्थ भी हुआ ॥

अथ रेफाश्रितजापकमें भी पिताकी भाँति कर्मबाधा रक्षण गुण आना ।

(६) उपर टि० (५) का प्रसंग यहाँ भी विचारना चाहिये, कि जापकको गणेशजीके लक्ष्यसे सिद्धि अर्थात् आत्मसाक्षात्काररूप पूज्यपद मिलनेसे 'फलेच्छा' बाधासे रक्षा, तथा इनके ' बुद्धिराशि ' होनेके लक्ष्यसे उपाय होनेमें ' ममता ' से बचाव और इनके 'शुभगुणसदन' रूप लक्ष्यसे ' कर्तृत्वाभिमान ' से रक्षा हुई इस भाँति इनके लक्ष्यरूपमें रेफपिताके गुण आये, तो साँचा पुत्रत्व सिद्ध हुआ × ।

मूल (चौ०)

जान आदिकबि नामप्रतापू । भयउ सुद्ध करि उलटाजापू ॥ ५ ॥

टीका-श्रीवाल्मीकिजी नामका प्रताप जानते हैं, जो उल्टा जपकर शुद्ध हो गये ॥५॥

नोट-× इस चौपाईके अर्थसे डरी हुई ' बुद्धि ' को रेफपिताने धैर्य दिया । क्योंकि कर्मोंद्वारा आत्मसाक्षात्कार करनेका व्यवसायात्मिका बुद्धिका ही कार्य है । ऊपर टि०(४) में देखो ।

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) "भयउ०" यथा—" **महिमा उलटे नामकी मुनि कियो किरातो ।** " (वि० १५२) " **राम विहाय मरा जपते विगरी सुधरी कवि कोकिल हू की ।** " (क० उ० ८९)" **उलटा नाम जपत जग जाना । वाल्मीकि भय ब्रह्म समाना॥** " (अ० दो० १९३) " **जान आदिकवि तुलसी नाम प्रभाउ । उलटा जपत कोलते भये रिषिराउ ॥** " (वरवारा० उ० ५४)

श्री वाल्मीकिजीकी कथा ।

(२) आप ऋषिवालक थे, वचपन ही में भीलोंकी संगति हुई और उन्हींमें विवाह भी हुआ । तिनके संग रहते २ पूरे व्याधा होगये, सो ऐसे कठिन हृदयके हुए, कि दिनप्रति गिन २ कर ब्रह्महत्या ही करते थे । तव एकतो सतयुगसा पवित्रयुग, तिसमें ब्रह्महत्यासरीखे कराल-पाप, सो उस समयकी दीर्घायुमें असंख्य हुए । नित्य इसी तरह हत्या कर २ धन छीन २ कर परिवार पालते थे । एक दिन सप्तऋषि उसी राहसे आ निकले, तो इन्होंने वही वर्ताव उनसे भी करना चाहा, कि वे वोल उठे कि क्या तुम्हारे कुटुंव, जिन्हें यह पापकी कमाई खिलाते हो, इन पापोंके भागी होंगे ? पुनः इन्होंने उनके न भागनेका विश्वास उनकी वचनोंसे पाय आकर अपने कुटुम्त्रियोंसे पूँछा, तो वे सव पापोंके भोगनेमें अस्वीकार हुए, तव इनकी आँख खुली, और भयसहित दीनता आई तो आधीन होकर उद्धारार्थ उपाय पूँछा, तो उन्होंने विचार पूर्वक करुणा करके राम, राम, यह जप वतलाया सो भी इनसे न वना क्योंकि इनका तो विपरीत ही अभ्यास पडा था । अर्थात् जव कोई हत्या करते थे, तो मरा मरा कहते हुए दौडकर ग्रहण करते थे । अतएव विज्ञान धाम महर्षियोंने तत्त्व विचार पूर्वक इन्हें वैसे ही, (मरा २) जपनेको कह अपनी राह ली । तवसे ये ऐसे चित्त लगाकर नाम रटे, कि इनके शरीरपर दीम-कका ढेर जमकर वमैार (वल्मीक) हो गया । वहुत काल पीछे सप्तऋषि पुनः आये । तहां नामका स्वर सुन कर जल ले वरुण मंत्रसे छींटा तो तुरंत वर्षा हुई और उस वल्मीकके वह जानेपर ये निकल आये इसीसे इनका नाम '**वाल्मीकि**' हुआ और वरुणका नाम प्रचेतस भी है । तिनकी वृष्टिसे प्रकट होनेके कारण इनका एक नाम '**प्राचेतस**' भी है और आदि काव्य (रामायण) के रचयिता होनेसे आदिकवि भी कहे जाते हैं ॥

(भावार्थ)

(३) " **जान०** " का भाव यह कि ये (वाल्मीकिजी) ब्रह्माजीके अवतार हैं, ब्रह्माजी भी आदिकवि हैं, क्योंकि कवि नाम सारासार वेत्ताका है, वह सारासार ज्ञान वेदद्वारा ब्रह्माजीसे ही प्रकटा पुनः वे ही आदिकवि वाल्मीकि हुए, तो वेद भी रामायणरूपसे इनसे ही प्रकटे । यथा—"**वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥**" (मूल रा० माहात्म्ये) इसीसे प्रथम आदिकवि कहे, क्योंकि ब्रह्मारूपमें भी तो आदिकवि थे ही, (इसके प्रमाण भूमिकामें दे आये)

तब पीछे नामप्रताप जानना लिखे इसका कारण यह है, कि " **होय जु अस्तुति दान से, कीरति कहिये सोय । होत बाहुबलते सुयस, धर्म नीति सह होय ॥** " और " **जाकी कीरति सुयश सुनि होत शत्रु उर ताप । जग डेरात सब आपहीं, कहिये ताहि प्रताप ॥** " अर्थात् दानादिसे होनेवाली बडाई ' कीर्ति ' कहाती है । और विना स्वार्थ बाहु वल (पुरुषार्थ) से किसीकी अनीति कर्ता शत्रुसे रक्षाकरनेसे जो बडाई होती है वह ' सुयश' है, यह दोनों मिलकर प्रताप होता है. कि जिसे सुनकर शत्रुओंको ताप होता है और संसारके लोग ऐसे प्रतापीके तेजसे सन्मुख नहीं हो सकते । इस प्रकारका प्रताप नाममें अप्रमेय है, तिसको इनका जानना दिखाते हैं कि, प्रथम जब जगत्के उद्धारहेतु भगवत्ने ब्रह्माद्वारा वेद प्रकट किया तो तिसके अंगरूप व्याकरणादि भी प्रकट हुए, परन्तु वेदके गूढाशयको लोग न समझ सके और वेद जो गुणत्रयसंपत्तियुक्त है, अर्थात् तिसके तीनों कांड एक एक गुण प्रधानसे होते हैं, जैसे तमोगुणप्रधान अहंकारके आश्रय कर्म, रजोगुणप्रधान बुद्धिके आश्रय ज्ञान और सत्त्वप्रधान चित्तद्वारा उपासना होती है । तिनका कार्य विपरीत होने लगा । अर्थात् लोग बुद्धिकी असमर्थतासे गुणोंके वश हुए, तो तमोगुणकी वृद्धि तथा विषमता होनेसे जो विषयसुखचेष्टा अधिक बढी, तो संकामकर्म करने लगे । तथा सत्त्वगुणमिश्रित रजोगुणकी विषमतासे इन्द्रियासक्ति बढी तो तिनकेद्वारा गुणोंसे होनेवाले ज्ञानमें अभिमान होने लगा । और सत्त्वगुणकी विषमतासे चित्तद्वारा होनेवाली उपासनामें दंभ लोभ, लालचादि फुरने लगे । इस प्रकार वेदानुसार भी असंख्यजीव चौरासीमें जाने लगे । तब परमकरुणामई श्रीजानकीजीको करुणा आई, तो आपने श्रीरामजीसे प्रार्थना किया । यथा-" **स्वलीलामूर्च्छिताञ्जीवान्छून्यान्स्वाभीष्टसाधनैः । दृष्ट्वा मूलाख्यया देव्या प्रकृत्या प्रार्थितः प्रभुः ॥** श्रीसीतोवाच- **चतुर्व्यूहं समाधत्त सृष्टिस्थित्यन्तकारणात् । न सुलभोऽसि सर्वेषां देवदेव जगत्पते ॥** " (श्रीभगवद्गुणदर्पणे) अर्थात् अपने लीलारूप जगत्में कामादि विकारोंसे मूर्च्छित (मोहयुक्त) जीवोंके वास्ते प्रार्थनापूर्वक जगज्जननीश्रीजानकीजीने श्रीरामजीसे कहा कि. हे कृपालु ! अभीतक जो आपने अंतर्यामी, पर (विराट्) तथा चतुर्व्यूह पर्यंत रूपोंको धारण किया । इनसे इन दीनचेतनोंका अभीष्ट जो दिव्यरूपसे आपकी सेवा सो न प्राप्त हुई, अतः सुलभताके लिये उपाय कीजिये । तब श्रीरामजीने मीन, कमठ, वाराह, नृसिंह तथा वामन आदि रूपोंसे अपने गुण दिखाया । परन्तु सुलभता न हुई तो आपने जीवोंकी बुद्धिकी असमर्थता जानकर तिनके प्रकाशक (देवता) ब्रह्माके अंतर प्रेरणा किया तो वेही जन्म ले वाल्मीकिजी हुए, पुनः जैसे जीव जो २ कर्म पूर्वमें किये रहते हैं, तदनुसार इस जन्ममें प्रकृति होती है, वैसे इनको भी हुआ । कि जैसे पूर्व ब्रह्मारूपसे जीवोंकी बुद्धिमें प्रकाशकतासे वैदिक साधनोंमें तत्पर ब्राह्मणरूप कोटानकोटि जीवोंको नित्य २ कर्मादिद्वारा फलेच्छादिप्रसादसे चौरासीको पठाय २ हत्या करते थे । [यहाँ तीनों कांडनिष्ठोंकी ब्राह्मण संज्ञा है, क्योंकि तीनों ही ब्रह्म जाननेकी उपाय हैं । और ब्रह्मज्ञाता ब्राह्मण

कहाता है, यथा—' **जानइ ब्रह्म सो विप्रवर** ' (उ० दो० ९९)] उसी पूर्वाभ्याससे इस शरीरसे भी गुणरूप कोलभिल्लोंके संगसे ब्राह्मणोंकी ही हत्या करने लगे। तब जैसे गुण अपने संग कर्म तो कराते हैं, पर सुख दुःखके साथी नहीं होते यथा—" **प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।** " (गीता अ० ३) तथा—" **कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥** " (गीता अ० १३) तैसे इन्हें गुणरूप कोलकुटुंवोंने जवाव दिया, कि हम साथी नहीं, तब ये चैतन्य हो पापोंसे डरे, और उन सप्तऋषियोंको श्रीरामप्रेरित चैतन्यकर्ता जानकर शरण हुए। जब उन्होंने नामोपदेश किया, तो रीति है, कि मंत्रोपदेश समय मंत्रके अर्थ तथा विधिका ज्ञान करा दे। इससे उन्होंने रामनामार्थमें ब्रह्मका उद्देश्य जीवोंके रमावनेका दिखाया, दुःख देनेका नहीं, इस प्रकार नामकी संसारको सुख दान देनेकी 'कीर्ति' सुने। तब जो इन्होंने अपना मरा मराका अभ्यास कहा, तो महर्षियोंने ध्यान विचारसे सब हाल जान लिया, कि ये ब्रह्मारूपसे जो गुणवश होकर अनेकों जीवोंकी बुद्धिद्वारा प्रथम तमोगुण वश हुए, क्योंकि तामसाहंसे शब्द-विषयद्वारा ही तदर्थभूत सम्पूर्णविषयोंकी चाहमें चित्त फैलता है तो इनका सहज आनंदरूप धन (कोष) इस तमोगुणने लूटा है। इसी प्रकार ये विवेककी फौजको मानादिद्वारा सत्त्वमिश्रित रजोगुणसे और भक्तिरूपी राज्य (देश) को, सत्त्वगुणाभिमानमें दंभादिसे लुटा गये। अतएव बाहुबलसे वसानेवाले नामके सुयशका उपदेश करें तो उसके अभ्यासानुसार प्रायश्चित्तरूप 'मरा' का अर्थ बताये, कि जीवका स्वरूप राजा सम है। यथा—" **निष्काज राजविहाय नृप ज्यों स्वप्न कारागृह परचो॥** " (वि० १३७) उपरोक्त विधिसे इसके जो कोष, सेना और राज्य लूटे गये, ऐसे जीव राजाको वसानेवाले यशशालि 'मरा' नाम हैं। शत्रुसे लडनेमें प्रथम उसका कोष छीनना चाहिये, तब सेना मारकर देश पर अधिकार करना राजनीति है। अतः इस 'मरा' नामका प्रथमाक्षर मकार चन्द्रबीज है, और चन्द्रमा आह्लादमय हैं। क्योंकि " **चदि—आह्लादने** " इस धातुसे चन्द्रमा शब्द होता है। वैसेही आह्लादमय जीवका स्वरूप है। यथा—" **मकारार्थो जीवः** " (राममंत्रार्थे) और " **मसी-परिणामे** " **मन-ज्ञाने** तथा " **मदि—हर्षे** " इन धातुवोंसे मकार इस जीवका 'सच्चिदानंद स्वरूप प्राप्त कराके इसका आनंदरूप कोष मिलावेंगे। तब इस कोषका हरनेवाला शत्रुपक्षका तमोगुणरूप उसका कोष जीवके हाथ आजायगा अर्थात् आप्तकामादि गुण होंगे। पुनः इस 'मरा' का दूसरा वर्ण जो 'र' है, वह ब्रह्म (राम) वाचक है, यथा—" **रश्च रामेऽनिले वह्नौ** " (एकाक्षर कोशे) वे श्रीरामजी ब्रह्म अर्थात् व्यापक हैं तथा सर्वप्रकाशक हैं। यथा—" **विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक ते एक सचेता॥ सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥** " (बा० दो० ११६) इस प्रकार ये 'र' अपनी सर्व प्रकाशकता दृढाय शत्रुपक्षकी मानादि सेनाको मारेंगे, जो पूर्व जीवके इन्द्रि-योंमें प्रकाशकता अनुमान करनेसे इसके विवेकादिको भगाये थे। और अपनी विवेकादि-

सेनाको (जो जीवरूप राजाकी रक्षक है) वसावेंगे। पुनः ' मरा ' का तृतीयाक्षर जो अकार हैं, तिससे षडक्षरमंत्रके मध्यका चतुर्थ्यात्मक राम शब्द होता है। पूर्व मंत्रोद्धारमें दिखा आये। उसका अर्थ अनन्यभोग्यत्वका होता है । यथा-" **रामायेत्यनेनानन्यभोग्यत्वम् ।** " (रहस्यत्रये) यह अनन्य भोग्यत्व शुद्धपराभक्तिका विषय है, इसे प्राप्त कराय पूर्वोक्त जीवका देश (राज्य) भी मिला देंगे। इस प्रकार सव जीव रूप राजाओंका बसानेवाला इन उल्टे नामका सुयश है तो ऊपर सीधे नामके अर्थमें जो कीर्ति सुने थे, वह और यह 'सुयश' दोनों मिलकर प्रताप हुआ। तब उपरोक्त तीनोंगुण रूप शत्रुओंको ताप हुआ तो आप (श्रीवाल्मीकिजी) ने इस प्रताप गुण युक्तनामके 'सुयश' वाले स्वरूप 'मरा' को ही प्रथम प्रयोजन जानकर जपा तो पूर्वके उपरोक्त ब्रह्महत्यादि पापोंकी संपूर्ण शुद्धि होगई। क्योंकि विकार तो गुणसंगसे ही थे, और गुणोंकी शुद्धि तो ' मरा ' के अर्थमें हीं दिखा आये। तव ब्रह्मसमान हुए। जैसे चक्रवर्ती राजाकी सहायतासे सामान्य राजा अपना देश पाकर वहुत अंशोंमें उसकी समान होता हे। तब सीधे नामको भी हृदयमें लाया चाहे, कि जिसके अर्थमें पूर्व ' कीर्ति ' सुने थे। वह नामका हृदयस्थ करना उसके अर्थपरत्वके धारण करनेसे होता है । तो नाम ही की कृपासे श्रीनारद जी प्राप्त हुए और सीधे नामका अर्थ सूक्ष्मरूपमें कँहा, तो उसीका विस्तार आप (वाल्मीकिजी) ने चौबीस हजार श्लोक किया। क्योंकि पूर्व सीधे अर्थमें केवल रमावना अर्थात् सुख देना मात्र सप्तऋषिसे सुनना कह आये। इसीसे तो श्रीनारदजीके समागम होनेपर आपने उन सुख देखनेवाले गुणोंका ही प्रश्न किया। यथा-"**गुणवान् कश्च वर्यिवान्**" तब श्रीनारदजीने उन गुणोंके कारणरूम नामको कहकर तदर्थरूप गुणोंको कहा । यथा- "**इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामोनाम जनैः श्रुतः ॥**" (मूल रामायणे) और नामके अर्थमें रामायणका होना भूमिकामें भी दिखा आये। तब पूर्ववत् (अर्थात् ब्रह्माके वेद प्रकट करनेके समय आदि कविकी) योग्यताको फिर पाये। अर्थात् वेदरूप रामायण (आदिकाव्य) रच कर आदिकवि कहाये। इस टि० के अर्थमें संपूर्ण चौपाईका भावार्थ होगया ॥

(अनुसंधानार्थ)

अथ रेफपिताका अर्थफलकोष।

(४) ऊपरकी (३-४) चौपाईमें मोक्ष और कामफल दिखा आये। वैसेही इसमें ' अर्थ ' दिखाते हैं। अर्थ द्रव्यादि सामग्रीको कहते हैं, वह जो शुद्ध उपायसे प्राप्त हो, और उससे ऊपर चौ० (२) की टि० (ॐ) में कहे हुएकी तरह कर्मको तीनों अंगसहित करे, तो यज्ञादिकर्मोंसे जीवोंके सामान्य पापोंकी शुद्धि होती है, और यहाँ तो असंख्य ब्रह्महत्या शुद्ध हुई. तथा कर्मोंका परिश्रम और उसकी बाधाओंका क्लेश भी न सहना पडा। अतएव महत्कोष ' अर्थ फल ' का प्राप्त हुआ। यही नहीं किंतु रेफपिताने उसका भी फल जो ' शुद्धि ' है वह फल ऐसा अघटित दिया कि आपभी संसारको लुटा रहे हैं। यथा-" **चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम् ॥** " (मूल रा०)

अर्थात् इनके रचित्र चरितके एक २ अक्षरोंसे मनुष्योंके महापाप छूटते हैं। इस प्रकार इनमें अर्थफल दातृत्वमें पिता (रेफ) के लक्षण सिद्ध हुए + ॥

अथ रेफपिताके गुरुत्वांशका चरितार्थ ।

(५) पूर्व चौ० (२) में जो धर्मगुरुत्व कहा गया, वह यहाँ संपूर्ण धर्मोंका फलरूप असंख्य पापोंकी शुद्धि रेफने अपने कार्यरूप नामसे किया अतः गुरुत्व हुआ ॥

अथ जापकमें भी रेफका गुरुत्वलक्षण चरितार्थ ।

(६) जैसे रेफने गुरुत्वसे वाल्मीकिजीके पापोंका प्रायश्चित्त किया तैसे तिनके जापक इन्हों (श्रीवाल्मीकिजी) ने भी निज रामायणसे दिखाया ऊपर टि० (४) में दिखा आये ।

अथ रेफके गुणबाधारक्षणका चरितार्थ ।

(७) ऊपर टि० (३) में श्रीवाल्मीकिजीके अतिविषमगुणोंको नामने अपने उल्टे स्वरूप ' मरा ' से दंड दे, सुधारकर आधीन कर दिया यह चरितार्थ हुआ ॥

अथ जापकमें भी जगकी गुणबाधाका रक्षण पितावत् चरि० ।

(८) यह गुण इन (श्रीवाल्मीकिजी) में इनकी रामायणसेही चरितार्थ होरहा है। ऊपर टि० (३) में तीनों गुणोंकी प्रधानतामें वेदके तीनों कांड दिखा आये । तिनकी गुणबाधा-रक्षा—यथा—" **तासां क्रियां तु कैकेयी सुमित्रोपासनात्मिका । ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या वेदो दशरथो नृपः ॥**" (शिवसंहितायां) अर्थ—तिनमें क्रियाशक्ति कैकेयीजी, उपासनाशक्ति सुमित्राजी और ज्ञानशक्ति कौसल्याजी तथा वेदके अवतार श्रीदशरथजी हैं । इस रामायणमें आपने इन तीनों शक्तियोंके अवतारस्वरूपसे तीनों कांडों (कर्मादि) की क्रमशः तीनों गुणोंकी बाधासे रक्षा दिखाई है जैसे कैकेयीजीके प्रथम ।निष्काम अवस्थामें कर्मके निष्का-मतापूर्वक होनेका फलरूप जो आत्मविवेक है, तिसके साक्षात् मूर्त्तिमान् स्वरूप तथा शुद्ध ' धर्मफल ' रूप श्रीभरतजी प्रकट हुए। तिनका विवेक यथा—" **सोक कनक-लोचन मति छोनी । हरी बिमलगुनगन जगजोनी ॥ भरत विवेक वराह विसाला । अनायास उधरी तेहि काला ॥** " (अ० दो० २९६) पुनः धर्म-यथा—" **सकल सुकृतफल रामसनेहू ।** " (बा० दो० १२६) और " **तुम तो भरत मोरमत एहू । धरे देह जनु रामसनेहू ॥** " (अ० दो० २०७) तथा—" **भरतहिं धरम धुरंधर जानी ।** " (अ० दो० २९८) पुनः इन (कैकयीजी) में जब राज्यसुखकी वासना हुई जो कि तमोगुणकी प्रबलताका परिणाम है । (क्योंकि तामसाहंसे शब्दविषय तिससे नाना भाँतिकी सुखकामना होती हैं) तो इन पर बड़ी विपत्ति पडी । यथा—" **गरइ गलानि कुटिल कैकेई ।** " (अ० दो० २७२) " **अवध उजारि कीन्ह कैकेई ।**

नोट—+ ऊपर चौ० (२) में जो रेफका धर्मसंबंधी गुरुत्व कहा गया । उसी 'वेदप्रानसो' का यहाँ (नीचे) चरितार्थ दिखावेंगे, जैसे इसके ऊपर (३–४) में मातृत्वादि दिखाये ।

दीन्हेसि अचल बिपति कै नेई ॥'' (अ० दो० २८) **''काई कुमति कैकई केरी । परी जासुफल बिपति घनेरी ॥ ''** (बा० दो० ४०) इस प्रकार जगत्को इन्होंने तमोगुणसे सचेत किया । पुनः श्रीसुमित्राजीने अपने दोनों पुत्रोंसे उपासनाके गुण दिखाया । अर्थात् श्रीलक्ष्मणजीसे ब्रह्मोपासना और श्रीशत्रुहनजीद्वारा आत्मोपासना प्रकट किया । (इनके भेद इस ग्रंथके पाँचवें दोहामें दिखावेंगे) इस उपासनाके साधनभक्तिमें जो रजोगुण विषम है बाधा करता है, उससे रक्षा भी इन्होंनेही दिखाई है । यथा—**''रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णा-संगसमुद्भवम् । ''** (गीता० अ० १४) तिनसे रक्षा यथा—**''राग रोष इरिषा मद मोहू । जनि सपनेहुँ इन्हके वस होहू ॥ ''** (अ० दो० ७४) यह वाक्य श्रीलक्ष्मण प्रति है । इसमें रजोगुणसे जगको बचना दिखाया । और श्रीकौसल्याजीके द्वारा ज्ञानकांड, जैसे प्रथम इनका ज्ञान जो इनके गुणोंसे उपजा था, उसे जन्म समय श्रीरामजीने माया प्रेरकर आवरण कर दिया । यथा—**''उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना ''** (बा० दो० १९१) इस प्रसंगमें हास द्वारा माया प्रेरा । पुनः आगे श्रीरंगजीकी पूजासमय अपना विराट्रूप दिखाकर प्रबोध किया, तो फिर इन्हें कभी माया नहीं व्यापी । यथा—**''बार २ कौसल्या, बिनय करै कर जोरि । अब जनि कवहूँ व्यापइ, प्रभु मोहिं माया तोरि ॥ ''** (बा० दो० २०२) तात्पर्य यह है, कि सत्त्वादिगुणों द्वारा ज्ञानके प्रकाशक श्रीरामजी ही हैं । यथा—**''सब कर परमप्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई॥''** (बा० दो० ११६) इसमें जीवका गुणाभिमान करना बाधा है, उसका इस प्रकार निवारण किये । पुनः इसका फल परब्रह्मका प्रकट होना इनसे ही दिखाया । **शंका**—यहाँ उपासनासे ज्ञानशक्तिकी बडाई प्रकट है और आगे उत्तरकांडमें भक्तिको बहुतकुछ कहा है । **समाधान**—यहाँ साधनभक्तिका प्रकरण है, और नवधा आदि भक्तिसे तो ज्ञान बडा है ही । परंतु कौसल्याजी सरस-ज्ञान स्वरूपा हैं, जो भक्तिही की उच्चदशा है, जिसे पराभक्ति कहते हैं, जो ज्ञान होनेपर होती है । यथा—**''ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥''** (गीता. अ० १८) इसीसे इन (कौसल्याजी) को ग्रंथकारने भक्ति ही कहा भी है । ''यथा—**ज्ञान अवधेस गृहगेहनी भक्ति सुभ तत्र अवतार भूभार हर्ता ॥''** (वि० ५९) इस प्रकार रेफाश्रितजापक वाल्मीकिजी जगत्को गुणोंकी बाधासे बचा रहे हैं॥*

(सारांश)

इस प्रसंगका सारांश यह है, कि नामके इन गुणोंको जापक अनुसंधानसहित जपे तो इसकी भी श्रीवाल्मीकिजीकी तरह गुणबाधासे रक्षा हो, क्योंकि नाम कलिमें भी कल्पवृक्षकी समान तथा उससे भी अधिक कल्याणनिवास हैं, यथा—**''नामरामको कल्पतरु, कलि कल्यान-निवास ।''** (बा० दो० २६) ।

नोट—* इस चौ० से रेफपिताने अपने गुरुत्वगुणोंसे '**त्रिगुणात्मअहंकार**' की विषमतासे डरेहुए जापकको धैर्य दिया ॥

मूल (चौ०)

सहसनाम सम सुनि सिव बानी । जपि जेईं पियसंग भवानी ॥ ६ ॥
हरषे हेतुहेरि हर हीको । किय भूषन तिय-भूषन-ती-को ॥ ७ ॥

टीका—शिवजीके वचन यह कि एक रामनाम ही विष्णुसहस्रनाम समान है, सुनकर श्रीपार्वतीजीने एकबार जपकर अपने पति (शिवजी) के साथ भोजन किया ॥ ६ ॥ शिवजी उनके हृदयकी प्रीति देखकर हर्षे और पतिव्रतास्त्रियोंमें भूषणरूपस्त्री (श्रीपार्वतीजी) को अपना भूषण किया । अर्थात् अर्द्धाङ्गमें धारण करनेमें शोभा माना ॥ ७ ॥

टिप्पणी (भावार्थ) ।

श्रीपार्वतीजीके इस प्रकरणकी कथा ।

(१) एक समय श्रीशिवजीने पार्वतीजीको अवैष्णवीजानकर श्रीवामदेवजीसे मंत्रोपदेश कराया । श्रीवामदेवजीने पार्वतीजीको विष्णुसहस्र नामके नित्यपाठका नियम करवा दिया था । कुछ दिन पीछे एक दिन समय जानकर शिवजी प्रसाद पाने बैठे, और श्रीपार्वतीजीको भी बुलाया, तो उन्होंने कहा कि अभी तो मैं पाठ करती हूँ । तब शिवजीने सुअवसर जानकर विष्णुसहस्रनामसम जो राम नाम है; तिसका उपदेश किया और यही श्लोक कहा, यथा—"**राम-रामेति रामेति रमेरामे मनोरमे । सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनाम वरानने ॥** " (पद्मपुराणे उत्तरखंडे) यह सुनकर पार्वतीजीने एकबार श्रीरामनाम जपकर शिवजीके साथ भोजन किया ॥

(२) 'सिवबानी' का महत्त्व यथा—" **संभुगिरा पुनि मृषा न होई । सिव सर्वज्ञ जान सब कोई ॥** " (बा० दो० ५०) और शिवजी जगद्गुरु भी हैं, यथा—" **तुम त्रिभुवनगुरु वेदबखाना । आनजीव पाँवरका जाना ॥** " (बा० दो० ११०) '**जपि जेईं पियसंग**' का भाव यह कि पतिके साथ भोजन करना निषेध है, तो भी दोष न लगा क्योंकि शुद्धहृदयका नामजापक कैसाहू हो, उसके साथ खाना पीना आदि व्यवहार करनेमें हानि नहीं है । यथा—श्रुतिः " **यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं वदेऽत्तेन सह संवदेत्तेन सहसंवसेत्तेन सह संभुञ्जीयात् ॥** " (अथर्वणे) ।

'**सहसनाम सम**' यथा—" **विष्णोर्नामसहस्राणां पाठाद्यल्लभते फलम् । तत्फलं लभते मर्त्यो रामनाम स्मरन्सकृत् ॥** " (आनंदसंहितायां) " **श्रीरामाय नमो ह्येत-त्तारकं ब्रह्म कथ्यते । नाम्नां विष्णोः सहस्राणां तुल्य एष महामनुः** " (हारीतस्मृतिः) " **श्रीरामेति परं नाम रामस्यैव सनातनम् । सहस्रनामसदृशं विष्णोर्नारायणस्य च ॥** " (विष्णुपुराणे) ॥

'**हरषे हेतुहेरि**' का भाव यह कि (१) प्रथम सतीतनमें बहुत कहनेसे भी न मानी, और अब कैसी श्रद्धा है । (२) यह भी कि ये पतिव्रता शिरोमणि हैं, तो भी नामपरत्व-

विचारकर निस्संदेह धारण किया । संदेह निवारण यथा—श्रीनारदउवाच याज्ञवल्क्यं प्रति— "**रामनामरता नारी सुतं सौभाग्यमीप्सितम् । भर्तुः प्रियत्वं लभते न वैधव्यं कदाचन ॥ पतिव्रतानां सर्वासां रामनामानुकीर्तनम् । ऐहिकामुष्मिकं सौख्यं दायकं सर्वशो मुने ॥**" (नृसिंहपुराणे) क्योंकि श्रीरामजी तो चराचरके पति हैं। यथा—**श्रुतिः—"पतिं विश्वस्य"** प्राकृतके तईं मना है और श्रीरामजी तो दिव्य हैं ॥

अव०—पूर्व चौ० (२) के ' अगुन अनूपम गुन-निधान सो ' इस वाक्यके अर्थका इस चौपाईमें आगे साक्षात्कार होना दिखावेंगे:—

(अनुसंधानार्थ)

अथ रेफपिताका धर्मफलकोष ।

(३) यहाँ पार्वतीजीको अघटित धर्मफलकी प्राप्ति हुई । क्योंकि स्त्रीका पतिव्रत ही एक प्रधान धर्म है । यथा—"**एकइ धर्म एक व्रत नेमा । काय वचन मन पतिपद प्रेमा ॥**" "**विनु श्रम नारि परमगति लहई । पतिव्रत धरम छाँडि छल गहई ॥**" (आ. दो० ५—६) ऐसे दुर्लभ धर्मकी नामाधारसे ऐसी सुलभतासे प्राप्ति हुई, कि और प्रकारसे पूर्ण निर्वाह होनेपर भी मरणान्तर ही पतिरूपकी प्राप्ति होती है, परंतु इन्हें इसी शरीरसे हो गई । यह परलोक बना, और जो पतिका प्रियत्व प्राप्त हुआ, इससे लोकसुख भी पूर्ण मिला । इस प्रकार अप्रमेय धर्मफल पाई ॥

अथ रेफ पिताके स्वामित्वका चरितार्थ ।

(४) स्वामी वह है जो लोग परलोकमें रक्षा करे, ऐसे रेफका स्वामित्व ऊपर टि०(३) में प्रत्यक्ष हैं ।

अथ जापकमें भी स्वामित्वलक्षणका चरितार्थ ।

(५) जगत्की स्वामिनी श्रीजानकीजीने भी इनके स्वामित्व रक्षणार्थ इनसे ही वर मांगा । और इन्होंने यही (नामसे प्राप्त) धर्मफल उन्हें दिया । यथा—"**मन जाहि रांचो मिलिहिं सो वर**" (बा० दो० २३५) तथा—"**यहिकर नाम सुमिरि संसारा । तिय चढिहहिं पतिव्रत असिधारा ॥**" (बा० दो० ६६) इस नारदजीके वचनानुसार भी इनका जगत्स्वामित्व प्रदर्शित है । यह वचन रेखा विचारसे नारदजीने भविष्यके लिये कहा था । जब नाम जपीं, तब यह सामर्थ्य प्राप्त हुआ ।

अथ रेफपिताके स्वामित्वमें मनकी स्वभावबाधाके रक्षणका चरितार्थ ।

(६) पूर्व चौ० (२) की टि० (गँ) में स्वभावका स्वरूप तथा कर्म, ज्ञान और उपासनाको उसका उपाय भी कह आये । तथा उसके काल, कर्म और गुण ये तीन अंग भी

कह आये और प्रथम आवरण तथा चौथे आवरणके प्रसंगमें इसे मनका कार्य दिखा आये। इस (स्वभाव) की करालता पूर्व कह आये। इन (पार्वतीजी) का सतीतनमें स्वभाव और भी कराल था. यथा—"**सुनहि सती तव नारि स्वभाऊ।**" (बा० दो० ९०) "**सती कीन्ह चह तहौं दुराऊ। देखहु नारि स्वभाव प्रभाऊ।**" (बा० दो० ९०) अर्थात् सतीतनमें जितना दुःख हुआ, उसमें इनके स्वभावहीका दोष था। नारिस्वभावकी विषमताको रावणने भी कहा था। यथा—"**सभय स्वभाव नारि कर सांचा।**" (सुं० दो० ३६) "**नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं॥**" (लं० दो० १९) अब यह संदेह होगा, कि ऐसा करालस्वभाव एकबार राम कहनेसे कैसे मिट गया, वह सुनिये. पहिले इन्हें नामसे धर्मकी अप्रमेयप्राप्ति कह आये और इस स्वभावके तीनों अंग कर्म ज्ञानादि तीनों कांडसे शुद्ध होते हैं, सो धर्मकी पूर्ण प्राप्तिमें सब आगये, इससे मिट गया दूसरे उसी धर्मकी पूर्णतासे ये चारोंफलकी देनेवाली भी हैं। यथा—"**सेवत तोहिं सुलभ फल चारी।**" (बा० दो २३९) और पूर्व शिवजीके प्रसंगमें 'मोक्ष' फलसे कालसे रक्षा, तथा गणेशजीके प्रसंगमें 'काम' फलसे 'कर्म' से रक्षा और वाल्मीकिजीके प्रसंगमें अर्थ फलसे 'गुण' सुधार दिखा आये तो इन तीनों फलोंके रहनेसे इनका स्वभाव शुद्ध होगया, जिन फलोंको ये नामसे ही पाई थी। तीसरे—पुनः इनको स्वभावसे बचनेकी तीसरी विधि यह है कि जो पूर्व शिवजीका वचन है। यथा—"**रामरामेति रामेति रमेरामे मनोरमे**" (ऊपर टि० (१) में देखो) इसमें जो 'मनोरमे' यह नामका विशेषण है, इसका अर्थ मनका रमावने (सुखदेने) वाला है' तो मनको दूषितकर दुःखरूप करनेवाला स्वभाव ही है, उससे रक्षक रामनामको दिखाये। रक्षा यथा—'**रामरामेति**' अर्थात् 'राम राम यह' अर्थात् वचनेसे राम, राम यह कहनेसे स्वभावके प्रधानअंश कालसे रक्षा करते हैं, क्योंकि कालके कारण अग्नि सूर्य और चन्द्रमा हैं, ऊपर दिखा आये और इन तीनोंका निवास जिह्वामें है। यथा—"**जिह्वामूले स्थितो देवः सर्वतेजोमयोऽनलः। तदग्रे भास्करश्चन्द्रः तालुमध्ये प्रतिष्ठितः॥**" (योगियाज्ञवल्क्यः) तो नामरटनसे जिह्वाकी शुद्धिमें सबकी शुद्धि होजाती है, इस प्रकार 'कालांश' शुद्ध हुआ। पुनः '**रामेति**' का अर्थ यह कि 'यह सब रामही हैं' अर्थात् यह सब संसार जो कर्मका परिणामरूप है, उस कर्मकी नियामकता तो पूर्व 'विधि हरिहरमय, के अर्थमें रेफ हीमें दिखा आये तो इस विचारपूर्वक नामाराधनसे इसका '**कर्मांश**' भी शुद्ध हुआ। तथा—'**रमेरामे**' अर्थात् रामे जो रमावनेवाले कुटुंबादि (जगत्केनाते) तथा—पदार्थादि (अन्नरसादि) में, रमे अर्थात् वही श्रीरामजी व्यापक हैं, अर्थात् कुटुंबादिमें ममता, प्रीति आदि गुणप्रेरि, तथा पदार्थादिमें स्वादादि गुण रूप है, सब जीवोंको सुख देते हैं। अतएव गुणोंके भी (नाम) नियामक हैं। सोई गुणनियामकताका 'वेदप्रानसो' में स्वरूप तथा ऊपर चौ० (९) में चरितार्थ भी दिखा आये। इस विचारसहित नाम लेनेसें इसका '**गुणांश**' भी शुद्ध हुआ। इस भाँति इस श्लोकके विचारसहित नाम लेनेमें कामतरु नामसें तीनों अंशसहित स्वभावबाधा मनकी निवारण

हुई इसी वाक्य पर पार्वतीजीने प्रतीतिपूर्वक नाम कहकर भोजन किया था. अतएव यही प्रधानार्थ है। और पूर्व जो 'अगुन अनूपम गुननिधान सो' में स्वभाव बाधा रक्षण रेफका कह आये थे, वह ऊपरके दो अर्थोंमें भी तीनों कांडकी व्यवस्था दिखानेसे उसीका चरितार्थ होना यहाँ स्पष्ट होगया। पुनः और भी स्पष्टरूपसे दिखाते हैं यथा—वाणीकी शुद्धिमें 'कालांश' शुद्धिसे 'गुननिधानता (भक्ति) और 'कर्मांश' शुद्धिमें 'अनूपमता' (ज्ञान) तथा 'गुणांश' शुद्धिमें 'अगुनता' (वैराग्य) का कार्य हुआ इस भाँति यहाँ उसका ही चरितार्थ हुआ।

जापकमें भी रेफकी भाँति स्वभावरक्षण लक्षण।

(७) ऊपर टि०(६) में जो पार्वतीजीको चारोंफलकी दात्री स्वामिनी दिखा आये तहाँ ही इनके दिये हुए तीन फलोंसे लोगोंके—काल, कर्म, गुणयुक्त स्वभावका शुद्ध करना विचारना चाहिये। अतएव नामाश्रित होनेसे स्वभावनियामकता रूप उसके लक्षण भी इनमें स्पष्ट हैं॥

(८) **शंका**—स्वभाव तो मनका धर्म है, और पुल्लिङ्ग है, तो रूपक भवानीमें क्यों? **समाधान**—यह (स्वभाव) प्रकृतिके तीनों गुणोंका दूषित स्वरूप है, अर्थात् उसके तमोगुणसे काल, रजोगुणसहितसत्वांशसे कर्म और सत्वगुणकी प्रधानतासहित बाँधनेमें तीनोंगुण रहते हैं, अतः इससे गुण होते हैं अतएव इसका कारणरूप (प्रकृति) स्त्रीलिंग जानकर कहा है, इसीसे स्वभावको प्रकृति भी कहते हैं। यथा—"**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि॥**" (गीता. अ० ३) इसमें प्रकृतिका स्वभाव ही अर्थ है +॥

मूल (चौ०)

नामप्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलदीन्ह अमीको॥ ८॥

टीका—श्रीशिवजी नामका प्रभाव भलीभाँति जानते हैं, कि जिससे विषमविषने उनको अमृतका फल दिया॥ ८॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**जान सिव नीको**' का भाव यह कि जब देवता और असुर मिलकर समुद्र मथते रहे तो जब कालकूटविष निकला तो सब देवता जलने लगे तब विष्णुभगवान्की प्रेरणासे शिवजीने उसे सीताराम नाम कहकर पान कर लिया। यथा—"**मथतसिंधु रुद्रहि बौरायहु। सुरन प्रेरि विषपान करायहु॥**" (बा० दो० १३९) "**जरत सकलसुरवृन्द, विषम गरल जेहि पान किय।**" (कि० दो० १) तब वहाँ इन्द्रादि देवता भी तो रहे, पर नीकी भाँति नाम प्रभाव शिवजीनेही जाना॥

(क) "**कालकूट०**"—का भाव यह कि शिवजीने ही उसे नामद्वारा अमृत कर-

---

नोट— + इस चौ० के अर्थसे 'स्वभाव' से डरे हुए '**मन**' को धैर्य हुआ। यहाँ तक पूर्वोक्त माय, बाप, गुरु, स्वामिरूप नामके होनेका चरितार्थ प्रकरण पूरा हुआ और पिता पुत्र संबंधका पूर्णरूपसे परिज्ञान हुआ, आगे प्राप्त करना कहते हैं॥

लिया । जैसे संखिया आदि भारी २ विषोंको विधिवत् फूँककर भस्म बनाई जाती है, तो अमृतवत् महौषधि बन जाती है । तैसे शिवजीने देखा, कि यह काल अर्थात् मृत्यु, तिसका कूट अर्थात् चोटी (शिरोभाग) है । अथवा कूटका अर्थ छिपानेवाला, अर्थात् यह मृत्युमय है, तथा इसमें मृत्यु ही भरी है तो रा कहकर कंठमें धरकर म से संपुट कर दिया । जिससे अग्निरूप रा से जलकर भस्म हुआ और मकार चन्द्रबीज सब औषधिमय है । तिसके संयोगसे दिव्यरसायन होकर ऐसा अमृत हुआ, कि जिसके कंठ ही तक जानेमें शिवजी अजर अमर हुए यथा–"**खायो कालकूट भयो अजर अमर तन ।**" (क० उ० १५८) ॥

(अनुसंधानार्थ)

(२) यह चौ० इस संबंधका निचोडरूप है, क्योंकि प्रथमसे ऊपरकी चौ० (७) तक में जो कह आये उसे यहाँके लक्ष्यसे प्राप्त करना दिखाते हैं; कि जैसे वहाँ (कालकूटप्रसंगमें) समुद्र मथा गया वैसे यहाँ चौरासीलक्षयोनिमय संसारसमुद्र है, यथा--"**जो न तरइ भवसागर**" (उ० दो० ४४) जीवोंके पूर्व अनादिकर्मोंकी दैवीसंपत्ति देवरूप और आसुरी संपत्ति असुर (दैत्य) है । यथा–"**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।**" (गीता अ० १६) इन्हीं दोनों दलोंसे जीव योनियोंको मथता रहता है । भगवत्कृपासे जब मनुष्यशरीर मिला, तो चैतन्यता आई तो जैसे वहाँ अग्निसम दाहक मृत्युरूप भयंकर विष (कालकूट) निकला, तो देवता जलते हुए घबडाकर भगवत्की शरण हुए । वैसे इस जीवको संसार भयंकरसमुद्र सम जान पडा और इसमें इसकी आयु कालकूटसम देखपडी । यथा–"**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।**" (गीता. अ० १२) (इसमें संसारसमुद्रको मृत्युमय कहा है) अब देख पडना दिखाते हैं । यथा--"**जनमत पहिलेहि छींक भइ, पाछे दीन्हेसि रोय । ताते जगमें जीवको, कुशल कहाँ ते होय ॥**" अर्थात् इतना तो सब कोई जानते हैं, कि कहीं को यात्रामें जो कोई छींकै अथवा रोवै तथा टोंकदे कि 'कहाँ जाओगे ?' तो इनमें एकएक अशकुन मृत्युदायक है और जब तीनों एकसाथही हों तब तो '**तीन तीकठ महाबीकठ**' यह कहावत प्रसिद्ध है अर्थात् महाअमंगल है । वही तीनों घोर अशकुन इस जीवको इस संसारमें पग देते ही अर्थात् जन्मते ही एक साथ होते हैं, क्योंकि जन्मते ही बालक प्रथम स्वयं जोरसे छींकता है, रोता भी है, और रोते २ कहाँ कहाँ कहता है । इससे इस संसारका मृत्युदायक स्वरूप प्रत्यक्ष होजाताहै, जो यह जीवको मनुष्य देहकी आयुरूपी कालकूट पिलाकर चौरासीरूप मृत्युमय सागरमें डुबानेवाला है, क्योंकि चौरासीके मूल कर्म है, वे मनुष्यायुसे ही होते हैं । इस आयुको कालकूट इस लिये कहा कि कर्म इसके ही अनुसार होते हैं । जैसे कर्णवेध, उपवीत, विवाह इत्यादि । तथा काल जो दिन, मास, वर्ष, घडी, पल आदि हैं, वे इसी आयुमें 'कूट' नाम छिपे रहते हैं । पुनः यों भी कि मृत्यु स्वासकी संख्या पर निर्भर रहती है, तिसे आयु जन्मकालसे ही लीलने लगती है, और पूरा निगल कर असंख्य मृत्युरूप कर्मोंसहित जीवोंको योनियोंमें डालती है, ऐसी यह कालकूटरूप है । तिस (आयु) का आरंभ जन्मकालसे ही

माना जाता है । तभी इसे उपरोक्त अशकुन होते हैं, तो जैसे वह कालकूट देवतोंको जलानेवाला रहा, तैसे यह आयु भी ज्यों२बढती है, इससे विषयासक्तिरूप विषकी ज्वाला बढतीजाती है, अर्थात् प्रथमसे पाँच वर्षतक प्रधानरूपसे गंधविषय अर्थात् जगत् वासना (कुटुंबियोंमें ममता अर्थात् मातापिता आदिमें आसक्ति) बढती है पुनः १९ वर्ष पर्यंत रसविषय प्रबल रहता है तो किशोरअवस्थासे अग्नितत्त्वका रूपविषय प्रबल होता है, पश्चात् युवामें स्पर्शविषय पुनः चौथेपनमें मान बड़ाई आदि आकाशका विषय प्रबल होता है और जीवोंमें इन सबकी विचारनेवाली सदसद्विवेकिनीबुद्धि पन्द्रह वर्ष आयुके पीछे आती है, क्योंकि तभी अग्नितत्त्वका गुण वृद्धिहोना ऊपर कह आये । वह अग्नि जातवेद नामसे प्रसिद्ध है, जातवेद अर्थात् जो ज्ञान उपजावे, तब इसे जो सात्विकी श्रद्धा हो,तो किसी विवेकी संत व शास्त्रसंसर्गसे जगत्भयंकरता समझ पड़े, जो कि पूर्व बा० दो० १८ के ' खिन्न ' के अर्थमें दिखा आये । तो यह खिन्न हो, तो दीनदयालु राघवकी कृपासे किसी संयोगसे शुद्ध संत मिलते हैं । यथा– **"संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही । चितवहिं राम कृपा करि जेही॥"** (उ०दो०६८) तब इस श्रद्धालु खिन्नका परमोपाय जो पूर्व " **गिरा अरथ०** " के अर्थमें कह आये, सोई उपदेश करते हैं । पुनः उस उपदेशकी कार्यावस्थारूप जो " **वंदौं नाम राम०** से–**किय भूषन तियभूषन तीको** " पर्यंत जब सुनाये, कि जिस कालवश हो कर जीव, गुणविषमतासे कर्म तथा गुण स्वभावादि वश होकर नाना योनियोंमें भ्रमते हैं, यथा–**"तव बिषममायाबस सुरासुर नाग नर अग जग हरे । भवपंथ भ्रमित अमित दिवस निसि काल करम गुननि भरे॥"** (उ० दो० १२) वह श्रीरामजीका भृकुटिविलास है, यथा– " **भृकुटिबिलास भयंकर काला ।** " (लं० दो० १४) उन काल, तथा कर्म गुणादिके नियामक नामार्थसे श्रीरामजी ही निश्चय हुए । यथा–" **तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥** " (गीता अ० १९) यही चारों वेदों तथा संपूर्ण शास्त्र पुराणोंका सिद्धान्त है । यथा श्रुति " **तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।** " (श्वे० ३–८) " **य एवं विदुरमृतास्ते भवन्ति** " (मां०ना०१–८–११) **"सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं"** **"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय** "(छां०प्र०६) **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ॥ येन जातानि जीवन्ति ॥ यत्प्रयंत्यभिसंविशंति ॥ तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ॥** " (तैत्तिरीयो० तृ० वल्ली) इत्यादि. इन सबोंका सिद्धान्त श्रीरामरूपमें तथा नाममें रेफके ही अर्थसे जाने: रूप तथा नाममें भेद नहीं है, क्योंकि जो चार नाते (माय, बाप, गुरु, स्वामि) श्रीलक्ष्मणजीके वाक्यसे पूर्व रूपमें सिद्ध होना दिखाये, वही सब विशेषरूपसे नाममें, स्फुट तथा धात्वर्थसहित चौपाइयोंसे दिखा आये और आगे भी दिखावेंगे अतएव आयुरूपी कालकूटसे नामहीकी शरणमें रक्षा होगी । इस (आयु) के अंगभूत काल, कर्मादिकी विषमता समझ पड़ी । तब इन्द्रियोंके देवता समूह अपने स्वरूप विचार विषयको ज्वालारूप जानकर विषययुक्त आयुसे जलने

लगे तो जैसे शरण जानकर विष्णुभगवान्ने वहाँ देवतोंको शिवजीके आश्रित करके उनसे विष (काल कूट) पान कराया, तो वे उसे नामद्वारा अमृत किये । तैसे यहाँ जापकका विचार देवरूप हुआ, और आयुरूप कालकूटसे डरा, कि इससे जितना ही सकाम कर्म करूंगा, उतनी ही मृत्युरूप योनियोंका भोग तैयार है । अतः इससे जलते हुए विष्णुरूप नामकी शरण हुआ, तो आप (नाम) अपनी आज्ञा इस चौ० के अर्थसे दिखाते हैं, कि इस कालकूटको तो हम अमृत करके तुम्हें अमर कर देंगे, जैसे शिवजी हुए पर ' **जान सिव नीको** ' इस वाक्य पर भी ध्यान दो, तो इसका आशय यह है कि जैसे वैद्य दवा देकरके कहे, कि अमुकने इसे बनाकर सेवनकर लाभ उठाया है. वह नीकी भाँति इसे जानता है । हम अपनी सामग्री उसको दिये हैं, जिससे यह बनती है, जाकर उससे बनवालो । तैसे यहाँ नामने शिवजीको अंगुल्या-निर्देश किया कि, हमने जो तुम्हें आयुको कालकूट सम लखाया है । इसको लेकर शिवजीसे भस्म बनवावो और उनकी तरह अनुपान व सेवन विधि करो ॥

(२) पुनः जैसे वहाँ भगवत् प्रकटरूपसे रहे, तो प्रकट देवतोंको शिवजीके पास भेजा, तैसे यहाँ भी तो अंतर्यामीरूपसे हैं और इन्द्रियोंमें अपने २ अंशरूपसे देवता तथा अहंकारके देवता निजांशसे शिवजी भी हैं तो यहाँ अंतर्यामी रूप नाम (रेफ) ने अपने इस अर्थरूप प्रेरणासे इन्द्रिय देवोंको अहंकाराश्रित कर (कटिबद्ध कर) अपने द्वारा इस आयुरूप कालकूटका भस्म बनवानेके लिये उद्यत किया, किंतु वहाँ तो शिवजी भगवत्के अंगभूत (पुरुषार्थरूप) अहं-कार स्वरूप हैं, इसीसे 'ईश' (स्वयंसमर्थ) हैं, अपनी ही बुद्धिसे नामके समग्र तत्त्वार्थ व विधिको जानकर बना लिये । अर्थात् उपरोक्त " **माय बाप गुरु स्वामि राम कर नाम** " का परिज्ञान नाम गुरुसेही, अर्थद्वारा साक्षात्कार किये, अर्थात् नाम हीकी सादर जपसे जाने. तब कालकूटसे बचे तथा अजर अमर हुए । परंतु जीव तो अनीश अर्थात् असमर्थ हैं, यथा—" **जीव कि ईस समान** " (बा० दो० ६९) और इसका कर्तृत्व सबभाँति भगव-दाश्रित है, अतएव इन आश्रितोंके रक्षणार्थ नामकी वही गुरुत्वशक्ति जिसे शिवजीने जपकर साक्षात् किया है, उन (शिवजी) की विषपान विरुदावलीसहित परंपराद्वारा आकर आचा-र्योंमें प्राप्त है । जैसे संतानोत्पत्ति शक्ति वीर्यरूपसे क्रमशः पितरोंद्वारा आती है । नामकी गुरुत्वशक्ति आनेका प्रमाण यथा—श्रुतिः " **त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभंते षडक्षरम् । जीवन्तो मंत्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवंति ते ॥ मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम् । उपदेक्ष्यसि मन्मंत्रं स मुक्तो भविता शिव ॥** " (रामतापनीये ४ कं०) इसका प्रसंगानुसार सारांश यह है, कि शिवजीने काशीजीमें हजार मन्वंतर विधिवत् षडक्षरमंत्रका जप किया तो श्रीरामजी प्रकट हुए और उनकी इच्छानुसार इसी (राम) मंत्रके बलसे उपदेशद्वारा उन्हें पंचकोसी काशीजीमें मोक्ष देनेका अधिकार देते हुए कहे, कि तुमसे वा ब्रह्मासे जो इस षडक्षरको प्राप्त करैंगे, वे मोक्ष पावेंगे । तथा दाहिने कानमें उपदेश करनेकी रीति भी बतलाये ॥

(क) **शंका**–श्रीराममंत्रकी ऋषि तो श्रीजानकीजी हैं, यहाँ उन्हें न कहकर इन(ब्रह्मा–शिव)को क्यों कहा ? । **समाधान**–ऋषि नाम मंत्रद्रष्टाका है, सो यह मंत्र प्रथम तो श्रीजानकीजीसे ही चला । उनसे श्रीहनुमानजीको मिला । यहाँ तक तो दिव्यधाम साकेतमेंही रहा । पुनः इस लोकके आदिकर्ता ब्रह्माजीको मिला, तिनसे वसिष्ठादिद्वारा लोकमें ख्यात हुआ, और यह शिवज़ीकी व्यवस्था वशिष्ठादिसे प्रथम और ब्रह्माजीसे पीछेकी है । इन्हें (शिवजीको) भी श्रीजानकीजीसेही प्राप्त हुआ । यद्यपि इन्होंने प्रथम अपनी बुद्धिसे ही जानकर आराधन किया, कि जिस (बुद्धि) के प्रकाशक सबकी बुद्धिके देवता ब्रह्मा हैं, जो प्रथम श्रीजानकीजीसे पाये थे । तौ भी प्रकट मर्यादा रक्षार्थ श्रीरामजीने प्रकट होकर मंत्रके फलरूप निजरूपकी प्राप्ति श्रीजानकीजीसे कराया । यह अगस्त्यसंहितामें लिखा है, कि शिवजीने एकान्तमें दिव्य सौ वर्ष वेदविधिवत् षडक्षरमंत्रसे श्रीरामजीका आराधन किया । तब श्रीरामजीने प्रकट होकर कहा कि " **द्रष्टुमिच्छसि यद्रूपं मदीयं भावनास्पदम् । आह्लादिनीं परां शक्तिं स्तुयाः सात्वतेसम्मताम् ॥** " इस वाक्यानुसार शिवजीने श्रीजानकीजीका ध्यानपूर्वक आराधन किया, तो वे प्रकट हुईं, और इनकी पूर्वाभिलाषाको पूर्ण किया । यथा–" **इत्युक्त्वा भावनामूर्तिः सीता जनकनन्दिनी । कृपापात्राय तस्मै सा पुनः प्रादाद्वरान्तरम् ॥** " यहाँ ' **वरान्तरम्** ' से वही पूर्वका वर जानना चाहिये । श्रीजानकीजीके कृपापात्र (शरण) होनेसे तब मंत्र सार्थक हुआ । पीछे इन्होंने इसके विश्वास पर विषपान किया तो लोकमें विशेषरूपसे नामपरत्व ख्यात हुआ । काशीमें मुक्तिका हेतु उपरोक्त मंत्राराधन इससे भी पीछेका है । अतएव इस लोकमें प्रकाशक इन दो ऋषियों (ब्रह्मा–शिव) को जानकर यहाँ कहा गया । और परंपराकी एकता भी स्पष्ट हुई । अतएव जिस गुरुत्वशक्तिसे शिवजीने कालकूटको अमृत किया वही आजदिनभी आचार्योंमें परंपराद्वारा धरोहर (हुंडी) की तरह ज्योंकी त्यों आई इसीसे तो ग्रंथकारने कहा हैं, यथा–" **वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम् ।** " (बा० मं० श्लो०) तो इन्हें संपूर्ण आयु (कालकूट) समर्पण कर इनसे नामद्वारा अमृत बनवाना चाहिये ॥

सिंहावलोकन ।

(ख) उपरोक्त श्रीगुरुशरणागति केवल विधिज्ञानहीके लिये नहीं, किंतु अगाध आशयपूर्ण है । यथा–**श्रुतिः**–"**परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन** " (मुण्डको०) । अर्थात् कर्म उपार्जित अनित्यलोकोंसे ब्राह्मण वैराग्यवान् होता है, क्योंकि जीवके निज अहंकारके विषयरूप जो 'कृत' (साधनादि) हैं तिसका फल वह 'अकृत' अर्थात् मोक्षरूप भगवत्प्राप्ति नहीं है तो कैसे होती है ? यह दूसरी श्रुति कहती है । यथा–" **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥** "(मुंडको०) । अर्थात् भगवत्की प्राप्ति उनकी ही कृपाशक्तिसे होती है वही कृपामयीशक्ति श्रीरामाभिन्ना श्रीजानकीजी हैं वे ही सबकी पुरुषार्थरूपा हैं उन्हींने

इन राममंत्रको अपनी गुरुत्वशक्तिसे प्रकाश करके जीवोंके हितार्थ ऊपर टि. (३) के अनुसार इस अपनी श्रीसंप्रदायकी परंपरा द्वारा पठाया है, जिसके बिना अर्थात् आचार्यशरणागति बिना किसी भाँति जीवको गति नहीं होती। यथा—श्रुतिः "आचार्यवान पुरुषो वेद" (छान्दो०) "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" (मुंडको०) इत्यादि बहुत प्रमाण हैं ×॥

संबंध सारांश।

इस संबंधमें संसारसे डरे हुए जीवकी प्रथम जगत्के नातोंकी सचाई निवृत्त हुई और वह नाते नाममें ही दिखाये गये। तीनों ऋणोंसे छूटना, काल, कर्म, गुण स्वभावादिसे नामका रक्षण सामर्थ्य, पूर्वकी (१—२) चौ० में कहा गया. पुनः चारों फलोंके दातृत्वसहित ऊपरकी दोनों चौपाइयोंके अर्थोंका चरितार्थ भी (३ से ७) चौ० में दिखाया गया। और इन चार नातोंके चरितार्थमें चारों युगों व चारों वेदोंके धर्म भी आगये, इन्हींके फलरूप नवे संबंधमें इन्हें प्रकट कहेंगे। और आठवीं चौ० में शरणागतिकेलिये जीवको उद्यत करके उपरोक्त ज्ञातृत्वका फल प्राप्त कराये। क्योंकि जब जीव संसारसंबंध छोडकर आचार्यद्वारा शरण होनेको विचारसहित संकल्प करके चलता है, तभी इसके उपरोक्त तीनों ऋण आदि मुँहमोडकर भागते हैं। यथा—" काल कर्म गुन स्वभाव सबके सीस तपत। रामनाम महिमाकी चरचा चले चपत॥ " (वि० १३१) और संसारकी सचाई तो मोहसे रहती है। यथा—" जासु सत्यता तें जडमाया। भास सत्य इव मोहसहाया॥ " (बा० दो० ११६) वह मोह अपने विभव, सुख दुःखादि तथा आयु (कालकूट) सहित जीवकी शरण इच्छाहीसे नाश होता है। यथा—" रावन जबहिं विभीषन त्यागा। भयउ विभव बिनु तबहिं अभागा॥ " तथा—"अस कहि चला विभीषन जबहीं। आयूहीन भये सब तबहीं॥" (सुं० दो० ४१) यहाँ मोहरूप रावण तथा जीवरूप विभीषण हैं। यथा—"मोह दसमौलि० जीव भंवदंघ्रिसेवक विभीषन" (वि० ५९) जैसे विभीषणजी " राम सत्यसंकल्प प्रभु, सभा कालवस तोरि " (सुं० दो० ४१) कहकर श्रीरामशरण चले थे। तैसे जब यहाँ नामने शिवमुखसे कालकूट पानकर अपनी शक्तिसे सब जीवोंकी रक्षाका अपना 'सत्यसंकल्प' सूचित किया, तब जानकर जापक भी मोहसे निर्भय होकर इन (नाम) की शरण हेतु गुरु सन्मुख चला। जैसे विभीषणजीका शरण होना पीछे हुआ, ऊपर लक्ष्यके अनुसार रावणादिका आयुहीन होना प्रथमही जनाये। वैसे यहाँ (नाममें) भी जीवका शरण होना आगेके दोहा बा० दो० १९ में कहेंगे। जो अगले संबंधका मूल भी होगा। इस प्रकार यहाँतकमें जीवकी लंकारूप प्रवृत्ति सुख अर्थात्

नोट—× इस चौ० की कुछ और आशय आगे अ० प्र० नं० (१) टि० (१) में तथा बा० दो० १९ के अर्थमें भी दिखावेंगे॥

संसारसुख वासना (लौकिकसुखचाह) जिसे पृथ्वी तत्त्वकी ' गंधतन्मात्रा ' का जीवमें **' नवाँ-आवरण '** कह आये, वह अतिक्रमण हुआ। लंकारूप प्रवृत्ति यथा–**" वपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंका दुर्ग "** (वि० ५९) और इस (नवें) आवरणमें पडनेसे जो इसके शुद्धस्वरूपका **'अपहतपाप्मत्व '** गुण नाश हुआ था. इसकी पुनः प्राप्तिका भरोसा हुआ, क्योंकि इन (अपहतपाप्मत्वादि) आठोंके यहाँ क्रमशः साधनकी सिद्धि तो होजायगी, किंतु साक्षात्कार शरीर छूटनेपर होगा, क्योंकि शरीर-धारणपर्यंत जीवके प्रिय अर्थात् सुखेच्छा और अप्रिय अर्थात् दुःखोंका नाश चाहना, ये भाव रहतेही हैं। यथा–**श्रुतिः" न ह वै सशरीरस्य प्रियाऽप्रिययोरपहतिरस्ति "** (छांदो० अ० ८) इत्यादि। जीवका दृढाभिलषित यह ' पिता-पुत्र ' संबंध अब गुरुद्वारा भी दृढ हुआ जानों, क्योंकि इसके नीचेके दोहार्थमें होना भी कहेंगे, यहाँ जीव जगत् संबंध त्यागकर गुरुशरणके लिये चल चुका॥

* अथ अखिलप्रकरण नं० १।

टिप्पणी (तात्पर्यार्थ)।

अथ जापकके हृदयरूप गर्भमें नामकी अवस्था और अवतारका प्रसंग।

(१) इस अवतारका साक्षात्कार इस नामबंदनाके अंतिम **' राम नाम नरकेसरी '** में दिखावेंगे। वहाँ रामनामको नरसिंहरूप, जापकको प्रह्लादरूप, जापकके शरीरको खंभारूप, शरीरके प्रारब्धकर्मानुसार ममताको प्रह्लादकी माता, नवदोहापूर्तिको इन (नाम) के गर्भकी नवमासपूर्ति और आयुके नियतकालको कलिकालरूप हिरण्यकश्यप पिता कहेंगे, क्योंकि मोहसे जीव जन्म लेता है; उसका ही परिणामरूप देह आयु है, यह प्रसिद्ध है, कि सिंह संसारमें दोही रहते हैं। वे ही नरमादी जोड़ा है बनमें अभय बिचरते हैं तो जव सिंह सिंहिनीमें लगता है तभी अर्थात् दूसरे युगल सिंहोंका बीज गर्भमें पड़तेही वह नर उलटकर मर जाता है, और मादी (सिंहिनी) इन दोनोंको गर्भमें लिये हुए व्याकुल बिहालरूपसे नवमास कटाती है। गर्भ पूराहोनेसे दोनों (जोड़ी) नवीनसिंह पेट फाड़कर निकल आते हैं। और वह सिंहिनी भी मर जाती है, फिर दो ही रह जाते हैं। वैसे ही यहाँ जापकके हृदयरूप गर्भमें जैसे नरसिंहरूपसे नाम आये, वह दिखाते हैं। जैसे रूपसे भगवत्का नियम है, कि अपनी माया (कृपा) से जन्म लेते हैं और दुष्टोंको मारकर धर्मसंस्थापन करते हुए मुख्यतः

नोट– * यहाँसे उपरोक्त मुख्यार्थके आधारपर इस संबंधमें निम्नलिखिततात्पर्यार्थ भी दिखावेंगे, क्योंकि नाम सब साधनमय हैं। यथा–" नाम आधीन साधन अनेकम्॥ " (वि० ४७)।

साधुरक्षण कार्य करते हैं यथा—"**संभवाम्यात्ममायया।**" तथा—"**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥**" (गीता०अ०४) इन श्लोकोंके अर्थ गोस्वामीजीने आगे ज्योंका त्यों लिखा है और भी यथा—"**कृपासिंधु जनहित तनुधरहीं।**" (बा० दो० १२१) जनोंमें भी दीनोंके लिये ही, जैसे श्रीविभीषणप्रति श्रीमुखवचन हैं, कि "**तुम्ह सारिखे संतप्रिय मोरे। धरउँ देहनहिं आन निहोरे॥**" (सुं० दो० ४७) और विभीषणजी तो दीन ही थे। यथा—"**कृत भूप विभीपन दीन रहा॥**" (लं० दो० ११०) वैसेही जापकको दीन होना यहाँ इस नामके प्रकरणके मूल "**जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न**" में कह आये। अतएव दीन जापक पर करुणादृष्टिसहित नाम ब्रह्मने अपने अप्राकृत सूक्ष्मरूप रेफकी विरदपर ध्यान दिया तो "**वंदौं नाम राम०** से **गुननिधान सो**" तक की दोनों चौपाइयोंके अर्थसे विचार किया, कि जीवोंके माता, पिता आदि चारों संबंधसे आधार तथा काल कर्मादिसे रक्षक तो हम हीं हैं तो जीव बेचारोंका क्या चारा है, यह तो हमारी ही गाफिली है, ऐसा अनुसंधानकर रक्षा करनेका विचार किये। यही ईश्वरीय कृपा कहाती है। यथा—"**रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसंधाना कृपा सा पारमेश्वरी॥**" (श्रीभगवद्गुण दर्पणे) तो जैसे २ यह दीन (जीव) आपका प्रियवत्स इस जगत् जेलमें आया, आप भी वैसे ही इसके निकालनेकेलिये चले। तो आपका जन्मकर्म तो दिव्य है, यथा—"**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**" (गीता अ० ४.) तथा स्वतंत्र है यथा—"**निजइच्छा अवतरइ प्रभु०**" (कि० दो० २७) अतः जैसे जीव कर्म वश पूर्वोक्त आवरणप्रसंगके अनुसार प्रथम चन्द्रमंडलमें आया, पुनः कर्म, गुण तथा स्वभाव ग्रहण किया। तैसे (ये) नाम भी "**महामंत्र जोइ०**" में शिवमुखरूप चन्द्रमंडलमें आये। तहाँ जीव कालवश हो कर आता है, तो आपने कालसे रक्षा करना दिखाया। पुनः क्रमशः चौ० (४, ५, ६, ७,) में कर्म, गुण, और स्वभावसे रक्षकत्वको अर्थरूपसे ग्रहण किया। पुनः जैसे जीवके कर्मकी इच्छा करनेसे रजोगुण बढता है, तो जलरूपसे किरणों द्वारा भूमंडलको चलता है तैसे ही आठवीं चौपाईमें शिव मुखरूप चन्द्रमापर आपने कालकूट पान किया, जिसका रूपक सब कर्मोंका मूल कारण मनुष्यायुको ऊपर दिखा आये तो इसकी विरद प्रकटाकर नाना व्यक्तियोंके हृदयरूप गर्भमें उनकी आयु (कालकूट) को अमृत करनेका संकल्प किया। जैसे प्रकृतिमंडलको आनेके समय जीवमें रजोगुणका बढना हेतु है, तैसे रजोगुणका परिणाम भूलोक है, तिसकी रक्षापर चित्त देना यही बढना है, इतना करके अभी नाम चंद्रमंडलरूप शिवमुख पर हैं। शिवमुख रूप चन्द्रमंडल—यथा—"**श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरं संशोभितं सर्वदा॥**" (कि. मं. श्लोक) जैसे भूमंडलरूप जापकके हृदयमें आवेंगे, वह दूसरे (प्रकृति) आवरणका कार्य है, उसे आगे अ० प्र० नं० (२) टि० (१) में कहेंगे और उपरोक्त सिंहका रूपक तो गर्भाधानसे है, अतः उसका मिलान वहीं पर करेंगे। यहाँ तक

नामरूप ब्रह्म'प्रथमावरण' में पधारे । जैसे जीवका इस आवरणमें 'अपना' सत्यसंकल्प गुण नाश होता है, तैसे ही, इनका जन्म दिव्य होनेसे प्रकाश हुआ , अर्थात् कालकूट पानकी विरदद्वारा लोकोद्धारहेतु ' सत्यसंकल्प ' किये जिसके आधार पर जीव नवें आवरणसे निकल पाया, ऊपर संबंधसारांशमें दिखा आये ।

अथ नामरूप ईश्वरकी पञ्चधा स्थिति ।

(२) यथा—"**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥**" (गीता. अ० २) अर्थात् देहधारी जीव जैसे २ विषयोंका आहार किया है, वैसे २ (व्यतिक्रमसे) जो निराहार हो (उन्हें छोडे) तो अंतरंग विषयानुरागविना केवल वहिरंग विषय निवृत्त हो जाते हैं, इसका वह विषयानुराग (अंतरंग) भी पर (श्रीरामजी) के देखनेसे निश्चय निवृत्त होता है ॥

(क) पूर्व आवरण प्रसंगमें जीवोंका विषयोंके आहार करनेका क्रम दिखा आये । वहाँ प्रथमसे चौथे आवरणपर्यंत अंतरंग है, और पाँचवें (शब्द) से नवें (गंध) तक वहिरंग है । जीव जैसे २ विषयोंको ग्रहण किया है, निवृत्ति उसके व्यतिक्रमसे होगी। अर्थात् प्रथम नवेंसे पांचवें तकमें क्रमशः वहिरंग विषयोंकी निवृत्ति दिखाके तव पहिले तकमें शेष चारोंकी अंतरंग (विषयानुराग) से शुद्धि दिखावेंगे । जैसे जीव पाँचवें आवरणसे शब्द विषयसे गंध तक ग्रहण करता ही गया, उसके उद्धारार्थ भगवत् भी वैसे २ क्रमसे अपने निराहारताके स्वरूप प्रकट किये, कि जिससे हमको देख २ कर जीव भी आहार (विषय) छोडकर हमारे समान सुखरूप हो । यथा—**श्रुतिः"द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं०—'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥**" (श्वे०) ।

(ख) ईश्वरका स्वरूप प्रकट करना यथा—"**व्यापक विस्वरूप भगवाना । तेहि धरि देह चरितकृत नाना ॥ सो केवल भगतन हितलागी ।**" (बा०दो० १२.) कहा है, अर्थात् अपने भक्तोंके हितार्थ भगवत् प्रथम आकाशवत् 'व्यापक' अर्थात् अंतर्यामी रूपसे आप्तकामादि गुण दिखाकर भक्तोंको शब्दतन्मात्रा जन्य कामनाओंसे बचना उपदेश किया तथा 'विश्वरूप' अर्थात् विराट्रूप स्पर्शतन्मात्रासे बचानेके लिये हुए , क्योंकि यह रूप सृष्टिरूप कर्मका कारण है और कर्म स्पर्शतन्मात्रासे होते हैं । इस रूपके शरीरमें जगत् दिखा, अपना कर्तापना दिखाकर जीवके कर्तृत्वाभिमानादि कर्मके दोष मिटाये, तथा—रूपतन्मात्रासे रक्षार्थ तदनुसार 'भगवाना' अर्थात् षडैश्वर्यके धारणकरनेवाले व्यूहरूप संकर्षण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध देवरूप (अग्निवत् तेजमय रूप) हुए । यह अग्नि (जातवेद) ज्ञानादि गुणोंका उत्पन्न करनेवाला है, जो सत्वादि गुणोंके कार्य हैं । यथा—"**सत्वात्संजायते ज्ञानम्**" (गीता. अ० १४) इससे रूप तथा तीनों गुणोंकी निराहारता उपदेश करते हैं । तथा रसतन्मात्रासे रक्षार्थ रसरूप वीर्यसे होनेवाले देहधारियोंकी तरह अवतारादि 'विभव' होकर अर्थात् देहधरकर मुख्यतः इन्द्रियनिग्रहादि उपदेश किये । और गंधतन्मात्रासे निराहरता प्रकट करनेकेलिये, गंधतन्मात्राके कार्यरूप पृथ्वीतत्त्वके

अंशभूत धातु पाषाण काष्ठादि रूपमें उपरोक्त देहधारी अवतारोंके 'चरित कृतनाना' अर्थात् किये हुए नाना चारित्रोंके आकारसे 'अर्चारूप' धारण किये क्योंकि इस (गंध) विषयमें पड-कर जीव जडरूप होजाता है। इस रूपमें निराहारता यों है, कि इनके आगे चाहे कितनों थाल व्यंजन परोसे जाँय, किंतु आप प्रसन्नता मात्र मानकर (प्रसादकर) फिरा देते हैं, यहाँ गंध (वासना) राहित्य है। इस प्रकार पाँचरूपोंसे पंचविषय राहित्य दिखाये।

(ग) अब साधकको निराहारता लाभकेलिये इनका लक्ष्य नाममें पूर्वोक्त रीतिसे व्यतिक्रममें दि-खाते हैं। कि प्रथमके इस संबंधके साथ 'अर्चा' पुनः क्रमशः विभव व्यूह पर (विराट्) तथा अंत-र्यामीका देखना पांचवें संबंध तकमें दिखावेंगे + [इस क्रमका प्रमाण विस्तारसे पांचरात्रमें दिखाया गया है,, जैसे—" **स एव करुणासिंधुर्भगवान् भक्तवत्सलः। उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपंचकम्॥ तदर्चा विभव व्यूहसूक्ष्मान्तर्यामिसंज्ञकम्। यदाश्रित्यैव चिद्वर्गस्तत्तज्ज्ञेयं प्रपद्यते॥ पूर्वपूर्वोदितोपास्ति विशेषक्षीणकल्मषः। उत्तरोत्तर मूर्तीनामुपास्त्यधिकृतो भवेत्॥** " इसका आशय यह है, कि करुणासागर भगवान् अपने भक्तोंके लिये अर्चा विभव व्यूह सूक्ष्म (पर) और अंतर्यामी ये पाँच प्रकारके अपने रूप धरते है। इस क्रमसे पूर्व पूर्वकी उपासना करने पर. जब क्षीणपाप हो जाय तब उत्तरोत्तर उपासनामें अधिकारी होता है, ऐसे ही ऊपर कह आये। (यहाँ साधन क्रम है यह अनन्य शरणागतोंको अत्यावश्यक नहीं है)] (विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त सारसे उद्धृत)।

(घ) अब यहाँसे उपरोक्त " **रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते** " के सिद्धान्तानुसार पर (श्रीराम) रूपके गुणोंमें उपरोक्त पांचों स्वरूपोंके कार्यकी स्थिति दिखावेंगे। और वही २ गुण नाममें अनन्त २ होकर अनंत जापकोंको प्राप्त होना दिखाये जायँगे, जिससे इसका सूक्ष्मवि-षयानुराग (उपरोक्त अंतरंग) शेष चौथेसे पहिले आवरण तकका निवृत्त होगा। उसमें इस प्रकार क्रम होगा कि छठे संबंधमें पर सातवेंमें व्यूह, आठवेंमें विभव नवेंमें अंतर्यामी और अंतिम दोहेमात्रमें अर्चारूपकी स्थिति, सिद्ध रूपमें दिखाई जायगी *। इस क्रमका प्रमाण यथा— "**परव्यूहौ च विभवो ह्यन्तर्यामी ततः परम्। अर्चावतार इत्येवं पंचधा चेश्वरः स्मृतः॥** " (**अर्थपंचके**)। तथाच— " **एवं पंचप्रकारोऽहमात्मनां पततामधः। पूर्वस्मादपि पूर्वस्माज्ज्यायांश्चैवोत्तरोत्तरः॥ मम प्रकाराः पंचेति प्राहुर्वेदान्त-पारगाः। परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम्॥ अर्चावतारश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः। इत्येवं पंचधा प्राहुर्मां रहस्यविदो जनाः॥** " (तत्त्वार्थसुदर्शनी टीका गीता अ० ७ से उद्धृत)

नोट—+ यहाँ उपरोक्त पाँचोंरूप तथा तिनके गुण नाम हीके दिखावेंगे॥

* इस प्रकार अगुण सगुण भावानुसार नामरूप ईश्वरमें पंचधास्थिति कही गई। उपरोक्त क्रमानुसार प्रत्येक संबंधके अ०प्र०टि०(२)में इनका साक्षात्कार भी दिखाते चलेंगे।(...)

अथ नामरूपईश्वरकी अगुणभावानुसार पंचधास्थिति।

(ङ॰) उपरोक्त टि॰ (गं) के क्रमानुसार इस संबंधमें '**अर्चावतार**' दिखाते हैं, अर्चावतार उसे कहते हैं, जो भगवान् श्रीअयोध्या बद्रिकाश्रम और शेषाचल आदि दिव्यस्थानों और भगवन्मंदिरोंमें मूर्तिरूपसे प्रतिष्ठित हैं तिनमें एक स्वयंव्यक्त अर्थात् जो स्वयं प्रकट हुए हों, दूसरे मानुष्य अर्थात् जो मनुष्योंके स्वयं स्थापित किये हुए हों, तीसरे सैद्ध अर्थात् जो सिद्धोंकरके स्थापित हों, चौथे दिव्य अर्थात् जो देवतोंद्वारा स्थापित हों, इन भेदोंसे चार प्रकारके होते हैं उनमेंसे इस संबंधके '**महामंत्र जोइ॰**' में शिवजीके हृदयसे 'स्वयं व्यक्त' प्रकटे क्योंकि प्रथम उन्होंने उपदेश नहीं लिया था, तथा गणेशजी स्वयं पृथ्वीपर लिखकर परिक्रमा करके अभीष्ट प्राप्त किये पुनः वाल्मीकिजीमें सप्तऋषि सिद्धोंने स्थापित किया और पार्वतीजीके हृदयमें देवनमें भी महादेवने स्थापित किया। यहाँ पर नामने अपने अर्चारूपसे जापकको गंध विषयसे निराहार किया॥ [यहां स्वयं व्यक्तादिक्रम गोस्वामीजीकी चौ॰ के अनुसारहै]

अथ नामान्तर दशअवतारोंके साक्षात्का प्रसंग।

(३) सतयुगमें संखासुर वेद चुराकर ले गया था, तो ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे भगवत्ने मीनरूपसे जाकर जलमेंसे संखासुरको मारकर वेदोद्धार किया। तथा यों भी कथा है, कि प्रलयकालमें भक्तोंके निस्तारके लिये पृथ्वीको नावसम जलपर मीनरूपसे तैराकर रक्खे रहे। यथा-"**वारिचर वपुषधर भक्त निस्तारपर धरणि कृतनाव महिमातिगुर्वी॥**" (वि॰ ५२) यह दोनों प्रकारका हेतु इस संबंधमें विद्यमान है। जैसे वहाँ संखासुर वेद चुरा लेगया, वैसेही-इस संबंधके आदिकी (१-२) चौ॰के अर्थमें संपूर्ण वेदके सिद्धान्तका बोध हुआ, कि जीवोंके माता, पितादि सब नाते श्रीरामनामहीमें हैं, ये ही तीनों ऋणोंके स्वामी तथा काल कर्मादिके नियामक षडैश्वर्यवान् षट्विकारनाशक हैं तो पूर्वसे जीव जो इनमें अहंबुद्धि किया रहा, उसे आसुरीसंपत्ति जानकर घबडाया, कि हमारा जो वेदका तत्त्वसिद्धान्त रहा. सो बुद्धिकी आसुरीसंपत्तिद्वारा हरा गया बुद्धिका नाम संख्या भी है, उसका आसुरीस्वरूप संखासुरसम हुआ। जैसे वहाँ ब्रह्माजी घबडाये वैसेही बुद्धिके देवता ब्रह्मा हैं, यह यथार्थ विचार होनेसे वही बुद्धि ब्रह्माके गुणवाली हुई। वहाँ जैसे ब्रह्माजी प्रार्थना किये, तैसे इस बुद्धिने भी नामसे अपना उद्धार चाहा। जैसे वारिचर (मीन) रूपसे भगवत्ने आकर जलमेंके उस असुरको मारकर वेद लाकर ब्रह्माजीको दिया। तैसे ही नामने भी वारिचररूप धर अर्थात् वारि जो जल, तद्वत् विषय है, तिसमें चर अर्थात् चलनेवाले, जो माता, पित्तादि नाते तथा काल कर्म गुण स्वभावादि हैं, तिनको अपना अंग दिखाकर तीसरीसे सातवीं चौपाई तकमें चरितार्थ किया। पुनः आगे आठवीं चौ॰ से संसार जो समुद्रसम है तिसका संबंध छोड़कर अर्थात् (बुद्धिके आसुरीस्वरूप संखासुरको मारकर) जीव भगवत्की शरणको चला। यही वेदका सर्वस्व इस (जीव) की बुद्धिके देवता ब्रह्माको वेदसम हस्तगत हुआ। पुनः दूसरी प्रकारमें जो पृथ्वीका

जलमें डूबना है, वैसे यहाँ जीवके पक्षमें पृथ्वीकी अंशभूता बुद्धि है "बुद्धिर्जाता क्षितेरपि।" (जिज्ञासापंचके) तथा ऊपर जो बुद्धिको संखासुर व्यापारसे घबड़ाना कहा, यही इसका प्रलयमें डूबना हुआ और जो यह बुद्धि संसार समुद्रसे ऊपर होकर शरण हुई, यही उतराने सम है। यह सब कार्य नामसे ही हुआ अतएव यहाँ नाममें " मीनावतार " का तात्पर्य साक्षात्कार हुआ ॥

अथ नामान्तर भक्तिरसप्रकरण ।

(४) भक्तिके मुख्य पाँचोंरसोंकी स्थिति इस नामप्रकरणमें इस प्रकार है, कि प्रथमके इस संवंधमें 'वात्सल्यरस' की साधनावस्था और नवें संवंधमें सिद्धावस्था है। पुनः दूसरे सं० में 'श्रृंगाररस' की साधनावस्था और आठवेंमें सिद्धावस्था तथा तीसरे सं० में 'सख्यरस' की साधनावस्था और सातवेंमें सिद्धावस्था तथा चौथे सं० में 'दास्यरस' की साधनावस्था और छठे सं० में सिद्धावस्था और पाँचवें सं० में 'शांतरस' की साधनावस्था तथा अंतिम (बा० दो० २७) दोहार्थ (सुमेर) में सिद्धावस्थाकी प्राप्ति जापकको दिखावेंगे। इस प्रकारके साधन तथा सिद्धिके क्रम होनेका हेतु यह है, कि प्रथमावरणकी कार्यावस्था रूप नवां आवरण और दूसरे आव० का आठवाँ है, और नवें आव० का पहिला सं० और पहिले आव०का नवां सं० साधन है अतएव परस्पर संबंध होनेसे भी ऐसा क्रम है। तथा इस नामवंदनाके प्रकरणको ग्रंथकारने सुमिरनीके रूपकमें वर्णन किया है, क्योंकि अंतमें 'सुमिरि सो नाम' इस चौ० में नामकरण भी किया है, इसे ग्रंथके अंतमें दिखावेंगे, साधन और सिद्धि अवस्थाकी मणिकाओंको आमने सामने रक्खा है। इस ग्रंथके साथ २ इसका चित्र भी हैं, उसमें स्पष्ट है।

उपरोक्त क्रमानुसार यहाँ 'वात्सल्यरस' का प्रकरण है। वह दो प्रकारका होता है। एक तो श्रीसीतारामजीमें अपना वात्सल्य रखकर पुत्र शिष्य तथा जामातृ आदि भावसे सेवा करते हैं, दूसरे श्रीसीतारामजीका वात्सल्य निजविषे विचारते हैं और उनको माता पिता मानकर आश्रित रहते हैं, तिनमें प्रथमका तो नवधा व पराभक्तिमें स्थूलरूपसे अथवा दिव्यरूपसे प्रत्यक्ष वा मानसिककैंकर्य–सुखद्वारा पोषक है। उसे इस संवंधके फलरूप नवें संबंधमें (पराभक्तिप्रसंगसहित) दिखावेंगे और दूसरा इस संबंधमें प्रेमाभक्तिका पोषक है, क्योंकि नामजप प्रधानतया प्रेमाभक्तिका अंग है। इस रसके दोनों प्रकारके देवता नरसिंह भगवान् हैं, तिनका प्रकट होना इस संवंधके फलरूप नवें संबंधके अंतिम दोहेमें स्पष्ट दिखावेंगे। इस रसके दोनों प्रकारमें जीव और ब्रह्मके विवेककी पूरी आवश्यकता है। इसीसे इसमें परब्रह्म श्रीरामजीके वाचक रेफके अर्थसे पूर्णब्रह्मविवेक कहा गया और रेफहीमें सब भाँतिका पितृत्व दिखाय जीवका पुत्रत्व दिखाकर उपरोक्त दूसरी विधिका वात्सल्यरस दिखाया गया है। वात्सल्यका भाव यह है, कि जैसे तुरंतकी ब्याई हुई गऊ बछड़ेके अतिघृणित विकारोंको चाट २ कर जीमसे शुद्ध करती है तैसेही इस संवंधमें रेफने माता

पितादिरूपसे आपकके ऋणत्रय वा काल कर्मादि दोषोंको चाट २ कर (अर्थात् प्रीतिसहि लक्ष्यसे) शुद्ध किया है। अतएव यहाँ इस वात्सल्यकी साधनावस्थाका सर्वांग आया **शंका**—रेफार्थमें तो कहीं २ श्रीजानकीजीका अर्थ किया जाता है और रेफकी अकारसे श्रीरामजीका यथा—"**रामनाम्नि स्थितो रेफो जानकी तेन कथ्यते। रकारेण तु विज्ञेयः श्रीरामः पुरुषोत्तमः॥**" (सदाशिव संहिता.) **समाधान**—यहाँ प्रथमसे रेफार्थमें जो कार्य सृष्टि आदिका '**हेतुकृसानु०**' आदिसे दिखाया गया है। वह श्रीजानकीजीकी इच्छासे मूलप्रकृति रचती है, इससे इन्हें रेफार्थमें उपरोक्त कथन है, किंतु यहाँ ग्रंथकारके सिद्धान्तसे श्रीरामजीका इस भाँति सिद्ध होता है, कि इस कार्यमें श्रीजानकीजीसे प्रथम श्रीरामजीकी इच्छा होती है। यथा—"**लवनिमेष महँ भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥**" (बा० दो० २२४) तथा कोशसे भी रेफसे श्रीरामजीका ही अर्थ है, यथा—"**रश्च रामेऽनिले वह्नौ।**" (एकाक्षरकोशे) यही सब ऊपर मूलके अर्थोंमें दिखा आये। इसी तरह आगेके दोहामें अकारके अर्थमें '**अव-रक्षणे**' धातुसे यह रक्षणकार्य अवतारादिद्वारा श्रीरामजीकाही रहेगा। परन्तु अवतारोंके लिये प्रथम श्रीजानकीजीकी इच्छा होती है अर्थात् वही प्रेरणा करके भूतलमें श्रीरामजीको भी लाती हैं। इससे अकारार्थमें वहाँ श्रीजानकीजीको कहेंगे।

अथ नामान्तर पंचसंस्कारप्रसंग।

(९) यथा—"**पुण्ड्रं मुद्रा तथा नाम माला मंत्रश्च पंचमः। अमी हि पंच संस्काराः परमैकान्तहेतवः॥** (श्रीरामपटल) अर्थात् नाम कंठी (माला) तिलक, मुद्रा और मंत्र यह पाँचों संस्कार उत्तम भक्तिके हेतु हैं। इन पाँचोंका क्रम भी पूर्व टि० (४) के अनुसार साधन व सिद्धावस्थाका जानना चाहिये। उस क्रमानुसार यहाँ '**नाम**' का प्रकरण है। सो यथा—**श्रुतिः**—"**ॐ रां रीं रूं रैं रौं रं रः। ॐ यो हंसः सोऽहं परमात्मानं स्मरते स महीयान् सपरात्परेलोके,पूज्यो भवति।**" इति ऋग्वेदे चतुर्थः संस्कारः॥ (श्रीरामपटल) अर्थात् जो वह है वही मैं हूँ और जो मैं हूँ वही वह हैं. इस प्रकार स्वरूपअभेद—ज्ञान—सहित परमात्माका स्मरण करते हुए जीव श्रेष्ठ होकर त्रिलोकपूज्य होता है। इस श्रुतिके अनुसार इस संबंधमें सब भाँतिसे संबंध परमात्माहीसे दिखाया गया है। तिससे माता पिताकी तद्रूपता बालकमें होनेसे एकता होती है और तीनों ऋणोंकी निवृत्तिसे त्रिलोकपूज्य भी हुआ, तथा संसारसंबंध छोडनेसे श्रेष्ठता भी आई और उपरोक्त एकता स्वरूपमात्रकी है, स्मरण व सेवन तो भेदमें ही होता है। अतएव तदाश्रित नाम भी होना चाहिये, क्योंकि जीव अनंत हैं और सबही सेवा करते हैं, तो विना नाम अपना २ स्मरण भिन्न २ कैसे होगा। इस लिये नाम संस्कार आवश्यकीय है वह भी इसीके नीचे दोहार्थमें '**तुलसी सालि सुदास**' से दिखावेंगे। यहाँ न कहनेका कारण यह है, कि यहाँतक अभी जीव शरणकी तथा दासत्वकी इच्छा मनमें रखकर चला है,

और वह नाम तो गुरुद्वारा प्राप्त होगा, तब प्रकट लिखेंगे । इसीसे ग्रंथकारने भी इसे अभी मनहीमें रख छोड़ा है, इस संस्कारके अभिप्राय–विचारपूर्वक धारणमें साधककी जो साधनावस्था रहती है । अर्थात् भगवत्के शरण व दास कहानेकी लालसासे सद्गुरु खोजता है, वही जापकको प्राप्त हुई इसकी सिद्धावस्था नवें सं० में प्राप्त होगी ।

अथ नामान्तर भक्तिप्रकरण ।

(६) भक्ति प्रधानतया तीन प्रकारकी होती हैं जो कि नवधाप्रेमा और परा नामोंसे ख्यात हैं । तिनमें नवधा यथा–"**हृषीकेश्च हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ।**" (पांचरात्रे) अर्थात् भगवन् जो इस जीवको अनेकों जन्मोंसे इन्द्रियप्रेरकताद्वारा पोषण करते आते हैं, तो इस देहमें चैतन्यता होनेसे उसकी कृतज्ञताके लिये शेषायुकी इन्द्रियवृत्ति उन्हें समर्पणकर अर्थात् उनकी सेवा करते हुए इसका दीन रहना नवधा भक्ति है, ग्रंथकारने भी यों ही कहा है। यथा–"**जो जेहि कला कुसल ताकहँ सोइ सुलभ सदा सुखकारी। सफरी सन्मुख जलप्रवाह सुरसरी वहइ गज भारी ॥**" (वि० १६८) इसका तात्पर्य यह है, कि इन्द्रियाँ अपने २ विषयसेवनरूप कलामें चतुर हैं, और इस सेवाभक्तिमें लगनेसे इन इन्द्रियोंको दिव्यसुख मिलना है, इससे सुलभतासे लगती हैं और वहतीहुई विषयप्रवाहमें भी ऊपर चढती है, अर्थात् निर्विषय होती हैं । जैसे मछलीको जलका सुख, वैसे इसे सनेहसुख लाभ होता है । यह नवधाभक्ति श्रीरामजीने शवरीजीसे कहा है, वह यहाँ दिखाते हैं । इसका क्रम यहाँ इस प्रकार होगा कि पहिली और नवींभक्ति पहिलेसंबंधमें, दूसरी और आठवीं दूसरेमें, तीसरी और सातवीं तीसरेमें, चौथी और छठीं चौथेमें और पाँचवींभक्ति पाँचवें संबंधमें दिखावेंगे । उपरोक्त क्रमानुसार यहाँ पहिली और नवीं दिखाते हैं, यथा–"**प्रथम भगति संतन कर संगा ।**" (आ० दो० ३७) अर्थात् भगवत्कृपासे संतोंका संग होता है, तो वे जो उपदेश दे संसार वासना छुडाते हैं, वह मूल की चौ० (८) के अर्थमें दिखा आये । कि वे संसारसंबंध छुडाकर नाममें दृढाकर सद्गुरुशरण करा देते हैं । पुनः नवीं यथा–"**नवम सरल सबसों छल हीना । मम भरोस हिय हरष न दीना ॥**" (आ० दो० ३८) अर्थात् ऊपर जो वासनात्यागका उपदेशमात्र सिद्ध हुआ था, इस नवींमें उसके साक्षात्की अवस्थाका चिह्न दिखाते हैं । कि वासना छूटनेसे मन तथा तीनों अंतःकरण शुद्ध रहते हैं । वह यहाँ–सरलतामें 'चित्त' की शुद्धि, छलहीनतामें बुद्धिकी तथा 'ममभरोस' अर्थात् भगवत्के भरोससे अपने पुरुषार्थकी आशा त्यागनेमें अहंकारकी और हर्ष दीन न होनेमें मनकी शुद्धि प्रतीत होती है । इन चित्त आदि चारोंकी शुद्धि विधिवत् शिवादि चारों लक्ष्यके (तीसरी आदिचौपाइयोंके प्रसंग) नोटमें दिखाते आये हैं, और वहाँ जो शुद्धिकी आशामात्र कहे थे, वह आठवीं चौ० में जहाँ जीवका संसारसंबंध त्यागदेना कहा गया, तहाँ शुद्धिकी पूर्णचेष्टा प्रकट हुई । इन चारोंके सूक्ष्मांशकी शुद्धि सातवें संबंध तकमें होगी ॥

अथ नामान्तर ज्ञानप्रकरण।

(७) श्रुतिः—"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" "ज्ञानान्मुक्तिः" "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" (गीता अ० ४) "कहहिं वेद इतिहास पुराना। नाहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना॥" (उ० दो० ११४) इत्यादि प्रमाणोंसे जिस ज्ञानकी मर्यादा बहुत चढी बढी है, वह भी इस नामाराधन भक्तिके पीछे २ लगा रहता है। यथा—"तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना॥" (आ० दो० १७) (इसमें तेहि से भक्तिको कहा है) और भी यथा—"ज्ञानमार्गं च नामतः।" (वशिष्ठसं०) उस ज्ञानको नाममें दिखाते हैं। जो सात भूमिकामें कहा गया है। यथा—"शुभइच्छा रु विचारना, तनमानसा सु होइ। सत्वापत्तिहिं जानु पुनि, असंशक्ति कहँ जोइ॥ षष्ठि पदार्थ अभावनी, सप्तम तुरिया जानि। न्यारे २ भेद ये आगे कहव बखानि॥" (मानसभूषण टी० उ०—वैजनाथ) उपरोक्त सातोंमेंसे यहाँ पहिली दिखाते हैं। यथा—"सात्विक सरधा धेनु सुहाई। जौं हरिकृपा हृदय वसु आई॥ १॥ जप तप व्रत यम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभधर्म अचारा॥२॥ ते तृनहरित चरइ जब गाई। भाव वच्छ सिसुपाइ पेन्हाई॥ ३॥ नोइ निवृत्ति पात्र विस्वासा। निर्मलमन अहीर निज दासा॥ ४॥ (उ० दो० ११६) सारांश मिलान—ज्ञानमें सात्विकी श्रद्धा तत्कृपासाध्य कही गई, अर्थात् उसका होना नियत नहीं रहता और यहाँ नामने चौ० (१—२) में अपना मातृत्वादि दिखाकर श्रद्धा कराया। तथा ज्ञानकी दूसरी तीसरी चौ० में बडे २ कष्टसाध्य नानाविधिके धर्माचार करनेसे जब ऋणत्रय छूटे और कुटुंबादिकी ममतासे चित्त हटे, तो परमार्थमें प्रीति उपजे, ऐसा कहा है, और चौथी चौ०में श्रद्धारूपा गऊके चारोंपग छाँदनेकी भाँति मन और तीनों अंतःकरणोंकी वासना रोकनी कही गई। वही २ तात्पर्य नाममें भी है, यथा—प्रथमही तीनों ऋणोंका निर्मूल होना कहा गया और जगत्‌की वासना भी निवृत्ति हुई और नामहीको माता पितादि जानकर पारमार्थिक प्रीति भी अत्यंत उपजी। तथा मन और तीनों अंतःकरणोंके चलानेवाले कालकर्मादि चारोंका निग्रह भी दिखा आये। पुनः ज्ञानमें जो 'पात्र विस्वासा' से मुक्तिका विश्वास लाना कहा है. वह इस नामप्रकरणमें मुक्ति आदि चारोंफलोंकी जो अप्रमेय प्राप्ति दिखा पडी, तो विश्वास तो बलात् पीछे पडा। जो ज्ञानमें 'निर्मलमन' होना कहा गया वह नामके रेफमें षडैश्वर्योंकी जो अप्रमेयस्थिति दिखा आये, तिनसे षट् विकार तो आपही भागते हैं, यह भी कह आये और ज्ञानमें मनको 'निजदासा' अर्थात् आधीन करना कहा गया, वह नामके इस संबंधकी आठवीं चौ० में जो आयु (कालकूट) से इन्द्रियदेवतों सहित जलते हुये मनका सद्गुरुशरणको चलना दिखाया गया इसमें अमरत्वलाभ जानकर मन स्वयं जगत् संबंध तुच्छ जानकर त्यागा और आधीन हो निहोरा करने लगा, कि शीघ्र शरण हों। यही शुभइच्छा नामकी प्रथमभूमिका हुई। यथा—"विषय विषे भइ दीनता, गुरु तीरथ अनुराग। ताते शुभइच्छा कही, कथा श्रवण मन लाग॥" (मानस भूषण) इस प्रकार इस संबंधमें ज्ञानकी यह भूमिका आकर लुभाई हुई पडी है॥

अथ नामान्तर भगवत्साधर्म्यप्राप्ति।

(८) यथा–" इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः" (गीता० अं० १४) अर्थात् इस ज्ञानकी उपासनासे मेरे समान गुण और धर्मवाला होजाता है, यह श्रीमुख वाक्य है, तो जो ज्ञानकी उपासना ऊपर टि० (७) में दिखाई गई, तो साधर्म्य भी साथ ही साथ क्रमशः दिखाते चलेंगे। यथा–" **एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥**" (बा० दो० १२) यहीं नवगुण साधर्म्यके हैं, । इन गुणोंके साधर्म्य होनेके प्रमाण क्रम सहित, आगे दोहाकी चौथी चौ०में स्वतंत्रप्रसंग पाकर दिखावेंगे। यहाँ प्रयोजन-मात्र पहिले 'एक' की प्राप्ति दिखाते हैं। एक अर्थात् एकही भगवत् ऋणत्रय धनी तथा, माता, पिता आदि चारों मुख्य नातों और काल कर्मादिके भी नियामक तथा सब भाँति सबको सब रूपोंसे पोषक हैं, ऐसे पर भी वे सबसे एक अर्थात् निर्लेप हैं। यथा–" **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विद्धि कर्त्तारमव्ययम्॥**" (गीता. अ० ४) ऐसे ही कुछ अंशमें जगत्से निर्लेप जीव भी हुआ। क्योंकि-यह जीव प्रथम कुटुंब गुरुवर्ग और देवताओंको अपना हितू मानकर तिनमें स्नेहबद्ध हो २ कर अनेक रूप था; अर्थात् माता पिताका पुत्र, स्त्रीका पति, तथा मित्रोंका भिन्न २ मित्र इत्यादि अनेकरूप था, यहाँ सबके नियंता श्रीरामजीको तिनके नामार्थसे जानकर सबसे संबंध तोडकर 'एक' अर्थात् निर्लेप होकर शरण हुआ, इससे इसमें साधर्म्यका '**एक**' गुण आया। इस प्रकार सब साधन आगये, क्योंकि अन्यसबोंमें उत्कृष्ट जब ज्ञानही इसके एकांशमें आया तो औरोंमें क्या संदेह है, विस्तारभयसे नहीं लिखते।

इति श्रीरामवल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्तशरणकृत–श्रीमन्मानसनामवन्दनायाः तत्त्वार्थ-सुमिरनीटीकायां प्रथममणिकार्थवर्णने द्वितीयोऽध्यायः॥ २॥

इति प्रथम मणिकार्थ समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः।

अथ श्रीमन्मानसनामवंदना द्वितीय दोहा।

मूल।

बरषारितु रघुपति भगति, तुलसी सालि सुदास।
रामनाम वर बरन जुग, सावन भादवँ मास॥ १९॥

टीका–रघुपति भक्ति वर्षाऋतुके समान है, तुलसी और सुन्दरदास् धानकी समान हैं, श्रीरामनामके श्रेष्ठ दोनों वर्ण सावन भादौं महीने हैं॥ १९॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) ' **बरषा०** ' का भाव यह कि प्रत्येक वर्षमें छः ऋतु होती है, तिनमें वर्षा सबोंकी पोषक है, जैसे कि उर्दूके कविने भी कहा है, कि "**ऐ सारे बरस कि जान बरसात। तु आई है बहुत दिनोंके बाद।**" ऐसे भक्ति भी मुख्य छः होती हैं, तिनमें पाँच तो पंचदेवोंकी हैं, यथा—" **करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनपति गौरि पुरारि तमारी। रमारमन पद बंदि बहोरी। बिनवहि अंजलि अंचल जोरी॥ राजा राम जानकी रानी** " (अ० दो० २७२) अर्थात् गणेश, गौरि, शिव सूर्य और विष्णु इन पाँचोंभक्तिकी पोषक तथा फलरूप छठवीं रघुपति (श्रीराम) भक्ति है, इसीसे रघुपति विशेषण भी है, क्योंकि रघु संज्ञा जीवमात्रकी है, और पति रक्षकको कहते हैं। श्रीरामभक्तिसे उन पाँचोंकी रक्षाका लक्ष्य—गणेश, गौरि तथा शिवजीकी नामसे रक्षा होना, ऊपर (बा० दो० १८) के प्रसंगभरमें, प्रधान-रूपसे दिखा आये और ' हेतु कृसानु भानु हिमकर को' में सूर्यका तथा ' विधि-हरि-हर-मय ' में विष्णुका नामसे होना स्पष्ट है, इनका भक्ति करना भी प्रकटरूपमें पृथक् है, यथा—" **दिन-मनि चले करत गुन गाना।** " (बा० दो० १९५) तथा—" **हरि हित सहित राम जब जोहे। रमासमेत रमापति मोहे॥** " (बा० दो० ३१६) और इन पांचोंमें भी श्रीरामभक्तिसे ही सामर्थ्य है, जिससे जीवमात्रकी रक्षा करते हैं॥

अथ नाममें पंचदेवोपासना निरूपण।

(क) उपरोक्त पाँचों देवता क्रमशः। पृथिव्यादि पाँचों तत्त्वोंके एक एक विषयोंसे रक्षा करते हैं। तिनमें प्रथम गणेशजी अपने आश्रितोंको पृथ्वीतत्त्वके विकाररूप नानायोनियोंकी वासना (कामना) से रक्षा करते हैं और केवल आत्मरूप (त्रिलोकपूज्यत्त्व) की वासना (कामना) उपजाते हैं, यह इनका कर्तव्य श्रीरामनामकी शक्तिसे है, ऊपर दो० १८ चौ० ४ के अर्थमें दिखा आये। तथा जलकी तन्मात्रा रस है, तिसके विकारसे इन्द्रियोंमें प्रमाद होता है, इससे रक्षार्थ श्रीपार्वतीजी रामनामके बलसे धर्मफल देती हैं, क्योंकि धर्मकाफल वैराग्य है, यथा—"**धर्म ते बिरति जोगते ज्ञाना।** " (आ० दो० १७) उस धर्मद्वारा जीवोंकी वैराग्यद्वारा इन्द्रियोंसे रक्षा करती हैं अथवा धर्म देकर तिनमें इन्द्रियोंको लगाकर सात्विक करके रक्षा करती हैं और नामहीके प्रभावसे शिवजी मुक्ति देकर मृत्युसे रक्षा करते हैं, इसमें रूपाभिमानसे रक्षा होती है, क्योंकि रूप अग्नितत्त्वकी तन्मात्रा वा विषय है, इसकी आसक्तिसे और तदनुसार संकल्पोंसे जीव नानायोनियोंमें जा २ कर मरते हैं, यथा—" **यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥**" (गीता. अ० ८) पुनः वायुतत्त्वसे सूर्यका रक्षा करना दिखाते हैं, यथा जीवके नानाकर्म प्राणवायुकी शक्ति वा चेष्टासे होते हैं और कर्मेन्द्रिय हाथ भी वायुतत्त्वकी ही है, वे कर्म सूर्यके समक्षमें किये जाते हैं, तब मोक्षार्थ सार्थक होते हैं, क्योंकि ये विधिवत् निष्कामकर्मयोगके नियन्ता हैं, यथा—"**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।**" (गीता. अ० ४) तथा

सूर्यसे होनेवाले शुभाशुभ दिन, घडी मुहूर्तादि हैं, तदनुसार कर्मोंका फल होता हैं और सूर्य ज्ञानात्मा भी है यथा–"**तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्**" (गीता. अ० ५) ये अपने आश्रितोंको स्वरूपज्ञान कराके शुभमुहूर्तका योगकर निष्कामकर्म कराकर तिसकी फलेच्छा ममता, और कर्तृत्वाभिमानादि बाधा निवारण करते हैं, ऐसे सूर्य भी श्रीराम नामके कार्यरूप तथा उपासक हैं, ऊपर टि० (१) में देखो और आकाशतत्त्वसे विष्णुभगवान्का रक्षकत्व यथा–इसकी तन्मात्रा शब्द है, जिसे सुनकर तदर्थ विषयोंमें कामनापूर्वक अंतःकरण-वृत्ति फैलती है। यथा–"**कोउ अवकास कि नभविनु पावे ॥**" (उ० दो० ८९) इससे रक्षार्थ विष्णुभगवान् नामबलसे ज्ञानके दाता हैं, पूर्व दो० १८ चौ० २ की टि० (८) में दिखा आये । उस ज्ञानसे आप्तकामादि गुणोंद्वारा शब्दजन्य कामनाओंसे रक्षा करते हैं ॥

अव०–उपरोक्त पाँचों प्रसंगोंमें जो एक२ तन्मात्राओंकी रक्षामें पाँचोंकी रक्षा झलकती हैं, उसका कारण यह है, कि पंचीकरणरीतिसे प्रत्येक तत्त्वोंमें पाँचों रहती हैं, इससे प्रधानरूपसे एककी रक्षामें तदाश्रितोंसे भी होती है, इस प्रकार इन पांचोंको निमित्त करके पाँचों विषयोंसे श्रीरामनाम ही सब जीवोंको बचाते हैं। पुनः स्वयं जैसे निज (रघुपति) भक्तिसे अपने अनन्यदासोंको सुख देते हैं, वह आगेकी टि० से दिखाते हैं:–

(२) '**तुलसी सालि सुदास ।**' का भाव यह कि जैसे सालि अर्थात् धानका जल ही जीवन है, तैसे ही अपना व उत्तमभक्तोंका राम नाम है, यथा–"**स्यामघन सींचिए तुलसी सालि सफल सुखात ।**" (वि० २२२) "**सेवक सालिपाल जलधरसे ।**" (बा० दो० ३१) "**सो जल सुकृत सालिहित होई । रामभगत जन जीवन सोई ॥**" (बा० दो० ३९) अथवा 'तुलसी' यह शब्द कवि वाचक है, और सालि और दासके मध्य सु शब्द देहलीदीपक है, इससे सुदास सुसालि हैं, ऐसा हुआ, तिसका भाव यह कि एक धान जोतने बोनेसे होता है, वह बहुत प्रकारका होता हैं और दूसरा सुसालि अर्थात् उत्तमधान, जो जलधान, पसडी व तिनी आदि नामोंसे ख्यात है, वह विनाही जोते बोये पोखरों तथा झीलोंमें होता है और ऋषिअन्न कहाता है। यहाँतक कि बहुत व्रतोंमें भी वर्ता जाता है, यह सावन भादोंकी अनावृत्ति वृष्टिसे दो ही मासमें होता है। इस प्रकारकी अनावृत्ति रटनरूप वृष्टिसे रकार मकार रूप सावन भादोंसे जीनेवाले सुदास अर्थात् चारोंभक्तोंसे भी श्रेष्ठ पाँचवें प्रेमी भक्त होते हैं, यथा–"**अति अनन्य जे हरिके दासा । रटहिं नाम निशिदिन प्रतिस्वासा ॥**" (वैराग्यसंदीपनी) तथा श्रीनारदसूत्रमें, जो प्रेमाभक्तिका ही प्रतिपादक ग्रंथ है, कहा है। यथा–"**नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति । अस्त्येवमेवम् ॥**" अर्थात् जो संपूर्ण सुकृत समर्पणकर शुद्ध हृदयसे स्मरण करते हों, और एक क्षण भी विस्मरण होनेमें व्याकुल हो जाँय, ठीक २ वे ही प्रेमीभक्त हैं। इन्हींकी उपरोक्त सुसालिसे समता है और चारों प्रकारके भक्त अपर धान सम कुछ २ काल बीचमें विनावृष्टिसे भी होते हैं, क्योंकि उन्हें अपरकैंकर्य तथा कथा आदिका भी अवलंब

रहता है और उन धानोंके लिये जोतने बोनेवालोंके संबंधकी भाँति संसारी लोगोंसे भी ठाकुरजीके पीछे कुछ व्यवहार करना पड़ता है। जैसे सावन भादौंकी वृष्टि विना कोई भी धान नहीं होते, वैसे ही कोई भी रघुपति भक्त रामनामविना नहीं रह सकते॥

(३) **"राम नाम०"** का भाव यह है कि वर्षा ऋतु चतुर्मासा भी कहाती है तौ भी मुख्य सावन भादौं दो ही मास हैं, वैसे ही रामभक्तिमें भी इन श्रेष्ठ दोनों वर्णोंका रटन ही श्रेष्ठ है। तथा जैसे दोनों मास वर्षाके केन्द्र हैं, वैसे ही नाम भी भक्तिके हृदयरूप हैं, अतएव अभेद हैं।

(क) यहाँ **'बरनयुग'** कहनेका हेतु यह है, कि ऊपर रकारार्थमें तीनवर्ण (र, अ, म) दिखाये थे, और आगे भी तीसरे दोहा तक उसी मंत्रराजके प्रथमाक्षर रकारहीका अर्थ कहेंगे, क्योंकि पंचमहाभूतोंमें स्थूल पृथ्वी जल और अग्नि, ये तीन ही हैं, और र अ म क्रमशः ब्रह्म प्रकृति और जीवके वाचक हैं, तिनमें अकार जो व्यापकत्वसे प्रकृतिरूप रहा यथा— **"अकारः स्वरो मकारो व्यञ्जनं यः स्वरः सा प्रकृतिः"** (एकायनब्राह्मण श्रुतिः) अर्थात् (ओंकार) अकार स्वर उकार तथा मकार व्यञ्जन युक्त हैं। इसमें जो अकार है सो प्रकृति है। तिसका कार्यरूप जगत् ऊपर संबंधमें रकारवाच्य श्रीरामजीका शरीररूप समझा गया, अर्थात् इसके सब संबंध तथा काल कर्मादि श्रीरामजीसे कहे गये तो प्रकृतिका नानात्व भ्रम छूटा। वहाँ प्रकृतिके कार्यरूप पृथ्वी तत्त्वकी शुद्धि हुई। अब यहाँ रकारवाच्य ब्रह्मके साथ नवोसंबंध दिखानेमें रसविषयकी शुद्धि दिखाते हैं, इससे प्रकृति शरीरसहित ब्रह्मवाचक दीर्घ राके साथ संबंध चाहनेवाले मकारवाच्य जीवको पृथक् देखते हुए, दो वर्ण कहते हैं। और इस दोहेके अंतमें **"एकछत्र०"** में मकारवाच्य जीवको भी मणिरूपसे रकारका शेषत्व दिखाकर एक ही संग वर्णन करेगें और अग्नितत्त्वकी शुद्धिमें जीवको भी स्नेहसहित शेषत्वसे ब्रह्मका शरीर दिखाकर एक ही कहेंगे॥

(अनुसंधानार्थ)

पूर्वसंबंधके प्रसंगसे मिलान।

(४) इस दोहेके ऊपर **"कालकूट फलदीन्ह अमीके।"** के अर्थमें श्रीरामनामको शिवमुखचन्द्रपर बैठकर कालकूट पीना कहा गया और वह चौ० वहाँसे पूर्वके **'परमप्रियखिन्न'** से आये हुए प्रसंगकी फलरूपा थी. तो यहाँ वर्षाके अनुसार वह ग्रीष्म-ऋतु-सम हुई, क्योंकि वहाँ ग्रीष्मकी अवस्था प्रकट है, जैसे—जबसे जीव खिन्न हुआ, संसारको घोर घामरूप देखता हुआ तपने लगा, पुनः काल कर्म गुणादि प्रसंगको जानकर और तपा, तो पार्वतीजीके प्रकरणमें जहाँ कालादि तीनोंका अंश मिलकर स्वभावकी बाधा मनपर जाना, तो मनसे बहुत ही तपा, जैसे ग्रीष्ममें मृगशिरा नक्षत्र तपता है, मन भी मृगशिरा रूप ही है, क्योंकि मृग नाम इन्द्रियोंका है, तिनमें शिरा अर्थात् शिरमौर मन है, यथा— **"इन्द्रियाणां मनश्चास्मि"** (गीता० अ० १०) पुनः जैसे मृगशिरा तपनके पीछे जब सामान्यवृष्टि होती है, तो लोग धानका बीज (बेरनि) बोते हैं, तैसे ही यहाँ भी मन तपनेके पीछे कालकूट प्रसंग कहा

गया, तो उस प्रसंगसे जो कालकूटरूप आयुको अमृत बनानेवाली नामकी विरदरूप वृष्टि हुई तो सत्संगद्वारा जीव अपने २ स्वासमय आयुरूप बीजको बोने अर्थात् नामरटनमें लगाने लगे। यही आषाढ़ मासकी सामान्यवृष्टिवाली रघुपति भक्ति है, (यहाँसे इस दोहेका प्रसंग मिला) यह देखकर जापक तथा तद्रूप ग्रंथकारने भी तद्वत् बीज बोया । पुनः जैसे नवीन किसान पुरानोंसे विधि पूँछते हैं, तथा वे स्वयं भी बतलाते हैं वैसे ही इस जापककी लवलीन रटनवृत्ति देखकर और संतोंने कहा, कि खेती जैसे संक्रान्तिके अनुकूल होती है, और वह सूर्यके राशिबदलनेसे लगती है, तैसे ही इस परमार्थ खेतीके लिये सूर्यवत् ज्ञान है। लक्ष्य यथा–"**मोहनिसाप्रिय ज्ञान भानु गत ।**" (उ० दो० १२०) यह भी जीवकी अवस्थारूप राशिके अनुसार गुणप्रद होता है, अभी यह तुम्हारी रटन धानको बेरनिसम स्वयं बोकर जाना हुआ बिया सम है, जैसे वह बेरनि फलप्रद नहीं होती, तैसे स्वयंकृतभक्ति भी मोक्षप्रद नहीं होती. क्योंकि कर्तृत्वाभिमानादि बाधक रहते हैं । तथा जैसे अषाढमासकी मिथुनसंक्रान्ति बीतनेपर श्रावण प्रारंभमें जब कर्ककी संक्रान्ति लगती है, अर्थात् कर्कराशिके सूर्य होते हैं, तब घनी वृष्टिमें बेरनि उखाड कर पुनः रोपी जाती है। तो भादवँकी भी वृष्टि पाकर उस धानमें बड़ी२ बालियाँ फलती हैं। तैसे ही तुम्हारा ज्ञानरूप सूर्य भी अभी मैथुनी शरीरकी अवस्थारूप मिथुनराशिका है, इस अवस्थाके पुरुषार्थसे मोक्षरूप फल नहीं लगता, यथा–**श्रुतिः "नास्त्यकृतः कृतेन"** (मुंडक०) इसके अर्थ सहित यह प्रसंग ऊपर दो० १८ चौ० ८ टि० (४) में दिखा आये । कि गुरुके शरण होनेसे उनमें परंपराद्वारा आई हुई नाम व मंत्रसे भगवत्की गुरुत्वशक्ति मोक्षप्रद होती है । जैसे आषाढके अंतमें पूर्णमासीको सामान्यतः मिथुनकी संक्रान्ति भी पूरी होती है और कर्ककी लगती है, तैसे तुमको भी आषाढके अंतमें पूर्णमासीको गुरुपूनों तिथिसम शरणका सुअवसर मिले तो उसमें गुरुपूजन होता है, तुम भी पूजन करके शरणहो, तो वे तुम्हारी प्रथमकी मैथुनी अवस्थाको उखाडकर बेरनिकी तरह स्वयं रोपदें, अर्थात् मंत्रोपदेशसे दिव्यज्ञान दे नया जन्म करें, तब उस अवस्थासे मोक्षरूप फल लगेगा। जैसे सावनमें लगाया हुआ धान कर्कराशिके सूर्यसे पोषा जाता है, तैसे कर्क नाम दुःखका है, अर्थात् दुःखी होकर शरण होनेपर जो गुरुप्रदज्ञान रकारार्थसे प्राप्त होगा, वही कर्कवत् पोषक होगा । ऐसा जब यह जापक जाना तो उस जापकरूपमें ग्रंथकार अपनेको कहते हैं, कि–'**तुलसी सालि**' अर्थात् उपरोक्त विधान जानकर शरण हुए, तब बेरनिसे सालि (धान) हुए । अर्थात् जापक (तुलसी) को मंत्रोपदेश हुआ पुनः यह विधि है, कि जब आचार्य मंत्रोपदेश करे, तो पंचसंस्कारोंका अर्थ तथा न्यासादि विधि, यथायोग्य उपदेश करे, इस प्रकार दीन जापकपर जो गुरुसे विधिवत् रकारार्थरूप सावनके कर्क सूर्यवत् ज्ञान मिला, तब यह सुदास हुआ, भाव पहिले मनमुखी दास रहा, अब गुरुमुख होकर सुदास हुआ पुनः मकार जो भादौंमाससम है, वह जीव वाचक है और भादौंमें सिंहराशिके सूर्य होते हैं । तब अतिप्रचंड होते हैं, तैसे ही मकारार्थसे गुरुमहाराज जीवका स्वरूप बतलाये। तब इसका ज्ञान सिंहवत् प्रबल हुआ । जैसे सिंह अजा

अर्थात् बकरीको खा जाता है, तैसे ही इस वैष्णवका मकारजन्य आत्मज्ञान अजा अर्थात् मायाको खाजायगा। यहाँ मायासे उसके परिणामरूप आयुको जानना चाहिये जिसे पूर्व कालकूट कह आये थे वह आहार खाकर सिंह जैसे अतिप्रचंड होता है, तैसे यह जापक भी मकारार्थानुसार वृत्तिसहित आयु समाप्तकर निज रूपसे सिंहवत् सांतानिक वन (नित्यअवध) में विहरेगा, यही ज्ञान आगेकी आठो चौपाइयोंमें रा म के अर्थसे अवतारोंके रूपमें कहेंगे। तो रकारार्थसे जो ब्रह्मके नवस्वरूप कहे जायँगे। वही कर्कके सूर्य सम आयुरूप धानके पोषक होंगे, और तिनके संग२ जो मकारार्थमें नव संबंधानुसार जीव स्वरूप कहेंगे, उससे इसका ज्ञान सिंहवत् होगा। उन्हीं नवो संबंधोंकी पूर्तिमें अर्थात् **"रामनाम नरकेसरी"** के प्रसंगमें जापकको ज्ञानस्वरूप सिंहवत् स्पष्ट कहेंगे। और वहाँ ही सिंह और अजाकारूपक भी विधिवत् कहा जायगा। जैसे, गुरुमहाराज प्रथम मंत्रार्थसे ज्ञानोपदेशमात्र करते हैं तैसे इस संबंध (दोहे) भरमें केवल मंत्रार्थसे नव संबंधोद्धार मात्र कहेंगे। तथा शिष्य जो तदनुसार भजन करता है, तो वही ज्ञान साक्षात्कार होता है, वैसे इन नवोंसंबधोंसहित भजनसे सिंहवत् ज्ञानका साक्षात्कार होगा।

(९) पुनः जैसे राममंत्र सुननेसे प्रथम तुलसीकी '**कंठी**' धारण कराते हैं तैसे यहाँ 'सालि' से प्रथम 'तुलसी' शब्द देकर सूचित किये, कि तुलसी धारण करके तब सालि हुये। पुनः सु विशेषणसहित दासपद दिये। तथा 'सु' तो गुरुमुखता सूचक विशेषण हुआ, ऊपर कह भी आये, और 'सालि' नवीन दिव्य अवस्थाका सूचक भी दिखा आये। रहा प्रथमका 'तुलसी' शब्द जिसके एक अर्थमें कंठी कह आये, उसीके दूसरे अर्थसे आगेके 'दास' शब्दसहित '**तुलसीदास**' यह नाम संस्कार भी हुआ। शेष तिलक मुद्रादि आगेके तीसरे चौथे संबंधोंमें प्रकट दिखावेंगे। पुनः संस्कार करके जो आचार्य परंपरा आदि बतलाकर संप्रदायकी रीति मर्य्याद भी सिखाते हैं, वैसे यहाँ भी **"रामनाम वर वरन जुग"** से ग्रंथकारने संकेत किया है, कि वैष्णवोंमें भी श्रीरामनामवाले 'वर' अर्थात् श्रेष्ठ हैं, और यही वर शब्द देहलीदीप होनेसे 'वरन' के साथ भी है, तो वर्ण अर्थात् जाति व कुलके भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि यह वैष्णवधर्म सबसे अनादि है, यथा—पुरुषसूक्ते **"यज्ञेन यज्ञमयजंत देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्"** (यह वेद वाक्य महत् प्रमाण है) तथा प्रत्यक्ष भी है कि भक्तशिरोमणि प्रह्लादजी रामनामहीके जापक वैष्णव सतयुगसे प्रसिद्ध हैं। आगे **"सावन भादवँ मास"** से रहनि बतलाते हैं, कि सदा इन महीनोंकी वृष्टिकी भाँति इनके अर्थके उपरोक्त विचारसहित रटनकी झडी लगाये रहना। इसमें जो नामसंस्कार कहा गया, उसका प्रमाणसहित निरूपण पूर्वके अ० प्र० टि० (९) में कर आये। और कंठीका महत्त्व प्रमाणसहित इसी दोहेके अ० प्र० टि० (९) में आगे कहेंगे। पुनः यहाँ जो संकेतमें नाम व कंठी तथा रीति रहस्य दिखाई गई इसे क्लिष्टकल्पना आदि संशयोंमें न डालना चाहिये, क्योंकि जैसे मंत्रोद्धार सर्वत्र संकेतसे ही होता है, वैसे यह (कंठी-नाम) दो भी तो मंत्रके साथही गिने जाते हैं अतः परम गोप्य हैं, इसलिये ग्रंथकारने संकेतसे दिखाया और उन्हींकी कृपासे जाना भी गया॥

(६) ऊपर कालकूटप्रसंगमें जो आयुका अमृत होना कहा गया । वह यहाँ सद्गुरुशरण होनेसे परंपरासे आई हुई शिवजीसम अवस्था इसे भी मिली, कि इसके पूर्वकी आयुके कृतकर्म नाश हुए जिनके फलसे मृत्युका डर था । यथा–" **सन्मुख होइ जीव मोहिं जबहीं । जन्मकोटि अघ नासहिं तबहीं ॥** " (सुं० दो० ४३) यह श्रीमुख वचन है । पुनः जैसे शिवजी सदा हलाहलको भी कंठहीमें रक्खे हुए, कंठहीसे नाम भी रातोदिन जपा करते हैं । तैसे जापकभी गुरु प्रसादसे जाना, कि मृत्यु अर्थात् आयुरूप कालकूटको सदा कंठगत समझना चाहिये और उसे रातोदिन रामनामकी भट्टी पर चढाये रहना चाहिये, कि जिससे भस्म होता हुआ अमृत बनता जाय । क्योंकि न जाने किस स्वास पर मरें, तो धोखेमें यह आयु कालकूट (विष) का कुछ अंश कच्चा रह जायगा, तो मृत्युरूप चौरासीका देनेवाला होगा । इसी लिये कहा है, कि " **स्वास २ पर रामभजु वृथा स्वास जनि खोय । ना जाने यहि स्वासको आवन होय न होय ॥** " अतएव सावन भादौंकी वृष्टिसम निरन्तर रटना चाहिये । इन आयुके अंत तककी नियमावलीको आगे " **जीह जसोमति०** " के अर्थमें दिखावेंगे ।

संबंधनिर्णय ।

(७) पूर्वमंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपणमें बीजके प्रथमाक्षर रकारके ह्रस्वाकारसे–" **रक्ष्य–रक्षक** " संबंध कह आये । तिसका यहाँ साक्षात्कार दिखावेंगे । उसका यहाँ दोहार्थमें कारण प्रकट हुआ जैसे–" **अव–रक्षणे** " इस धात्वर्थसे अकारका रक्षकत्व प्रकट होता है । तथा और भी प्रमाण यथा–" **तत्र प्रथमपदेन रकारेण० सर्वरक्षकः०** " (रहस्यत्रये) यह बात सर्वरक्षकत्वका ऊपर रघुपति शब्दके भावार्थ टि० (१)–(क) में दिखा आये । इसीका विस्तार आगे इस प्रसंगभरमें करेंगे । जैसे भगवत् रक्षार्थ दशोअवतार धारण करते हैं वैसेही नामके भी दशअवतार (तात्पर्यार्थमें) इस संबंधमें दिखावेंगे । जैसे पूर्व पितापुत्र सं० के प्रकाशक श्रीरामजीको उसके संबंधनिर्णय प्रसंगमें दिखा आये वैसे इस संबंधके प्रकाश करनेवाली श्रीजानकीजी हैं । क्योंकि आपने अपने प्रतिबिंबरूपसे लंकामें जाकर यहाँ की ' रक्ष्य ' अर्थात् रक्षा करनेके योग्य अवस्थाका जीवोंको ज्ञान कराया है । इसे विस्तारपूर्वक आगे बा० दो० २७ चौ० १ में दिखावेंगे । यहाँसे रक्ष्य–रक्षक संबंध प्रारंभ हुआ ।

मूल (चौ०)

आखर मधुर मनोहर दोऊ । बरन बिलोचन जन जिय जोऊ ॥ १ ॥

टीका–दोनों अक्षर (उच्चारणमें) मधुर और मनोहर हैं, दोनों वर्ण नेत्र हैं, इनसे हे जनों ! आत्मस्वरूप देखो ॥ १ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "**आखर०**" का भाव यह कि ऊपर जो सावन भादौंकी झड़ीसम रटना कह आये ऐसे रटनेवाले जापकोंको मधुर लगते हैं, और तभी परिज्ञानद्वारा मन भी हरते हैं ।

क्योंकि शब्द रटनेसे उसका आशय हृदयस्थ हो जाता है । यही स्पष्ट करनेके लिये आगे ' दोऊ वरन विलोचन ' कहा है, (यहाँ दोऊ शब्द देहलीदीपक है) अर्थात् जैसे और लोगोंके ज्ञान विराग नेत्र होते हैं, यथा–"**ज्ञान विराग नयन उरगारी।** "(उ०दो०११९) वैसे ही जनोंके ये दोनों वर्ण हैं, अर्थात् रकार अपने अर्थसे एक अनीहादि नवगुणयुक्त ब्रह्मका ' **ज्ञान** ' कराते हैं। और मकार अपने अर्थसे पूर्वोक्त नवोआवरणकी विषयासक्ति निवारणकर ' **वैराग्य** ' कराते हैं साथ ही साथ ब्रह्मके संग जीवके नवों सवंधोंको दृढाकर प्रीति उपजाते हैं, क्योंकि ये जीव वाचक हैं। इससे जीवके नवो आवरणके वैराग्यमें इन्द्रिय व अंतःकरणोंसे मनकी विषयवृत्ति निरोध होती है, इस भाँति मनके हरनेसे इनमें '**मनोहरता** ' है, पुनः जो प्रीति उपजेगी, तो उसका ही उमंग प्रेम होता है। यथा–"**प्रीति उमंग सो प्रेम है, बिह्वल दृष्टी सोय ॥** " तब जो प्रेमसहित नवोसंवंधोंके विचारपूर्वक नाम रटेगा, जिन्हें दोनों अक्षरोंसे ही प्रकट होना इसी दोहे भरमें विस्तारसे दिखावेंगे तो इसे ' **मधुरता** ' का स्वाद मिलेगा । और तभी ' **जन जिय जोऊ** ' का तात्पर्य जो आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करना है, प्राप्त होगा। जिसे ऊपर "**वरषारितु०**" के अर्थमें सिंहवत् ज्ञानस्व-रूपता कह आये। इसी प्रकार विचारसहित साक्षात् करके पूर्वजोंने कहा है।

(कं) यथा–" **रामप्रेम पथ पेखिये, दिये विषय तन पीठि । तुलसी केंचुरि परिहरे, होति साँपहू डीठि ॥ तुलसी जबलगि जगतकी, मुधा माधुरी मीठि। तौ लौं सुधा सहस्र सम, रामभगति सुठि सीठि ॥** " (दोहा ८२–८३) तथा और भी यथा–"**हे जिह्वे मधुरप्रिये सुमधुरं श्रीरामनामात्मकं पीयूषं पिव प्रेमभक्तिमनसा हित्वा विवादानलम् ॥** " (इति मधुरता) " **जन्मव्याधिकषाय-कामशमनं रम्यातिरम्यं परं श्रीगौरीशप्रियं सदैव सुभगं सर्वेश्वरं सौख्यदम्**" ॥ (सनत्कुमार सं०) (इसमें रमणीकतासे मनोहरता भी है) तथा–"**कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम ॥** " (वाल्मी० लवकुशकृत मंगलाचरणम्) तथा–"**ताहीको सूझत सदा, दशरथ राजकुमार । चश्मा जाके दृगनमें लग्यो रकार मकार ॥** " (श्रीस्वामीयुगलानन्यशरणजीकृत)।

(खं) और ' **जन जिय जोऊ** ' में यह भी भाव है, कि यह लाभ जनोंके ही भाग्यमें है, औरोंको दुर्लभ है ।

(२) पूर्व जो कालकूटको अमृत होना कहे थे, वह ऊपरके दोहेमें सद्गुरुके शरण होकर आयु (कालकूट) समर्पण करते ही अमृत हुआ, क्योंकि अमृतमें स्वाद और संतोष दो गुण प्रधानरूपसे सुखद होते हैं। यथा–"**स्वाद तोष सम सुगति सुधाके ।**" (आगे छठी चौ०) वह यहाँ मधुर लगनेमें स्वाद तथा मनोहरतामें संतोष प्रकट हुआ क्योंकि विना संतोष विषयोंसे मन नहीं हर सकते और आयु स्वासापर नियत है, क्योंकि स्वास निकल जानेसे मृत्यु होती है, वह नामके संग मधुर होगई । इससे जो प्रथम वैषयिक शब्दोच्चारणके साथ २

तदर्थभूत विषयोंकी इच्छामें कामाग्निसे इन्द्रियदेवता जलते थे, वे बचे तथा अत्र भी सदा नामोच्चारणसमेत इस आयु विषको फूंकते हुए भस्म सेवन करता रहे, जिससे शेषआयु भी अमृत होकर नित्य अमरत्वका लाभ करावे जैसे शिवजी सदा जपते हैं। इस प्रकार यहाँ कालकूटका अमृत हुआ ॥

मूल (चौ०)

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोकलाहु परलोकनिबाहू ॥२॥

टीका—सुमिरतेही सबको सुलभ और सुखदेते हैं, लोकमें लाभ तथा परलोकमें निर्वाह करते हैं २

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "**सुमिरतसुलभ**" का भाव यह कि यम नियमादि साधन विनाही, उच्चारणमात्रमें अर्थात् मुख खोलनेमें रा और बंद करनेमें म इस भाँति बच्चे बूढ़े पढे अनपढ़े सबसे बन जाते हैं। तथा सुलभसे यह भी प्रतीत होता है, कि सम्यक् लाभ सुष्ठुता पूर्वक प्राप्त होते हैं। यथा—"**तुलसी सुमिरत राम सुलभ फलचारि।**" (बरवा रा०) "**काको नाम धोखेहूँ सुमिरत पातकपुंज नसाने॥**" (वि० २३७)।

(क) "**सुखद सब काहू**" का भाव यह कि स्त्री शूद्रादि वेदके अनधिकारियोंको भी सुलभ होकर एक रस सुख देते हैं, और अविधिमें हानि नहीं करते। यथा—"**नीचहूँको ऊँचहूँको रंकहूँको रायहूँको सुलभ सुखद आपनो सो घरहै।**" (वि० २५६)

(ख) "**लोक लाहु परलोक निबाहू।**" का भाव यह कि इस लोकमें सुखसे रखते हैं, और परलोकमें भी नित्यधाम (साकेत) प्राप्त कराते हैं। यथा—"**रोटी लूगा नीके राखै, आगेहूँको वेद भाखै, भलो होइहै तेरो०**" (वि० ७७) "**स्वारथ औ परमारथहूँको नहिं कुंजरो नरो।**" (वि० २२७) "**कामतरु रामनाम जोई २ माँगि है, तुलसीदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै॥**" (वि० ७१)

(२) अथवा—यहाँ ऊपरसे दो वर्णोंकी मैत्री आती है, तदनुसार सुमिरते ही मकार अपने अर्थप्रकाशसे नवोसंबंधानुसार क्रमशः जीवको अवस्था लाभ कराकर ब्रह्मके साधर्म्य गुणोंका लाभ कराते हैं, यह इसी दोहेभरमें दिखावेंगे। (इति सुलभता) और रकार ब्रह्मवाचक हैं, अपने ब्रह्मरूपसे नवोसंबंधों द्वारा रक्षा करते हुए सुखदेते हैं। (इतिसुखद) पुनः मकार वैराग्य कराकर लोकमें तथा रकार ज्ञान कराके परलोकमें रक्षा करते हैं, (इन दोनों वर्णोंका ज्ञान विराग दातृत्व नवोसंबंधोंद्वारा जानना चाहिये) ॥

मूल (चौ०)

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लषन सम प्रिय तुलसीके३॥

टीका—कहने सुनने तथा सुमिरनेमें बहुत ही अच्छे हैं और मुझ तुलसीदासके तो श्रीराम लक्ष्मण सम प्यारे हैं॥ ३॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**कहत सुनत०** ' का भाव यह कि नामका अर्थ परत्व स्वयं कहना अथवा जिज्ञासा हेतु प्रश्नरूपमें कहना ' अच्छा ' तथा तत्त्वज्ञ नामानुरागियोंसे सुनना और भी अच्छा और इसी भाँति सत्संगद्वारा नामार्थ तथा महत्वविचारसहित नामका सुमिरना बहुत ही अच्छा है ॥

(२) यहाँ विचारपूर्वक सुमिरना कहनेका अभिप्राय यह है, कि अब यहाँसे इस (रक्ष्य-रक्षक) संबंधका कार्य दिखावेंगे । जो पूर्व दो० १९ टि. (७) में रक्षार्थ नामके दश अवतारोंका होना कह आये थे । रक्षार्थ अवतारोंका होना यथा–" **असुर मारि थापहिं सुरन, राखहिं निज श्रुतिसेतु ।** " (बा० दो० १२१) तथा–" **प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।** " (गीता. अ० ४) इस भगवद्वाक्यमें ' प्रकृतिं ' का अर्थ प्रजारूपसे जीव मात्रका है, प्रमाण–' **प्रकृतिप्रियकाम्यया** ' (वाल्मी० मूलरा० ३६) अर्थात् अपनी प्रजारूप जीवमात्रके लिये अपनी माया (कृपा) से जन्म लेताहूँ । यहाँ मायासे कृपा ही का अर्थ है, यथा–' **माया दंभे कृपायां च** ' और कृपाका रक्षाकरना ही तात्पर्य है । यथा–" **रक्षणे सर्वभूतानमहमेव परो विभुः । इति समार्थ्यसंधाना कृपा सा पारमेश्वरी ॥** " (भगवद्गुणदर्पणे) वही अभिप्राय इस संबंधके मूलाक्षर ' **अव–रक्षणे** ' धातुसे अकारका है । जैसे परवासुदेवसे सब अवतार होते हैं, वैसे ही यहाँ नामके अद्वितियरूप मंत्रराजके इस अकारसे क्योंकि अकार वासुदेव वाचक है, यथा–' **अकारो वासुदेवः स्यात** ' (इति एकाक्षर कोशे) नामके गुण नामीमें और नामीके गुण नाममें होते हैं, इसीसे तो समान कहाते हैं । यथा–' **समुझत सरिस नाम अरु नामी ।** ' (बा० दो० २०) नाममें अवतार कहनेका प्रयोजन यह कि जैसे २ क्रमसे, जिन २ कारणोंसे तथा जो २ कार्य करनेके लिये दशो अवतार होते हैं, जापकके हृदयरूप ब्रह्माण्डमें वही २ क्रम, उन्हीं २ कारणोंसे तथा वही २ कार्य नामसे होनेवाले नवोंसंबंधोंके उद्धारमें दिखावेंगे । अर्थात् प्रथमसे नवाँअवतार पर्यंत इस संबंधके भीतर और दशवाँ भविष्यका कल्कीअवतार यहाँके नवेंके ही आधार पर आगे (भविष्य) के दो० २० में जो तटस्थ ही है, कहेंगे ।

शंका–आगे तो दो अक्षरों (रा म) के अवतार क्रमशः कहेंगे, तो केवल अकार हीसे क्यों कहा जाता है ? **समाधान**–यह अकार बीजके प्रथमाक्षर रकारका है, उससे तो ' **रश्च रामेऽनिले वह्नौ** ' से ' राम ' यह होना दिखा आये ॥

(३) वे दश अवतार ये हैं, यथा–" **मीन कमठ सूकर नरहरी । बामन परसुराम बपु धरी ॥** " (लं० दो० १०९) ये क्रमसे छः हैं और श्रीराम श्रीकृष्ण तथा बौद्धसहित नव पूर्वके हुए । (इन्हींके गुणोंको नवोंसंबंधोंके साथ कहेंगे) और दशवाँ कल्की अवतार है । तिनमेंसे प्रथमका मीन अवतार इस चौपाईके उत्तरार्द्धमें प्रथमके ' पिता-पुत्र ' संबंधोद्धारके संग आगे कहेंगे ।

(अनुसंधानार्थ)

अथ संबंधोद्धार।

(३) यथा–'**राम लषन सम प्रिय तुलसी के।**' लक्ष्य–यथा–"**राम नाम दुइ आखर हियहितु जानु। राम लखन सम तुलसी सिखवन आनु॥**" (बरवा. रा०) मूल वाक्यका भाव यह कि जैसे श्रीराम लक्ष्मण प्रिय है, तो हम उनके गुण चरित्र कहते विचारते है। वैसे ही रा और म के भी गुण विचारसहित भजन किया। 'तुलसीके' का और भी आशय दोहेके बीचकी चौपाईमें देनेसे यह है, कि हम तो भाँगसम रहे, इसी विचारके आधार पर नाम जपकर तुलसी भये। यह तुलसी होना पूर्व दो० १९ के अर्थका है, जो 'तुलसीदास' यह नामसंस्कार प्राप्त होना दिखा आये। वहाँ तुलसीसंबंधी नाममात्र प्राप्त किये। आगे अ० दो० २६ में '**जो सुमिरत भव भाँगते, तुलसी तुलसीदास॥**' के प्रसंगमें सम्यक् प्रकारके गुणोंसहित तुलसीसम होना दिखावेंगे। इसी (**रामलषन०**) लक्ष्य पर पूर्वोक्त पिता-पुत्रसं० है, वहीं पर (दो० १८ चौ० २ टि० (६) में) दिखा आये, वहीं देखो। उसीकी पूर्तिपर दो० १९में फलरूप नाम संस्कार (तुलसीदास) भी दिखा आये तथा यहाँके शब्दोंमें जो कुछ लक्ष्य विशेष है, वह भी दिखाते हैं, कि रा ब्रह्म रूप श्रीरामजीका वाचक है, उसे श्रीरामजीसम और मकार जो जीव वाचक है, उसे जीवरूप श्रीलक्ष्मणजीसम प्रिय कहा है, इसमें जो पिता पुत्र सं० का सर्वाङ्ग है, तदनुसार जापकरूप तुलसीने जीवरूप मकार अनुसार अपना रूप (स्थिति) श्रीलक्ष्मण सम समझा और रा से ब्रह्मके गुण श्रीरामजीमें अनुसंधान किया और अतिप्रिय दोनों वर्णोंको सुमिरने लगे। तब जैसे श्रीलक्ष्मणजीके निमित्त श्रीरामजी वन पधारे। यथा–"**तुम्हरेहि भाग राम वन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥**" (अ० दो० ७४) तैसेही स्वेच्छासे नाम भी जापक (तुलसी) के हृदयमें आनेको प्रस्तुत हुए। यह–'**जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न**' के अर्थमें विचारना। पुनः जैसे लक्ष्मणजीने माता पिता गुरु स्वामी श्रीरामजीको निश्चय दिखाकर ऋणत्रयसंपन्न संसार संबंध छोडा, वैसे २ जापकका भी छूटा, पुनः जैसे लक्ष्मणजी श्रीरामजीका संग पाये, वैसे इसे दो० १९ में नाम व मंत्रसंस्कारादि प्राप्त हुए, पुनः जैसे श्रीरामजी सेवा करा २ कर कृतार्थ करते हुए चौदहवर्ष वनमें फिरे तैसे इस संबंधमें, यहाँसे लेके पाँचवें संबंधोद्धारतक १० इन्द्रियोंकी और आगेके चार संबंधोद्धारसे मन तथा तीनों अंतःकरणोंकी विषय ईहा (चेष्टा) छूटकर कृतार्थ होना आगे इसी संबंधमें नामसे जापकको भी दिखावेंगे। यहाँ जापकको इस लक्ष्यसे श्रीलक्ष्मणजीके घर छोडने तकका ही प्रयोजन है। **शंका**–लक्ष्यसहित जपनेसे रूपके गुण जापकको नामसे कैसे प्राप्त होते हैं? **समाधान**–जैसे चोरी खोलनेकी विद्यामें निपुण कोई ज्योतिषीका नाम जहाँतक ख्यात हो, तो चोरी करते समय जो कोई उस ज्योतिषीका नाम लेकर उसमें अपना ज्ञातृत्व प्रकट करे तो चोर डरकर भाग जाते हैं। जैसे वहाँ

ज्योतिषी अपने रूपसे एक स्थानमें रहता है और उसका नाम उसके गुणसहित अनंतरूपसे अनेकों ठौर उसका कार्य करता है । वैसे ही रूपके गुण नाम द्वारा जापकको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार यहाँ इस **'पिता–पुत्र सं०'** का उद्धार हुआ. इसका साक्षात्कार पूर्वही ऊपरके दोहा भरमें होगया । इसीलिये 'तुलसीके' इस वाक्यमें भूतकालका अपना तुलसी होना सूचित किये आगेके आठ संबंधोंका उद्धार इसी दोहेमें और साक्षात्कार आगेके प्रत्येक दोहोंमें दिखावेंगे । यह (रक्ष्य–रक्षक) संबंधभर जापकको 'अनीह' गुण प्रापक है । (आगेकी चौपाईमें दिखावेंगे) तिनमें यह संबंध **"नासिकाकी ईहा"** अर्थात् लोकवासना (गंधचेष्टा) छुडानेका है । यद्यपि यह कार्य पूर्व ही हो चुका. (पिता–पुत्र सं० के संबंधसारांशमें देखो) तथापि यहाँ क्रमसे नवो लक्ष्य दिखाना रहा, इससे लिखा गया । तथा अवतार अकारहीसे होना दिखा आये, उसका प्रकरण इस दोहेभरमें है, अतएव सब अवतारोंका मूल इसमें ही दिखाते हुए इसे भी यहाँ लिखे, क्योंकि इसीमें आगे टि० (४) में पहिला (मीन) अवतार भी दिखावेंगे । शेष आठ प्रकारकी रसादिईहा (चेष्टा) आगेके प्रत्येक संबंधोद्धारमें दिखावेंगे ॥

(तात्पर्यार्थ)

अथ नाममें मीनावतारका लक्ष्य ।

(४) यह अवतार यहाँके (राम लषन सम प्रिय तुलसीके) लक्ष्य पर जो पूर्व पिता–पुत्र संबंधका साक्षात्कार दिखा आये, उसके अ० प्र० नं० १ टि० (३) में साक्षात्काररूपमें दिखा आये । वहीं पर देखना चाहिये ॥

अथ नाममें साधनचतुष्टय प्रसंग ।

(५) यथा–**"साधनचतुष्टयसम्पन्नाधिकारिणां मोक्षसाधनम् । साधनचतुष्टयं किम् ? नित्यानित्यवस्तुविवेकः इहामुत्रार्थफलभोगविरागः शमदमादि षट्संपत्तिः मुमुक्षुत्वं चेति ।"** (तत्त्वबोध प्रकरणे) अर्थात् अपरोक्षज्ञान साधनके वे अधिकारी हैं, जो इन साधनोंको किये हों इन्हें क्रमसे लिखते हैं, यथा–मुमुक्षुता, शम, दम, उपरम, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान, ऐहिकामुष्मिक फलभोग विराग, सदसद्वस्तु विवेक, उपरोक्त चार ही इन भेदोंसे नवप्रकारके हैं । इनका प्रयोजन यह है, कि पूर्व जो जीवके नवआवरण दिखा आये, तिनके विषयोंसे जीवके इन्द्रिय और अंतःकरणोंमें अनीहता होजाय तो कटिबद्ध होकर जिससे ज्ञानके कठिनसाधनोंसे मुँह न मोडे और इसमेंके विवेकादिमें जो कोई आत्मज्ञानका साक्षात्कारादि विचार करें, तो सिद्ध पदार्थके साधनकी अपेक्षा ही क्योंकर होसकती है, और यहाँ तो इसे करके तब ज्ञान साधन कहा गया है, अतएव पूर्वोक्त ही ठीक है । यहाँके नवो संबंधोंके उद्धारके साथही साथ इनका अनायास ही आना दिखाते चलेंगे । इन्हें यहाँ दिखानेका कारण यह है, कि इस संबंधके आगे बा० दो० २० से आत्मज्ञानका साधन शेष–शेषी संबंधसे प्रारंभ होगा । तो उसके प्रथम इन नवोंका भी होजाना योग्य है । तिनमेंसे पहिला साधन **'मुमुक्षुता'** यहाँ

(इस चौ० में) दिखाते हैं। मुमुक्षुताका अर्थ यह है कि, हमारी मुक्ति निश्चय होगी, यह दृढता होजाय । वह इस ("राम लखन सम० ") लक्ष्यसे पूर्ण दृढता हुई, तभी तो लोकवासना छूटी, टि० (२) में देखो ।

मूल (चौ०)

बरनत बरन प्रीति बिलगाती । ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती ॥४॥

टीका—वर्णोंके वर्णन करनेमें प्रीति (मित्रता) बिलगाती (भिन्न २ देख पडती) है, (किंतु ये) ब्रह्म और जीव सम सहज (सदाके) सँघाती (साथी) है ॥ ४ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) " बरनत० " का भाव यह कि (१) ' रा ' ऊष्मान है, ' म ' स्पर्श है। (२) ' र ' यवर्ग है, ' म ' पवर्ग है (३) ' र ' ताल संबंधी है ' म ' ओष्ठसंबंधी है। अर्थात् इनके वर्णनमात्रमें तो न प्रीति है न संग है, किंतु जो पूर्व चौ० ३ में ' सुमिरत सुठि नीके ' से विचारसहित स्मरण कह आये, तदनुसार इन दोनों वर्णोंके अर्थ विचार करनेसे जैसे ब्रह्म और जीवका वहिरंगदृष्टिसे देखनेमें प्रीति और संग नहींसा जान पडता है और अंतरंग विचारसे सदाके संगी है, तैसे इनमें संग और प्रीति दोनों है । जैसे ' राम ' यह वर्णनमें परावाणीसे दोनों वर्ण स्फुरित होते हैं, जिसका नाभीमें स्थान है । वाणी यथा—" **नाभिहृत्कंठ-जिह्वोत्थाश्चतस्रः क्रमतो गिरः । परा तथा च पश्यन्ती मध्यमा वैखरी च ताः ॥ श्रीसीतारामयोस्तत्त्वं वर्णनं सा परा भवेत् ।** " (जिज्ञासापंचके) पुनः वैखरीवाणीमें वर्णन करनेमें ' रा ' कहनेमें मुखखोलकर श्वास बाहर निकलती है, तो मानो ' रा ' वर्ण ' म ' को बाहर निकाल दिया और वही श्वास मकारसहित, आते हुए मुख बंद होता है, तब म वर्ण स्पष्ट होता है; तो जान पडता है, कि रकार फाटक बंद कर लिया, मकारको अपने पास आने नहीं देता । ऐसेही सृष्टिविस्तार करनेसे मालूम होता है. कि ब्रह्म निर्दयी है, क्योंकि माया रचकर जीवोंको पृथक् करके दुःख देता है । जीव तो उसकी प्राप्ति चाहतेही हैं, किंतु वही नहीं ग्रहण करता, जैसे उपरोक्त रकार मकारको । किंतु नहीं, नहीं, यह वहिरंग-दृष्टि भ्रम है, ब्रह्म और जीव सदाके संगी (सँघाती) हैं । उपरोक्त ' **सुमिरत सुठि नीके** ' का अनुसरण करना चाहिये ।

(अनुसंधानार्थ)

सुमिरनेके लिये अर्थ यथा—" **ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती** ।" यह कोई दृष्टांत नहीं किन्तु यथार्थ है, क्योंकि ' रा ' का अर्थ ब्रह्म है, और ' म ' का जीव, यथा—" **रकारार्थो रामः सगुणपरमैश्वर्यजलधिः । मकारार्थो जीवः सकलविधिकैङ्कर्यनिपुणः ॥** " (श्रीराममंत्रार्थे) अब इन दोनों (ब्रह्म-जीव) का संग और प्रीति दिखाते हैं, वही रकार मकारके भी संग और प्रीतिका अर्थ होगा। अर्थात् ब्रह्मके गुणोंको रकारका और

जीवमें मकारका स्वरूप जानना चाहिये। प्रथम प्रीति यथा-"**सुनहुँ नाथ कह मुदित विदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥**" (बा० दो० २१६) अर्थात् जीवमें ब्रह्मका स्नेह है, इसीसे ब्रह्मांड रचकर जीवोंको तिनके संचित कर्मानुसार मायावश करके वियोगद्वारा अपने विषे जो इनका सहज स्नेह है, उसे पीन (पुष्ट) करता है। यथा-"**प्रीतमविरह तो सनेहसरबसु सुत अवसरको चूकिबो सरिस न हानि।**" (गी० सुं० ७) (यह श्रीहनुमानजीके प्रति श्रीजानकीजीका वचन है) जैसे माता बालकको घूँटी आदि पाचक दवा खिलाकर उसकी भूंख वढाकर पुनः दूध पिलाके सुख देती है। यद्यपि बालकको दवा पीनेमें कुछ देर पेटमें जलन आदिका दुःख भी होता है, पर पीछे बडा सुख होता है। ऐसे ही जीवोंको जब यहाँ (जगत्में) स्नेहरूपी भूँख वढती है, तब पुनः प्राप्तिके सुखके आगे यह दुःख (कोटिनकल्प योनियोंमें फिरनेका) घडी दो घडीका श्रमसा मालूम होता है। यथा-"**भ्रमत मोहिं ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कलपसत एका॥**" (उ० दो० ८१) पुनः कागजी इन्हीं सैकडों कल्पोंके दुःखोंको कहते हैं, कि-"**उभयघरी मँह मैं सब देषा। भयउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा॥ देखि कृपालु विकल मोंहि, बिहँसे तब रघुवीर। बिहँसतही मुखबाहर, आयउँ सुनु मतिधीर॥**" (उ० दो० ८१-८२) इस प्रसंगमें पूर्व बिहँसनेहीसे माया व्यापी भी थी, यथा-"**बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।**" (उ० दो० ७८) श्रीरामजीकी हास ही माया है, पुनः जब कागजी व्याकुल हुए जैसे जीव स्नेहवृद्धिमें होता है, तो स्वयं हास अर्थात् माया (कृपा) से निकालकर नित्यके लिये अत्यन्त सुखी किये यही सहजस्नेह है, यहाँतक ब्रह्मजीव (रा. म) की सदाकी प्रीति दिखाई गई॥

(कं) "**सहज सँघाती**" यथा-"**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति॥**" (गीता अ० १५) यहाँ अंशका अर्थ भाग व हिस्साका है, अर्थात् जो जिसके वास्ते होता है, वह उसका अंश या हिस्सा कहाता है, जैसे पिताका अंश पुत्र पिताके वास्ते होता है, वैसे ही भगवत् यहाँ जीवोंके तईं कहते हैं, कि ये सब हमारे ही वास्ते हैं, किंतु जीवभूतः अर्थात् शरीररूप होकर पाँच ज्ञानेन्द्रियों सहित छठे मनके साथ २ प्रकृतिमंडलमें खींचे २ फिरते हैं। इसका कारण यह है, कि अपने शेषी अर्थात् धनीको भूल गये। इस कारण करुणानिधिने वेद प्रकट किया, कि जिससे इसकी वाक्योंसे जाने। तब वेदने दिखाया यथा-"**तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा॥ एक[1] अनीह[2] अरूप[3] अनामा[4]। अज[5] सच्चिदानंद[6] परधामा[7]॥ व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरितकृत नाना॥**" (बा० दो० १२) अर्थात् भजनका प्रभाव प्रकट करनेहीके कारण वेदने एक ही ब्रह्मको उपरोक्त नवविशेषणोंसे कहा है। पुनः जब वाक्यसे अर्थात् इन नवविशेषणोंसे जीव न समझ सके, तो स्वयं ही (ब्रह्म श्रीरामजी) व्यापकादि पाँचरूपोंसे दिखाया। इन पाँचोंको पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (कं) में विस्तारसे दिखा

आये। तिनमें व्यापकरूपसे जैसे अपने उपरोक्त नवो गुण दिखाये, वह कहतेहैं, क्योंकि यहाँ ब्रह्म जीवके संघातका प्रसंग है, और ब्रह्म तो प्रधानरूपमें व्यापकरूप भगवत्को ही कहते हैं, यथा— **"ब्रह्म रामतें नाम बड"** (बा० दो० २९) (इसमें ब्रह्म शब्दसे व्यापक ही को कहा हैं)

(खं) व्यापक ब्रह्म यथा—श्रुतिः**"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यऽनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनिशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥"** (श्वे० ४ । ६—७) अर्थ—ईश्वर और जीव दोनों सखा हैं, दोनों पक्षीसम सदा एकसमान, शरीररूप वृक्षमें रहते हैं, उनमेंसे एक (जीव) शरीरके शुभाशुभ कर्मरूप फलोंको स्वाद मानकर भोगता है। दूसरा (ईश्वर) विना खाये हुए प्रकाश करता है। कुछ शब्दोंके भाव—*'सखा' यथा—सहायं ख्यातीति सखा तथा—समानं ख्यातीति सखा,* अर्थात् ब्रह्म सहायक सखा है और जीव सच्चिदानंद स्वरूपतादिमें समान सखा है। **'पिप्पलं'** का भाव यह कि जैसे पीपल वृक्षोंमें श्रेष्ठ है, यथा—**" अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां "** (गीता. अ० १०) वैसे ही यह कर्मक्षेत्र मनुष्यदेह श्रेष्ठ है, जैसे उसके फल पक्षियोंके खाकर वीट करनेसे उसके वृक्षकी उत्पत्ति होती है, यद्यपि उसकी उगनेकी शक्ति पक्षियोंकी जठराग्निसे भुन गई रहती है, तो भी दैवयोगसे ही उगता है। वैसेही चौरासीमें फिरते २ जीवोंके प्राचीनकर्म भोगते २ भुनसे जाते हैं। इस उत्तमदेह योग्य नहीं रहते, यह भी दैवयोगसे मिलता है। यथा— **"कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस विनुहेतुसनेही ॥"** (उ० दो० ४३) जैसे पीपल पवित्र तैसे यह भी, यथा—**"नरसमान नाहिं कवनिहुँ देही।"** (उ० दो० ४३) क्योंकि इसीके साधनसे मोक्ष भी मिलता है। इसी गुणसे इसकी प्रशंसा है। यथा—**"मनुज देह सुर साधु सराहत सो सनेह सियपीके ॥"** (वि० १७६) नहीं तो महाअधम है, यथा—**"पंचरचित यह अधम सरीरा।"** (कि० दो० ११) क्योंकि जैसे पीपल वीटसे उत्पन्न होता है, तैसे यह भी मूत्रसे, ऐसे २ अधम शरीरोंमें भी वह ब्रह्म संग नहीं छोडता, यथा—**"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"**(उपरोक्त) अर्थात् वह निर्हेतु रक्षार्थ ही प्रकाश करता है, उसीकी प्रकाश शक्तिसे जीव सब अभीष्ट पाता है। यथा—**" तू निज कर्म जाल जहँ घेरो श्रीहरि संग तज्यो नाहिं तेरो। "** (वि० १३७) इस प्रकार यहाँ संघातीपना प्रकट हुआ, तथा ईश्वरके सहायकपनेका सख्यत्व भी दिखाया गया। पुनः **समानेति** अर्थात् दोनों समान रूपसे शरीररूप वृक्षमें रहते हैं। तथा पुरुष जो जीव वह निमग्न होकर अनीशता अर्थात् असमर्थताके कारण मोहको प्राप्त हो शोचता रहता है, जब अपने सहायकसखा समर्थको देखे, तो उसकी महिमाको जानकर शोकरहित हो। भावार्थ—**'महिमानमिति'** अर्थात् ऊपरकी श्रुतिमें जो स्वादराहित्य महिमा कही गई, कि जिस प्रभावसे वह पूर्वके वेदोक्त 'एक अनीहादि' नवगुणोंसहित एकरस रहता है, उसे जाने (इस जाननेमें धारणका तात्पर्य है)।

(गं) अब उपरोक्त एक अनीहादि ब्रह्मके गुणोंकी प्रकाशक - प्रधान श्रुतिसे जीवोंके रक्ष्य

और ब्रह्मके रक्षक स्वरूपसे सहजसंघात दिखाते हैं। यथा–"**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च**"**इति** (श्वेता० ६–११) अर्थात् निर्गुण जो गुणासक्त नहीं, अर्थात् निजप्रकाशसे (गुणोंसे) भये हुए कर्मफलोंका भोक्ता नहीं है, वह '**एको देवः**' अर्थात् एकही देव (प्रकाशक) रूपसे, '**सर्वभूतेषु गूढः**' अर्थात् सब जीवोंमें गुप्तरूपसे रहता है, यह वाक्य पूर्वोक्त 'पिता-पुत्र सं०' का पोषक है, कि जो एक ही ब्रह्मको माता पितादि संबंधों तथा काल कर्मादिद्वारा प्रकाशक वहाँके अ० प्र० नं० १ टि० (८) में साधर्म्यके 'एक' गुण पर कहा है तथा यह व्यापक अपनेको 'एक' यों भी दिखाता है, कि जब जन्मसे जीवकी वासना माता पिता भ्रातादि तथा कुटुंब और गाँवके लोगोंमें वा अन्यत्र भी बढती रहती है तब भी इसकी इच्छा विना ही वही व्यापक काल जानकर इसे इन अनेकों (कुटुंबों) मेंसे बरबस मृत्यु द्वारा पृथक् करके प्रकट करता है, कि हम भी तो तुम्हारे संग इस शरीररूप वृक्षपर रहे, पर तुम इस प्रथमअवस्थाकी अनेकत्ववासनासे बद्ध हुए और हम इसके स्वादको नहीं ग्रहण करते, इसीसे स्वतंत्र और सुखी हैं, क्योंकि यदि हम भी स्वादके भोक्ता होते, तो तुम्हारी तरह हमें भी ये (कुटुंबादि) प्रिय लगते। तथा हम तुम्हें अपना अंश जानकर इन अबंधुवोंसे ले जाते हैं, इस प्रकार रकारवाच्य ब्रह्मने अपना 'एक' (निर्लेप) गुण दिखाकर इसे भी '**एक**' होना सिखाया, यही उसकी महिमाका ज्ञान है, कि जब उसका और हमारा रूप समान है, तो दुःखद भेद अपनेकत्व है, नहीं तो वैसे ही सुखी जीव भी रहे। इस गुणसे वह जीवका '**गंधविषय**' अर्थात् अनेकों प्राकृत संबंधियोंसहित सुखवासना छुडानेसे रक्षक हुआ॥

(घं) तथा '**सर्वव्यापी**' अर्थात् जो जलमें रस (स्वाद) तथा पृथ्वीमें गंध, सूर्य चन्द्रमामें प्रभा और अग्निमें तेजआदिरूपसे जीवमात्रको तिनकी अनेकों चेष्टानुसार सुखद होता है। यथा–"**रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।**" (गीता. अ० ७) यहाँ (गीतामें) प्रथम रससे व्यापकत्व कहनेका भाव यह कि रस ग्रहण करनेकी इन्द्रिय रसना ही सब इन्द्रियोंको रसद्वारा पोषती हुई तिनको विषयास्वादनका सामर्थ्य देती है। इसीसे ऊपर 'द्वासुपर्णा' श्रुतिमें 'स्वाद्वत्ति' ही से सब चेष्टाओंको सूचित किया है और यहाँ ('वर-षारितु० से–जीह जसो०' तकमें) केवल रस विषयसे मुक्तहोनेका प्रकरण है। इसीसे (अर्थात् इसके सर्वेंद्रियपोषकतासे) इस संबंधके भीतर नवोंसंबंधोंके लक्ष्य दिखावेंगे, यद्यपि सब स्वादरूप वही है. तब भी जीवोंको निर्हेतु सुख देता हुआ स्वयं अनीह (चेष्टारहित) रहता है, क्योंकि रसवर्द्धकअवस्था प्रधानरूपसे प्रायः पाँच वर्षसे पंद्रह पर्यंत रहती है, तो भी अनेकों लोग काल वश होते हैं, पूर्व टि० (गं) के अनुसार वह '**अनीह**' अर्थात् रस चेष्टा राहित्य, अपना दिखाकर उपदेश करता है। यहाँ रकारार्थ ब्रह्मने मकारार्थ जीवको अपनी 'अनीहता' महिमा दिखाकर रक्षा किया॥

(ङं) '**सर्वभूतान्तरात्मा**' अर्थात् सव जीवोंके शरीरोंमें अंतर्यामी है, अर्थात् अनकों शरीरोंमें भी वही व्यापक अपने तेजगुणसे वद्ध जीवोंको रूपलावण्यताका सुख देता है। यथा– '**जिमि विनु तेज न रूप गोसाईं।**' (उ० दो० ८९). और वह तेज तो व्यापक हीका है, यथा–'**तेजश्चास्मि विभावसौ**' (गीता. अ० ७) इस रूपासक्तिकी प्रधान अवस्था चढती हुई १९ से २९ वर्षतकको होती है, उस लालसामें भी वरवस अनेकोंकी मृत्यु होनेसे वह पूर्वोक्त रीतिसे '**अरूप**' सिद्ध हुआ और यही अपना रूप इस जीव सखाको दिखाकर रूप विषयसे रक्षा करना दिखाया ॥

(चं) '**कर्माध्यक्षः**' अर्थात् कर्मोंका प्रेरक व कारायता स्वामी है, कर्मोंका स्वरूप दो प्रकारका है, एक तो गर्भप्राप्तिपूर्वक जन्म करानेकी रीतिको कर्म कहते हैं। यथा– "**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः**" (गीता. अ० ८) यह सन्तानोत्पत्ति कर्म वायुतत्त्वकी स्पर्शतन्मात्राका है, उसका भी आधार व्यापकही है, यथा–"**यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्। तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥**" (गीता. अ० ९) (इसमें शून्य आकाश तो किसीका आधार हो नहीं सकता, अतः वायु तथा सव जीवोंके आधार भगवत् ही हैं) और जो इस कर्मद्वारा कामसे उत्पत्ति होती है, वह भी व्यापक की ही विभूति है, यथा–'**प्रजनश्चास्मि कंदर्पः**' (गीता. अ० १०) अतएव इस प्रकारके कर्मका अध्यक्ष व्यापक ही है। तव जो संतानोंको अपना जन्माया हुआ मानकर अध्यक्ष अर्थात् मालिक वनकर उन्हें अपना शरीरवत् मान लेता है, तो मानों कई पुत्ररूपसे इसके ही कई जन्म हुए और जो यह प्रसिद्ध है कि "**आत्मा वै जायते पुत्रः**" यह भी ठीक है, परंतु जैसे वृक्षके बीजसे दूसरावृक्ष होता है, पर पृथ्वी पवन जल घामादिके संयोगसे कालानुसार उत्पत्ति होनेसे उस कर्मका भी अध्यक्ष इन सवोंका नियामक व्यापक ही है। ऐसे ही वीर्य संवंधसे तथा कर्म निमित्त होनेसे भी जीव कर्माध्यक्ष नहीं, अतएव संतान वृद्धि अवस्थामें भी वह व्यापक इस अपने सखाको इनसे खींच ले जाता है, तव दिखाता है, कि हम 'अज' हैं (अ–रहित, ज–जायमान) अर्थात् अपने जायमान किये भयोंसे असक्त हैं, तो जब हम इन संतानोंके उत्पत्ति कर्मके अध्यक्ष होते हुए भी 'अज' हैं तो तुम विना अध्यक्षताके भी क्यों अपना मानकर बँधते हो, इनमें वद्ध होकर वार २ वियोगादिसे शोकमें पड़ोगे, अतएव मेरी तरह 'अज' हो तो शोकरहित होगे। दूसरे प्रकारका कर्म वह है जो शुभाशुभ किया जाता है, वह भी प्राणवायुकी शक्तिसे होता है, और कर्मेन्द्रिय हस्तभी वायु तत्त्वकी ही है, वायुका आधार व्यापकको ऊपर कह आये पुनः जिस पुरुषार्थसे कर्म होता है, वह भी वह स्वयं है, यथा–"**पौरुषं नृषु**" (गीता० अ० ७) इस प्रकार भी कर्माध्यक्ष व्यापक ही है। तथा जैसे अज्ञानी हस्त पादादिके कर्मोंको उनका न कहकर अपना मानते हैं, कारण कि वे शरीरी हैं। वैसे ही ज्ञान दृष्टिसे जीवात्मा भी व्यापकका शरीर है। यथा–श्रुतिः"**यस्यात्मा शरीरम्**" (बृहदा० उ० ३। ७। २२) अतएव

कर्माध्यक्ष वही है, तो जीव जो भ्रमसे कर्तृत्वाभिमान करके तिनके फलहेतु नाना योनियोंमें जन्मते हैं, इस विचारसे उन्हें 'अज' की शिक्षा हुई। **शंका**—यहाँ तो विचारसे जाना गया, व्यापकने लखाया कैसे? तथा इस प्रकारके कर्ममें वह स्वयं अज कैसे?। **समाधान**—यहाँ वह अपना अध्यक्ष होना यों लखाया, कि जीवके प्रत्येक कर्मकी सिद्धि नहीं होती। तथा अनेकों शुभकर्मोंमें लालसासहित तत्परतामें भी मृत्युकर इसे अपना '**अज**' स्वरूप लखाता है कि हम इन जन्मानेवाले कर्मोंसे असक्त हैं। इस भाँति यहाँ रकारार्थ व्यापक ब्रह्मने मकार वाच्य जीवकी वायुतत्त्वसे रक्षा करना दिखाया ॥

(छं) "**सर्वभूताधिवासः**" अर्थात् वह सब जीवोंके बीचमें अधिपति रूपसे निवास करता है, तो भी उन शरीरोंका नामी नहीं होता, उन्हें छोड़ता रहता है। इसी प्रकार जीवोंको भी अनित्य शरीरोंसे 'अनाम' होना उपदेशा, क्योंकि बड़े २ नामी शरीरोंकी भी मृत्यु कराता है। इस विशेषणसे आकाशतत्त्वसे रक्षा करना भी दिखाया है जैसे—आकाश तत्त्वका विषय शब्द है, वह सुनकर तदर्थभूत विषय प्राप्त्यर्थ कामनासहित चित्त आकाशवत् फैलता है, उसका फल नानासामग्री बटोरना है, जो कि नामाश्रय ही लिखी पढ़ी जाती हैं, इस नामासक्त अवस्थामें भी मृत्यु करा २ के अपना 'अनाम' गुण जनाकर जीवोंको भी उपदेश किया। इसमें आकाशतत्त्वसे रक्षा दिखाया ॥

(जं) "**साक्षी**" अर्थात् जीव मनसे जो २ संकल्प करता है, तथा तदनुसार कर्म करता हैं, उसे वह व्यापक साक्षी रूपसे देखता हुआ, मरणान्त तदनुसार फल देता है, जीव संकल्पानुसार तत्तद्रूप हुआ करता है, यथा—"**यो यच्छ्रद्धः स एव सः।**" (गीता० अ० १७) किंतु वह व्यापक (साक्षी) अपनी स्वादराहित्यमहिमासे सदा एकरस (सत्) रहता है। इसमें नानासंकल्पोंमें रत जीवोंको बरबस मृत्यु करा२के पूर्वोक्त न्यायसे जीवोंको भी '**सत्**' होना दृढाकर मनोविकार छुड़ाकर चित्तको स्वतंत्र करके अहंकारसे रक्षा करना प्रकट है। (इस अहंकारका स्वरूप पूर्व चौथे आवरणप्रसंगमें देखो)

(झं) "**चेता**" अर्थात् वह ज्ञान दे जीवोंको चैतन्य करता है, यह ज्ञानसंपादन बुद्धिका कार्य है, उसमें भी सत्त्वादि गुणोंद्वारा उसीका प्रकाश है, यथा—"**सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।**" (गीता० अ० १०) इसमें ज्ञान—'**चित्**' गुण लाभ कराके बुद्धिसे उसके ज्ञातृत्वाभिमानसे रक्षा करना व्यापकका सिद्ध हुआ *।

नोट—* पूर्वके छः विशेषणोंके एक अनीहादि गुणोंको जैसे २ रकारार्थ व्यापक ब्रह्मने मृत्यु करा २ के दिखाया है, वैसा यहाँसे नहीं है, क्योंकि यहाँसे बुद्ध्यादिकी रक्षाका प्रसंग है, वे सत्त्वादि गुणोंसे शास्त्रविचारके अवलंबसे सुरक्षित होती हैं। शास्त्रोंमें भी उसी ब्रह्मका प्रकाश है यथा—" शास्त्रयोनित्वात् " (ब्रह्मसूत्र) अतएव ब्रह्मकाही रक्षा करना जानना चाहिये।

(ञ) "**केवलः**" अर्थात् वह कैवल्यज्ञान स्वरूप है, यथा–"**तुरीयमेव केवलम्**" (आ० दो० ४) अर्थात् वह आनन्दमय तुरीयावस्थामें स्थित है, यह अवस्था तीनों-देह-संबंधी तीनों अवस्थाओंसे परे है, इसीसे उसके जाननेसे देह-सुख–चाहरूप प्यास बुझ जाती है, यथा–"**आनँदसिंधु मध्य तव बासा। बिनुजाने कत मरसि पियासा॥**" (वि० १३७) अतएव यहाँ वह अपना 'आनंद' गुण दिखाकर जीवको देहोंके कारणरूप प्रकृतिसे भिन्न 'आनन्द' मय स्वरूप दिखाया और देहसुखकी कामनाओंसहित 'प्रकृति' से रक्षा किया॥

(ट) "**निर्गुणश्च**" अर्थात् वह तीनों गुणोंसे परे है, अर्थात् तमोगुणसे काल रजोगुणसे कर्म तथा सतोगुणसे जो गुणबाधा होती है, वह इन सबसे परे है। इसीसे वह प्रकृतिसे परे 'परधाम' का रहनेवाला (परधामा) कहाता है। यथा–"**प्रकृतिपार प्रभु सब उर बासी।**" (उ० दो० ७१) कैसाही शरीर क्यों न हो, किंतु शरीरकी अवधि पर वह (व्यापक) इस सखाको देह छुडाकर अपने संग उस परधामको प्राप्त कराता है, तब यह भी 'परधामा' अर्थात् परधामका नित्यनिवासी होता है। तथा उस अंतर्यामीके साक्षात्कार होनेसे जीव भी काल कर्मादि बाधाओंसे निर्लेप रहता है, इससे भी वह इसे 'परधामा' का साधर्म्य प्राप्त कराता है। यहाँ अंतर्यामीने अपने आश्रयसे जीवको इसकी 'निजइच्छा' से रक्षा दिखाया *।

अथ संबंधोद्धारप्रकरण।

(२) इस चौपाईके अर्थमें पूर्व जो दो० १९ के संबंधनिर्णयमें "**रक्ष्य–रक्षक**" सं० इस दोहा भरका कहा गया, उसकाही यहाँ संबंधोद्धार हुआ, क्योंकि इसके भीतर नामका रक्षक होना तथा नवो संबंधो व अवतारोंके आधारभूत एक अनीह आदि गुणोंके लक्ष्य प्रकट हुए, और रसना इन्द्रियके सम्यक्प्रकारकी रस ईहा (चेष्टा) निवारणकी शिक्षा हुई।

(तात्पर्यार्थ)

अथ नामान्तर कमठअवतारका लक्ष्य।

(३) इसमें कमठ अवतार यों है, कि जैसे उस अवतारसे समुद्र मथा गया। तो चौदह रत्न निकले थे। वैसेही यहाँ ११ इन्द्रिय और तीन अंतःकरण, इन चौदहोंका अपने २ विषय चेष्टारूप अथाह जलसे रत्नरूप होकर निकलनेका लक्ष्य ज्ञात हुआ, ऊपर टि० (२) में भी लिख आये। इसका साक्षात्कार अ०प्र० नं० २ टि० (३) में होगा॥

नोट–* यहाँ इस टि० (१) भरमें ब्रह्म जीवका सहज सँघात दिखाया गया और सब अवस्थामें रक्षा करनेसे ब्रह्मकी प्रीति जीवपर प्रकट हुई, ऐसेही रकारकी प्रीति मकारमें प्रकट हुई और यहाँ जो एक अनीहादि साधर्म्यकी अपेक्षा जीवोंके लिये दिखा आये तिनका साक्षात्कार प्रत्येक अ० प्र०की टि० (८) में दिखावेंगे।

अथ नामान्तर साधनचतुष्टय प्रकरण ।

(४) ऊपर चौ० ३ की टि० (९) में इसके क्रम दिखा आये । तदनुसार यहाँ ' **शम** ' का प्रसंग है । शमका अर्थ वाह्येन्द्रियोंकी विषय–ईहानिरोध होना है, उसका होना ऊपर टि० (३) में देखो ॥

मूल (चौ०)

नर नारायन सरिस सुभ्राता । जगपालक विसेषि जनत्राता ॥ ९ ॥

टीका—नर नारायणके समान (रा और म) सुंदर भाई है, जगत्के पालक हैं, और अपने जनोंकी विशेष रक्षा करते हैं ॥ ९ ॥

टिप्पणी (अनुसंधानार्थ)

नरनारायणके भायपकी कथा ।

(१) " जैमिनी भारतमें कहते हैं, कि सहस्रकवची दैत्यने तपसे सूर्यभगवान्को प्रसन्न करके वर माँग लिया था, कि मेरे शरीरमें हजार कवच हों, जव कोई हजार वर्ष युद्ध करै, तव कहीं एक कवच टूट सके, पर कवच टूटतेही शत्रु भी मर जावे । उसको मारनेको (धर्म पत्नीसे) नर नारायण अवतार हुआ. एक भाई हजार वर्ष युद्ध करके (एककवच टूटनेके साथ) मरता, तव दूसरा भाई उसे मंत्रसे जिला लेता, और स्वयं हजारवर्ष युद्धकर दूसरा कवच तोड-कर मरता, तव पहिला इनको जिलाता, और स्वयं युद्ध करता । इसीतरहसे जव एकही कवच रह गया, तव वह दैत्य भागकर सूर्यमें लय होगया । और नर नारायण वद्रीनारायणमें जाकर तप करने लगे । वही असुर द्वापरमें कर्ण हुआ जो गर्भहीसे कवच धारण किये हुए निकला । तव नर नारायण हींने अर्जुन श्रीकृष्णरूप होकर मारा " (मानस पीयूषसे उद्धृत) ।

नाममें भी उपरोक्त भायपका मिलान ।

(२) ऊपर चौ० ३ के पिता–पुत्र संवंधसे जीव परमार्थधर्म हेतु जगत् संवंध छोडा तो धर्ममें अधिक श्रद्धा होनेसे यह धर्म स्वरूप ही हुआ यथा—" **यो यच्छ्रद्धः स एव सः** " (गीता अ० १७) और इसकी धर्मवृत्तिवाली बुद्धि धर्मपत्नी हुई । जैसे जगत् रक्षार्थ धर्मप-त्नीके तप करनेपर नर नारायण पुत्र हुए । तैसे ही इस बुद्धिको जगत्रूप इन्द्रियसमूहके विष-योंसे रक्षाकी अत्यंत चाह हुई । और विषयोंको अग्निरूप देखकर उनसे तपने लगी । यह उसी पिता-पुत्र सं० के साक्षात्कारके प्रसंगमें ' कालकूट ' से कह आये । पुनः " **ब्रह्म जीव सम सहजसँघाती** " के अर्थमें जो मकारवाच्य जीवके अंतर रकारार्थ व्यापकब्रह्मको कहा है, वही रकारका नारायण और मकारका नर अवतार हुआ ये भी ' सरिससुभ्राता ' हैं, यथा— " **ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवम्०** " (कि० मं० श्लोक) अर्थात् दोनों वर्ण भी एकही पितारूप वेदसे पैदा हुए । उस वेदकी धर्म प्रचारमें ही श्रद्धा है अतः धर्मरूप है । पुनः धर्मपत्नी रूपा बुद्धिने जो पूर्व स्वभावादि बाधासे डरकर " कालकूट ' प्रसंगमें तप किमा था, और तहाँ ही

इसे मनुष्य देहकी आयु नाना योनियोंकी देनेवाली समझ पडी थी, यह नरदेह भी, अनेकों जन्मोंमें विषयसंबंधसे अनेकों मिलती है, अतः कर्मक्षेत्र नरदेहमें विषयानुरागही इस बुद्धिको 'सहस्रकवची' दैत्यसम देख पडा' क्योंकि यह तृष्णासे कर्म कराकर नाना योनियोंमें भेजनेवाले शब्दादि विषयही हैं। यथा–" **पाँचइ पाँच परस रस शब्द गंध अरु रूप। इन्ह कर कहा न कीजिये, बहुरि परब भवकूप॥**" (वि० २०४) पुनः जैसे माताके हितार्थ नर नारायणने सहस्र कवचीके प्रत्येक हजार २ वर्षोंमें एक छोडकर सब कवच नाश किया। तैसे ही ऊपर चौ० ४ में दोनों वर्णोंके ब्रह्म जीव रूपसे शब्दादि विषयोंकी चेष्टाओंके नाश करनेके लक्ष्य दिखा आये। जिसका इस दोहे भरमें साक्षात्कार होगा। इन्होंने नानाकवचोंका नाश हुआ, क्योंकि इस लक्ष्यसे विषयोंको शत्रुरूप जाना और जिनसे रक्षक नामको समझा, तब नाना कर्मोंकी वासना निवृत्त हुई, पुनः जैसे वह दैत्य शेष एक कवच सहित सूर्यमें लीन होगया, क्योंकि प्रथम सूर्यसे वरदानमें पाया था। तैसे ही यहाँ भी जानके प्रारब्धकर्मपरिणाम शरीरका अभिमानरूप एककवच रह गया जिसका नाशक आत्मसाक्षात्कार है, वह निष्कामकर्मयोगसे होता है, उस कर्मयोगकी परंपरा सूर्यसे आई है। यथा–"**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥**" (गीता० अ० ४) अर्थात् सूर्यसे मनु तिनसे इक्ष्वाकु तथा परंपरानुसार संसारमें कर्मयोग प्रचलित हुआ है, अतएव इसके कर्ताको सूर्यसम ज्ञातृत्व चाहिये। पूर्वका नाना कवचोंका सूर्यसे पाना यों है, कि सब कर्म सूर्याश्रित होते हैं। तदनुसार जीव देहरूप कवचोंको पाता है, (यहाँ तक ऊपर चौ० ४ तक से मिलान हो चुका) अब इस चौ० के 'नर नारायन०' से दिखाते है, कि सूर्यका एकरूप जीवोंके नेत्रपर है, जैसे वहाँ सूर्यमें एककवची लय होगया, वैसे यहाँ भी आत्मज्ञानका विरोधी वर्तमानके देहका रूपाभिमान है, यह नेत्रसूर्यमें लय हुआ अर्थात् धर्मपत्नीरूपाबुद्धिको वह रूपाभिमान दैत्यसम देख पडा, यही बुद्धिके ज्ञान रूप नेत्रमें दैत्यका समाजाना है। तब इस बुद्धिको डरी हुई जानकर दोनों वर्णरूप नर-नारायण तप करने लगे। अर्थात् जब निश्चयात्मिकाबुद्धिने मकारार्थसे, स्थूलरूपसे भिन्न जीवका रूप जाना, यथा–"**तृतीयपदेन मकारेण ज्ञानानन्दस्वरूपो ज्ञानानन्द गुणकोऽणुपरिमाणो देहादिविलक्षणः स्वयम्प्रकाशो नित्यरूपो जीवः प्रतिपाद्यते।**" (रहस्यत्रये) तब अपनी अनित्यरूपासक्तिपर पश्चात्तापसे आहभरी गरम श्वाससे रकार मकारको जपने लगी। यही इन दोनों भाइयोंका तप करना है, तब जैसे सूर्यने उसे अपनेसे निकाल दिया, और वह कर्णरूप होकर कुंतीसे पैदा हुआ, वैसेही नामरटनरूप तपद्वारा ज्ञानरूप सूर्यसे रूपाभिमान दूर हुआ और बुद्धिरूपा कुंतीने इसे दैत्यरूप समझा, यही इसका पैदा करना है, तब जैसे कुंतीने कर्णको कुँवारावस्थाका जन्मा हुआ जानकर कलङ्कभयसे फैंक दिया, तो पीछे (उसका) विवाह हुआ, वैसे यह बुद्धिभी स्थूलरूपासक्ति दूरकर आत्मरूप पतिमें विवाहितासम रत हुई। यथा–"**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनंदन। बहु**

शाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ " (गीता अ० २) और पतिसंगसे सुखी कुंतीकी तरह बुद्धि भी आत्मसंगसे सुखी हुई, जैसे नर नारायण सब जगत्की रक्षा करते हैं, वैसे नामने भी आत्मज्ञान द्वारा शरीररूप ब्रह्मांडके पाँच ज्ञानेन्द्रिय और तीन अंतःकरणरूप आठ खंडोंकी भी रक्षा की। किंतु जैसे वे विशेषरूपसे भारतखंडकी रक्षा करते हैं, वैसे नामने मनकी विशेष रक्षा किया, क्योंकि आत्मसुख मनका ही निजसुख है। यथा—" **निजसुख बिनु मन होइ कि थीरा।** " (उ० दो० ८९) इस सुखके अनुभवसे मनही संतोष पाकर तृप्त होता है। यथा—" **ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै। तव कत मृगजल रूप विषय कारन निसि वासर धावै ॥** " (वि० ११७) इस प्रकार जनरूप मनोमयजीवकी विशेष रक्षा किया और जापककी इस लक्ष्यसहित जपसे नेत्रकी ईहा (चेष्टा) से रक्षा हुई ॥

अथ संबंधोद्धार प्रकरण।

(३) इस चौ० में अरूपगुणप्रापक शेष-शेषी संबंधका उद्धार हुआ, क्योंकि शुद्ध शेषत्व नित्यस्वरूपसे होती है, यहाँ रूपाभिमान निवृत्तकर, विषयवासना—त्यागपूर्वक तिसका साधन-रूप आत्मचिंतवन कहा गया, इसका साक्षात्कार आगे बा० दो० २० में होगा ॥

(तात्पर्यार्थ)

अथ नामान्तर वाराह अवतारका लक्ष्य।

(४) इस संबंधमें नाममें वाराह अवतार लक्षित हुआ क्योंकि जैसे हिरण्याक्ष पृथ्वीको हर ले जाकर पातालमें रक्खा था। तव उसे भगवान्ने वाराह अवतार लेकर उद्धार करके पदार्थवती किया। तैसेही यहाँ पृथ्वीरूपा बुद्धि है, यथा—" **बुद्धिर्जाता क्षितेरपि** " (जिज्ञासा पञ्चके) और रूपाभिमान हिरण्याक्षसम है, (हिरण्य-सुवर्ण, अक्ष-नेत्र) अर्थात् अपने नेत्रोंमें अपना स्थूलरूप सुवर्णसम सुंदर प्रिय और बहुमूल्य समझनेकी आसुरीसंपत्ति बुद्धिरूपा पृथ्वीको हिरण्याक्षसम है। जैसे वहाँ पृथ्वी हरणमें उसकी उपजशक्ति नाशका तात्पर्य है, और पातालसे अधोगतिको कहा है, तैसे यहाँ पूर्वकी शुद्धबुद्धिके आत्मचिन्तवनके दिव्यगुण स्थूल-रूपासक्तिमें हरे हुए थे। नामरूप वाराह भगवान्ने उसे उद्धार करके आत्मरूपमें लगाकर गुणवती कर दिया और अधोगतिदायक रूपविषयकी निवृत्ति भी दिखाई गई। अवतार यथा— " **सोकं कनकलोचन मति छोनी। हरी विमल गुनगन जगजोनी ॥ भरतविवेक वराह विसाला। अनायास उधरी तेहिकाला ॥** " (अ० दो० २९६) इसका साक्षात्कार अ० प्र० नं० ३ में होगा ॥

अथ नामान्तर साधनचतुष्टय प्रकरण।

(५) ऊपर चौ० ३ टि० (९) के क्रमानुसार यहाँ 'दम' का प्रसंग है। इसका अर्थ अंतःकरणोंकी वासना त्यागना है, सो ऊपर टि० (२) में दिखा आये ॥

मूल (चौ०)

भगति सुतिय कल करन विभूषन। जग हित हेतु विमल विधु पूषन॥ ६॥

टीका—भक्तिरूपा सुन्दरस्त्रीके सुन्दरकानोंके भूषण अर्थात् कर्णफूल हैं, जगत्के हितके लिये निर्मल चन्द्रमा और सूर्य हैं॥ ६॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "**भगति०**" का भाव यह कि जैसा सुन्दर भूषण हो वैसे ही सुन्दर धारण करने-वाला भी चाहिये, तब शोभा होती है। कर्णफूल स्त्रियाँ धारण करती हैं, और स्त्रियोंमें भक्तिसे सुन्दर कोई भी नहीं है, क्योंकि इसके रहते हुए परम नागर श्रीरामजी, त्रैलोकमोहनीमायाकी ओर ताकते भी नहीं। यथा—"**माया भगति सुनहु तुम दोऊ। नारि बरग जानइ सब कोऊ॥ पुनि रघुबीरहिं भगति पियारी। ० भगतिहिं सानुकूल रघुराया॥**" (उ० दो० ११९) भाव—रकार मकार कहते हुए इस सुंदरभक्तिको करना चाहिये, क्योंकि ये पतिसूचक हैं, इन्हें देखकर इनके वाच्य श्रीरामजीको पति अर्थात् रक्षक जानकर इस भक्तिके बाधक मद क्रोध मोह तथा कर्तृत्वाभिमानादि डरते हैं। सुन्दर कानोंके ही भूषण कहनेका भाव यह कि कान इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ है, क्योंकि और तत्त्वोंके कारण आकाश तत्त्वकी ज्ञानेन्द्रिय है, अतः इसके धारण करनेसे सबोंका होगया। तथा इसी नामके मंत्ररूपको कानसे श्रवण करनेसे भक्ति होती है। जैसे पुरुष अपने चिह्नरूप कर्णफूल विना स्त्रीको प्रिय-तमा नहीं मानता, वैसे ही गुरुशरण होकर मंत्र लिये विना उत्तम भक्ति नहीं होती और पतिरूप-श्रीरामजी प्रसन्न नहीं होते, तथा अपनेसे वेपरवाह जानकर रक्षा भी नहीं करते, इस प्रकार श्रीरामनाम भक्तिके कारण पोषक और रक्षक हैं। **प्रश्न**—भूषण तो भक्तिके और धारण इन्द्रियोंमें यह कैसे? **उत्तर**—जीव जब इन्द्रियोंसमेत भक्ति करता है, तो उसमें तन्मय रहनेसे वही रूप हो जाता। यथा—'**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**' (गीता. अ० १७) और भक्तिमें आदि श्रवण भक्ति है वह कानसे ही सुनी जाती है॥

(अनुसंधानार्थ)

(२) जैसे कर्णफूलवाली स्त्री अपने पितासे समर्पित अपना सर्वाङ्ग पतिके वास्ते मानती है। इसीसे उसीकी सेवामें अपना सुख मानती है, और उसके विना मृतकसी रहती है। यथा—"**जिय बिनु देह नदी बिनुवारी। तैसि अनाथ पुरुष बिनु नारी॥**" (अ० दो० ६४) वैसे ही भक्तके भी गुरुरूप पिताने कानमें मंत्ररूप कर्णफूल पहिनाकर पतिरूप श्रीरामजीको समर्पण किया है, तब इसे भी अपना सर्वाङ्ग श्रीरामजीके लिये ही रखना चाहिये और अन्य स्वतंत्रदेवोंकी ओर न ताकना चाहिये। तथा अपने सब कर्तृत्व पतिके समझना चाहिये, क्योंकि वेदविधिसे गुरुद्वारा समर्पित होनेसे, यह जीव शरीरसमेत उनका ही है, तब इसके कर्तृत्वादिके अध्यक्ष वे ही हैं, अतएव पूर्वोक्त चौ० ४ टि० (च) के अनुसार

यहाँ वायुतत्त्वसे रक्षक साधर्म्यका '**अज**' गुण प्राप्त होकर त्वचाकी ईहा (चेष्टा) निवृत्तिका लक्ष्य है, तथा जब यह स्वयं स्त्रीरूप होगा, तो स्पर्शके मैथुनादि विषयोंकी भी निवृत्ति होगी ॥

अथ संबंधोद्धार प्रकरण ।

(३) जैसे सब प्रकारसे अनन्या पाणिग्रहीता स्त्रीका स्वरूप होता है, वैसे ही यहाँ भक्तिमान् जापकका रूप कहा गया । और सुयोग्य भर्तारूप श्रीरामनामको दिखा आये । अतएव यहाँ जिव और ईश्वरमें '**भर्तृ-भार्या**' संबंधका उद्धार हुआ । इसका साक्षात्कार आगे बा० दो० २१ में कहेंगे ॥

(तात्पर्यार्थ)

अथ नामान्तर नरसिंह अवतारका लक्ष्य ।

(४) जैसे प्रह्लादजी अतिं असमर्थ होकर परम समर्थ रामनामके अनन्य रहे, तो नरसिंह रूपसे भगवत्‌ने शत्रुको मारकर रक्षा किया । वैसे यहाँ भी जापकका अनन्यभार्या अर्थात् असमर्थ रूप दिखा आये. और नामको परम समर्थ भर्ता भी कह आये, जैसे वहाँ प्रह्लादके बाधक मारे गये, वैसे इस लक्ष्यसे भी विकार नाश होना कह आये, जैसे प्रह्लाद जन्ममरण रहित हुए वैसे जापकका भी '**अज**' होना लक्ष्यमें प्रकट है, इसका साक्षात्कार अ० प्र० नं० ४ में होगा ॥

अथ नामान्तर साधनचतुष्टय प्रकरण ।

(५) पूर्व चौ० ३ टि० (५) के क्रमानुसार यहाँ '**उपरम**' का प्रसंग है, इसका अर्थ विषयोंसे पीठदेना है । यहाँ जो जीवको भगवत्‌का अनन्य भोग्य होना दिखाया गया, उसमें विषयोंके भोक्तापनेका अभाव हुआ, क्योंकि भगवत्–संबंधी–दिव्यभोग इन्द्रियोंको प्राप्त होनेमें भी विकार नहीं होता । यथा–"**ऊसर बरसे तृन नहिं जामा । जिमि हरि-जन हिय उपज न कामा ॥**" (कि० दो० १५) तथा प्रेम विरहमें भोग स्वतः छूठ जाते हैं ॥

(भावार्थ)

(६) '**जगहितहेतु विमल बिधुपूषन ।**' का भाव यह कि जग नाम चलनेवालेका है । यथा–"**अग जग मय सब मम उपराजा ।**" (उ० दो० ८६) इसमें जगसे चर अर्थात् चलनेवाले समझे गये । ऐसे चर सब बद्ध जीव हैं, क्योंकि जीव ही ज्ञानदशामें अचर हैं और अज्ञानमें चर हैं, यथा–'**अचरं चरमेव च**' (गीता० अ० १३) यथा–"**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥**" (गीता० अ० २) "**एवं भूतः सन् अतति, अनादि मायया नानायोनिषु निरंतरं भ्रमतीति आत्मा अत-सातत्यगमने इति धातोः मन् प्रत्ययः ॥**" (जिज्ञासापंचके) अर्थात् जो आत्मा नित्यत्वादि दशामें स्वरूपसे अचर

है, वही अज्ञान दशा (बद्धअवस्था) में चर अ जग है । ऐसे बद्धजीवोंके हितकेवास्ते श्रीरामनामही विमल चन्द्रमा और सूर्य हुए ।

(कं) यहाँ प्रथम विधु कहनेका भाव यह कि चंद्रमा (विधु) मकारार्थ है, और जीवका वाचक है, इससे यह जीव अपनी ज्ञातृ (जाननेवाली) अवस्था जाने । तब रकारार्थ पूषन् (सूर्य) द्वारा ज्ञेय स्वरूपके साक्षात्कारकी रीति जानेगा । जैसे स्थूलप्रकाशसे सूर्य घाम, वृष्टि और अन्नादि द्वारा और चन्द्रमा आल्हाद शीतलता और औषधि आदिसे जगत्का हित करते हैं, वैसे ही अपने कारणरूप मकारके अभिप्रायको चन्द्रमा अज्ञानरूप रातमें और रकारकी आशयको सूर्य ज्ञानरूप दिनमें प्रकाश करके जगत्का हित करते हैं ॥

(अनुसंधानार्थ)

(खं) अब अज्ञान रूप रात्रिमें चन्द्रमाका प्रकाश करना दिखाते हैं जैसे—चन्द्रमामें षोडशकला है । यथा—"**अमृतां मानदां तुष्टिं पुष्टिं प्रीतिं रतिं तथा । लज्जां श्रियं स्वधां रात्रिं ज्योत्स्नां हंसवतीन्ततः ॥ छायां च पूरणीं वामाममाचन्द्रकला इमाः ॥**" (शारदातिलके) इनमें अमृतकला चन्द्रमाकी स्वाभाविक है । शेष पन्द्रह कला क्रमशः शुक्लपक्षमें प्राप्त होती हैं, और कृष्णपक्षमें क्षीण होती हैं । चन्द्रमाके समान जीवका भी आह्लादमय स्वरूप है । पूर्व मंत्रोद्धारमें चन्द्रमासे जीवस्वरूप दिखा आये । चन्द्रमाकी तरह जीव भी बद्ध-अवस्थामें पन्द्रहकला ग्रहण करता है, इसकी भी चन्द्रमाकी अमृतकलाकी भाँति अनादिकर्मकी कला स्वाभाविक है । जैसे चन्द्रमा अमावसको सूर्यके संग रहते हैं, पुनः प्रतिपदासे एक२ कला प्रतिदिन बढाते हुए रातमें प्रकाश बढाते हैं, वैसे जीव भी प्रथम शुद्ध निरभिमान सूर्यवत् अंतरात्माके संग उसके ज्ञानरूप प्रकाशमें सुखमय रहा, जब अमृतकलारूप संचितकर्मके सहित जगत्में 'प्रीति' नामकी दूसरी कलाको ग्रहण किया, तब परिवा सम पूर्वोक्त 'निजइच्छा' नामक प्रथममावरणमें आया पुनः चंद्रमाके 'रति' नामक कलाग्रहणसम इसने भी कर्ममें 'रति' ग्रहण कर 'प्रकृति' नामक दूसरे आवरणमें आया, तब अज्ञानरूपा रात्रिमें दूजसम किंचित् प्रवेश हुआ, तब जैसे इधर चन्द्रमाका सूर्यसे दोघडीका संग छूटता है, ऐसे ही इसके भी ज्ञानमें न्यूनता हुई । ऐसे ही क्रमशः तीसरे आवरणमें चौथसम, चौथेमें पंचमीसम छठेमें जो शब्दविषयका है, उसमें इसको दो इन्द्रियों (कान—वाक्) के विषयोंकी चाह होती है, इससे दो तिथि जानना चाहिये, पुनः आगेके भी चार आवरणोंके प्रत्येकके दो २ इन्द्रियविषयोंकी आठ तिथि और हुई, तब पंद्रहौ तिथि पूर्ण होनेपर जैसे चन्द्रमा बिलकुल सूर्यसे पृथक् होकर रातमें पूर्ण प्रकाश करते हैं, ऐसे ही इसका भी, ज्ञानसंग निर्मूल हुआ, अर्थात् भगवद्विमुख हुआ तब चन्द्रमासम संसाररूप सुखशून्य आकाशमें अज्ञानरूप रातके विषे, तारागणवत् कुटुंबसमूहमें ममतारूप प्रकाश फैलाकर सुखी होता है । इसी (पूनोंकी) रातमें जैसे चन्द्रमाको ग्रहण समय राहु ग्रास करता है, जीव भी ऐसी अज्ञानावस्थामें कालरूप राहुका ग्रास होकर चौरासीको जाता

है, यह काल ग्रास जन्मसेही लगता है, आयुके अंत तकमें सर्वग्रास समझना चाहिये । जैसे चन्द्रमा संसारको आह्लाद वर्द्धक हैं, और अपनी किरणोंसे औषधियोंमें अमृत वर्षाकर रोगोंसे रक्षा करते हैं तथा पुष्ट करके सबको सुखी रखते हैं, इससे इनके इस संकटमें सबलोग दान-पुण्यादि कर २ के अनुग्रहहेतु प्रार्थना करते हैं, तो चंद्रमा राहुसे मुक्त होकर कृष्णपक्षमें प्राप्त होते हैं । वैसे ही यह बद्धजीव भी जब संसारावस्थामें स्ववर्णोचित कर्मको निष्काम कर्मयोगकी रीतिसे करे, तो इस प्रकारकी अमृतमय किरणोंसे इसके ऋणत्रयाधिकारियोंको संतोष हो, और वे उऋणरूपी अनुग्रह करें (यहाँ साधनक्रम कहा गया नहीं तो ये तीनों ऋण, प्रपत्ति द्वारा तथा पूर्वोक्त बा० दो० १८ के 'पिता—पुत्र' सं० की रीतिसे नामद्वारा भी सहजमें छूटते हैं) तब स्वतः इसका चित्त संसारसे उपराम होकर सद्गुरुशरणमें प्राप्त होता है, यही इसका कृष्णपक्ष है, क्योंकि इसमें इसे भगवत् अपनी ओर कर्षते खींचते) हैं, जैसे सूर्य चन्द्रमाको, जैसे ऊपर **'बरषारितु०'** में कह आये, यहाँ तकमें ऊपर जीवका नवें आवरणसे मुक्त होना कह आये थे, तिसमेंकी दो इन्द्रियोंके विषय छूटनेसे जैसे चन्द्रमा कृष्णपक्षकी दूज तकमें अपनी दो कलासे क्षीण हो प्रातःकाल दो घडी तक सूर्यका संग पाते हैं, वैसे जीव भी अज्ञानसे क्रमशः मुक्त होता हुआ ज्ञानसंग पाता है, ऐसे ही क्रमशः पाँचवें संबध तकके साधनमें इसके दशइन्द्रियोंसे मुक्तहोनेमें दशमी तक और आगे चार संबंधोंसे तीनों अंतःकरण तथा मनसे भी मुक्त होनेमें चतुर्दशीकी रात भी व्यतीत होनेसे चन्द्रमाके पूर्णप्रकाश क्षीण होनेकी भाँति इसका भी अज्ञान संपूर्ण निवृत्त हो जायगा और जैसे अमावसको चन्द्रमा सूर्यके संग उदय होकर उनके ही प्रकाशके आश्रय रहते हैं, वैसे ही जापक भी नवेंसंबधकी पूर्तिमें प्रह्लादके लक्ष्यमें अंतर्यामीके ज्ञानरूप सूर्यके आश्रय रहेगा, तब राहुसम मृत्युकालरूप हिरण्यकश्यपसे इस भाँति रक्षा होगी, जैसे अमावसके ग्रहणमें राहुचन्द्रमाको छूने भी नहीं पाता सूर्य ही अंगीकार कर लेते हैं, वहाँ प्रह्लादमें जीवके मुक्त होनेके संपूर्ण लक्ष्य दिखावेंगे, तथा नामके इस विधुपूषन, स्वरूपका कार्यभी पूर्ण होगा इसका लक्ष्य वहाँ इस प्रकार जानना चाहिये ॥ जैसे वहाँ नामको नरसिंहसम कहा है, उसमें नरशब्दसे श्रीरामजी हुए यथा—**"तैर्युक्तः श्रूयतां नरः ।"** (वाल्मी० मू०) वे रकारवाच्य हैं, पुनः उसके साथके सिंह शब्दसे सिंहराशिके भादौंके सूर्यसम प्रचंडज्ञानका बोध हुआ, यही प्रचंड—सूर्यरूपसे रकारका रक्षकत्व है, और वहाँके जीवरूप प्रह्लादमें चन्द्रमाका बोध यों होता है, कि **'चदि—आल्हादने'** धातुसे चन्द्रमा शब्द होता है, आह्लादका अर्थ आनंद होता है पुनः प्रकर्ष सूचक प्र उपसर्गसहित आह्लादसे प्रह्लाद नाम हुआ ह्लादका भी आनंद ही अर्थ है, इससे प्रह्लादमें प्रकर्ष चन्द्रमाका बोध हुआ अतएव वहाँ तकमें मकारका पूर्णज्ञान जीवमें साक्षात्कार हो जायगा । जैसे अमावसको चन्द्रमा सूर्यसंग पूजे जाते हैं, तिसमें यदि वह सोम (चन्द्र) वारको पड़े तो विशेष पूजा होती है । वैसे जीव भी आत्मसाक्षात्कार होनेपर त्रैलोकपूज्य कहा जाता है यथा—**"अनुरागसो निजरूप जो जगते बिलच्छन देखिये॰ त्रयलोक**

पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई ॥ " (वि० १३७) इस प्रकार ' जगहित ' अर्थात् बद्धजीवका पूर्णहित सिद्ध हुआ * ॥

(ग) इस प्रसंगमें पूर्णमासीके लक्ष्यमें जो जीवकी पूर्ण अज्ञान दशा कही गई । वैसे ही विषयसंबंधी शब्द सुनकर तदर्थ विषयोंकी कामनाओंमें मनोवृत्ति रूप किरण फैलाकर जीव पूर्णचन्द्रमा सम हो जाता है, अर्थात् हृदयरूप आकाशमें कामनायें तारागणसम जगमगाने लगतीं हैं, तिनमें मनरूप चन्द्रमा ममतारूप किरणोंको पसारकर सुख मानता है । अतएव उपरोक्त विचार सहित नाम रटनेसे यहाँ शब्द (ईहा) चेष्टाकी वहिरंग शुद्धि होगी और इसकी पूर्णरूपसे शुद्धि पाँचवें संवंधमें होगी । यहाँ शब्दविषयसे रक्षा हुई ।

अथ संबंधोद्धार प्रकरण ।

(७) यहाँ मंत्रोद्धारमें कहा हुआ ' ज्ञातृ-ज्ञेय ' संवंधका उद्धार हुआ । क्योंकि चन्द्रमाके लक्ष्यमें ज्ञातृअवस्था और सूर्यके आश्रित तद्वत् ज्ञेयस्वरूप जानना निश्चय हुआ इसका साक्षात्कार वंदनाके पाँचवें (दो० २२) दोहेमें होगा ।

(तात्पर्यार्थ)

अथ नामान्तर वामन अवतारका लक्ष्य ।

(८) जैसे देवतोंकी माता अदितिजीने वलिदैत्यकी वृद्धि देखकर उस प्रवलशत्रुसे अपने पुत्र इन्द्रके तीनों लोककी राज्य छीन जानेकी भय किया । तो भगवान्‌ने उसकी हार्दिक तपसे उसके लघुपुत्र रूपसे वामन अवतार लेकर वलिसे तीनोंलोक माँगकर इन्द्रकी रक्षा की । वैसे ही यहाँ पूर्व भर्तृ-भार्या संवंधोद्धारमें ही जीवकी वुद्धि अदितिसम हुई (अ—रहित, दिति—प्रकाश) अर्थात् वुद्धिका कर्तृत्वादि प्रकाश वहाँ भर्तारूप नामका वोध हुआ । इस प्रकार (अदितिरूपा) वुद्धिसे जो विहितकर्म किया जाता है, तो कर्मेन्द्रिय हस्तका देवता इन्द्र अपने पूर्ण गुणयुक्त होता है । ऐसी वुद्धिने अपने इन्द्रिय देवोंको अनुकूल पाकर शुद्ध निष्काम कर्मयोगका फलरूप जो आत्मज्ञान है, उसकी इच्छाकी, और इस ज्ञातृज्ञेय संवंधसे उसके साक्षात्कारमें लगी । तव इसे पूर्वके स्पर्शविषयसे शुद्धि तकका लक्ष्य तो ज्ञात ही था, यहाँके शब्द विषयसे जो उपरोक्त टि० (ग) के अनुसार मनसे अनेकों कामनायें वढीं, कि जिनसे सव इन्द्रियोंके देवता विषयवश होकर मनके आधीन होजाते हैं । तो ऐसी कामना समूहरूप यज्ञ करनेवाला मनरूप वलि, वुद्धिरूपा अदितिको भयंकर देख पड़ा । और इसके देहरूप सूक्ष्म ब्रह्मांडमें जो ' विषय इन्द्रियाँ और देवता ' रूप तीनों लोक हैं, (यथा तमोगुणसे शब्दादि विषय, सात्विकतामससहित रजोगुण प्रधानसे इन्द्रियाँ और सतोगुणसे तिनके देवता होते हैं,

नोट*—यद्यपि इस ' शशि-सूर्य ' के लक्ष्यका संवंध पाँचवें दोहेमें ही साक्षात्कार होगा, परंतु उसके ही उपलक्षके कर्तृत्वाभिमानादि निवारणमें अंतरंग शोधक आगेके चार संवंध भी होंगे । इसलिये इसका रूपक नवें सं० तकमें कहा गया ॥

अतः विषय पाताल इन्द्रियाँ भूलोक और देवता देवलोकसम हुए।) इनको आधीन रखने वाले आत्मज्ञानमें रत बुद्धिको कामना बढ़ाकर, मनने बलिसम इसके हाथसे तीनोंलोक छीनना चाहा। तब यह बुद्धि भयभीत होकर भगवद्रूप मंत्रराजके वीजके तृतीय वर्ण बिन्दुका (जो मकाररूप चन्द्रमाका सूक्ष्म रूप है) विचार रूप तप किया। तब उस मकार वाचकजीवके अणुरूपके अंतर अतिसूक्ष्म जो रकारवाच्य ब्रह्म है, वही वहाँके वामनजीकी तरह यहाँ सूर्य हुआ और बलिसम उपरोक्त मकाररूप चन्द्रमाकी पूर्णमासीसम जीवकी अवस्था हुई। जैसे वामन भगवान्‌ने तीन पग पृथ्वी माँगा, वैसे ही यहाँ ऊपर टि० (ख) में जीव द्वारा तीनों ऋण निवर्तक निष्कामकर्म सूर्यका शास्त्रद्वारा माँगना और लेना दिखा आये। (तथा तदनुसार सब धर्ममय नामाराधनसे भी वह कार्य कह आये) तीनों ऋणोंमें तीनोंलोक इस प्रकार हैं, यथा—देवऋणसे देवलोक, पितृऋणसे मृत्यु (भू) लोक तथा ऋषि ऋणमें पाताललोक जानना चाहिये, क्योंकि ऋषिऋण व्रतपुण्यादिसे छूटता है, तिन सुकृतोंका फल शब्दादि विषयोंका सुख है, जिसे पातालसम ऊपर दिखा आये तीनों ऋणोंके लेनेवाले भगवान् ही हैं, पूर्व दिखा आये, वे ही तीनों लोकोंको वामनरूपसे लिये और वैसेही सूर्यद्वारा तीनों ऋणोंके धर्मोंको भी ग्रहण करते हैं, क्योंकि सब धर्म सूर्याश्रय किये जाते हैं। जैसे वहाँ तीनहीं पगमें नाप लिये। वैसेही यहाँ नाममें भी कोटिन जन्मके संचित तीनों ऋणोंसे अल्पकालकी सुकृतिमें मुक्त किया। जैसे भगवान्‌ने बलिका तीनोंलोक लिया। वैसेही सूर्य भी चन्द्रमाके तीनों लोकका प्रकाश हरते हैं। तथा इसी लक्ष्यसे जापकके भी विषयादि उपरोक्त तीनों लोकभार वामनसम निजांतर्यामीके आश्रय होजाते हैं. जीव इनसे भिन्न होकर रहता है। जैसे वामनजीने बलिको बाँधकर पाताल पठाया। वैसेही अमावसको सूर्य भी चन्द्रमाको स्नेहमें बाँधकर अस्त होकर पातालको चले जाते हैं, जैसे वामनजी बलिके द्वारही पर रहकर दर्शन देते हैं, वैसे सूर्य चन्द्रमा भी पातालमें उस रातभर साथही रहते हैं। तथा ऐसेही इस लक्ष्यसे जापकके कामनादि प्रकाश हर जाते हैं. और यह अंतर्यामीके ध्यानमें बँध जाता है, उस अंतर्यामीका आश्रय श्रीरामजीका चरण है क्योंकि चरणके देवता विष्णु हैं, वही विष्णु व्यापक भी हैं। यथा—"**विश–प्रवेशने धातोर्विष्णुरित्यभिधीयते ॥**" (महारामायणे) इसीसे श्रीरामजीके चरणको विश्वरूपमें पाताल कहा है। यथा—"**पग पाताल सीस अज धामा।**" (लं० दो० १४) इस प्रकार श्रीरामजीके चरण रूप पातालमें ही मन, बलिकी तरह वामनरूप अंतर्यामीका दर्शन करने लगता है, इसी दर्शनसे इसका निजरूप साक्षात्कार होता है, क्योंकि जीवका स्वरूपभी व्यापकके समानही है, ऊपर चौ० ४ में '**द्वासुपर्णा०**' इस श्रुतिसे दिखा आये। जैसे इन्द्रके वज्रकी भयसे बलि स्थान बदला करते हैं वैसेही इस आत्मरतिवाले मनको भी कर्मेन्द्रिय हाथके देवता इन्द्रसे सकामकर्मरूप वज्रका भय रहता है। यथा—'**कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें।**" (उ० दो० १११) इसीसे यह भी किसी इन्द्रियरूप स्थानपर नहीं ठहरता, कि कहीं इनसे सकामकर्मोंकी कामना न उपज पड़े; नहीं तो वज्रसम आघात होगा, इस प्रकार इस लक्ष्यसे

इस 'ज्ञातृ–ज्ञेय' संबंधमें **'वामनावतार'** का भी तात्पर्य जानना चाहिये। इसी लक्ष्यपर नाम जपनेसे उपरोक्त विषयोंका साक्षात्कार आगे वा० दो० २२ में होगा ॥

अथ नामान्तर साधनचतुष्टय प्रकरण।

(९) ऊपर चौ० ३ की टि० (९) के क्रमानुसार यहाँ **'तितिक्षा'** का प्रसंग है। इसका अर्थ 'सुख-दुःखादिमें एकरस रहकर शांतिपूर्वक सहना' होता है। यह कार्य यहाँ विशेषरूपसे हुआ, क्योंकि जीव जो देहके सुखदुःखादिमें हर्ष शोक करता रहा उससे अपने स्वरूपकी स्थिति अलग बोध हुई और जीव सुख दुःखादिको देहसंबंधी गुणोंका व्यवहार विचारकर उनका भोक्तृत्व भी गुणोंपर ही छोड स्वयं शांत हो एकरस रहने लगा। यथा–" **गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।**" (गीता. अ० ३) यही तितिक्षाका सर्वस्व है ॥

मूल (चौ०)

स्वाद तोष सम सुगति सुधाके। कमठसेष सम धर बसुधाके ॥७॥

टीका–सुंदरगति रूप अमृतके स्वाद और संतोषके समान है, कच्छप और शेषके समान पृथ्वीके धारण करनेवाले हैं ॥ ७ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "**स्वाद०**" का भाव यह कि ऊपर चौ० में 'ज्ञातृ-ज्ञेय' सं० से आत्मज्ञानरूपी सुगतिका प्राप्त होना कह आये, उसीकी मोक्ष अथवा अमृत भी संज्ञा है। यथा–श्रुतिः "**विद्ययामृतमश्नुते**" (ईशावास्य) उस अमृतमें स्वाद और संतोष दो गुण होते है। (अमरत्व तो उसका सहजस्वरूप है) कि जिस स्वादसे प्रसन्नता होती है, और संतोषसे फिर कुछ खाने पीनेकी इच्छा नहीं रहती, वैसे ही इस सुगति सुधामें जो स्वाद और संतोष कारकता है वह इन रा और म की ही है। तात्पर्य यह कि, इस सुगतिमें स्वादरूप ज्ञानविरागादि गुणोंकी निधान भक्ति है, जिसे ऊपर "**भगति सुतिय कल करन विभूषन**" में जो पतिरूप श्रीरामजीके आश्रित उन्हें ही उपाय उपेयादि जाननेमें दिखा आये। वे श्रीरामजी रकारवाच्य हैं, अतएव वहाँके 'स्वाद' रूप रा हुए और "**जगहित हेतु विमल विधु पूषन**" के लक्ष्यमें जो सम्यक्प्रकारकी कामनाओंसे मनको संतोष होना कहा गया, वह 'चन्द्रमा' मकारार्थ ही है, इससे संतोषरूप मकार हुए, इससे निश्चय हुआ कि ये दोनों गुण रकार मकारहीके पुरुषार्थसे हुए थे।

(अनुसंधानार्थ)

प्रश्न–प्रथमकी बातका यहाँ पुनः कहनेका क्या प्रयोजन? **उत्तर**–इस आत्मज्ञानरूपी सुगतिकी स्थितिके लिये चारगुणोंकी अति आवश्यकता है, कि जिनसे अंतःकरण एकरस रहे, वे चार यह हैं यथा–"**अनुराग सो निजरूप जो जगते बिलच्छन देखिए। संतोष सम सीतल सदादम देहवंत न लेखिए॥ निरमल निरामय एकरस तेहि हर्षसोक**

न व्यापई । त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई ॥" (वि० १३७) अर्थात् चित्त संतोषसे निर्मल रहेगा तो विषयोंपर न ताकेगा । तथा बुद्धि, क्रोध-मूल-द्वैत-रहित अर्थात् सम रहे, यथा—"**दोइतबुद्धि विनु क्रोध किमि ।**" (उ० दो० १११) तो निरामय अर्थात् क्रोधादि विकार रहित रहेगी और अहंकार जो अग्निका अंशभूत है वह यदि अभिमानादि अग्निरहित शीतल रहे, तो एकरस रहेगा । पुनः मन सदादम अर्थात् वासना रहित रहे, तो हर्षशोक रहित रहेगा, तब त्रैलोक पावन होकर सदा आत्मज्ञानयुक्त रहेगा । इनमें मनकी विकारमय अवस्था चित्तका कार्यरूप है पूर्वोक्त आवरणप्रसंगके चौथेमें दिखा आये और अहंकार, बुद्धि (महत्तत्त्व) का कार्यरूप है, यह भी वहाँ ही तीसरे आवरणमें दिखा आये यहाँ पर स्वादरूप रकारने ज्ञान-विराग-युक्त भक्तिको, जिससे बुद्धि अपने पुरुषार्थरूप त्रिधाऽहंकारका कार्य जानकर विकारको प्राप्त होती थी, अपना दिखाकर इन दोनोंको (महत्तत्त्व और अहंकारको) चुपचाप एकरस रहनेका सुअवसर प्राप्त कराया । इसी प्रकार चित्तके प्रति भी संतोष लाभमें उसके पुरुषार्थरूप मनका कार्य संतोषरूप मकारने अपना दिखाकर इन चित्त और मनको भी एकरस बैठना कहा । इस प्रकार मन बुद्धि चित्त अहंकारके पोषक रकार मकार हैं यहाँ समस्त पुरुषार्थ अपना दिखाकर नामने जापकको 'अहंकार' की ईहा (चेष्टा) से रक्षा किया ।

अथ संबंधोद्धार प्रकरण ।

(३) पूर्व मंत्रोद्धार तथा संबंध निरूपणमें जो 'जीवान् रमयति' इस रामशब्दके अर्थसे 'शरीर-शरीरी' संबंध होना कह आये थे । सो यहाँ सब जीवोंको तिनका निजसुख सदा एकरस रखकर रमावना (सुखदेना) नामके ही पुरुषार्थसे सिद्ध हुआ, अतः यहाँ **'शरीर-शरीरी'** सं० का उद्धार हुआ क्योंकि शरीर देहको और शरीरी जीवको कहते हैं, इसका साक्षात्कार आगे बा० दो० २३ में होगा ॥

(तात्पर्यार्थ)

अथ नामान्तर परशुरामावतारका लक्ष्य ।

(४) जैसे कामधेनु संबंधी विरोधसे परशुरामजीने अवतार लेकर क्षत्रियाधीश सहस्रबाहुको तिसके अनुयायी राजाओं समेत मारा और तिनसे छीनकर पृथ्वी ब्राह्मणोंको दे दिया । वैसे ही यहाँ नामने भी सुगतिरूपा कामधेनुके विरोधी, मनरूप सहस्रबाहुको, जिसके विषयसंबंधी सहस्रों संकल्पैं सहस्र बाहु हैं, तिसके अनुयायी इन्द्रियरूप क्षेत्रोंके अधिकारी देवतारूप अनेकों क्षत्रियोंसमेत मारा । अर्थात् इनको अभिमान और कर्तृत्व रहित किया और शुद्धबुद्धिरूपा पृथ्वी जीवरूप ब्राह्मणको दिया. कि जिससे यह एकरस आत्मचिंतवनरूप ब्राह्मणत्वमें स्थित रहे । ब्राह्मण यथा—"**जानइ ब्रह्मसो विप्रवर**" (उ० दो० ९९) अर्थात् जो ब्रह्म जाननेमें (आत्मचिंतवनमें) रत रहे वह ब्राह्मण है, वैसा ही यहाँ जीव रहा । अवतार यथा—"**छत्रियाधीस करि निकर वर केसरी परसुधर ससि जलदरूपम् ।**" (वि० ५३) इसका साक्षात्कार आगे छठें संबंधमें होगा ॥

अथ नामान्तर साधनचतुष्टय प्रकरण।

(५) उपरोक्त चौ० ३ टि० (५) के क्रमानुसार यहाँ 'श्रद्धा' का प्रसंग है। जिसका अर्थ 'गुरुवेदान्तवाक्योंमें विश्वास करना' होता है। वही यहाँ नामने दृढाया कि सब प्रकार जीवोंको ब्रह्म ही सुख देता है, जो टि० (३) में दिखा आये यही गुरु और वेदान्तवाक्योंका सार सिद्धान्त है॥

(भावार्थ)

(६) "**कमठ सेष सम धर बसुधा के।**" का भाव यह कि ऊपर टि० (४) में जो बुद्धिरूपा पृथ्वीका शुद्ध होकर जीवको प्राप्त होना कह आये। उसके भी धारणकर्ता नाम ही हैं, वही दिखाते हैं। यथा—वसुधा (वसु—धन, धा—धारण कर्त्री) अर्थात् जो धनको धारण करे, वह पृथ्वी है, तथा धनके भी कारण धर्म हैं, तो जो धर्मोंको धारणकर्त्री बुद्धि है, वह भी वसुधा है। इन दोनोंमें तत्त्वतः अभेद है, यथा—"**बुद्धिर्जाता क्षितेरपि**" (जिज्ञासापंचके) अर्थात् पृथ्वीसे बुद्धि होती है, अतः कार्य कारणरूपमें ऐक्य है। तो जैसे संपूर्ण धन सहित पृथ्वीको शेषजी कमठभगवान्‌के आधारपर धारण करते हैं, वैसे ही त्रिधाऽहंकारके तीनों गुणोंके कार्यरूप कर्म ज्ञान उपासनादि धर्मोंको धारण करनेवाली बुद्धिरूपा पृथ्वीको जीववाचक मकार शेषरूपसे और ब्रह्मवाचक रकार कमठरूपसे धारण करते हैं, अर्थात् मकार जीवको शेषवत् श्रद्धासहित धर्ममय-बुद्धिके धारणमें नियुक्त करते हैं, और ब्रह्मरूप रकार कमठवत् धारण करते हैं, अर्थात् अपनी शक्तिसे धर्मोंको कराते हैं। यथा—"**यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान्हि-तान्॥**" (गीता. अ० ७) इस प्रकार यहाँ बुद्धिकी धर्म-ईहा निवारण होकर रक्षा हुई॥

(अनुसंधानार्थ)

अथ संबंधोद्धार प्रकरण।

(७) पूर्व मंत्रोद्धार तथा सं० निरू० प्रसंगमें जो 'श्रीरमयति' इस रामशब्दके दूसरे अर्थसे 'भोक्ता—भोग्य' सं० कह आये थे। उसी श्रीका अर्थ प्रकृति है, (श्रीजो श्रीजानकीजी तिनकी इच्छासे होनेवाली मूलप्रकृति है) उसीका परिणामरूपा पृथ्वी है, उसके मुख्याधार होनेके कारण भोक्ता भगवान् ही हैं। यथा—श्रुतिः—'**यस्य पृथिवी शरीरम्**' (बृहदा० उ० ३। ७। ३) शरीर नाम भोगका है और भोक्ताको शरीरी कहते हैं, जैसे जीव अज्ञानदशामें अपने शरीरका शरीरी होनेसे भोक्ता रहता है, वैसे ही यथार्थमें अपने शरीर पृथ्वीके भोक्ता भगवत् हैं, वैसे ही जीवोंकी बुद्धिके भी धारणकर्ता नाम ही हैं, तो वे ही इसके भोक्ता और यह उनकी भोग्य है। इस प्रकार यहाँ '**भोक्ता-भोग्य**' संबंधोद्धार हुआ, इसका साक्षात्कार आगे बा० दो० २४ में होगा॥

(तात्पर्यार्थ)

अथ नामान्तर श्रीरामावतारका लक्ष्य।

(८) ऊपर टि० (७) में '**श्रीरमयति**' की आशयपर जो धर्ममय बुद्धिका आधार होना नामको कह आये, वैसे ही श्रीरामजीने भी इसी प्रकारकी श्री (प्रकृति) रूपा लंकामें गई हुई मायासीताका, आधार होकर रक्षा किया। उसीमें साधुपरित्राण, दुष्टविनाशन तथा धर्मसंस्थापनादि अवतारके सब प्रधानकार्य हुए। यथा—"**जब २ होइ धरमकै हानी। बाढहिं असुर अधम अभिमानी॥ ० हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा॥ असुर मारि थापहिं सुरन्ह, राखहिं निज श्रुतिसेतु। ० राम जनमकर हेतु॥**" (वा० दो० १२०—१२१) इसका साक्षात्कार सातवें अ० प्र० में होगा॥

अथ नामान्तर साधनचतुष्टय प्रकरण।

(९) उपरोक्त चौ० २ टि० (५) के क्रमानुसार यहाँ '**समाधान**' का प्रसंग हैं, इसका अर्थ 'चित्तएकाग्र होना' है, चित्त सात्विक अहंकारको कहते हैं, यह बुद्धिके संग धर्मोंमें वृत्ति फैलाता है, यहाँ संपूर्ण धर्मप्रकाशक नामको जानकर यह शांत होकर एकाग्र हुआ॥

मूल (चौ०)

जनमनमंजु कंज मधु कर से। जीह जसोमति हरि हलधर से॥ ८॥

टीका—भक्तके सुन्दर मनरूपी सुन्दर कमलके लिये मधु करके समान हैं, जीभरूपी यशोदाजीको श्रीकृष्ण और बलरामके समान हैं॥ ८॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**जनमन०**' का भाव यह कि ऊपर चौ० ७ टि० (६) में बुद्धिकी चेष्टा निवृत्ति दिखा आये। अब पूर्वोक्त दूसरे आवरणके प्रकृतिकी चेष्टाका निवारण होना दिखाते हैं, जैसे यह जीव प्रथम मूलप्रकृतिके अंश चंद्रमंडलरूप मनमें आया, तब अपने व्यष्टिशरीरके लिये अहंबुद्धि कर प्रकृतिके अंश मनको ग्रहण किया था। इसी दूसरे आवरणके मनको जन-मन अर्थात् जनका मन कहते हैं और इसके कंज विशेषणसे भी ज्ञात होता है. यथा कंज (कं—जल, ज—जायमान) अर्थात् जो जलसे जायमान हो, वह तो उपरोक्त मन ही है, यथा '**सलिलान्मन एव स्यात्**' (जिज्ञासापंचके) जब जीव प्रथमावरणके चन्द्रमंडलसे जलरूप होकर किरणद्वारा व्यष्टिदेहके लिये, प्रकृतिमंडलमें चलकर पृथ्वीमें आया यह मन तभीका है, तहाँ यह मन ही सुखहेतु कर्मकामना किया था। ऐसे इस दूसरे आवरणसे मुक्त होनेके लिये यहाँ आधार-आधेय-संबंधोद्धार करेंगे, क्योंकि आधार नाम कामना पुरानेवालेका है और आधेय नाम अभिलाषा (कामना) करनेवालेका है। पूर्व इस आवरणमें जो जीव कामना-पूर्ति-हेतु अहंबुद्धि किया था वह भ्रम है, क्योंकि अब यहाँ मालूम होता है, कि इसकी कामनायें श्रीरामजी अथवा उनके नाम ही पूरी करते हैं। यथा

'जनमन०' अर्थात् जैसे कमल कीचसंसर्गसे उगता है, वैसे ही यह जनका मन कर्मविकार-रूप कीचसे उपरोक्त 'ज्ञातृ-ज्ञेय' संबंधमें निकला। कीच–यथा 'कर्मकीच चित सान्यो।' (वि० ८९) जैसे कीचसे सूर्यकी गर्मी और जलका द्रवगुण कमलको उगाता है, वैसे ही वहाँ गरमीके कारण रकार सूर्यरूपसे और द्रवगुणवाले मकार चन्द्रमारूपसे थे। पुनः शरीर-शरीरी सं०में 'सुगतिसुधा' रूप जलमें स्वादरूप रकारकी गर्मी और संतोषरूप मकारके द्रवगुणसे पोषित नालपुरइनरूप होकर ऊपर देख पडा। तब जैसे कमल अपने भोक्ता सूर्यको देखकर खिलता है, तैसे ही उपरोक्त भोक्ता-भोग्य संबंधमें नामको भोक्ता पाकर खिला, पुन यहाँपर इस कंजमें मंजु भी विशेषण है, तिसका हेतु यह कि यह मन प्रथमके विकारोंसे शुद्ध होकर उज्ज्वल हो चुका है, मंजुका ही अर्थ उज्ज्वलता है। जैसे खिले हुए उज्ज्वल कमलको प्रकटरूपसे पृथक् २ जल और सूर्यकिरण, इन दोनोंकी अभिलाषा रहती है। दोनोंके बराबर संसर्गसे ही एकरस खिला रहता है, वैसे ही यहाँ रकार मकारको 'मधु-कर' कहा है। प्रथम जल चाहिये, इसलिये मकारको प्रथम मधु अर्थात् जलरूप कहा, तब रकारको कर अर्थात् सूर्यकी किरणरूप कहा है। इस प्रकारमें प्रथम मकार इसे आत्मबुद्धिरूप जलसे आनंद-रूप रसयुक्त लवलीन रखते हैं पुनः रकार निजार्थद्वारा अनुभव रूपी किरणोंसे सदा एकरस प्रफुल्ल रखते हैं। यदि इस अवस्थामें भी रकार मकार इस प्रकार चाहपुरानेमें तत्पर न रहें, तो मकार जो चन्द्रबीज आह्लाद-स्वरूप है, इनके दिव्यआनन्द विना यह प्राकृत आनंदकी ओर चित्त देगा, तो उस कामाग्निसे तुरंत भस्म होजायगा, जैसे जल विना कमल, तथा रकाररूपी किरणके अनुभवरूप प्रकाश विना पूर्ववत् कर्मकामना रूप अँधेरीसहित इसे अहंकाररूप रात फिर आ जायगी, जिसके शिवजी देवता हैं, तो शिवजीके मस्तकके चन्द्रमाकी किरणोंके समान अहंकारके राजसाहं (मन) के विषयेच्छारूप चन्द्रकिरणोंसे भस्म हो जायगा। इस प्रकार यहाँ पर दिव्यकामना-पुरानेवाले नामसे 'प्रकृति-ईहा (चेष्टा)' दूर हुई और प्रकृतिसे रक्षा हुई।

(अनुसंधानार्थ)

अथ संबंधोद्धार प्रकरण।

(२) पूर्व मंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपणमें जो चाहपुरानेमें 'आधार-आधेय' संबंध कह आये थे, उसका ऊपर टि० (१) के अनुसार यहाँ उद्धार हुआ आगे बा० दो० २९ में साक्षात्कार होगा।

(तात्पर्यार्थ)

अथ नामान्तर कृष्णावतारका लक्ष्य।

(३) जैसे श्रीकृष्ण भगवान् मथुरामें प्रकट होकर गोकुल और वृन्दावनमें जाकर अपने शृंगार गुणसे सुंदरी गोपिकाओंकी अभिलाषा पुराते हुए आधार हुए, वैसे ही यहाँ भी नामरूप श्रीकृष्णजी 'जन मन' रूप मथुरा हेतु प्रकट हुए। पुनः चित्तरूप गोकुलमें जाकर बुद्धिरूप

वृन्दावनसे गोपीरूप इन्द्रियोंको उनके पति गोपरूप इन्द्रियदेवोंसे पृथक् किया, और स्वयं चाहपुराना दिखाया। अर्थात् यहाँ नामको सब चाहपुरानेवाला जाननेसे इन्द्रियां अपने देवतोंसहित कर्म व्यापार छोडकर आत्मरत हुईं रकारने कर अर्थात् प्रकाशकतासे देवताओंका प्रकाशकत्व दूर किया, और मकारने अपने मधुरूप श्रृंगारगुणकी आनन्दमय कामनाओंसे तृप्त किया, क्योंकि मधु नाम रसका है और रस प्रधानरूपसे श्रृंगारका ही बोधक है यथा– "**शृंगारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः**" इत्यमरः। मूलमें 'जनमन' के साथ मंजु विशेषण मनसहित सब इन्द्रियरूप गोपिकाओंके श्रृंगारगुणका बोधक है, क्योंकि मंजुका उज्ज्वल अर्थ है, जो कि श्रृंगाररसका भी वाचक है। यथा–"**शृंगारः शुचिरुज्ज्वलः।**" इसका साक्षात्कार अ० प्र० नं० ८ में होगा।

अथ नामान्तर साधनचतुष्टय प्रकरण।

(४) उपरोक्त चौ० ३ टि० (९) के क्रमानुसार यहाँ '**ऐहिकामुष्मिक फलभोग विराग**' का प्रसंग है, जिसका अर्थ 'लौकिक तथा पारलौकिक सुखोंसे वैराग्य होना' है। वह यहाँ यथा–मकारके आनंददातृत्वपर लोकसुख त्याग हुआ और रकारके अनुभव प्रकाशके आधारसे जो इन्द्रियदेवोंकी गुलामी टि० (३) में छूटी, तो उनके द्वारा साधन होनेवाले पारलौकिक स्वर्गादि सुखका भी संबंध छूटा। इस प्रकार यहाँ 'विराग' की दृढश्रद्धा हुई।

(भावार्थ)

(५) "**जीह जसोमति हरि हलधर से**" का भाव यह कि, जैसे श्रीकृष्ण भगवान् देवकीजीसे प्रकट होकर गुप्त ही आकर यशोदाजीके कहाये और बलरामजी भी देवकीके ही गर्भसे योगमाया प्रेरित जाकर रोहिणीजीके गर्भसे प्रकट होकर मित्रता संयोगसे बाहरसे आकर यशोदाजीके नाम मात्र पुत्र कहाये, वैसे ही नामोच्चारण समय प्रथम दोनों वर्ण नाभिस्थानरूप मथुराकी परावाणीरूपा देवकीसे स्फुरित होते हैं। (वर्णोंके प्रमाण ऊपर चौ० ४ टि० (१) में लिख आये) पुनः अकेले श्रीकृष्णजीकी तरह रा मुखरूप गोकुलमें आकर जिह्वारूपा यशोदासे प्रकट होते हैं, अतः नाममात्र पुत्र हुए पर यशोदाकी तरह जिह्वा भी अपना पुत्र अर्थात् निजोच्चरित ही जानती हैं और मकाररूप बलरामजीको ओष्ठस्थानरूपा रोहिणीने भी अपना स्पर्शजन्य पुत्र प्रसिद्धरूपमें समझा, यह भी इन्हें परावाणीरूपा देवकीके गर्भसंभूत नहीं जानती। पुनः जो वैखरीवाणीसे नाम लेनेमें जिह्वासे ओष्ठका संयोग होता है, यही यशोदा रोहिणीकी मित्रता है। पुनः जैसे श्रीकृष्ण बलराम एकत्र हुए और यशोदा द्वारा ही पुत्ररूपसे लालन पालन हुआ। वैसे ही जिह्वाको भी श्रद्धा उत्साहसमेत निजोच्चरित पुत्रवत् दोनों वर्णोंका लालन पालनरूप अहर्निशि रटन करना चाहिये। यहाँ तक इसकी क्रिया कहा, अब लाभ दिखाते हैं, वह लाभ ग्रंथकारने 'हरि' विशेषणसे जनाया है, कि विपत्ति हरनेवालेकी हरि संज्ञा है, अर्थात् जैसे यशोदाजीके ही लालन पालन अवस्थामें श्रीकृष्ण

बलरामने गोकुल, वृन्दावन और मथुराकी समस्त बाधायें हरण किया। वैसे ही नाम भी मन मथुरा चित्त गोकुल तथा आत्मबुद्धिरूप वृन्दावनकी वैसी २ ही समस्त बाधायें केवल जिह्वासे ही लालन पालननें हरेंगे। ऊपर जो नामके कृष्णावतारसे केवल आनन्दमात्रकी प्राप्तिको कह आये। तिसके साथ २ की ही बाधाओंका निवारण यहाँ दिखावेंगे। तात्पर्य यह है, कि वहाँके आनंदकी स्थिति यहाँके विचारसहित आराधनसे ही निर्विघ्न रहेगी। वहाँ दूसरे आवरणसे जीवके छूटनेका प्रसंग था, यहाँ अब प्रथमावरणसे मुक्त होनेका लक्ष्य दिखाते हैं, जैसे पूर्व आवरण प्रसंगके प्रथममें जीवको काल कर्म गुण स्वभावको ग्रहण करके तिनके वश होना लिख आये। तिनसे छूटनेके लिये नाम जापकको क्रमशः लक्ष्य दिखाते है, जैसे मथुरासे कंसने पूतनाको गोकुल भेजा, वह कुचमें कालकूट लगाकर कालरूप हो कर आई और श्रीकृष्णको मारना चाहा, वैसे जीभसे रटते हुए जापककी कालबाधा नामभी निवारण करते हैं और अपने विषे स्नेहको स्वयं ज्ञानपूर्वक रक्षा करते है, आगे बा० दो० २६ चौ० ५ में इसका साक्षात्कार दिखावेंगे। (क्योंकि वह दोहाभर इस प्रसंगके संबंधका साक्षात्कार रूप होगा) पुनः, जैसे वहाँ (वृन्दावनमें) ब्रह्माने ग्वालवाल और बछडोंको हरण किया, वह बाधाभी श्रीकृष्णने ही स्वयं जानकर निवारण किया। वैसे ही नामद्वारा जापककी कर्मबाधासे रक्षा होना वहींपर बा०दो०२६ चौ० ६ में दिखावेंगे। तथा जैसे वृन्दावनमें कालीदहकी बाधा, गोवर्द्धन पूजामें इन्द्रकी बाधा और नंद-जीको वरुणलोकमें हरेजानेकी बाधा हुई, तब श्रीकृष्णभगवान्ने उनसे रक्षा किया। वैसे २ सर्वाङ्ग मिलान सहित जापकको तीनों गुणोंकी बाधासे नामद्वारा रक्षा पाना वहींके (बा० दो० २६ चौ० ७ के) " **नहिं कलि करम न भगति विवेकू** " में दिखावेंगे। जैसे यशोदाजीके यहाँ उपरोक्त बाधायें कारण पा २ कर होती थीं, वैसे ही जिह्वामें भी काल, कर्म, गुणादि बाधाके कारण विद्यमान हैं। यथा—" **जिह्वा मूले स्थितो देवः सर्वतेजोमयोऽनलः। तदग्रे भास्करश्चन्द्रः तालुमध्ये प्रतिष्ठितः॥** " (योगियाज्ञवल्क्यः) अर्थात् जिह्वामें ही अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका निवास है। ये तीनों क्रमशः काल, कर्म, और गुणके कारण भी हैं। यथा—अग्निसे महाप्रलयरूप काल होता है, पुनः सूर्यके समक्षमें तथा तिनके आश्रय कर्म किये जाते हैं, और चन्द्रमा प्रकृतिके अंशभूत तीनोंगुणमय हैं ! और ये ही अग्न्यादि तीनों क्रमशः कर्म ज्ञान और उपासनारूप पुरुषार्थोंके भी कारण हैं। (बा० दो० १८ चौ० १ में दिखा आये) अतः इन्हीं कर्मादि तीनोंमें प्रवृत्त होनेवाले जीवको ही उपरोक्त कालादि तीनों बाधायें होती हैं। (कर्ममें काल भक्तिमें कर्म, और ज्ञानमें गुण बाधा होती हैं, यह सब नवेंसंबंधमें दिखावेंगे) यहाँ तक गोकुल और वृन्दावनकी रक्षा दिखाई गई। अब मन-रूप मथुराकी स्वभावसे रक्षा दिखाते हैं जो मनकी कार्यावस्थाका विकाररूप है, अर्थात् चन्द्रमा-सम मन जो तीनोंगुणमय है, तिसका तमोगुण विषम होकर कालरूप वैसे ही रजोगुण कर्म और सतोगुण गुणत्रयरूप हो जाता है। ये ही तीनों मिलकर स्वभाव होते हैं। पूर्वके आवरणप्रसंगमें

दिखा आये। जैसे यशोदासे ही पालित श्रीकृष्ण बलराम मथुरामें आये, वैसे ही जिह्वासे ही रटते २ उतने ही दिनोंमें नाम भी पूर्ण समर्थ होकर वैखरी, मध्यमा तथा पश्यन्ती वाणीसे होते, स्वभाव बाधा रक्षण करते हुए मंजु मनरूप मथुराके नाभिस्थानकी परावाणीरूपा देवकी (पूर्वकी माता) के सुख देनेको चलते हैं। (यहाँकेश्रीकृष्णकी अवस्थाकी तरह जापकके भी वर्षोंका क्रम आगे टि० (९) के स्वतंत्रप्रसंगमें कहेंगे) **प्रश्न**—पूर्व मंजुमनको मथुरासम कहा, फिर यहाँ के नाभिस्थानसे क्या संबंध है ? **उत्तर**—आत्मरत—मंजुमन और परावाणीका ऐक्य है, क्योंकि—वहींपर हृदय कमलमें ही मनका भी स्थान है, यथा—"**मनुष्याणां च हृदये पद्मैकं वर्तते शुभम्। भिन्नवर्णाष्टकदलं प्रतितिष्ठति वै मनः॥**" (जिज्ञासापञ्चके)।

(अनुसंधानार्थ)

(कं) **स्वभाव-बाधा रक्षण**—जैसे अक्रूरजीको भेजकर कंसने जालसाजीसे श्रीकृष्ण बलरामको बुलवाया और श्रीकृष्णका प्रभाव देखकर अक्रूरजीने स्वतः सब जाल बतला दिया, वैसे ही स्वभावान्तर कालांश रक्षा, तथा कंसवधमें कर्मांश रक्षा और श्रीकृष्णके अभिन्नसखा उद्धवजी और गोपिकाओंके संवादके लक्ष्यमें गुणांशरक्षा इसी प्रसंगके साक्षात्काररूप आगे बा० दो० २६ चौ० ८ में चरितार्थरूपमें दिखावेंगे। इस भाँति इस लक्ष्यसहित जपसे, जैसे वहां श्रीकृष्ण बलरामने देवकीको सुख दिया, नाम भी परावाणीको सुख देते हुए 'मंजुमन' रूपी मथुराको निर्विघ्न और आनन्दमय करेंगे *। इसका साक्षात्कार बा० दो० २६ में होगा॥

अथ संबंधोद्धार प्रकरण।

(६) पूर्व मंत्रोद्धार तथा सं० निरू० में जो सर्वोपायरूप होनेसे नामको स्वामी और शरणागत प्रजारूप जीवको स्व कह आये। वही नामका स्वामित्व यहाँ जीवोंके पालन व बाधारक्षा करनेमें दिखाया गया और नामहीको सर्वोपाय जाननेका 'स्व' स्वरूप जीवका भी प्रकट हुआ। पुनः ग्रंथकारने शब्दोंके भावसे भी दिखाया हैं। यथा—नामको "**हरि हलधर से**"॥ कहा है, इसमें हरि वाच्चक रा और हलधरवाच्चक म है। यहाँ श्रीकृष्णके अन्य नामोंके अतिरिक्त हरि ही देनेसे प्रकट हुआ, कि यह ब्रह्मांड पालक (राजा) विष्णुभगवान्का मुख्यनाम है, औरोंमें इस हरिशब्दका गौणप्रयोग समझा जाता है। इस प्रकार सर्वपालकतासे हरि विशेषणसे नामका स्वामित्व स्पष्ट है पुनः ऐसे ही जीवरूप बलरामजीका हलधर नाम जीवमात्रके स्वत्वका प्रकाशक है। यथा—हल अर्थात् किसानोंके खेत जोतनेका यंत्र, धर अर्थात् धारण करनेवाला, अर्थात् हल धारण करनेवाले किसान, जो प्रजा भी कहे जाते हैं, प्रजाको ही 'स्व' भी कहते हैं। अतः यहाँ 'स्व-स्वामी' संबंधका उद्धार हुआ+ इसका साक्षात्कार आगे बा० दो० २६ में होगा॥

नोट—*यहाँ काल, कर्म, गुण, स्वभावसे रक्षा करनेका नामका बल जानकर इनसे रक्षार्थ मनकी कर्तव्य ईहा (चेष्टा) छूटी, और नामको अंत तकके रक्षक विचारकर निःशंक हुआ॥

+ इस संबंधमें संपूर्णबाधा रक्षण कार्य केवल रकाररूप श्रीकृष्णका ही प्रकट हुआ इसका

(तात्पर्यार्थ)

अथ नामान्तर बुद्धावतारका लक्ष्य।

(७) जैसे शुक्राचार्यके उपदेशसे यज्ञादि धर्मकर २ के असुरोंकी वृद्धि देखकर देवता डरे और भगवान्से पुकार किये तब भगवान्ने बुद्धावतार धारण किया और अहिंसाको ही परमधर्म दिखाकर वेदके यज्ञादि कर्मोंमें हिंसा दिखाया और असुरोंको यज्ञ करनेसे तथा और २ वैदिक धर्मोंसे रोका क्योंकि वे लोग यह धर्म देवतोंको वश करके दुखानेके लिये करते थे। इसीसे वे धर्म तामसी और प्रतिकूल थे। यथा "**परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।**" (गीता अ० १७) और अनुकूल धर्म तो परायेके हितसहित होता है। यथा–"**परहित सरिस धरम नहिं भाई।**" (उ० दो० ४०) तथा कहा भी है–"**परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्**" इत्यादि, वैसेही यहाँ नामने भी जापकके आत्मज्ञानकी सिद्धावस्थाके प्रतिकूल जानकर अन्य धर्मोंको छोडानेके लिये इसे काल, कर्म, गुण, स्वभावादिमें आसुरी स्वरूप दिखाया। यथा–"**कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें।**" (उ० दो० १११) तो अपने अयोग्य आसुरी संपत्ति देखकर इन्द्रियदेव समूह डरे, कि कहीं कर्मादिमें पड़कर इस आसुरीसंपत्तिमें बँध न जाँय। तब नामरूप बुद्धजीने सब धर्म छोड़कर स्नेहसहित जिह्वासे अपना जपरूप अहिंसात्मकधर्म दिखाया। इसका साक्षात्कार अ० प्र० नं० ९ में दिखावेंगे॥

अथ नामांतर साधनचतुष्टय प्रकरण।

(८) उपरोक्त चौ० ३ टि० (९) के क्रमानुसार यहाँ '**विवेक**' का प्रसंग है। इसका अर्थ 'सत् असत् वस्तुका जानना' है। यह इस प्रसंग भरमें (सत् अर्थात् आत्म और असत् अर्थात् सकामकर्म सहित देह व्यवहारका) पूर्ण बोध हुआ और असत्के कारण काल कर्मादिका त्याग और सत् अर्थात् शुद्ध आत्मस्वरूपसे भगवत् स्नेहमें दृढ श्रद्धा हुई॥

अथ नामाराधनक्रम।

(९) ऊपर टि० (९) में यह प्रसंग कहनेको कहा था, वह यहाँ लिखते हैं। कि जैसे श्रीकृष्ण बलराम यशोदाजीके यहाँ ११ वर्ष रहे, वैसे नामाराधन भी इस "**जीह जसो०**" के लक्ष्यपर स्व-स्वामी संबंधमें ११ वर्ष जपना स्पष्ट हुआ। तब इससे पूर्वके आठों संबंधोंमें क्रमशः एक एक वर्ष कम समझना चाहिये। अर्थात् आठवां १० वर्ष सातवां ९ वर्ष ऐसे ही क्रमसे पहिला संबंध तीनवर्ष जपनेका पड़ा, क्योंकि पहिला संबंध गंधतन्मात्रा शुद्धिका है, यह संबंध ऋणत्रय निवर्तक है, इस लिये भी तीन वर्षमें इसके कार्यकी सिद्धि दिखाये और दूसरा संबंध रसतन्मात्राशुद्धिका है, वह रसत० गंधत०का कारण है, अतः गंधसे रसका विषय प्रबल

–कारण यह है, कि यह संबंध सिद्धदशामें कालक्षेपका है, उस अवस्थामें जीवके लिये कर्तव्य-कार्य कुछ नहीं रहता, यह अपने शरण्यअंतर्यामीपर ही निर्भर रहता है, और यह संबंध नामको सर्वोपाय तथा स्वामी जाननेका है, अतः मकारने जीव कर्तृत्वका उपदेश नहीं किया॥

है, इससे दूसरे सं०में चार वर्षकी अपेक्षा हुई, तीसरा सं० रूपत०के अग्नितत्त्वका शोधक है, जो अग्नि बड़वानलरूपसे जलके समुद्रका भी शोषक है, अतः रसत०से रूपत०का भी विषय प्रबल है, इसीसे तीसरे सं०में ५ वर्ष कहा गया, इसी तरह उत्तरोत्तर प्रशस्त हैं, अतएव यही क्रम ठीक है, तीन वर्षके पहिले संबंधको लेकर ११ वर्ष वाले नवें संबंध तकके वर्षोंका जोड़ तिरसठ (६३) वर्ष होता है ॥

(कं) इस तिरसठ (६३) की संख्यासे यह भी भाव है, कि सत्, चित्, आनंद, स्वरूप (३) के अंकसम श्रीरामजी हुए और वैसे ही रूपवाली तद्वत् (३) के अंकसम श्री जानकीजी हुईं, ये दोनोंरूप अभिन्न हैं, अतएव मिलकर बाईं ओरके दहाईवाले छः (६) के अंकसम हुए और वैसेही सच्चिदानंदस्वरूप जीव भी मुक्तअवस्थामें तद्वत् (३) के अंकसम उपरोक्त छः अंकवाच्य श्रीसीतारामकी सन्मुखता पाकर तिरसठ (६३) सम होगा। तव पूर्वकी संसारावस्थासे उल्टा हो जायगा. जीवकी संसारास्था ३६ के अंकसम है, इसमें तीन दहाईके आश्रय छः इकाई है, अर्थात् इस अवस्थामें जीव, श्रीसीतारामजीका स्थूलरूप जो ६ के अंकसम ब्रह्मांड है, उसके ही सूक्ष्मरूप अपने देहको यह अपने तीनके अंकसम रूपके आश्रय समझता है, और इसीसे इस देहके कर्मोंका अभिमानी रहता है। कहाभी है यथा"–**जगते रहु छत्तीस होय, रामचरन छत्तीन । तुलसी देखु बिचारि हिय, है यह मंतो प्रवीन ॥** " (इस दोहेका आशय यह है, कि उपरोक्त आशय विचारकर जगत्से ३६ की तरह प्रतिकूल हो और श्रीसीतारामजीमें ६३ सम सन्मुख रहे) ॥

(खं) इस ६३ वर्षके साधनमें सिद्धि कहनेका अभिप्राय यह है, कि जीवोंमें परमार्थ साधनके योग्य बुद्धि किशोरअवस्था (१५ वर्षके) ऊपर में आती है, जो कोई बालक साधन करते हैं, वे संगसे श्रद्धा पाय लग जाते हैं या कोई दैवयोगसे, विचारसहित नहीं। इस प्रकार ६३ में पूर्व आयुके १५ वर्ष जोडनेपर ७८ वर्ष होते हैं, इतनी अवस्था जब भजनसमेत चली जायगी तो एक तो जापककी सिद्धअवस्था ही आजायगी, जैसे ऊपर दिखा आये और बाधाओंसे भी नाम स्वयं रक्षा करते रहेंगे। दूसरे विकारकी अवस्था भी व्यतीत हो जायगी। क्योंकि जीवोंका नित्यशत्रु काम है। यथा–" **आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥** " (गीता० अ० ३) यह कामप्रमाद पुरुषमें ७० वर्षकी आयुके पीछे नहीं रहता, यह वैद्यकसिद्धान्त है। इसीसे ७७ वर्ष ७ महीना ७ दिन तककी आयुवाला पुरुष परमपुनीत माना जाता है, कहा भी है, कि–" **सप्तसप्तति वर्षाणि सप्त मासा दिनानि च । एषा भीमरथीराज्या नोल्लंघ्या पापकर्मभिः ॥** " अतः शेष शत्रुहीन अवस्थामें अनायास ही स्मरण वना रहेगा तो मरणमपर्यंत उपासनाके लिये जो शास्त्रकी आज्ञा है। यथा–" **आप्रयाणात् तत्रापि हि दृष्टम्** " (ब्रह्मसूत्रे) उससे भी विरोध न पड़ेगा ॥

(गं) **शंका**–जैसे तप आदिमें एकवारके अनुष्ठानसे सिद्धि न होनेपर दो वार तीन वार

क्रमशः (उत्तरोत्तर) तिगुना २ बढ़ाकर किया जाता है, जैसे श्रीपार्वतीजीके तपमें प्रथम १००० वर्षके क्रमने प्रारंभ हो कर पुनः १०० वर्ष तदनुसार १० वर्ष फिर १ वर्षके उपवासका अनुष्टान रहा, तब ११११ वर्षका प्रथम अनुष्टान रहा सिद्ध न होनेपर पुनः प्रथमसे तिगुनाका अनुष्टान प्रारंभ हुआ, तो ३००० वर्षसे क्रम चला, उन्हें इसीमें सिद्धि होगई, इससे आगे नहीं करना पड़ा नहीं तो पुनः ३००, ३०, ३ से दूसरा अनुष्टान भी पूरा होता, यदि इसमें भी न सिद्धि होती, तो वैसे ही तिगुने ९९९९ का करतीं, पश्चात् व्यतिक्रमसे लौटाते हुए ३३३३ पुनः पाँचवाँ ११११ वर्षका होनेपर जवाकार तपस्या पूरी होती। (जैसे जवका दोनों सिरा पतला और बीचका भाग मोटा होता है,) (यह प्रसंग बा० दो० ७३ में देखो) वैसी रीति क्या नाममें भी ? **समाधान**—नहीं नहीं, इसमें तो ३ वर्षसे प्रारंभ हुआ और ११ पर समाप्त हुआ है, तो अंतिम अनुष्टानमें एक ही एक (११) है, उसका तिगुना फिर तीन ही होता है, तो इस संख्यासे तो प्रथम ही प्रारंभ हुआ है, अतः स्पष्ट हुआ, कि यह क्रम अद्वितीय है और यह साधनक्रम अव्यर्थ है, तथा यह नामाराधन सब साधनोंमें भी अद्वितीय और शिरमौर है ॥

सिंहावलोकन।

ऊपर साधारणक्रम कहा गया है, नहीं तो नाम तो ऐसे कृपालु हैं कि उल्टे सीधे श्रद्धासे अथवा कोई बहानेसे तथा संकेतसे कैसे हूँ स्मरण करे, तो एक वारमें भी गति देते हैं। यथा—"**आभीर जवन किरात० कहि नाम वारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते**" ॥ (उ० दो० १२९) तो भी जीवका धर्म है, कि प्रियतम प्रभुका नाम क्षणभर भी न विसारे। यथा—"**विस्मरणे व्याकुलतेति**" (नारदसूत्रे) पुनः उपरोक्त एकवारके स्मरणमें गति पाना प्रायः अंतकालका नियम है, यथा—"**जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमहुँ मुकुत होय श्रुति गावा॥**" (आ० दो० ३२) तथा—"**अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥**" (गीता० अ० ८) अतएव न जाने किस क्षणमें प्राण निकले इस लिये अहर्निश जपना चाहिये॥

संबंध सारांश।

इस रक्ष्य-रक्षकसं० के प्रथम दोहार्थमें सद्गुरुद्वारा जापकका मंत्र, नाम तथा कंठी आदि संस्कारद्वारा दिव्यजन्म हुआ पुनः चौ० १ में कालकूटके अमृत होनेकी पहिचान हुई तथा चौ० ३ से ८ वीं तकमें रसना प्रमादजन्य सब इन्द्रिय अंतःकरणोंकी 'रस (स्वाद)-ईहा' से रक्षा होना दिखाया गया और संबंधोंके उद्धारके साथ २ नामके नव अवतार भी दिखाये गये। शेष दशवाँ (कल्की) अवतार जो भविष्यमें होगा. उसे आगे तटस्थ दोहार्थमें दिखावेंगे। यहाँ तकके साधनसे जीवका पूर्वोक्त 'रसतन्मात्राका **आठवाँ** आवरण' निवृत्त हुआ तथा इसी आवरणमें आनेसे इसके शुद्धरूपका जो '**विजर**' गुण; नाश हुआ था। उसकी पुनः प्राप्तिका भरोसा हुआ।

अथ अखिल प्रकरण नं० २ ।

टिप्पणी (तात्पर्यार्थ)

अथ जापकके हृदयरूप गर्भमें नामकी अवस्था और अवतार प्रसंग ।

(१) पूर्वके अ० प्र० नं० १ टि० (१) में इनका शिवमुखरूप चन्द्रमंडलसे दूसरे आवरण (प्रकृति) में आनेका सत्यसंकल्प कह आये । अब यहाँकी व्यवस्था कहते हैं कि जैसे जीव चंद्रमंडलसे संकल्प करके व्यष्टि शरीरोंके लिये चन्द्रकिरणोंद्वारा चलता है तो वृष्टि आदिसे होते हुए अन्नद्वारा पिताका वीर्यरूप हो मातासे संयोग होनेसे परवश गर्भमें आता है। वैसे ही इसकी रक्षार्थ नामने स्वेच्छासे शिवमुखचन्द्रपर विषपान विरदरूप किरणोंद्वारा भूमंडल भरमें वृष्टिरूप ख्यात हुए। यथा—"**वरषारितु रघुपति०**" में कह आये। पुनः बीजमंत्ररूपसे गुरुरूप पितामें प्राप्त हुए तो जापकके शरीररूपी माताके सर्वोत्तम इन्द्रिय श्रवणसे गुरुरूप पिताके भी उत्तम इन्द्रिय मुखद्वारा उपदेशरूप गर्भमें आये [पूर्वके अ० प्र० नं० १ टि० (१) के सिंहके रूपकका प्रसंग यथा—सिंहिनीमें गर्भाधान होते ही उसका पुरुष सिंह मर जाता है, वैसे शरीरमें इनका गर्भाधान होते ही, तिसका मोहरूप (भोक्ता) पुरुष मरगया। जो कि संचितकर्मका परिणामरूप ही था । अब प्रारब्ध कर्म परिणाम शरीररूप सिंहिनी (माता) रह गई। वह भी नवसंबंधरूप नवमासकी पूर्तिपर मरेगी। आगे बा० दो० २७ में दिखावेंगे] इस प्रकार इनके जन्मका कर्म दिव्यरूपसे हुआ, यथा—श्रीमुख वचन है, "**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः**" (गीता. अ० ४.) गर्भमें प्राप्त जीव जैसे असत् शरीरकी कामना करता है, वैसे ये (नाम) भी अवतारोंकी कामना किये। (यहाँ अवतारोंका लक्ष्यमात्र है, इससे कामना होना कहा गया क्योंकि इनका साक्षात्कार प्रत्येक संबंधके प्रत्येक अ० प्र० टि० (३) में होगा) अवतारोंके शरीर चिदानंदमय (सत्) होते हैं, तिनकी कामना करनेसे यहाँ इनका "**सत्यकाम**" गुण प्रकाश हुआ, जिन्हें देखकर जीवोंकी असत् (इन्द्रिय) कामनायें (चेष्टाएँ) नाश हुईं। जैसे श्रीरामजीके गर्भमें आनेके लक्ष्यसे ही चौदहोलोक सुखसंपत्तिसे पूर्ण होजाते हैं। यथा—"**जा दिनते हरि गर्भहिं आए । सकललोक सुख संपति छाए ॥**" (बा० दो० १८९) वैसे ही जापकके शरीररूपी ब्रह्मांडके ११ इन्द्रिय ३ अंतःकरणरूप चौदहो लोक अनीहतारूपी सुखसंपत्तिसे परिपूर्ण होकर प्रफुल्ल हुए। यहाँतक दूसरे आवरणमें आये ।

अथ नामरूपईश्वरकी प्रथमभावानुसार पंचधा स्थिति ।

(२) पूर्वके अ० प्र० नं० १ टि० (गे) के क्रमानुसार यहाँ '**विभव**' का प्रसंग है। यह विभव नाम उनका है, जो भगवान् मुख्य या गौणरूपसे अवतार लेकर जगत्की रक्षा करते

हैं। यह दिव्यरूपसे स्वेच्छा पूर्वक होता है। इनके कार्य यथा—"**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥**" (गीता अ० ४) वह यहाँ रूपकी तरह नामने भी '**ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती।**' के शब्दरूपी आकाशसे जिनके सूक्ष्मार्थरूपा आकाशवाणीसे अवतारोंके कारणरूप एक अनीहादि नवो गुणोंको कहकर रक्षार्थ भरोसा दिया और पुनः नवो अवतारोंके लक्ष्यसे ११ इन्द्रिय ३ अंतःकारणरूपी चौदह लोकोंको वैषयिक चेष्टारूपा आसुरी संपत्तिका संहार किया तथा नवो संबंध विचारपूर्वक नामरटनरूप धर्मसंस्थापन किया। इसीसे जापकरूप साधुका परित्राण हुआ, और इन्द्रियदेवता दैवीसंपत्तिरूप ऐश्वर्य पाकर सुथल बसे॥

अथ नामांतरदशअवतारोंके साक्षात्कारका प्रसंग।

(३) संबंधोद्धारके क्रमानुसार यहाँ '**कमठ**' अवतारका प्रसंग है। उसका मिलान यथा—अकारार्थसे '**अव–रक्षणे**' धातुसे रक्षार्थ जो यह संबंध है, वही प्राकृत रस विषय शोषक दिव्यरसमय क्षीरसमुद्र हुआ, इसके बीचकी चौ० (४) के '**ब्रह्म जीव सम सहजसँघाती**' का अर्थ अपने एक अनीहादि संबंधाधार-गुणों-सहित मंदराचल हुआ और नाम कमठ हुए तथा नाग (सर्प) सम आकारवाली जिह्वा (जिसे 'जीह जसोमति हरि हलधर से' में कह आये) वासुकी नागसम हुई और नवो प्रकारकी जो विषयईहारूप आसुरी संपत्ति कह आये, ये ही असुर समूह एक ओर पकडे तथा नवोसंबंधरूप दैवी संपत्तिरूप देवता दूसरी ओर पकडे तब रटनरूप मथन होने लगा। वहाँ जैसे प्रथम हालाहल विष निकला और शिवजी द्वारा अमृत हुआ वैसे ही यहाँ की पहिली चौ० में कालकूटका अमृत होना दिखा आये। पुनः वरुणालय रसनाके–रसविषयमें पूर्वकी सनी हुई ११ इन्द्रिय और तीनों अंतःकरण शुद्ध होकर चौदह रत्न सम निकले। तिन्हें पा २ कर इन्द्रियदेवता सुखी हुए और अनीहतारूपी अमृत भी इन देवतोंको ही मिला॥

अथ नामान्तर भक्तिरस प्रकरण।

(४) पूर्वके अ० प्र० नं० १ टि० (४) के क्रमानुसार यहाँ '**शृंगाररस**' की साधनैअवस्थाका प्रसंग है। इस रसकी प्रवर्द्धिनी अनन्य पतिव्रता नायिकारूपा तुलसी है, वह प्रथम ही दोहार्थमें कंठीरूपसे कंठ लगी। (इसके गुण आगे टि० (९) में विस्तारसे दिखावेंगे,)और इस प्रसंग भरमें 'रसना' की शुद्धिका प्रकरण था,वही शुद्ध होकर दिव्यरूपवाली नायिका सम हुई इसका नामके साथ नित्य पतिपत्नी संबंध है, (भूमिकाके रामनामोद्धारप्रसंगमें दिखा आये) पुनः इस शृंगाररसका आधार श्रीजानकीजी हैं, तिनकी प्रेरणासे सब अवतार होते हैं, पूर्व दिखा आये। वह उनके कार्यके नवोअवतार इस संबंधमें दिखाये गये। अतएव यहाँ रक्षार्थ उनके गुणोंकी भी स्थिति है, जैसे पति स्त्रीकी रक्षा करता है, वैसे '**जीह जसोमति०**' में नामद्वारा रसनाकी रक्षा होना दिखा आये। तहाँही पतिव्रताकी भाँति रसनाका भी नामरूप पतिमें अनन्यव्रत

प्रकट है, और इसने अन्य इन्द्रिय पोषणमें तिनके देवताओंका संग (चेष्टा) परपुरुषसंगकी भाँति त्याग दिया, जैसे इस रसमें आठोंयाम सेवाके लिये आठ कुंज तथा एक रंग महल (रातशयनकी कुंज) रहती है। वैसे इस संबंधकी चौथी चौ० जो अनेक आशयरूप अनेकों कोठरियोंयुक्त यहाँके रक्ष्य-रक्षक संबंधके उद्धारकी है, सोई रंगमहल है और शेष आठों संबंध-रूप आठ सेवा कुंजें हैं। इस प्रकारकी इन कुंजोंमें रसनारूपा सखी अनेकाशयरूप सेवासौंज ले लेकर रटनरूप सेवा करती हुई नाम पतिके संग आनंदविलास करती है॥

अथ नामान्तर पंचसंस्कार प्रसंग।

(९) पूर्व अ० प्र० नं १ टि० (९) के क्रमानुसार यहाँ "**कण्ठी (माला)**" संस्कारकी साधनावस्थाका प्रकरण है। इसका इस प्रकरणके प्रारंभके दोहार्थमेंही धारण होना दिखा आये। यहाँ इस तुलसीका स्वरूप दिखाते हैं, जिसकी यह कंठी होती है, यथा यह पहिले वृन्दानामक जलंधर दैत्यकी पत्नी परमसती थी, यहाँ तक कि परपुरुष जानकर सूर्यको भी न देखती थी, इसके इस धर्मके प्रभावसे जलंधर अतिप्रबल होकर देवताओंको अत्यन्त दुःख देने लगा, तब शिवजीने बहुत संग्राम किया, पर वह न मरा, निदान विष्णुभगवान्ने छल करके इसका पतिव्रत भंग किया, तब वह तुरंत मरा, उसे मरा देखकर वृन्दाने क्रोधकरके शाप दिया। तब भगवान् शालिग्रामरूप हुए, और इसे तुलसी करके सदा शिरपर धारणके लिये प्रतिज्ञा किये, यह कृपा देखकर वृन्दाने मृतक जलंधरको तो जलमें धर दिया (त्याग दिया) और तद्वत् भगवान्में रत होकर इनकी वल्लभा हुई। ऐसा जानकर इन्हें तीनों लोक माथे चढाया॥

(कं) वैसेही यहाँ वृन्दासम रसना है अर्थात् वृन्दा नाम वृन्द अर्थात् समूह जो इन्द्रियाँ तिनकी पोषनेवाली यह रसना है। (यहाँ रसनासे रसनामय बुद्धि जानना चाहिये) और जलंधर-यथा-जल अर्थात् रस, तिसका अर्थ वीर्य है, उसका ही परिणाम शरीर है, उसका धर अर्थात् धारण करनेवाला, जो मोह है, यथा—"**जासु सत्यता ते जडमाया। भास सत्य इव मोह सहाया॥**" (बा० दो० ११६) वही जलंधररूप है, क्योंकि यही तो रावण हुआ, जो कि मोहरूप ही था, यथा—"**मोह दसमौलि०**" (वि० ५९) देहमें सचाई मान-कर पोषणमें रत अवस्थाको मोह कहते हैं, यहाँ शरण होनेके पूर्व यह रसना भी पतिव्रताकी भाँति देहपोषनरूप मोहमें ही निमग्न रहती थी। इसीसे शिवसमररूप अपने अहंकारके पुरुषार्थ-रूप कर्मसे यह मोह (देहाभिमान) नाश न होता था, क्योंकि सब रसोंकी ज्ञाता रसना (वृन्दा) इन्द्रियोंको नानापदार्थोंका रस दे २ कर प्रमाद उपजाया करती थी, यही इसका पतिव्रत था, कि जिससे काम क्रोधादिद्वारा कर्म नष्ट होजाते थे, और सूर्य जो ज्ञानकारक निष्कामकर्मके नियंता हैं, तिन्हें न देखती अर्थात् भूलकर भी निष्कामकर्म न करती थी, केवल शरीरसुख (मोह) में निमग्न रहती थी। तब जैसे भगवान्ने छलरूप (छायारूप) से उसका

पति बनकर स्पर्श किया, वैसे ही यहाँ रसनाका पति जो पूर्वोक्त मोह है, उसका कारण जो रस अर्थात् स्वादमय भोजन है, अथवा जलंधर अर्थात् जल जो रस (स्वाद) तिसका धारक जो भोजन है, वह भी इसके मोहपतिका छायारूप ही है. अर्थात् यह उसमें ही रमण चाहती रहती है, उस भोजनरूपसे ही भगवान्‌ने इसे छल लिया, भाव—" **बरषारितु रघु०** " में जो जीव भगवान्‌की शरण हुआ, तो श्रीगुरुजी शरण कराकर भगवत्प्रसाद दिये, वह भोग लगनेसे भगवान्‌के अधर स्पर्शसे सायुज्यमुक्त होकर सच्चिदानन्द स्वरूप प्रसाद हुआ था, इस रसनामें उसका स्पर्श होते ही इसका पतिव्रत भंग हुआ, और जलंधर पति मरा, अर्थात् रसनाने पूर्ववत् भोजनरूपपतिको जानकर विष्णुरूप प्रसादसे आस्वादनरूप रमण किया। जैसे ही उस भोजनका सच्चिदानंदमय रस इन्द्रियोंमें पहुँचा, तैसे उन सबोंने शुद्ध होकर निवृत्तिकी ओर वृत्ति किया, तब संपूर्ण इन्द्रियादिकी ' **ईहा** ' छूटी, जो विस्तारसे इस संबंधमें कह आये, यही देह पोषकतारूप मोहका मरना हुआ, तो वृन्दाकी तरह इसका शाप देना यह कि जैसे उसने मृतक पतिके अंगोंको सामने देखकर प्रतीति होनेसे छल जानकर कोप किया था, तैसेही यहाँ भी मोहकी अंगरूपा दशेन्द्रियोंमें विषयोंकी अचाह हुई, तब इन्हें मृतकतुल्य जानकर प्रतीति हुई, कि भगवान्‌ने कैसे छल नाम युक्तिसे मुझे मेरे मुख्य विषय भोजनका रूप होकर तितिक्षादि कष्ट विनाही कृपा करके अपनाया, यह निर्हेतु कृपा समझकर नित्यसंयोगहेतु शुद्धहृदयसे ज्ञान प्रकाश हुआ कि जिनके अधरस्पर्श मात्रसे भोजनादि जड़पदार्थ दिव्य हुए, तो हमारे सर्वाङ्ग यदि सेवामें लगें, तो तद्वत् सच्चिदानंद हो जायँगे; तो संयोग कैसे हो? वे तो सच्चिदानंदमय और हम जडशरीर धारी हैं, यही ज्ञानवृद्धि कोपरूप है, क्योंकि ज्ञानका रूपक सूर्यसे दिया जाता है, यथा—" **तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥** " (गीता अ० ५) जैसे सूर्यमें भी विशेष प्रकाश बढनेसे उनका कोप कहा जाता है। यथा—" **जनु कोपि दिनकर कर निकर०** " (लं० दो० ९१) पुनः जैसे उसने कोपसे जलकर शाप दिया, कि जड़ हो जावो, वैसे यहाँ रसना युक्तबुद्धि ज्ञानप्रकाशरूपी कोपसे विरहरूप जलनसहित चाहा, कि जैसे हम पृथिव्यादि जड़तत्त्वोंके शरीरधारी हैं, वैसे ही रूप हे भगवन्! आपका भी हो तो मेरी आशा पूरी हो, यह शाप अर्थात् जीवके ज्ञान-विरह-सहित हार्दिक शुद्धकांक्षा सुनकर भगवान्‌ने अर्चारूप धारण किया। (इस जीवके लिये यहाँपर भगवान्‌का होना यह कि यह उनका महत्त्व जानकर निष्ठापूर्वक लगा) भगवान्‌के लिये यह शाप इस लिये कहाया, कि आपको इस रूपमें शिला आदि जड़विग्रहसे अत्यंत परवश होकर नाना प्रकारके कष्ट कृपावश स्वीकार करने पड़ते हैं। पुनः जो भगवान्‌ने वृन्दाको शापवत् कहा कि तुम भी तुलसी वृक्ष (जड़रूप) हो, सो यह कि अपना अंश पुत्रवत् जीव बहुत दिनका बिछुड़ा हुआ मिलनेकी आतुरता प्रकट किया तो आपके भी प्रकर्ष करुणा उदय हुई और आहभरी गरमवचन (इति शापवत् व्यङ्ग) कहे, कि तुम भी वृक्ष हो, भाव जिस रजवीर्य सबंधी शरीरके संग तुम्हारी (रसनामय बुद्धि की) रसमय

वृत्ति हुई, हमने वह कारण ही नाश किया। अर्थात् जैसे तुलसी स्वतः वनमें उपजती है, किसानरूप माता पितादि संबंधोंमें नहीं बँधती, तैसे ही हमने अपनेमें तुम्हारे माता पितादि (पूर्वोक्त) तीनों ऋणोंका धनीपना दिखाकर तुम्हें विरक्त वैष्णवरूप तुलसी बनाया, और तीनोंलोक पूज्य करि माथेपर धारण किया। यथा-"**मोते संत अधिककरि लेखा।**" (आ० दो० ३८) (यह श्रीमुख वचन है) यह शाप इस प्रकार कहाया, कि लोकदृष्टिमें मान-मर्याद-रहित भिक्षुक होना शाप ही है, तथा मनुष्य देहधारीको वृक्ष बनाना शाप ही है, (यहाँ उपरोक्त भगवत् कथन यों है, कि उनके प्रसादसे शुद्ध हुए हृदयमें ऐसा ज्ञान हुआ) पुनः जैसे तुलसी हरिवल्लभा हुई, वैसे संत भी अर्चास्वरूपको प्रिय हैं, क्योंकि ऐसी शास्त्रविधि है कि जहाँ श्रीस्वरूप पधरे हों, वहाँ यदि साधुसेवा न हो तो दोष होता है। इतनी अभिलाषासे पाकर जैसे तुलसी भगवान्को नहीं छोड़तीं, वही वृत्ति उद्दीपन हेतु तथा प्रसाद माहात्म्य और भगवत् करुणागुण प्रकाशक जानकर तथा और अनेकों आशयपर वैष्णवोंमें तुलसीजीको अनेकों प्रकारसे धारण करनेकी विधि है और कंठीको सदा कंठमें धारण करनेका यह भी अभिप्राय है, कि कंठसे ही रसनाग्रहीत पदार्थ भीतर जाते हैं, तो जिससे इनमें स्पर्श होते हुए जायँ, तो इनकी समान उन रसोंद्वारा इन्द्रियोंकी वृत्ति भी भगवत्में अनन्य भावसे लगें। यहाँ पर्यंतकी जितनी व्यवस्था तुलसीप्रसंगकी इस संबंधके नामानुगत हुई अर्थात् कंठी धारण करना और सब इंद्रियोंसमेत रसनाका अनीह होकर नामानन्य होना स्पष्ट हुआ, अतएव यहाँ कंठी अपने माहात्म्य-सहित प्राप्त हुई और ग्रंथकारने भी 'तुलसी सालि सुदास' के उपरोक्त अर्थमें कंठी धारण करके तब उससे अगली चौ० '**आखर मधुर०**' में नामरूप भोजनको रसनासे सद्गुरुसे पाकर प्रसाद रूप पाया' कि जिससे इन तुलसीजीके स्पर्शसहित कंठके भीतर नाम भी जाँय, तो तुलसीजीके समान वासना उपजाकर फिर स्वयं अपने कल्पवृक्षवत् स्वभावसे वैसेही सजावैं। वही ठीक २ आगेकी सातों चौपाइयोंके परिज्ञानसे वैसा ही हुआ इस तुलसी कंठीकी महिमाको श्रुति भी कहती है। यथा-"**ॐ यो वै लोकपावनीं तुलसीकाष्ठजां मालिकां कण्ठे धारयति स जीवन्मुक्तो भवति**" इति ऋग्वेदे द्वितीय संस्कारः ॥ (श्रीराम पटल) यहाँ इस संस्कारका आरंभिकगुण प्रकट हुआ, और इसका तुलसीसम होना इस संबंधके साक्षात्कारके फल रूप बा० दो० २६ के अर्थमें दिखावेंगे। अतः इस कंठीके धारणपर बलिहार है, और ऐसी 'तुलसी' की जय जयकार है ॥

अथ नामान्तर भक्ति प्रकरण।

(६) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (६) के क्रमानुसार यहाँ 'दूसरी और आठवीं' नवधा भक्तिका प्रकरण है। दूसरी यथा-"**दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।**" (आ० दो० ३७) अर्थात् श्रीरामजीका वचन शवरीसे है, कि हमारी कथाके प्रसंगमें रति (प्रीतिसहित विचार) करना, यह दूसरी भक्ति है। यहाँ कथाका सुनना तो प्रथम

भक्तिके सत्संगमें ही संभव होता है, इस लिये यहाँ उनके प्रसंगोंका विचार करना कहा। विचार यह कि प्रत्येक कथा किसी न किसी प्रमादजन्य पापोंके प्रायश्चित्तों पर ही हैं, तथा कथाओंके मूल अवतारादि भी पापोद्धार हेतु ही है, वे पाप इन्द्रियोंसे होते हैं, इन्द्रियाँ रसनाकेद्वारा प्रबल होती हैं, अतएव इसका ही संयम करना चाहिये और पूर्वसे जो प्रमाद-युक्त होचुकी है, उन इन्द्रियोंको कथा ही द्वारा जानकर भगवत्में लगावेंगे, तो वे सेवानिरत भक्तकी पूर्व (रसनासंयम) चाह भी पूरी करके इसे इन्द्रियोंसहित अनीह करेंगे, क्योंकि भगवान् कल्पवृक्षसम वांछित दाता हैं, इस भक्तिका कार्य रसानासहित इंद्रिय–ईहा–निवृत्ति तथा तिनसे भगवत्प्रीति होना नामके इस संबंधमें विशेषरूपसे स्पष्ट है॥ तथा आठवीं यथा–

"आठवँ यथा लाभ संतोषा। सपनेहुँ नहिं देखइ परदोषा॥" (अ० दो० ७८)

इसका तात्पर्य मन बुद्धि चित्त अहंकारकी सामान्यशुद्धि होनेसे और जो प्राप्त हो उसीमें संतोष होनेका है, यह सब (अंतःकरणोंकी भी ईहानिवृत्ति) इस संबंधमें दिखा आये। अतएव यहाँ यह दोनों भक्ति प्रशस्तरूपसे आई॥

अथ नामांतर ज्ञान प्रकरण।

(७) पूर्वके अ० प्र० नं १ टि० (७) के प्रमाणमेंसे प्रथम भूमिका वहाँ दिखाई गई, उसके आगेकी दूसरी ' **विचारना** ' नामकी भूमिकाका यहाँ प्रसंग है। यथा–" **परमधरम-मय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥ तोष मरुत तव छमा जुडावै।**" (उ० दो० ११६) अर्थात् यहाँ परमधर्म वैष्णव धर्मको कहा है, क्योंकि वह अहिंसात्मक है, यथा–" **परमधरम श्रुतिविदित अहिंसा।**" (उ० दो० १२०) ऐसा तो वैष्णवधर्मही है, कि इसमें चैतन्य जीवोंके हिंसाकी तो बात बडी दूर है, जड वृक्षोंसे दतुअन आदि भी भगवदर्थ प्रार्थनापूर्वक माँगी जाती है। इसमें यह शंका नहीं कि यहाँ तो रूक्षज्ञानका प्रसंग है उपासना क्यों आई? क्योंकि प्रथम साधनकालमें भेदपूर्वक उपासना उन ज्ञानियोंमें भी होती है, वैसेही अवस्थाका यहाँ प्रसंग है, इस परमधर्मका सिद्धान्त यह कि इन्द्रियाँ भगवत्में लगें, सो इस संबंधमें प्राकृत ईहा छोड २ कर लगीं, यह वृत्ति होना दुहे हुए दूधसम हुआ और सर्व ईहा त्यागमें अकाम अग्निका औटना भी हुआ इसी निष्कामतासे पूर्वोक्त वृत्ति गाढ़ी अर्थात् दृढ़ हुई, यही औटे हुए दूधका रूपक हुआ। पुनः उसमें संतोषरूप पवनका लगना, यहाँके अंतःकरणोंकी प्रीतिसहित निष्कामताके सहजसंतोषमें आगया, पुनः क्षमासे जुडावना यह कि क्षमा अर्थात् शांति, अर्थात् विषयोंके त्यागमें इन्द्रियोंकी सहजवृत्ति रहे, कभी उद्वेग न हो, ऐसी क्षमा भी यहाँ नामसे अनीहता आनेमें स्वाभाविक है, इस प्रकार कुछ कालमें दूध जुडावने सम हुआ, यही अकामता संतोष और क्षमा सहित सुधर्म विचारना ज्ञानकी दूसरी भूमिका हुई, यथा–" **दूजी कही विचारना, उपज्यो तत्त्वविचार। है यकान्त शोधन लग्यो, को हौं को संसार॥**" (उ० टीका-वैजनाथजी) इस दोहेके तत्त्वविचारादि इस संबंधमें प्रशस्तरूपसे स्पष्ट हैं॥

अथ नामान्तर भगवत्साधर्म्य प्राप्ति।

(८) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (८) के क्रमानुसार यहाँ 'अनीह' का प्रसंग है, सो सब इन्द्रिय तथा अंतःकरणोंकी अनीहता मूलके अर्थमें स्पष्ट है ॥

इति श्रीरामवल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्तशरणकृत श्रीमन्मानसनामवंदनायाः तत्त्वार्थ-सुमिरनी टीकायां द्वितीय मणिकार्थवर्णने तृतीयोऽध्यायः ॥

इति द्वितीय मणिकार्थ समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः।

अथ श्रीमन्मानसनामवंदनाका तृतीय दोहा।

मूल।

एक छत्र एक मुकुट मनि, सब बरनानि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नामके, बरन बिराजत दोउ ॥ २० ॥

टीका-(१) श्रीगोस्वामीजी दिखाते हैं, कि देखो श्रीरघुवरके नामके दोनों अक्षरोंमेंसे एक छत्र (‌ॅ) रूपसे दूसरा मुकुटमणि (ं) रूपसे सब अक्षरोंके ऊपर विराजते हैं ॥

(२) श्रीगोस्वामीजी दिखाते हैं, कि सब वर्णोंमें पर (जो अकार है उस) को देखो, तो रामनामके दोनों वर्णोंमेंसे एक छत्ररूप दूसरा मुकुटमणिरूप होकर (तिसपर) विराजते हैं ॥ २० ॥

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) यथा-"**निर्वर्ण रामनामेदं केवलं च स्वराधिपम्। मुकुटं छत्रं च सर्वेषां सकारो रेफ व्यंजनम् ॥**" (महारामायणे) अर्थ (१) के अनुसार नामने अपने इस सूक्ष्मस्वरूपसे जीवोंको भरोसा दिया, कि जैसे हम स्वरहीन होनेसे सब वर्णोंके ऊपर विराजने लगते हैं, तैसे ही जापकको भी स्वरहीन अर्थात् श्वासहीन (मृत्यु) होनेपर (ऊर्ध्वगति) परात्पर साकेतलोकमें शोभित करेंगे, यथा-"**यन्नाम संसर्गवशाद्विवर्णौ नष्टस्वरौ मूर्ध्निगतौ स्वराणाम्। तद्रामपादौ हृदि सन्निधाय देही कथं नोर्ध्वगतिं प्रयाति॥**" और नामका नित्यस्वरूपभी यही है, इस रूपसे जैसे नाम स्वयं सवर्गी सब वर्णोंसे पूज्य होते हैं, तैसे इनका जापकभी प्राकृतरूपरहित होनेपर लोकत्रय पूज्य (आत्मरूप पाकर) अर्थात् अपने सवर्गी जीवोंसे पूज्य होता है, यथा-"**निर्वर्णं रामनामेदं वर्णानां कारणं परम्। ये स्मरन्ति सदा भक्त्या ते पूज्या भुवनत्रये ॥**" (महारामायणे) इस त्रैलोकपूज्यत्वके अर्थमें आत्मसाक्षात्कार, ऊपर बा० दो० १८ चौ० ४ के गणेशजीके प्रसंगमें कह आये इस

आत्मरूपसे जीव भगवत्का नित्य अनन्य शेष है, यथा-" **मकारवाच्यो जीवो रकारवाच्याय रामायैव शेषभूत इति वाक्यार्थः** " (रहस्यत्रय) इस प्रकार यह प्रथमार्थ भी जीवको शेषत्व प्राप्त करानेवाला है ॥

अब० पूर्वके प्रथम संबंधमें संसाराभिमानी जीवोंके संग नामको रेफार्थहीमें तीन अक्षरात्मक कहा गया पुनः दूसरे संबंधमें रकारके ह्रस्वाकारके अर्थमें स्वरूपभेदपूर्वक जीवेश्वरके नव संबंध दिखाते हुए नामको भी दोवर्णोंमें कहा गया, अब यहाँसे रकारहीके अव्यक्त चतुर्थ्यर्थमें आत्मस्वरूपका साधन करेंगे, जिसमें जीव और ब्रह्मकी स्वरूपमें एकता है, इसलिये यहाँ रकार ब्रह्मके साथ मकार जीवका अप्राकृतरूपसे नित्य शेषत्व दिखाया गया, इसका आशय यह है, कि जैसे ब्रह्म (श्रीरामजी) मन, बुद्धि और वाणीसे अगोचर हैं, परंतु भक्तोंपर कृपा करके प्रकट होकर इन्द्रियविषय होते हैं और उनको भी अपने समान अप्राकृतरूप करके निजलोक (श्रीअयोध्या) का सुख शेषत्वद्वारा प्राप्त कराते हैं, स्वरूपएकता यथा-" **हनुमदादि सब वानर वीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा ॥** " (उ० दो० ७) (इन वानरोंको श्रीरामजीके समान रूपकी प्राप्ति हुई थी) पुनः शेषत्व यथा-" **भरतादि अनुज विभीषणांगद हनुमदादि समेत जे। गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते ॥** " (उ० दो० ११) (यहाँ भी शेषत्वकी शोभा ' **बिराजते** ' विशेषणसे कही गई. जैसे ऊपर दोहेमें है)। वैसेही नाम भी इस इन्द्रिय अविषयरूपसे परावाणीमें रहते हैं, भक्तोंपर कृपा करके पूर्वोक्त " **जीह जसोमति ०** " की रीतिसे वैखरीवाणीपर आकर उसके विषय होते हैं और जीवको भी तुरीयअवस्था सहित समानरूप और अपना शेषत्व प्रदान करते हैं, यही आगे टि० से दिखाते हैं:-

(२) यहाँ उपरोक्त अर्थ (२) के अनुसार भावार्थ है, यथा-पूर्व ' **जीह जसोमति ०** ' के प्रसंगमें जैसे देवकीजीके पास श्रीकृष्ण बलराम आये, तैसे नामभी परावाणीमें आते हैं, यह कहा गया। तब वहाँ जैसे श्रीकृष्ण बलरामका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ, जिससे दूसरा जन्म माना जाता है, तब इनकी क्षत्रियवंशमें गणना तथा वासुदेव संज्ञा हुई और निमित्तमात्र उग्रसेनजीको राजा बनाकर आप उनकी क्षत्ररक्षा तथा राजकाजका भी सम्हाल करते थे, वैसेही नाममें भी दिखाते हैं यथा-' **जोउ** ' अर्थात् देखो, " **सब बरनन पर** " अर्थात् सब अक्षरोंमें उत्कृष्ट जो अकार है, यथा-" **अक्षराणामकारोस्मि** " (गीता० अ० १०) यह अकार सूक्ष्मरूपसे जब सब अक्षरोंमें बसता है, तभी वे उच्चारणरूप कार्यमें सार्थक होते हैं इसीसे यह वासुदेव वाचक हैं। यथा-" **अकारो वासुदेवः स्यात्** " (इति एकाक्षरकोशे) इस अकारकी तरह इसके वाच्य वासुदेवभी वर्णरूप जीवोंके अंतर बसता है, यही सूचनार्थ आगे ' जोउ' शब्द है, तिसका अर्थ द्रष्टा (देखनेवाला) भी होता है और वासुदेव सर्वद्रष्टा है ही, इस प्रकार यह जोउ श्लेषार्थसे वासुदेवका विशेषण भी हुआ, येही वासुदेव व्यूहोंकेभी कंदभूत हैं, इनका कार्य आगे इसी संबंधमें दिखावेंगे, ये वासुदेव श्रीरामजीके ही सूक्ष्मरूप हैं,

यथा-" **परिहरि हृदयकमल रघुनाथहिं बाहर फिरत मूढ मन धायो** ॥" (वि० २४९) और श्रीरामजी तो अपने अभिन्नरूपा श्रीजानकीजीके सहित रहते हैं, यथा-" **अंतरजामी रामसिय, तुम सर्वज्ञ सुजान** ॥ " (अ० दो० २९६) यह वासुदेववाचक अकार रामनामके मध्यका है । नामसे नामीके होनेका प्रमाण, यथा श्रुतिः-" **अर्द्धमात्रात्मको रामः सच्चिदानंदविग्रहः** ।" (रामताप०) अब शेष ' र और म ' के सूक्ष्मरूप दिखाते हैं, कि जैसे श्रीसीतारामजी प्रकटरूपसे छत्र मुकुट चन्द्रिकादि सहित रहते हैं, वैसेही यहाँ वासुदेव वाचक सूक्ष्म अकार पर एक अर्थात् रकार सूक्ष्मरूपमें छत्र (') रूप है और मकार मुकुटमणि (˙) है, यहाँ केवल मणि ही कहना रहा, क्योंकि मकारका सूक्ष्मरूप तो विन्दु (˙) ही है जो मणिवत् होता है, अर्थात् मकार जीव वाचक है, जैसे मणि छोटे आकारकी होती है वैसे ही जीवका भी ' अणु ' स्वरूप है यथा-श्रुतिः " **एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः** " (कठो०) किंतु मुकुटमणि कहनेका भाव यह कि वहाँ मणिरूप ज्ञानस्वरूप (प्रकाशमय) जीवोंका ही मुकुट है, और वही पृथक् मणिरूप भी है, पृथक् भी मणि कहनेका भाव यह कि श्रीजानकीजीकी चंद्रिकाका मूलभाग (चूड़ामणि) भी मणि ही है, अतएव पृथक्मणि चंद्रिकाके मूलभागके तईं कही गई है । इस प्रकार युगल स्वरूपके शिरके ही भूषण कह कर सर्वांगके अनन्त भूषण भी जीवोंको ही जनाया है, इन भूषणरूप जीवोंकी सायुज्य संज्ञा होती है, जो कि चारोंप्रकारकी मुक्तियोंमें श्रेष्ठ है, और वही सम्प्रदायशिरोमणि श्रीसंप्रदायकी इष्ट है, जैसे कि साम्प्रदायिक ग्रंथ विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तसारके पृष्ठ २२ में कहा है, कि ' इस श्रीसंप्रदायमें सायुज्य नामकी मुक्ति ही मानी गई है ' और शिरभूषण ही कहनेका हेतु यह कि नामजापक अतिप्रिय होनेसे शिरके भूषण होते हैं और अन्य भक्तिसे और अंगके भी भूषण होते हैं । इस प्रसंगका प्रमाण स्पष्टरूपमें भी है, यथा मनु शतरूपाके तपमें प्रथम भी कहा गया है, यथा-"**वासुदेव पद पंकरुह, दंपति मन अति लाग** । " (बा० दो० १४३) पुनः प्रकट होनेके समय भी, यथा-"**विस्ववास प्रगटे भगवाना** ॥ " (बा० दो० १४९) तहाँ वासुदेवमें ही श्रीसीतारामजीकी सर्वाङ्गभूषणोंसहित स्थिति रही, तब तो वे उस ध्यानके साधनसे साक्षात्कार हुए । ऊपरके प्रसंगसे मिलान-जैसे उग्रसेन राजा रहे वैसे ही शुद्धमनवाला जीव तुरीयावस्थामें रहता है । तहाँ रकार छत्रवत्, अकार वासुदेव श्रीकृष्णवत् रक्षक और मकार मणिवत् स्वरूप-प्रकाशक रहता है । इस प्रसंगसे भी प्रसंगानुसार जीवका नित्य शेषत्व दिखाया गया ॥

अथ नामान्तर कल्की अवतारका लक्ष्य ।

(तात्पर्यार्थ)

(३) इस दोहेके ऊपर तटस्थ ' **जीह जसोमति०** ' के प्रसंगकी टि० (७) में विभव स्वरूपोंका क्रमानुसार नवाँ बुद्धअवतार लक्षित हुआ था. तदनुसार यहाँ कल्कीअवतारका लक्ष्य है, जैसे अपने सूक्ष्मरूपसे श्रीरामजी प्रकट होते हैं, वैसे ही नामका यहाँ सूक्ष्मरूप है,

आगे इसी नामके प्रकट रूपसे ' रामनाम नरकेसरी० ' में अवतार दिखावेंगे, वहाँ इस (कल्की) अवतारका पूर्णाङ्ग स्पष्ट दिखावेंगे यहाँ लक्ष्य मात्र आया ॥ *

अथ संबंध निर्णय।

(अनुसंधानार्थ)

(४) पूर्व मंत्रोद्धार तथा सं० निरू० प्रसंगमें मंत्रराजके बीजके प्रथमाक्षर रकारके अव्यक्त-चतुर्थीसे ' **शेष–शेषी** ' संबंधका होना कह आये। प्रमाण यथा–" **तत्र प्रथमपदेन रकारेण हेय० सर्वशेषी भगवान् सीतापतिः श्रीरामः प्रतिपाद्यते** " (रहस्यत्रये) क्योंकि चतुर्थी तदर्थ वाचकता सिद्ध करती है, वही शेषका भी तात्पर्य है, यथा–" शेषः परार्थः " अर्थात् जो वस्तु किसीके वास्ते हो, तो वह वस्तु उसका शेष है, यही शेषत्व जीवका ऊपर अव०- और टि० (२) में दिखा आये, जैसे रकारकी अव्यक्त चतुर्थीसे इस संबंधका प्रादुर्भाव है, वैसे ही यह परमगोप्य है, इसीसे ग्रंथकारने भी गोप्याशयपूर्ण शब्दोंमें दिखाकर यहाँसे इस संबंधके साक्षात्कारप्रसंगका प्रारंभ किया है, ऐसे ही यह संबंध भर गोप्य (गूढ) है, इसीसे इसमें आगे चार जगह ' समझना २ ' कहेंगे। इस संबंधका उद्धार पूर्व बा० दो० १९ चौ० ९ टि० (३) में कर आये। इसीका विस्तार आगेकी आठों चौपाइयोंमें दिखावेंगे। इस संबंधमें जीवके शेषत्वप्रकाशक श्रीभरतजी हैं, (आगे चौ० ६ टि० (२) में देखो) ॥

मूल (चौ०)

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी ॥ १ ॥

टीका–नाम+और नामी (श्रीरामजी) समझनेमें एकसे हैं और परस्पर (दोनोंमें) स्वामी सेवक सरीखे प्रीति है ॥ १ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) यथा ऊपरके दोहार्थमें रूपके सूक्ष्मस्वरूप और नामके सूक्ष्मरूपकी समानता दिखा आये, उसीका समझौता यहाँ विशेषरूपसे करते हैं, कि रूपतुल्यता ही तक नहीं किंतु गुणमें भी समान हैं। यथा–'**समुझत०**' अर्थात् समझनेसे नामीमें जो गुण हैं वही नाममें भी रहते हैं, इससे समान हैं, उपरोक्त बा० दो० १९ चौ० ३ की टि० (३) में ज्योतिषीके दृष्टान्तसे दिखा आये।

नोट–* जैसे पहिले दोहे (केसारांश) में चार प्रकरण (माता, पिता, गुरु, स्वामी) के प्रकट करनेमें चारों वेदोंका सिद्धान्त विषय मिलानसहित दिखाया गया था, वैसे यहाँ भी पूर्वके ' रामनाम वर वरन जुग ' के उपक्रमसे इस ' वरन विराजत दोउ० ' उपसंहार तकमें दशोंअवतारोंके प्रसंगमें ब्रह्म और जीवके स्वरूप और संबंध प्रतिपादक दशोपनिषदोंका सिद्धान्त जानना चाहिये, क्योंकि उपनिषदोंमें ईशावास्योपनिषदादि दश प्रधान हैं ॥

+ यहाँ ही से नामको प्रथम कहते हैं, क्योंकि इस प्रसंगमें भी सौलभ्यतागुणकी विशेषतासे नामको बड़ा भी दिखावेंगे।

इनकी परस्पर स्वामी-सेवककी प्रीति है, अर्थात् एक दूसरेके विना नहीं रह सकते, यही नहीं किंतु एक दूसरेके प्रभु तथा अनुगामी अर्थात् पीछे चलनेवाले (सेवक) हैं। यथा—नाम अपने अर्थसे रूपके ही गुणोंका विस्तार करते हैं। अतः नाम अनुगामी और रूप प्रभु हुए और रूप भी नामके प्रकटाये हुए गुणोंके अनुसार जापकको पुरुषार्थ कामना पूरी करनेके लिये अपने षडैश्वर्योंको आधार किये हुए उसकी श्रद्धाको अपने बलसे धारण किये हुए नामकी सेवा करते हैं। यथा—" **यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्॥ स तया श्रद्धयायुक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हितान्॥** " (गीता अ० ७) इस तरहसे रूप, नाम प्रभुके अनुगामी हुए और यहाँ पूर्वोक्त ' नर नारायन सरिस सुभ्राता ' से उद्धार भये हुए ' शेष-शेषी ' संबंधके साक्षात्कारका प्रकरण भी है, तो जैसे वे परस्पर सहस्रकवचीके मारनेमें स्वामी-सेवक थे, अर्थात् एकने दूसरेको जिला २ कर शत्रुसे रक्षा किया। (बा० दो० १९चौ० ९ टि० १ में देखो) वैसे यहाँ भी जानना चाहिये॥

मूल (चौ०)

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥२॥

टीका—नाम रूप यह दोनों समर्थ हैं, और अपने समीप अर्थात् हृदयस्थानमेंही प्राप्त हैं, दोनों अकथ अनादि हैं, और सुन्दर समझवाली बुद्धिसे साधने योग्य हैं॥ २॥

टिप्पणी (शब्दार्थ)

(१) यथा—**दुइ**— (दु—दोनों, इ—यह) अर्थात् यह दोनों, **ईस**—समर्थ, **उपाधी**—(उप—समीप, अधि—प्राप्त) अर्थात् समीपप्राप्त हैं, **सुसामुझि**—अर्थात् सुंदरसमझवाली बुद्धिसे, और **साधी**—अर्थात् साध्य (साधनेयोग्य) हैं॥

(लक्ष्य—भावार्थ)

(२) "**दुइ ईस**" यथा—"**सो धौं को जेहि नाम लाजते नहिं राखे रघुबीर॥**" (वि० १४९) "**वारेक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥**" (अ० दो० २१६) (इति नाम) तथा—"**मम पन सरनागत भयहारी।**" (सुं० दो० ४२) "**कोटि विप्र बध लागइ जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू॥**" (सुं० दो० ४३) (इतिरूप) तथा—'**दुइईस**' का और भी भाव है, कि प्रधान रूपसे नाम और रूप यह दो ही सर्वोपरि समर्थ हैं, शेष दो (लीला और धाम) इनके ही क्रमशः अंग हैं। यथा— लीला नामका अर्थ है, भूमिकामें भली भाँति दिखा आये और धाम भी रूपका ही अंग है, यथा—"**विष्णोः पादमवान्तिका गुणवती० अयोध्यापुरी मस्तके।**" तथा—गर्गसंहितामें गोलोको-त्पत्ति श्रीकृष्णजीके अंगसे और लीलाकी उत्पत्ति तिनकी योगमायासे लिखी है, अतएव समर्थ दो (नामरूप) ही हैं, "**उपाधी**" यथा—"**अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि विषय बबूरबाग मन लायो।**" (वि० २४९) (इति नाम) तथा—"**परिहरि हृदयकमल रघुनाथहिं बाहेर फिरत मूढमन धायो।**" (वि० २४९) (इति रूपकी समीप प्राप्ति)

शंका—हृदय तो जड अंतःकरणोंको कहते हैं, तो तिनके विषय होनेसे नाम भी मायिक होंगे ? क्योंकि "गो गोचर जहँलगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई॥" (आ० दो० १६) यह नियम है। समाधान—नहीं नहीं हृदयकमलके नाभिस्थानकी परावाणीमें जो अनिर्वचनीय स्वरूप नामका ऊपर दोहार्थमें कह आये, वह वाणी इन्द्रियोंका विषय नहीं हैं और वहाँका सूक्ष्मरूप भी अनादि है, अतएव मायिक नहीं है, इसीलिये इसके आगे ग्रंथकारने ही 'अकथ अनादि' कहा है, अर्थात् नाम अकथ (अनिर्वचनीय) और रूप अनादि अर्थात् कभी न जन्म लेनेवाले हैं और मायिक तो वह है, जो जन्म ले तथा मरे, पुनः हृदयमें ज्ञातृत्व कार्य बुद्धिका है, उसके तो दोनों अविषय हैं, यथा—"महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥" (उ० दो० ९०) तथा—"राम सरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धिपर।" (अ० दो० १२६) अतएव शंका नहीं है, 'सुसामुझि साधी' का भाव यह कि अभी तक विना समझे मोहवश भूले थे, अब जाना तो निश्चय हुआ, कि सुन्दर-समझवाली बुद्धिसे विचार पूर्वक साधनेयोग्य हैं।

(अनुसंधानार्थ)

(३) इस 'शेष—शेषी' संबंधके उद्धारप्रसंगमें जो इसका दम अर्थात् वासना-त्यागपूर्वक साधनसे 'अरूप' अर्थात् प्राकृतरूपसे भिन्न अपनारूप जानना फल कहा गया था, कि जब अपने अंतर बसनेवाले (वासुदेव) रूपके समान गुणवाला तथा अणुस्वरूप जीवात्माका लक्ष्य हो तो प्राकृतरूपसे अरूपता हो और प्राकृतविकाररहित शुद्धरूपसे उपरोक्त 'छत्रमुकुटमणि' में कहे हुए नामके शेषत्वका अधिकारी हो, क्योंकि शेष अर्थात् सेवक तो शेषी (स्वामी) की अनुहारि होना चाहिये, यथा—"सेवक भए पवनपूत साहिबअनुहरत॥" (वि० १३५) तथा श्रीभरतजी श्रीरामजीको शेषी और अपनेको शेष मानते थे, यथा—"गुरु गोसाइं साहिब सियरामू" (अ० दो० २६०) वे भी एक ही अनुहारि थे, यथा—"भरतु राम ही की अनुहारी।" (बा० दो० ३१०), अतएव यहाँके दिव्यरूपवाले नाम शेषीकी तरह शेषरूप जापकको भी होना चाहिये, इस लिये भी नाम ही उपाय हैं, यथा—नाम शेषीके अर्थरूप उपरोक्त वासुदेव-स्वरूपपर लक्ष्यसहित जपसे नाम अपने कल्पवृक्षवत् स्वभावसे, जैसे वासुदेव अपने षडैश्वर्योंसे व्यूहोंद्वारा जगत्का संहार, उत्पत्ति और पालन करते हैं, वैसे उन्हीं षडैश्वर्योंसे जापकके मोहादि विकारोका संहार, ज्ञानकी उत्पत्ति, तथा स्नेह-संपन्न-भक्तिसे इसका पालन करेंगे। इस प्रकार यह भी वासुदेव सम अपना शुद्धस्वरूप पावेगा और उपरोक्त 'मुकुट मणिवत्' अणुस्वरूपके शेषत्वका चिंतवन करेगा। यह शंका नहीं, कि जापकके पास रूप क्योंकर आवेगा जो कि नामके षडैश्वर्यका धनी है, क्योंकि ऊपर परस्पर प्रीति तथा एक दूसरेका अनुगामी कह आये, पुनः दूरसे आना भी नहीं है, दोनों एकठौर ही हृदयमें हैं और अमायिक हैं, इस प्रकार सुंदर-समझवाली बुद्धिसे विचारकर साधनेकेलिये प्रभु अनुगामी कहा गया है, कुछ बडाई छोटाई निर्णयकेलिये नहीं, बडा छोटा कहनेमें तो अपराध है, वही आगे कहते हैं।

मूल (चौ०)

को बड छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू॥ ३॥

टीका—कौन वडा कौन छोटा ऐसा कहनेमें अपराध होता है, गुण सुनकर साधु लोग भेद समझ लेंगे ॥ ३ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) यहाँ पर अपराध ऐसा कहनेमें कहा है, कि नाम सर्व व्यापक, सर्वेश्वर, तथा सर्व-रक्षक आदि हैं और रूप नहीं, ऐसा तो कहते नहीं हैं, किंतु इनके गुण रूपकी समानता तथा—स्वामी सेवककी भाँति प्रीतिसे साधु (साधन करनेवालों) को गुन (लाभ) होता है, उसे सुनकर भेद (मरम—वह अभिप्राय कि जिसकेलिये इन्हें प्रभु अनुगामी आदि कहा है) साधू लोग समझेंगे, यह कहते हैं, वही आगे दिखाते हैं ॥

मूल (चौ०)

देखियहि रूप नाम आधीना। रूपज्ञान नहिं नाम बिहीना॥ ४ ॥

टीका—देखाजाता है कि रूप नामके आधीन होता है और रूपका बोध नाम विना नहीं होता। तथा कहीं २ '**देखियहिं**' भी पाठ है, तो उससे सर्वत्र तथा—तीनों कालमें देखा जाता है, ऐसा अर्थ होगा ॥ ४ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) यहाँ 'देखाजाना' यह नियम कहकर दिखाते हैं, कि उपरोक्त साधु भी देखैं, कि जैसे लोकमें भी किसीका नाम लेनेसे रूप चला आता है, और नामानुकूल सबल मुहूर्तमें रूपका यात्रादिक कार्य सिद्ध होता है। तथा नामके वेधनेसे युद्धमें रूपकी मृत्यु होती है, वैसे यहाँ रूपका आधीनकारक कहकर नाममें षडैश्वर्यका '**बल**' ऐश्वर्य दिखाया। षडैश्वर्य यथा—"**ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥**" (विष्णुपुराणे)

(क) पुनः "**रूपज्ञान०**" का भाव यह कि विना नाम किसी वस्तुका समझना नहीं बनता, तथा नामकी प्रशंसासे रूप प्रसन्न होता है, इस भाँति समग्र गुणोंसमेत रूप नाममें ही रहता है, जैसे कि ऊपर '**एक छत्र एक०**' में दिखा आये। अर्थात् यहाँ नामद्वारा रूपके गुण ज्ञान होनेसे जीवको वासुदेवसमान अपना ज्ञानस्वरूपतादिवाला रूप ज्ञात होगा। जैसे ऊपर बा० दो० १९ चौ० ४ के अर्थमें "**द्वा सुपर्णा०**" श्रुतिसे दिखा आये। तब उसी विचारसहित जपसे अपने स्वरूपका ज्ञान होनेपर संपूर्ण विकारोंका मूल मोह निवृत्त होगा, यथा—"**भए ज्ञान बरु मिटै न मोहू।**" (अ० दो० १६८) तथा—"**मोह सकल ब्याधिन कर मूला।**" (उ० दो० १२०) इस प्रकार यहाँ नामका '**ज्ञान**' ऐश्वर्य देख पडा ॥

(अनुसंधानार्थ)

(२) ऊपर जो ' **समुझिहहिं साधू** ' कह आये थे, सो यहाँ समझें, कि जैसे वासुदेव कार्यहेतु व्यूहरूप (संकर्षण प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध) होकर संहार उत्पत्ति तथा पालन करते है, उनमें संकर्षण ' ज्ञान और बल ' इन दो ऐश्वर्योंसे संहार करते है । प्रद्युम्न ' ऐश्वर्य वीर्य ' से उत्पत्ति तथा अनिरुद्ध ' शक्ति और तेज ' ऐश्वर्यसमेत पालन करते हैं । यथा—" **तत्र ज्ञानबलद्वन्द्वाद्रूपं संकर्षणं हरेः । सोऽयं समस्तजीवानामधिष्ठातृतया स्थितः ॥ संकर्षणस्तु देवेशो जगत्स्रष्टुमनास्ततः । जीवतत्त्वमधिष्ठाय प्रकृतेस्तु विविच्य तत् ॥ २ ॥ विवेकानन्तरं देवः प्रद्युम्नत्वमवाप सः । सोऽयं प्रद्युम्ननाम्नाऽभूत्तदेकान्तवपुर्धरः ॥ ऐश्वर्यवीर्यसंभेदाद्रूपं प्राद्युम्नमुच्यते । मनसोयमधिष्ठाता मनोमय इतीरितः ॥ ऐश्वर्येण गुणेनासौ सृजते तच्चराचरम् ॥ शक्तितेजःसमुत्कर्षादनिरुद्धतनुर्हरिः ॥ शक्त्या जगदिदं सर्वमनन्ताण्डं निरंतरम् । बिभर्ति पाति च हरिर्मणिसानुरिवाणुकम् ॥ तेजसा निखिलं तत्त्वं ज्ञापयत्यात्मनो मुने ॥** " इत्यादि स्मृतियोंमें कहा है । वैसे तिनके समान गुणवाले तीनों नाममें प्रकट हैं, यथा—इन व्यूहोंमेंसे इस चौपाईमें ' **ज्ञान बल** ' वाले संहारकर्ता संकर्षणका कार्य मोहादिविकारोंका नाश और जीवतत्त्वका ज्ञान होना प्रकट हुआ ॥

मूल (चौ०)

रूप बिसेष नाम बिनुजाने । कर-तल-गत न परहिं पहिचाने ॥ ९ ॥

टीका—साक्षात् हथेलीपर प्राप्तभी रूप ऐश्वर्य (वस्तुगुण) विना नाम जाने पहिचान नहीं होता ॥ ९ ॥

टिप्पणी (अनुसंधानार्थ)

(१) यहाँ ' **विशेष** ' शब्द ऐश्वर्यवान्‌का बोधक है, क्योंकि जैसे ' विशेषण ' किसी व्यक्ति व वस्तुके गुणोंकी प्रशंसा करनेवाले शब्दको कहते हैं, वैसे ही ' विशेष ' उस व्यक्ति व वस्तुको कहते हैं कि जो उस विशेषणका आधार होता है, अर्थात् जिसका विशेषण होता है, वह विशेष कहाता है । वैसे यहाँ नामको विशेषण सूचित करते हुए रूपको विशेष कहा गया है । अर्थात् जैसे कोई गुण-विशिष्ट-वस्तु चाहे अपने हाथमें भी हो पर उसके विशेषण रूप नामके विना गुणैश्वर्यसहित उसकी पहिचान तथा उसके गुणोंमें प्रतीति न होगी । इसी प्रकारसे रूप यद्यपि अपने ही हृदयमें प्राप्त है, तथापि प्रेरकरूपसे रमण करानेवाले (उसके) गुणोंकी पहिचान विना नाम जाने न होगी । ब्रह्मके जीवोंको रमण करानेवाले गुण ' एक अनीहादि ' नवो हैं, जिन्हें पूर्व बा० दो० १९ चौ० ४ में विस्तारसे दिखा आये और इन्हीं गुणोंको ब्रह्मकी महिमा अर्थात् ऐश्वर्य, वहीं पर सप्रमाण दिखा आये । इन ऐश्वर्यवाले गुणोंको वहाँ वेदादिके न दिखा सकनेपर जैसे २ व्यापकब्रह्मका जीवोंकी अवस्थानुसार अपने

स्वादराहित्य ' पराक्रम ' से दिखाना कहा गया । वही वहाँ नामके ' **ब्रह्म जीवसम सहज सँघाती** ' के अर्थसे जाना गया । तो जीवकी बुद्धिरूपा पृथ्वीमें ब्रह्मके ऐश्वर्यवाले ' एक अनीहादि ' गुणोंका अंकुर जमा, इस प्रकार यहाँ नामके विशेषणरूप होनेसे रूपके संपूर्ण '**ऐश्वर्य**' नाममें रहना सिद्ध हुआ और उसके पहिचान करानेमें नामका पराक्रम अर्थात् ' **वीर्य** ' ऐश्वर्य भी जाना गया । इन दो ऐश्वर्योंसे जैसे प्रद्युम्न जगत्‌की उत्पत्ति करते हैं, वैसे यहाँ नाम भी भक्तोंके हृदयरूप भूमिमें एक अनीहादि, ब्रह्मगुण उपजानेवाले (ज्ञान उत्पत्ति करनेवाले) जाने गये ॥

मूल (चौ०)

सुमिरिय नाम रूप बिनु देखे । आवत हृदय सनेह बिसेषे ॥ ६ ॥

टीका–रूपके बिना देखे ही यदि नाम सुमिरिये, तो बिसेषे, अर्थात् ऐश्वर्यवान् (उसरूप) के प्रति हृदयमें स्नेह आता है ॥ ६ ॥

टिप्पणी (अनुसंधानार्थ)

(१) यहाँ भी ' **बिसेषे** ' का अर्थ ऊपरकी चौ० ५ के अनुसार जानना चाहिये । उपरोक्त रीतिसे नाम विशेषणरूपसे जब एक अनीहादि गुण प्रकटाते हुए रूपको निर्हेतु रक्षक जनाते हैं, तो जीवके हृदयमें प्रतीति होकर प्रीति उपजती है, तब स्नेहपूर्वक भक्ति दृढ़ होती है, क्योंकि स्नेहका चिक्कनता स्वरूप है, उसकेसहित प्रीति भक्तिकी पोषक होती है । स्नेह यथा–" **चलनि मिलनि बोलनि भली, ललित दृष्टि सो नेह । प्रीति होय सर्वाङ्ग उर, दृष्टि अधीन सदेह ॥** " तथा-स्नेह और प्रीतिसे ही भक्ति यथा–" **प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई । जिमि खगेस जलकी चिकनाई ॥** " (उ० दो० ८८) इस प्रकार नाम द्वारा जीवमें रूपसे स्नेह दृढ होता है । तब स्नेहसंपन्न जीवमें शेषत्वकी पूर्णयोग्यता आ जाती है और उसी स्नेहसे हृदयमें जीवका पालन होता है । आगे बा० दो० २६ के प्रसंग भरमें रूपमें स्नेहयुक्त जीवका नामद्वारा सम्यक्‌प्रकारका पालन होना दिखावेंगे । अतएव यहाँ रूपका तत्त्वज्ञान कराय प्रीति उपजानेमें नामका ' **तेज** ' और तद्युक्त पालन करनेमें ' **शक्ति** ' ऐश्वर्य जानना चाहिये । यथा–' **तेजसा० शक्त्या०** ' (ऊपर चौ० ४ टि० (२) में दिखा आये) इस भाँति यहाँ नाममें ' शक्ति और तेज ' ऐश्वर्य सहित पालन कर्ता ' **अनिरुद्ध** ' का कार्य जाना गया * ॥

शेषत्व स्पष्टीकरण ।

(२) ऊपर चौ० २ टि० (३) में श्रीभरतजीमें जो शेषत्वयोग्यता कह आये वह योग्यता उनमें स्नेहसे ही थी । यथा–" **साधन सिद्धि राम-पग-नेहू । मोहिं लखि परत**

नोट–* उपरोक्त वासुदेवके समान नामद्वारा भी व्यूहका कार्य होना स्पष्ट हुआ जो कि ' समुझत सरिस० ' में कह आये थे ॥

भरत मत एहू ॥" (अ० दो० २८८) "तुम्ह तौ भरत मोरमत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू ॥" (अ० दो० २०७) इत्यादि. और उनके इस स्नेहकी रक्षा भी यहाँके प्रसंगकी तरह दोनोंके गुणगण विचारसहित नामस्मरणसे ही रही, यथा–"जासु बिरह सोचहु दिन राती। रटहु निरन्तर गुनगन पाँती ॥ ० राम राम रघुपति जपत, श्रवत नयन जलजात ॥" (उ० दो० १) शेष जिस प्रकार अपने सर्वस्वसमेत शेषीके वास्ते होता है, वैसे ही देदीप्यमान शेषत्व इनमें इनके वचनोंसे प्रकट है। यथा–"संपति सब रघुपति कै आही।" (अ० दो० १८९) 'हित हमार सियपति सेवकाई।' (अ० दो० १७७) "अज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा ॥" (अ० दो० ३००) और इस संबंधका ' नर नारायन सरिस सुभ्राता। ० ' से उद्धार हुआ है. वह भी इन (श्रीभरतजी) में घटित है। यथा-उनकी तरह ये दोनोंभाई तप करते रहे। यथा–"लखन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तन कसहीं ॥" (अ० दो० ३२९) और धर्म कार्यमें परस्पर सहायक भी थे। यथा–श्रीरामजी इन्हें खड़ाऊँ अवलंबसे जिलाये रहे और इन्होंने स्वामिकार्य जानकर कष्ट सहकर अवश्य सेवन किया। पुनः अंतमें शेषरूप पार्षदोंमें इनकी गणना प्रथम हुई। यथा–"भरतादि अनुज० गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते ॥" (उ० दो० ११) इनके ऐसे शेषत्वका मूलाधार केवल रामस्नेह था, वही यहाँ जापकको भी उसी प्रकार प्राप्त हुआ। जब इस स्नेहसे ही श्रीभरतजीका अपना पालन हुआ, तथा वे भी विश्वका भरण पोषण करते हैं। यथा–"बिश्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई ॥" (बा० दो० १९६) तब उसी स्नेह संपत्तिसहित जापकके पालन पोषणमें क्या संदेह है? अवश्य होगा। अतएव इस संबंधके प्रकाशक श्रीभरतजी हैं, इनके लक्ष्यमें अपना स्वरूप विचारकर स्नेहसहित जापकको नाम जपना चाहिये तब शेषत्व लाभ होगा ॥

मूल (चौ०)

नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी ७

टीका–नाम रूपके गतिकी कहानी अकथ है, समझनेमें सुखदेती है, कहते नहीं बनती॥७॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) इसका भाव यह कि इन दोनोंकी गति परस्पर सुखके लिये है, इसीसे ऐसे गुँथे हैं, कि एककी बड़ाईके साथ दूसरेकी बड़ाई झलकती है, इसीसे अगाध प्रीति होनेके कारण अकथ हैं। यथा–"मिलनि प्रीति किमि जाय बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी ॥" (अ० दो० २४०) 'समुझत सुखद० ' का लक्ष्य-यथा–"सो सुख जानइ मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना ॥" (उ० दो० ८७)

प्रसंगविचार।

ऊपर 'एक छत्र एक मुकुट मनि ' से नाम और रूपको अनिर्वचनीय कहकर उपक्रम हुआ,

वैसे ही इनको यहाँ भी ' अकथ अनिर्वचनीय ' कथनसे उपसंहार दिखाया गया। तथा ऊपर ' समुझत सरिस० ' से नाम नामीके प्रसंगका उपक्रम है और यहाँ **' समुझत सुखद० '** पर उपसंहार हुआ । इस उपक्रम उपसंहारके मध्यमें अगुणस्वरूपके लक्ष्यसे जीवोंका स्वस्वरूप सम्हालना दिखाया गया । अब आगे सगुण (पर) स्वरूपमें शेषत्व दृढ़ाते हैं, जैसे मनु शतरूपाने प्रथम इसी वासुदेव स्वरूपके लक्ष्यसे आत्मस्वरूप जाना । यथा-' **सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा ।** ' फिर शुद्धस्वरूपसे सगुणउपासना किया । यथा-' **पुनि हरिहेतु करन तप लागे ।** ' (बा० दो० १४३)

मूल (चौ०)

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ८

टीका-निर्गुण और सगुणके बीचमें नाम सुंदर साक्षी है, चतुर दो भाषा जाननेवालोंकी तरह दोनोंका प्रकर्ष बोध करानेवाले हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "**अगुन०** " का भाव यह कि साक्षी तीन प्रकारके होते हैं, एक तो '**कुसाक्षी**' होते हैं, कि जिधर झुके उसकी तो रक्षा करते हैं, और प्रतिपक्षीका नाश कराते हैं, दूसरे '**साक्षी**' कि जो जिस तरफ रहते हैं, उसका हित लिये हुए सत्य कहते हैं, और तीसरे '**सुसाक्षी**' जो दोनोंपक्ष निरपेक्ष कहते हैं, ऐसे ही सुसाक्षी निर्गुण सगुणके समझौता करानेमें नाम हैं ।

(क) "**उभय प्रबोधक०**" का भाव यह कि साधारण दुभाषिया तो दो देशके लोगोंमें एकको दूसरेकी बोली उसकी २ भाषामें बोध कराता है, तब उनमें प्रीति और व्यवहार होता है, किंतु यहाँ नाम चतुर दुभाषी हैं, कि एक ही 'राम' इस अपने शब्दसे निर्गुण सगुण दोनों देशका प्रकर्ष बोध कराकर प्रीति दृढा देते हैं, यहाँ पर '**प्रबोधक**' का भाव यह कि यह समझौता बडा कठिन है, यथा-"**जिनके अगुन न सगुन विवेका । जल्पहिं कल्पित वचन अनेका ॥**" (बा० दो० ११४) तिनको भी एक ही शब्दसे बोध कराते हैं और दोनों एक ही हैं, इसी लिये एक ही नामसे बोध कराते हैं, यथा-"**अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा । गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा ॥ अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम-बस सगुन सो होई ॥**" (बा० दो० ११६) तथा वहींपर रूपक भी हैं, यथा-"**जो गुनरहित सगुनसो कैसे । जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे ॥**" नाममें दोनोंका बोध यथा-श्रुतिः"**रमन्ते योगिनोऽनंते सत्यानंदे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्मा भिधीयते ॥**" (रामताप०) "**कोटिकंदर्पशोभाढ्ये सर्वाभरणभूषिते । रम्यरूपार्णवे रामे रमन्ते सनकादयः ॥**" (महारामायणे) अर्थात् जोई योगी लोग ध्यान धारणादि करके निर्गुणस्वरूपमें रमण करते हैं, वही योगीलोग (सनकादि) वैसे ही सच्चिदानंदमय शोभा-

ग्राम श्रीरामजीके सगुणस्वरूपमें भी रमण करते हैं, पुनः श्रीजनकजीने भी दोनोंको एकतत्त्व कहा है, यथा–"ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेषधरि की सोइ आवा॥" "ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू।" (बा० दो० २१५–१६)

(ख) तथा शब्दार्थसे भी यथा–'राम' अर्थात् जो अंतर्यामीरूपसे सब जीवोंमें रमैं, तथा जो पृथ्वीमें गंध, जलमें रस (स्वादादि) होकर विषयी जीवोंको, और शास्त्रादिमें विद्यारूपसे मुमुक्षुवोंको तथा मुक्तोंको जो दिव्यसुखमें रमण करावे, सो राम (इति अगुण) पुनः यही तात्पर्य सगुणवाचक राम शब्दका भी है, यथा–"**जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रयलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिललोक दायक विश्रामा॥**" (बा० दो० १९६) तथा जो अपनी शोभामें ऋषि आदि अनुकूलोंको और खरदूषणादि प्रतिकूलोंको भी रमण कराते हैं, वे सगुण राम हैं ॥

(२) यहाँ प्रसंगानुसार नामको सुसाखी और प्रबोधक कहनेका भाव यह है, कि जो ऊपर चौ० ५ में अगुणरूपके एक अनीहादि गुणप्रकाश करके नामका उससे पहिचान कराना कहा, तब यह जीव तिन गुणोंके आधारसे अपना नैष्कर्म्य स्वरूप जाना, (यह निर्गुणका प्रबोध है) और उन्हीं 'एक अनीहादि' नवोगुणोंसे उसका हरअवस्थामें जीवोंकी रक्षा करना भी सिद्ध हुआ, तब उसका निर्हेतु पितृत्व, रक्षकत्वआदि दिव्यगुणोंसे सगुणत्व भी सिद्ध हुआ, यह विचारकर जापक अपनेको पुत्र, रक्ष्य, शेष, भार्य्या आदि नवोरूपसे उस ब्रह्मके वास्ते अर्थात् शेषरूप जाना, तब यह चौ० ६ में निर्भर प्रेमपूर्वक शेषत्वमें श्रद्धालु हुआ, नामके उस' कार्यको यहाँ ग्रंथकारने सराहना की है। यही सुसाखी और चतुर दुभाषी नामका प्रबोध करना है ॥

संबंधसारांश।

इस संबंधके मूलरूप '**एकछत्र एक०**' में जापकका प्राकृतरूप राहित्य और सूक्ष्म (अणु) स्वरूपसे शेषत्व दिखाया गया, पुनः चौ० १ से ६ तकमें अगुणके एक अनीहादि गुणोंके लक्ष्यसहित अपना नैष्कर्म्य-स्वरूप-सम्हालना और ब्रह्म स्नेह करना कहा गया, पुनः चौ० ७ में नामरूपकी मैत्रीका अनुमोदन किये, और चौ० ८ में ऊपरके प्रसंगपर विचार उठाकर उसी अगुणमें सगुणत्व भी दिखाकर जीवको शेषत्वके लिये नियुक्त किये, यहाँ इस संबंधमें जीवकी प्राकृत रूपासक्ति निवृत्त हुई, क्योंकि यहाँ यह अपना सूक्ष्मस्वरूप जाना, इससे रूपतन्मात्राके '**नेत्रविषय**' की निवृत्ति हुई, और चौ० २ में जो अपने शेषीको हृदयमें स्थित जाना, तो अन्यत्र गमनादि '**पगविषय**' भी उपराम हुआ, अतएव इस संबंधसे जापकका पूर्वोक्त '**रूपतन्मात्राका सातवाँ आवरण**' निवृत्त हुआ और इस आवरणमें आनेसे इसका जो '**विमृत्यु**' गुण नाश हुआ था, उसकी पुनः आशा हुई ॥

अथ अखिलप्रकरण नं० ३ ।

टिप्पणी (तात्पर्यार्थ)

अथ जापकके हृदयरूप गर्भमें नामकी अवस्था और अवतार प्रसंग ।

(१) इसके पूर्व अ० प्र० नं० २ में इनका दूसरे आवरणमें आकर शरीर कामना होना दिखा आये, पुनः जैसे जीवमें महत्तत्त्वका तीसरा आवरण होता है, वैसे इनमें दिव्यरीतिसे संबंधरूप गर्भके तीसरे महीनेमें हुआ, अर्थात् जैसे जीवको इसमें तीनोंगुणोंकी विषमतासे तिनके कार्यकी इच्छा होती है, वैसे ही यहाँ नामके भी तीनों गुणोंकी कार्येच्छा हुई अर्थात् तीनों गुणोंसे संहार उत्पत्ति और पालनके कार्य होते हैं, वही २ नामके भी व्यूहरूपसे हुए, यहाँ ही जीव गुणोंसमेत धर्मी होता है, वैसे ही ये भी सगुणरूपसे अपने शरीररूप जीवसे शेषत्व कराकर आप शेषीपनारूप धर्म (कार्य) के धर्मी (आश्रय) हुए, यही इनका कर्माभिमानरूप महत्तत्त्वावरणमें आना हुआ, यहाँ इनके अपिपास गुणका अल्पांश ही प्रकाश हुआ, इस आवरणके कार्यरूप, अहंकारके चौथे आवरणमें पूरा होनेसे दिखावेंगे ॥

अथ नामरूप ईश्वरकी प्रथम भावानुसार पंचधास्थिति ।

(२) पूर्वके अ० प्र० नं० १ टि० (गं) के क्रमानुसार यहाँ व्यूहरूपका प्रकरण है । "व्यूह उसे कहते हैं कि जो सब अवतारोंका कंदभूत पर (वासुदेव) परमात्मा है, उससे संकर्षणादि तीनरूप होकर कार्य करते हैं । (इनके प्रमाण ऊपर बा० दो० २० चौ० ३ टि० (२) में लिख आये) और कहीं २ जो चतुर्व्यूह ऐसा पद मिलता है, उसका भी तात्पर्य वही वासुदेव पर्याय पर परमात्माको व्यूहमें परिगणित करनेमें हैं । " (विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त सार) इनमें वासुदेव रूपका नाममें होना मूलके दोहार्थमें ही प्रकट हुआ पुनः तिनके षड़ैश्वर्यसहित तीनों व्यूहोंका कार्य चौ० ४-५-६ में हुआ ॥

अथ नामांतर दशअवतारोंके साक्षात्का प्रसंग ।

(३) संबंधोद्धारके क्रमानुसार यहाँ नामके 'वाराह' अवतारका प्रसंग है, इसके संबंधोद्धारके साथ इस अवतारके जो लक्ष्य कह आये वही २ यहाँ साक्षात्कार हुए अर्थात् वहाँ जो पृथ्वीरूप बुद्धिको कहा था, वही यहाँके ऊपर टि० (१) में महत्तत्त्व (बुद्धि) का रूप दिखा आये और हिरण्याक्षरूप रूपाभिमानसे मुक्त होना भी ऊपर संबंधसारांशमें देखो । इसी बुद्धिरूपा पृथ्वीको यहाँ चौ० ४ में मोहादि विकाररूप अधोगतिसे ऊपर किये और इसे चौ० ५ में आत्मचिंतवनके एक अनीहादि गुणोंसे गुणवती किये और चौ० ६ में स्नेहसहित इस शेष-शेषीसंबंधकी दृढ़तारूप योगबलसे रूपाभिमानरूप जलके ऊपर इस बुद्धिरूपा पृथ्वीको निर्लेप स्थित किये ॥

अथ नामान्तर भक्ति रस प्रकरण।

(४) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (४) के क्रमानुसार यहाँ 'सख्यरस' की साधन-अवस्था-स्थितिका प्रसंग है। इसका अर्थ यथा—'समानं ख्यातीति सखा' अर्थात् जो रूप व गुणमें समान हो वह सखा है। वह यहाँके मूलके अर्थमें वासुदेवके समान सूक्ष्म रूप आत्माका दोहार्थमें ही दिखा आये और चौ० ९ में एक अनीहादि गुणोंमें भी समानता हुई। तथा—'सहायं ख्यातीति सखा' अर्थात् जो सब प्रकार सहाय हो वह सखा है, ऐसे सहायक नामका सख्यत्व ऊपर चौ० ८ टि० (२) में लिख आये और सब प्रकारसे इस रसके प्रकाशक श्रीभरतजी हैं, तिनका मिलान जापकसे ऊपर चौ० ६ टि० (२) में दिखा आये॥

अथ नामान्तर पंचसंस्कार प्रकरण।

(५) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (५) के क्रमानुसार यहाँ 'ऊर्ध्वपुण्ड्र (तिलक)' की साधनावस्था-स्थितिका प्रसंग है। सो यथा—"**सम्प्रदायानुसारेण यथाक्रमं प्रदर्शयेत्। प्रथम यजुर्वेदे हिरण्यकेशि शाखायाम्, ऊर्ध्वपुण्ड्रं हरिपादाकृति आत्मनो निर्द्धारयति मध्यछिद्रमूर्ध्वपुण्ड्रं यो धारयति स परस्य प्रियो भवति स पुण्यवान् मुक्तिभाग्भवति इति श्रुति प्रथम संस्कारः**" (श्रीरामपटल) यहाँ हरिचरणकी आकृति (चिन्ह) को ऊर्ध्वपुण्ड्ररूपसे धारण करनेके लिये वेदकी आज्ञा है। इसका तात्पर्य यह है, कि हरि जो श्रीरामजी हैं, यथा—"**पुनि हरि हेतु करन तप लागे।**" (बा० दो० १४३) (इस तपसे श्रीसीतारामजी ही प्रकटे) तिनके चरणका चिन्ह धारण करना चाहिये, क्योंकि इन चरणोंसे ही ज्योतिर्मय व्यापक ब्रह्मका स्वरूप कहा जाता है, पूर्व बा० दो० १९ चौ० ६ टि० (८) में सप्रमाण दिखा आये। अतएव इस चरणचिन्हसे व्यापकका अनुसंधान होता है, तब उससे स्वस्वरूपका चिंतवन होनेसे स्थूलरूपाभिमान निवृत्त होता है। वही वासुदेवरूपके लक्ष्यसे मूलके अर्थमें दिखा आये। इस संस्कारको तिलक इसलिये कहते हैं, कि यह अतिगूढ़ आत्मतत्त्वके प्रकाश करनेवाली अथवा कुञ्जी है, क्योंकि तिलकका अर्थ—टीका, प्रकाशक तथा कुंजीका होता है। इस (आत्मतत्त्व) के विरोधी प्राकृतरूपाभिमानका निवास ललाटपर होता है, क्योंकि रूप देखनेमें प्रथम मुख ही देखा जाता है, इसी लिये उससे रक्षार्थ तिलक ललाटपर (प्रधान रूपमें) की जाती है, कि जिससे मुख देखते ही व्यापक अंतरात्माका स्मरण हो, कि हम जीवात्मा उसके शरीर हैं, यथा—श्रुतिः "**यस्यात्मा शरीरम्**" (बृहदा०) वैसे ही हमारा भी दिव्यरूप है, यह स्थूल-शरीर हम नहीं हैं, क्योंकि-जब अपने शरीररूप जीवसमेत वह अंतर्यामी इस शरीरसे निकल जाता है, तब यह तुरंत सड़ गल जाता है। अतएव हमारा स्वरूप उपरोक्त वासुदेवके समान अप्राकृत है और उनके शरीर होनेसे हम उनके ही शेष हैं और इस शेषत्वका पूरा परिज्ञान

भी इस तिलकसे होता है। यथा–ऊपर वासुदेवरूप नाममें जहाँ 'छत्र व मुकुट' कहा गया। तहाँ सिंहासन भी अवश्य है, तथा मंदिर भी है ही, और जब जीव सब भूषणरूपसे हैं, तो परिकर भी हैं ही। तब जहाँ यह सब साज है, तहाँ वे शेषरूप जीव अपने रूपके कार्य सेवा पूजाको भी मनन करते हैं। इन्हीं तात्पर्योंके सूचनार्थ तिलकका ध्यान पादाकृतिके अतिरिक्त हरिमंदिररूपसे भी किया जाता है, तथा तिलकके नीचे सिंहासन भी किया जाता है। अतएव शेषत्व-प्रदर्शक तिलक धारणकी साधनावस्था-स्थिति इस संबंधमें विधिवत् आई, इसके सिद्धावस्थाकी स्थिति अ० प्र० नं० ७ में दिखावेंगे। इस प्रकार यहाँ तिलकका वर्णन सूक्ष्ममें हुआ॥

अथ नामान्तर भक्ति प्रकरण।

(६) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (६) के क्रमानुसार यहाँ **'तीसरी और सातवीं'** नवधाभक्तिका प्रकरण है। तीसरी यथा–**"गुरु-पद-पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान।"** (आ० दो० ३८) यहाँ अमानतासहित जो श्रीगुरुचरणकी सेवा कही गई है, वे गुरु भी परब्रह्म स्वरूप ही हैं। यथा–**"ॐ गुरुदेवाय विद्महे परब्रह्मणे धीमहि तन्नो गुरुः प्रचोदयात॥"** इति (गुरुगायत्री श्रीराम पटल) अतएव जो लाभ भगवच्चरणाकृतिके ध्यानात्मकतिलकका ऊपर टि० (९) में इसी संबंधमें दिखा आये, वही यहाँ भी जानना चाहिये। पुनः अमानताका तात्पर्य यह कि यह चरणसेवन उपरोक्त रीतिसे आत्मज्ञानका साधन है, और मान उसका विरोधी है। यथा–**"ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं।"** (आ० दो० १६) इसलिये उससे रहित होकर करना कहा गया। और 'सातवीं भक्ति' इसकी स्थाई दशा है, यथा–**"सातवँ सम मोहिमय जग देषा। मोते संत अधिक करि लेषा॥"** (आ० दो० ३८) यहाँके **'सम'** का तात्पर्य आत्मज्ञानसे प्राप्त होता है, यथा– **"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥"** (गीता अ० ६) तथा–**"यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि॥"** (गीता० अ० ४) इसका तात्पर्य यह है, कि जिस आत्मतत्त्वके जाननेसे जीव संपूर्ण जीवोंको अपनेमें अर्थात् अपने समान अणु नित्य ज्ञानस्वरूप ज्ञानधर्मी आदि देखता है, पुनः **'अथो मयि'** का भाव कि वैसे ही सबोंकी भगवत्तुल्यता भी है, यही सब आत्मज्ञानकी व्यवस्था चौ० के पूर्वार्द्धसे जानना चाहिये और इस संबंधमें भी दिखा आये। तथा–**"मोहिमय जग देषा"** का और भी भाव अनन्यशेषत्व दिखानेका है। जो कि आत्मस्वरूपसे करना इस संबंधमें कहा गया है। यथा–**"सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमंत। मैं सेवक सचराचर, रूपस्वामि भगवंत॥"** (कि० दो० ४) पुनः **"मोते संत अधिक करि लेषा"** का भाव यह कि संतसे भगवद्गुण श्रवण हुआ करेंगे, तो इस शेषत्वका आधारभूत स्नेह पुष्ट रहेगा। उस स्नेहकी स्थाई नामद्वारा भी मूलकी चौ० ६ में दिखा आये। अतएव इन दोनों भक्तियोंका लाभ इस संबंधके एकांशमें हुआ॥

अथ नामांतर ज्ञानप्रकरण।

(७) इसके पूर्वके अ० प्र० नं २ टि० (८) में इस ज्ञानकी दूसरी भूमिका दिखा आये तीसरी 'तनमानसा' नामकी भूमिका दिखाते हैं। यथा—" **धृतिसम जावन देइ जमावै।**" (उ० दो० ११६) अर्थात् इसके ऊपर प्रसंगमें जो संतोष और क्षमासे दूध जुडाया रहा, उसमें अब '**धृति**' अर्थात् धैर्य्य रक्खे कि इन्द्रिय व अंतःकरणवृत्ति विषयोंकी कामनाओंसे चलायमान न हों और मन प्राण तथा इन्द्रियोंसहित आत्मचिंतवन योगमें सदा एकरस लगा रहे. यथा—" **धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥** " (गीता० अ० १८) ऐसी धृतिका कामनाओंसे न चलना मूलकी चौ० ४-५ में एक अनीहादि गुणोंकी दृढता दिखानेमें हुआ और आत्मचिन्तवन भी वहीं पर दिखाया गया है। पुनः '**सम**' का अर्थ ऊपर टि० (६) में इस संबंधके मिलानसहित दिखा आये, उसका सारांश यह कि किसीसे चाहे सुख दुःखादिका कैसेहू संयोग पडे, पर तो भी राग द्वेष न आवे आत्मत्वकी समता सबमें बनी रहे, तब एकरस आत्मचिंतवन रहेगा, यही उपरोक्त दूध जमावने सम हुआ, यह मनके निग्रहसहित आत्मचिंतवन दही सम हुआ, यही तीसरी भूमिका है. यथा—" **तनमानसा सु तीसरी, मनको प्रत्याहार। थिर है शुद्धस्वरूपमें, राखे सदा सम्हार॥**" (उ० टीका. वैजनाथ) इस प्रकार यह भूमिका इस संबंधके एकांशमें आई॥

अथ नामान्तर भगवत्साधर्म्य प्राप्ति।

(८) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (८) के क्रमानुसार यहाँ '**अरूप**, का प्रसंग है. वह प्राकृतरूपसे असक्त होना ऊपर संबंधसारांशमें दिखा आये॥

अथ नामान्तर पंचकोशोत्क्रमण क्रम।

(९) पंचकोश यथा—" **अथ स्थूलशरीरे पंचकोशा अपि वर्तन्ते—, अन्नमयः प्राणमयः मनोमयः विज्ञानमयः आनंदमयः इति** " (जिज्ञासा पंचके) तथा च श्रुतिः— " **तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः॥ आकाशाद्वायुः॥ वायोरग्निः॥ अग्नेरापः॥ अद्भ्यः पृथिवी॥ पृथिव्या ओषधयः॥ ओषधीभ्योऽन्नम्॥ अन्नात्पुरुषः॥ स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः॥ तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तरआत्माप्राणमयः॥ तस्माद्वाएतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तरआत्मा मनोमयः॥ तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तरआत्मा विज्ञानमयः॥ तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तरआत्माऽऽनन्दमयः॥**" (तैत्तिरीयो० द्वि० वल्ली) इनमें जो प्रथमका अन्नरसमयकोश कहा गया है, उसका संबंध स्थूल तीनों तत्त्वों (पृथ्वी जल अग्नि) के विषयोंसे रहता है, अर्थात् जीव अन्नमें आकर स्थूलाकार होता है, फिर रसमयवीर्यरूप होकर अग्नि संबंधसे पिंड बनकर शरीराकार होता है, इसीसे अन्नरसादिमें ही सुख मानता है, यहाँतक

तीनों संबंधोंमें क्रमशः तीनों तत्त्वोंके विषयोंसे मुक्त होनेमें यह " **अन्नमयकोश** " से मुक्त हुआ ॥

इति श्रीरामवल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्तशरणकृत श्रीमन्मानसनामवन्दनायाः तत्त्वार्थ सुमिरनीटीकायां तृतीयमणिकार्थवर्णने चतुर्थोऽध्यायः ॥

इति तृतीयमणिकार्थ समाप्त ।

पंचमोऽध्यायः ।

अथ श्रीमन्मानसनामवंदना चतुर्थ दोहा ।

मूल ।

रामनाम मनिदीप धरु, जीह देहरी द्वार ।
तुलसी भीतर बाहरहुँ, जौं चाहसि उँजियार ॥ २१ ॥

टीका—श्रीगोस्वामीतुलसीदासजी कहते हैं, कि जो तू भीतर बाहरका उजाला चाहता हो, तो श्रीरामनाम मणिदीपवत् (मुखरूपी दरवाजेकी) जीभ देहरी द्वारपर रख ॥ २१ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**रामनाम०**' का भाव यह कि और तेल बत्तीके दीपमें बाधा रहती है, क्योंकि उसमें तेल चुकनेका भय पुनः पवन तथा पतङ्गादिसे बुझनेका भय रहता है और प्रकाश भी न्यूनाधिक हुआ करता है और मणिदीपमें यह सब बाधायें नहीं होतीं । इस प्रकार अन्य दीपोंसम ज्ञानादि साधन हैं, और मणिदीपवत् नाम, नामको स्फुट भी मणिवत् कहा है, यथा— "**रामनाम महामनि फनि जगजाल रे ॥**" (वि० ६८) तथा—"**पायों नाम चारु चिंतामनि०**" (वि० १०६) पूर्व "**बरषा रितु०**" के प्रकरणमें रामभक्तिमें मुख्य नामही दिखा आये, इसीसे इसको भक्तिरूपमें भी चिंतामणि कहकर गुण कहा गया है, यथा— "**परम प्रकासरूप दिन राती । नहिं तहँ चाहिय दिया घृत बाती ॥ मोह दरिद्र निकट नहिं आवा । लोभ बात नहिं ताहि बुझावा ॥ अचल अविद्या तम मिटि जाई । हारहिं सकल सलभ समुदाई ॥ खल कामादि निकट नहिं जाहीं । बसे भगति जाके उर माहीं ॥ गरल सुधासम अरि हित होई । तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई ॥**" (उ० दो० ११९) पुनः इसे मणिदीपवत् धरनेको कहनेका यह भी हेतु है, कि जैसे मणिदीप बुझता नहीं, एकरस प्रकाशित रहता है, वैसे नाम भी जिह्वापर एकरस चला करे ॥

(के) " जीह देहरी द्वार " का रूपक यथा-शरीर घर है, मुख दरवाजा तथा जिह्वा जिनके द्वारकी देहरी अर्थात् चौखट है। पुनः जीभहीसे नामरटन करनेका भाव यह कि इसका योग नाभिस्थानसे परावाणीतक है और इसपर काल कर्म गुण स्वभावके कारण अग्नि सूर्य तथा चन्द्रमाका निवास है, इसीसे जीभके ही रटनेसे नाम इन कालादिको शुद्ध करते हुए स्वतः परावाणीमें जा विराजते हैं, जो निद्रावस्था है, यह पूर्व ही ' **जीह जसो०** " के प्रसंगमें दिखा आये।

(खे)" **भीतर बाहरहुँ** " का भाव यह कि भीतर निर्गुण और बाहर सगुण देख पड़ता है, यथा-" **हिय निरगुन नयननि सगुन, रसना राम सुनाम । मनहुँ पुरट संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम ॥** " (दोहा० ७)

(गे) " **जौं चाहसि०** " का भाव-कि विना जपे उजाला नहीं हो सकता यथा-"**सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मनते दूरि । तुलसी सुमिरहु रामको, नाम सजीवन मूरि ॥** " (दोहा० ८)

(अनुसंधानार्थ)

(२) इन दोहेके ऊपर ' **उभय प्रबोधक०** ' में नामका शेष-शेषी संबंधका प्रबोध करना कह आये, और उनके पूर्वही चौ० ४-५-६ में उनके साधनाङ्ग भी दिखा आये। तिनमें चौ० ४ में जो विकार शुद्धिपूर्वक आत्मसाक्षात्कार कहा गया, वह शुद्ध निष्कामकर्मका फल है, तथा चौ० ५ में जो ब्रह्मके ऐश्वर्यज्ञानपूर्वक उसकी पहिचान कही गई, वह ज्ञानका सर्वस्व है, और चौ० ६ का कहा हुआ, स्नेह, उपासनाका परिणाम है, अर्थात् यह शुद्धरूपसे शेषत्व योग्यता प्राप्त होना तीनों कांडोंके पुरुषार्थोंका फल है, उन पुरुषार्थोंमें कर्मका मूल अग्नि ज्ञानके कारण सूर्य और भक्ति (उपासना.) के हेतु चन्द्रमा हैं, पूर्व बा० दो० १८ चौ० १ टि० (३) में लिख आये, इन तीनों (अग्न्यादि) का स्थान जिह्वापर है, इस लिये इनके उपायरूप नामको जिह्वासे रटना ही कहते हैं, कि इसीसे तीनों कांडोंका फलरूप शेषत्व-योग्यता (अर्थात् उपरोक्त वासुदेवके समान सूक्ष्मरूपप्राप्ति) रूप भीतरका उजियार होगा, और उस रूपसे जो सगुणका शेषत्व " **उभयप्रबोधक चतुर दुभाषी** " में दिखा आये, वही बाहरका उजाला है, यह सगुणशेषत्व केवल शरणागतिसे प्राप्त होता है। यथा-श्रुतिः " **नास्त्यकृतः कृतेन** " (मुंडक०) तथा-" **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः** " (मुंडक०) अर्थात् जिस पर वह कृपा करता है, उसेही प्राप्त होता है, और वह कृपा तो प्रपन्नपर ही होती है, यथा-" **मकारवाच्यस्य मम रकारवाच्यः श्रीराम एवोपायः** " (रहस्यत्रये) अतः ऐसी प्रपत्तिका फलभी नामसे ही प्राप्त होगा, अर्थात् जीभहीसे नाम रटते हुए कर्म, ज्ञान, उपासना और प्रपत्तिका सर्वस्व प्राप्त होगा ॥

संबंधनिर्णय ।

(३) पूर्व मंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपण प्रसंगमें मंत्रके बीजके द्वितीयाक्षर अकारसे ' भर्तृ-

भार्या' संबंधका होना कह आये, उसे यहाँ स्पष्ट करते हैं, यथा—" **द्वितीयपदेनाकारेण अन्यशेषत्वनिवृत्तिर्भगवदनन्यार्हशेषत्वं देवतांतरादिशेषत्वव्यावृत्तिश्च प्रतिपाद्यते॥**" (रहस्यत्रये) अर्थात् इस दूसरेपद अकारसे दूसरे जीवोंके सेवकाईकी निवृत्ति और केवल भगवत्सेवकाई करना तथा दूसरे देवतोंके सेवकाईकी निवृत्ति सिद्ध होती है, जैसे कन्याका वरसे व्याह होनेपर उसकी अन्य लोगोंकी सेवकाई छूटती है, वैसे इस अकारसे भगवत्का शेषत्व प्राप्त होनेपर अन्यशेषत्व जीवका छूटता है, पुनः जैसे वह पतिके अनन्या होती है, तैसे यह (जीव) भगवदनन्य होता है, जैसे पतिव्रता स्त्री पुरुषरूपसे अपने पतिहीको भजती है, वैसे अकारार्थसे जीव अपना सर्वोपाय (पुरुषार्थरूप) श्रीरामजीको जानकर अन्यदेवोंकी सेवा त्यागता है, इसभाँति अर्थ प्रकटानेसे इस अकारसे भर्तृ-भार्यासंबंध होता है, स्पष्ट भी कहा है, यथा—" **द्वितीयपदेनाकारेण अनन्यार्हवाचिना भर्तृ-भार्यासंबंधः ॥** " (बृहद्रहस्यत्रये) यही सिद्धान्त पूर्व बा० दो० १९ चौ० ६ में इसके संबंधोद्धार प्रसंगमें भी दिखा आये और यही सब आशय यहाँके इस दोहार्थसे प्रकटा। अर्थात् चारों पुरुषार्थोंके प्रापक नामको जानकर जीव इनके अनन्य हुआ और उपायार्थ हीं अन्यशेषत्व था, वह त्याग हुआ, इस प्रकार वही अकारार्थ इस दोहेमें प्रकट होनेसे यहाँ इस भर्तृ-भार्यासंबंधके मूलका साक्षात्कार हुआ, इसीके स्पष्टसूचनार्थ ग्रंथकारने 'भीतर बाहर उँजियार' कहा है, क्योंकि स्त्री आनेसे घरके भीतर उजाला होता है और पुरुषसे बाहरका उजाला कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ भार्यावत् असमर्थ जीवस्वरूप तथा उसके लिये समर्थ सर्वोपायरूप भर्तासम नामका स्वरूप प्रकट हुआ, इसीका विस्तार आगेकी आठों चौपाइयोंमें होगा। इस संबंधमें जीवस्वरूप प्रकाशक श्रीलक्ष्मणजी हैं, आगे अ० प्र० नं ४ टि० (४) में दिखावेंगे।

मूल (चौ०)

नाम जीहजपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचिप्रपंच बियोगी॥१॥
ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥२॥

टीका—योगीलोग नामको जीभसे जपकर जागते हैं, और वैराग्यवान् होकर ब्रह्माजीके प्रपंचसे रहित हो जाते हैं॥ १ ॥ और उपमा रहित ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं, जो कहनेमें नहीं आसकता, रोगरहित है, और जिसका नाम रूप नहीं है ॥ २ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "**नाम जीह०**" का भाव यहाँ— 'योगी' आत्मसाक्षात्कारपूर्वक सब जीवोंमें समबुद्धिवाले निष्काम-कर्म योग वालेको कहा है, यथा—"**योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥**" (गीता. अ० २) क्योंकि इस चौ० के वैराग्यादिगुण निष्काम कर्मके ही परिणाम हैं और पूर्व दोहार्थमें जो कर्म ज्ञानादि चारोंके प्रकाशक नामको कह आये, उन्हें यहाँसे क्रमशः दिखा रहे हैं, कि जो मोह-

रूपी निद्रामें सो रहे हैं, वे नाम जपकर जागते है, यथा-"मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिय सपन अनेक प्रकारा॥ यहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी॥" (अ० दो० ९२) अर्थात् स्त्री धन पुत्र घर आदिमें ममता किये हुए देहासक्त रहना सोना है और देहाभिमान ही मोहरूपी रात्री है, यथा-" सुत वित नारि भवन ममता निसि, सोवत अति न कबहुँ मति जागी॥" (वि० १४१) इनका संग छूटना ही जागना है, यथा-"अहंकार ममता मद त्यागू। महामोह निसि सोवत जागू॥" (लं० दो० ९९) "जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषयविलास विरागा॥" (अ० दो० ९२)

(क) "विरति विरंचि प्रपंच वियोगी।" का भाव विरंचिप्रपंच अर्थात् मायाकी गुण अवगुण मिश्रित रचना यथा-"विधिप्रपंच गुनअवगुन साना। से-'जड चेतन गुन दोष मय, विस्व कीन्ह करतार।" तक (बा० दो० ६) में देखो, इस प्रपंचका विकार यथा-"जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनम मरन जहँलगि जगजालू। संपति विपति करम अरु कालू॥ धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँलगि व्यवहारू॥ देखिय सुनिय गुनिय मनमाहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं॥" (अ० दो० ९१) इत्यादि. इस प्रकारके विरंचिप्रपंचसे वैराग्यवान् होकर 'वियोगी' कहनेका भाव यह कि जो विषयोंके त्याग होनेपर भी उनकी संकल्पें बरबस हुआ करती हैं, तिनका भी वियोग अर्थात् त्याग हो, तब योगीपना सार्थक हो. यथा-"न ह्यसन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।" (गीता. अ० ६) पुनः योगी होकर जैसे आत्मसुखका भोग प्राप्त होता है. यथा-" बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विंदत्यात्मनि यत्सुखम्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥" (गीता. अ० ५) वह आगे टि० (ख) में दिखाते हैं।

(ख) "ब्रह्मसुखहिं०" का भाव यह कि, ब्रह्मके जाननेसे उसकी तरह जीवको भी गुणमें समानता प्राप्त होती है, तब उसके साधर्म्यके गुण एक अनीहादिकोंके आनेसे संतोषजन्य सुख प्राप्त होता है, वही ब्रह्मसुख है, यथा-"ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै। तो कत मृगजलरूप विषयकारन निसि बासर धावै॥" (वि० ११७) यहाँ ब्रह्मसुखसे मनका स्थिर होना कहा गया, इसीकी निजसुख (आत्मसुख) भी संज्ञा है. यथा-"निजसुख विनु मन होइ कि थीरा।" (उ० दो० ८९) और आत्माकी भी इसीसे ब्रह्मसंज्ञा कहीं२होती है, अतएव यहाँपर ब्रह्मसुखसे आत्मसुखका अनुभव करना अर्थ है, प्रकरणानुसार भी यही ठीक है, क्योंकि आगे उत्तरोत्तर प्रशस्त अवस्थाका वर्णन होगा, 'अनुभवहिं' अर्थात् ज्ञानमात्रसे आनंद होता है, क्योंकि स्थूल वस्तु नहीं है, वह (आत्मा) स्थूल सूक्ष्म कारणादि देहोंसे भिन्न है, इससे रूप नहीं है, और जब रूप नहीं तब इस आत्माका प्राकृत नाम भी नहीं है, इसीसे वह प्राकृत विकार क्षीण-पीनादि आमय अर्थात् रोगोंसे रहित

'अनामय' है, इसी कारणसे उसका उपरोक्त निजसुख अनूप है अर्थात् उसके समान दूसरा सुख नहीं है, इस योगीकी यही व्यवस्था गीतामें भी कही गई है. यथा–" **योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः । स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥"** (गीता. अ० ५) अर्थात् जो आत्मसुख जानकर वाह्यविषयसुख त्याग दिया है, (यह आशय उपरोक्त ' **जागने** ' में है) आत्मामें ही रमणकरते हुए, वाह्यविषयोंको चित्तसे भी त्याग दिया है, (यह **'विरति'** में जानो) तथा जो आत्मसाक्षात्कारको सिद्ध कर लिया है, (यह **'विरंचिप्रपंच वियोगी'** में हुआ) वह पुरुष योगी है, ब्रह्मभूत अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ (उपरोक्त-शेष) होकर ब्रह्मनिर्वाण (अर्थात् उपरोक्त) आत्मसुखको अधिगच्छति अर्थात् प्राप्त होता है, (गीताके इस श्लोकमें आत्मज्ञानका ही प्रकरण है, इससे यही अर्थ है) इसी आत्मसाक्षात्कारको ऊपर पहिले संवंधमें गणेशजीके लक्ष्यमें भी निष्कामकर्मयोगका फल दिखा आये हैं, इस प्रकार यहाँ कर्मपुरुषार्थके निर्विघ्न प्राप्त करानेका सामर्थ्य दिखाकर नामका भर्तापना दिखाया गया ॥

मूल (चौ०)

जाना चहहिं गूढगति जेऊ । नाम जीह जपि जानहिं तेऊ ॥ ३ ॥

टीका–जो गूढ गतिको जानना चाहते हैं, वे भी नामको जीभसे जपकर जान लेते हैं॥३॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) भाव–यह कि जो अंतर्यामी ब्रह्म अत्यंतगूढ (गुप्त) रूपसे सब जीवोंकी रक्षा करता है, उसकी गति अर्थात् ऐश्वर्यसहित रक्षा करनेकी रीतिको जो जाना चाहें, (जो जानना पूर्व वा० दो० १९ चौ० ४ में **'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः०'**' इस श्रुतिसे दिखा आये) जिस जाननेको ऊपर दोहाकी टि० (२) में ज्ञानका सर्वस्व कह आये उसे जिस जिह्वापर ज्ञानप्रकाशक सूर्यका निवास है, तिससे नाम जपनेसे वह ज्ञानपुरुषार्थ भी नाम **'भर्ता'** के सामर्थ्यसे सहजमें प्राप्त होता है, इसमें **जेऊ** और **तेऊ** शब्द इसकी कठिनताके सूचक हैं ॥

मूल (चौ०)

साधक नाम जपहिं लउ लाए । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए ॥४॥

टीका–साधनकरनेवाले नामको लव लगाकर जपते हैं, तो अणिमादिक सिद्धियोंको पाकर सिद्ध होजाते हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी (अनुसंधानार्थ)

(१) यहाँ साधक, पराभक्तिवाले साधकको कहा है, क्योंकि पूर्व चौ० १–२ में आत्मसाक्षात्कार तथा चौ० ३ में ब्रह्मज्ञान कहा गया । अब यहाँ ज्ञानकी सिद्धावस्थामें जो पराभक्ति की जाती है, यथा–" **ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥**" (गीता. अ० १८) उसका प्रसंग है । इस भक्तिके

साधक संसारके संपूर्ण दृश्यपदार्थोंको सच्चिदानंदरूप विचारकर शुद्धसंकल्पोंसे संकल्प हीके अनंत परिकरोंसमेत नाम जपते हुए मानसिक सेवा पूजा करते हैं, तहाँ आचार्यदत्त अपने रसानुसार नियमितवयसहित तुरीयावस्थाके निजस्वरूपसे, चिदानंदमय निजइष्ट लोककी विभूतिके चिन्मय ही नाना महल व कुंजोंमें विविध प्रकारकी सेवा तथा क्रीड़ाका अनुसंधान प्राकृत देह विसारे हुए किया जाता है। यथा—" **सकलदृश्य निज उदरमेलि सोवै निद्रा तजि जोगी। सोइ हरिपद अनुभवै परमसुख अतिसय द्वैत वियोगी ॥** " (वि० १६८) वहाँ लवसहित नामाश्रित रहनेसे नामके कामतरुस्वभावसे जीवके संकल्पोंमें अणिमादिक सिद्धियोंकी दशा प्रत्यक्ष हो जाती है और यह स्वयं अनकोंरूप हैं तथा सेवासौंजादि भी होकर समग्र सेवाका सत्य २ दिव्य सुख लूटता है, इसकी आयुपर्यंतमें सिद्धिकी मर्यादा है, तब यह चिदानंदमय उसीस्वरूपसे नित्यधाममें प्राप्त होता है, इसका प्रबल प्रमाण भगवद्वचन है। यथा—" **यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर०** " (गीता० अ० ८) और श्रीकागभुशुण्डजी करते भी थे, यथा—' **आम छाँह कर मानसपूजा।** ' (उ० दो० ९६) (इसका विशेष विवरण नवें संबंधमें करेंगे) तथा आजदिन भी गोप्यरीतिसे महात्मालोग करते हैं, श्रीअगस्त्यसंहिता तथा और २ भी बहुतसे आचार्योंके ग्रंथप्रमाण है। इसीलिये मूलमें '**अनिमादिकपाए**' लिखा है, क्योंकि जापकको प्राप्तवस्तुकी भाँति अणिमादि हस्तामलक रहती हैं। इन सिद्धियोंके नाम-यथा (१) अणिमा—जिससे देह अणुरूप हो (२) महिमा—जिससे देह बढ़े (३) गरिमा—जिससे देह पर्वतादिवत् गरिष्ठ हो (४) लघिमा—देह हलकी करना (५) प्राप्ति—अप्राप्तवस्तु प्राप्त करना (६) प्राकाम्य—स्वच्छन्दपना (७) ईशता—जिसे जैसा चाहे प्रेरणा करनेका सामर्थ्य (८) वशिता—वशमें कर लेना इन भेदोंसे आठ हैं। ये आठों भगवत्संबंधी हैं, इनके अतिरिक्त और भी गुणसंबंधी तुच्छ सिद्धियाँ हैं, वे सब श्रीमद्भागवतमें प्रसिद्ध हैं। इससे उपरोक्त पराभक्तिके यहाँ होनेका भी प्रमाण हुआ, क्योंकि तत्संबंधी ही सिद्धियोंको ग्रंथकारने लिखा है, इस प्रकार यहाँ सर्वोपरिभक्ति (पुरुषार्थ) के सुलभ प्राप्त करनेसे नामका सामर्थ्यपूर्ण '**भर्तापना**' प्रकट हुआ ॥

मूल (चौ०)

जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी ५॥

टीका—जो भक्त भारी आरत होकर नाम जपते हैं, उनके कुसंकट दूर हो जाते हैं और वे सुखी होते हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**जन**' का भाव यह कि जो भक्त भगवान्के ही बलका अवलंब रखते हैं। यथा—' **जनहिं मोरबल निजबल ताही।** ' (आ० दो० ४५) तथा '**आरतभारी**'

का भाव यह कि, जन साधारण दुःखमें प्रभुको संकोच नहीं देते, जब भारी संकट पड़ता है, तब शरण होकर नामावलंव ले रक्षार्थ पुकारते हैं, कि जो प्रभुहीसे निवृत्त हो सकता है। यथा—"**जेहि कर अभय किए जन आरत बारक बिबस नाम टेरे।**" (वि० १३९)

(अनुसंधानार्थ)

(क) जैसे द्रौपदीजीने प्रथम चीरको कसकर बाँधा पुनः भीष्म द्रोण तथा समर्थ पाँचोंपतियोंकी ओर देखा, जब इन उपायोंसे निराश हुई, तब पूर्ण दीनतासमेत भगवान्‌की शरण हुई, तैसे ही तुरंत कष्ट निवारण हुआ, ऐसे ही गजराजने भी प्रथम अपने दशहजार हथिनियों सहित जोर किया, फिर देवताओंका स्मरण किया, तब निराश होकर पीछे भगवान्‌की शरण होनेसे संकट मिटा। इसी तरह जीवका अहंकार जो गजसम अभिमानी रहता है, जबतक दशेन्द्रियरूप दशहजार हथिनियोंका भरोसा रखता है, तथा बुद्धिरूपा द्रौपदीको पाँचों ज्ञानेन्द्रियरूप पाँचोपतियोंका भरोसा रहता है, तबतक शुद्ध दीनतासहित शरणागति नहीं होती, जब अपना कुसंकट विचारकर इन सबोंका बल विचारपूर्वक तौलकर हिम्मत हारे। यथा—"**तौ क्यों कटत सुकृत नख ते मोपै बिपुलबृन्द अघ वनके।**" (वि० ९७) और असमर्थ हो आरत होवे, पुनः नाम ओट ले, तो शरण होते ही जीवका कुसंकट तुरंत नाश होता है। यथा—"**आरति नति दीनता कहे प्रभु संकट हरत।**" (वि० १३९) तथा—"**सोक श्रम सींव सुग्रीव आरतिहरण।**" (गी० सुं० ४३) पुनः "**होहिं सुखारी**" अर्थात् जैसे द्रौपदीजीके शत्रुओंका पीछे जड़समेत नाश हुआ, तैसे नाम जीवके शरण हुए पर इसकी बुद्धिके विकारोंको नाश करते हैं और पीछे द्रौपदीकी तरह सुखी करते हैं, पुनः जैसे वहाँ गजराजको दिव्यरूप प्राप्त हुआ और वह पार्षद हुआ, वैसे अहंकाररहित शुद्धमन पार्षदरूप हो भक्तिमें रत होकर सुखी होता है। यहाँपर कृपा दया क्षमा वात्सल्यादि गुणगणार्णव सगुण भगवान्‌के शेषत्वकी प्राप्ति, जिसे केवल शरणागतिसे प्राप्त होना ऊपर दोहाकी टि० (२) में कह आये, उसका लाभ नामके पुरुषार्थसे प्रत्यक्ष हुआ। इससे नामका सामर्थ्यपूर्ण '**भर्तापना**' भी दृष्टिगोचर हुआ॥

मूल (चौ०)

रामभगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥६॥
चहू चतुर कहँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा॥७॥

टीका—श्रीरामभक्त जगमें चार प्रकारके हैं चारों पुण्यात्मा पापरहित और उदार होते हैं॥६॥ और इन चारों चतुरभक्तोंको नाम ही आधार है, (परंतु) ज्ञानीभक्त प्रभुको विशेषप्रिय होते हैं॥७॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) यहाँ चारों भक्तोंको सुकृती अनघ उदार और चतुर कहनेका भाव यह कि जो '**सुकृती**' होते हैं वही भजन करते हैं, यथा—"**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनो**

ऽर्जुन । आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥ " (गीता अ० ७) (यहाँ मुक्ती लक्ष्यके अतिरिक्त चारों भक्तोंका नाम भी कहा गया है, कि वे आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी करके ख्यात है) पुनः जो ' **अनघ** ' होते हैं, वही भजन करते हैं, यथा—" **पाप-वंतकर सहज स्वभाऊ । भजन मोर तेहि भाव न काऊ ॥** " (सुं० दो० ४३) तथा ' **उदार** ' नाम श्रेष्ठका है, वे भक्त श्रेष्ट इससे हैं, कि अन्य अवलंबरूप छल छोड़कर मनक्रम वचनसे सर्वोपायरूप श्रीरामजीको जानकर तिनका ही भजन करते है, क्योंकि श्रेष्ठताके सब विशेषण ऐसे ही भक्तको दिये जाते हैं। यथा—"**सोइ सर्वज्ञ सोई गुनज्ञाता । सोइ महिमंडित पंडित दाता ॥ धर्मपरायन सोइ कुलत्राता । रामचरन जाकर मन राता ॥ नीति निपुन सोइ परमसयाना । श्रुतिसिद्धान्त नीक तेहि जाना ॥ सो कवि कोविद सो रनधीरा । जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा ॥**" (उ० दो० १२६) (इसमें छल का अर्थ अन्य उपायका है, यथा—"**कहै काह छलि छुवति न छाहीं ।** " अ० दो० २८७) तथा जो अन्योपायभरोस छोड़कर श्रीरामजीको भजते हैं, वही ' **चतुर** ' है, यथा—" **परिहरि सकल भरोस, रामहिं भजहिं ते चतुर नर** " (आ० दो० ८) पुनः चतुर इससे भी कहा गया है, कि जो इन सबोंने नामहीका आधार लिया, क्योंकि ऊपर चौ० १-२में अत्यन्त कठिन निष्कामकर्मयोगका फलरूप आत्मसाक्षात्कार नामसे सुलभतासे प्राप्त हुआ, उसी प्रसंगके आत्मज्ञानीको इन चारमेंका (एक) ' **ज्ञानी** ' जानना चाहिये। पुनः चौ० ३ में जो आत्मज्ञानीको ब्रह्मज्ञानकी जिज्ञासा साक्षात्कार हुई, जिसमें नामसे ही एक अनीहादि गुणोंके आधारपर नवो-संबंध सहित ब्रह्मको जाना, जो सम्पूर्ण उपनिषदोंका सार सिद्धान्त है, ऐसी जिज्ञासा केवल जीभसे नाम-रटनमात्रमें लाभ किया, अतएव वह ' **जिज्ञासु** ' भी चतुर है। तथा चौ० ४ में पराभक्तिवाले साधकने जो अणिमादिक सिद्धियोंको नाम रटनमात्रसे साक्षात्कार कर लिया, जो अन्योपायोंसे परमदुर्लभ थीं, इससे वह ' **अर्थार्थी** ' भी परमचतुर है और चौ० ५ में अतिकठिन अंतःकरणोंके अभिमानराहित्य (दीनता) से होनेवाली शरणागतिका फलरूप सगुण-शेषत्व ' **आर्त** ' भक्तने केवल नामजपमात्रसे लाभ किया, इससे वह भी चतुर है ॥

(के) ' **ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा** ' का भाव यह कि पूर्वके चार भक्तोंका भक्तिके साथ २ अपना भी स्वार्थ सधता आया । जैसे प्रथमके आत्मज्ञानीको ब्रह्मसुख (आत्मसुख) प्राप्त होनेकी चाह थी और जिज्ञासुको गूढ़गति जाननेकी, अर्थार्थीको अर्थकी और आर्तको वेपरिश्रम दुःख निवारणकी चाह थी, तो भी भक्तिमान् होनेसे ये प्रभुको प्राणसम प्रिय हुए । यथा—"**भगतिहीन बिरंचि किन होई । सब जीवहु सम प्रिय मोहिं सोई ॥ भगतिवंत अति नीचहु प्रानी । मोहिं प्रानप्रिय अस मम बानी ॥**"(उ०दो०८५) परन्तु यह ज्ञानी ' **बिसेषि पियारा** ' कहा गया, तो जाना गया कि प्रभु इसे अपने प्राणसे

भी अधिक प्यार करते हैं। तब यह उन चारोंसे अवश्यमेव बढ़-चढ़-कर है। यह ज्ञानी वह है कि जिसे कुछभी चाह अर्थात् कामना नहीं है, इसे पंचम '**प्रेमी**' भक्त भी कहते हैं, यथा–"**जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्हसन सहज सनेहु। बसहु निरन्तर तासुमन, सो राउर निजगेहु॥**" (अ० दो० १३१) ऐसे अकिञ्चन ही प्रभुको परम प्रिय होते हैं, यथा–"**तेहिते कहहिं संत श्रुति टेरे। परम अकिंचन प्रिय हरि केरे।**" (बा० दो० १६०) इसी भक्तको आगे "**सकल कामना हीन जे**" में स्पष्ट करेंगे, तो वहाँ '**जे**' शब्दसे पूर्वोक्त सूचित करते हुए इसी ज्ञानीको कहेंगे और वहाँ ही इसे नामामृतकुंडमें मीनवत् दिखाकर, यहाँके विशेषप्यारा कहनेका हेतु भी स्पष्ट दिखावेंगे। **शंका**–गीतामें तो यह विशेषप्यारा ज्ञानी चारमें ही परिगणित है, तथा-प्रेमीको ज्ञानी क्यों कहा गया और गीतामें नामका आधार क्यों नहीं कहा गया? **समाधान**–गीताका चारों भक्तोंकी गणनाका श्लोक ऊपर टि० (१) में लिख आये, उसके आगेसे लिखते हैं, यथा–"**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥ उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥**" (गीता. अ० ७)

(ख) इनमें '**तेषां**' कहनेसे भगवत् उन चारोंमेंके ही ज्ञानीका अर्थ जनाये। इसकी अवस्था भी दिखाये, यथा–वह 'नित्ययुक्तः' अर्थात् सदा मेरे ध्यानमें ही रहता है, तथा 'एकभक्तिः' अर्थात् एक हमारीही भक्ति करता है, अर्थात् कामनाओंकी भक्ति त्याग दिया है, जैसे कि उपरोक्त चारोंके एक अपने प्रयोजनकी चाह दूसरी हमारी चाह है, ऐसा नहीं है, वह एकभक्तिवाला है, इसीसे 'विशिष्यते' अर्थात् विशेष है, उसका हेतु कहते हैं, 'हि' अर्थात् क्योंकि, उस ज्ञानीको मैंही सबसे विशेषप्रिय हूँ, इसीसे वह भी मुझे विशेष प्रिय है, पुनः 'उदाराः' अर्थात् श्रेष्ट तो सबही हैं परन्तु वह ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है, अर्थात् अति-प्रिय है, क्योंकि वह सबसे उत्तमगति अर्थात् आश्रय जो मैं हूँ, तिसमें युक्तात्मा अर्थात् ध्यान करता हुआ 'आस्थितः' अर्थात् मेरेविना क्षणभर भी नहीं रहता, पुनः इसके आगे ऐसे ज्ञानीकी प्रशंसा किये, कि बहुत जन्मोंकी सुकृतसे ज्ञानवान् सर्वोपायोपेय मुझ व्यापकको जानता हुआ शरण होता है।

(ग) ऊपर चौ० १ से ९ वीं तकमें जो चारों भक्तोंको कह आये, उनसे इस ज्ञानीकी अवस्था अलग है और उपरोक्त प्रेमीसे अभिन्न है, इससे विचार करनेसे भगवान्का अभिप्राय यहाँके उपरोक्त आत्मज्ञानीको जिज्ञासुमें ही गिननेमें है, क्योंकि प्रथम निष्कामकर्मयोगसे आत्म-ज्ञान प्राप्त होनेपर शुद्धान्तःकरणोंसे ब्रह्म जिज्ञासा होती है, यथा-श्रुतिः "**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।**" (ईशावास्य) अर्थात् अविद्यावाच्य कर्मसे संसारवासना निवृत्त-कर विद्यावाच्य ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है, तथा ज्ञानीको प्रेमी कहनेका समाधान यह है, किं

ग्रंथकारने तो प्रथमके आत्मज्ञानीको 'योगी' ही चौ० १ में कहा है और यहाँके इस निष्काम प्रेमयुक्तज्ञानीको ज्ञानीभक्त कहा है, क्योंकि श्रेष्ठज्ञान प्रेमसहित ही होता है, यथा-" **सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥** " (अ० दो० २७९) पुनः विचारसहित देखनेसे जाना जाता है, कि " **भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।** " (गीता. अ० १८) तथा श्रुतिः " **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः** " (मुंडको०) इत्यादि वाक्योंसे भक्ति ही मोक्षदात्री सिद्ध होती है और यथा-"**ज्ञानान्मुक्तिः** " (पातञ्जल सूत्र) पुनः श्रुतिः " **ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः** " इत्यादिसे ज्ञानही, तो इन वाक्योंका ऐक्य होना चाहिये, वह इस प्रकार होगा, कि प्रेमपूर्वक भगवान्का ध्यान करना भक्ति है और जो वाक्यज्ञानसे मोक्ष कहते हैं, उनका भी तात्पर्य ध्यानसेही है, उन वचनोंमें यह नहीं कहा गया, कि वह ध्यान प्रेम सहित न हो, तब प्रेमपूर्वक ध्यान तो भक्तिही है, अतः भक्तिके भीतर ध्यान आजाता है और केवल ध्यानमें प्रेम नहीं आता, अतएव प्रेमसमेत ध्यानात्मक भक्तिमें उभयपक्ष पर्यवसान होते हैं। इसीसे कहा है, यथा-"**रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥** " (अ० दो० १३६) और पूर्णज्ञानी सनकादिकोंने प्रेमभक्ति ही माँगा है, यथा-" **प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहिं श्रीराम॥** " (उ० दो० ३४) पुनः यहाँ तो भक्तज्ञानीका प्रसंग होनेसे यह प्रेममय है ही, अतएव शंका नहीं है॥

(घ) और गीतामें नामको प्रकट न कहनेकी भी शंका नहीं, क्योंकि ग्रंथकार गोस्वामीजीने तो नामाधारवाले चारोंको '**चतुर**' कहा है जो कि गीतामें नहीं कहा गया, शेष सुकृती, उदार आदि विशेषण ज्योंके त्यों हैं, इसका विषय ऊपर चौ० १ से ९ तकमें तथा यहाँकी टि० (१) में प्रकट है, कि जो और भक्तोंको कर्म ज्ञानादिसे कष्टपूर्वक भी सिद्धि दुर्लभ है, वह इन चतुरोंने नामसे सहजमें प्राप्त किया, पुनः यों भी है, कि भक्तिमात्र तथा कोई भी कर्म बिनामंत्रके विधिवत् नहीं होते और मंत्र और नाम अभेद है। तथा आगे चौपाईमें चारों वेदोंमें नाम प्रभावका होना कहेंगे, तो जो गीताके उस प्रसंगमें प्रकट नहीं हैं तो अंतर्गत समझना चाहिये॥

(अनुसंधानार्थ)

(ङ) इन दो चौपाइयोंमें भी सब प्रकार भरण पोषण करनेवाले गुणोंसे नामका '**भर्ता**' रूप प्रकट है, तथा-" **ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा।** " कहनेमें जीवका '**भार्या**' स्वरूप भी लक्षित है, क्योंकि भार्याका पतिप्यार ही भोग है, यथा-" **होइहौ संतत पतिहिं पियारी। चिरअहिवात असीस हमारी॥** " (बा० दो० ३३३)

मूल (चौ०)

चहुँजुग चहुँश्रुति नामप्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥८॥

टीका-चारों युग (सतयुग त्रेता द्वापर कलियुग) चारोंवेद (साम ऋग् यजुः अथर्वण) में नामप्रभाव प्रसिद्ध है और कलियुगमें तो मुख्यरूपसे है, क्योंकि दूसरा उपाय नहीं हैं॥ ८॥

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) "चहुँजुग०" के लक्ष्य यथा—श्रीकृष्ण उवाच "**गायन्ति रामनामानि वैष्णवाश्च युगे युगे । त्यक्त्वा च सर्वकर्माणि धर्माणि च कपिध्वज ॥**" (आदिपुराणे) तथा प्रमाण प्रत्येक युगोंके यथा—सतयुगमें "**नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भगतसिरोमनि भे प्रह्लादू ॥ ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊं । पायो अचल अनूपम ठाऊँ ॥**" (बा० दो० २९) त्रेतामें श्रीशबरीजी यथा—"**जो सुनि सुमिरि भागभाजन भइ सुकृतसील भीलभामो ॥**" (वि० २२९) द्वापरमें श्वपचभक्त और कलिमें कबीरादि प्रसिद्ध हैं ॥

(क) 'चहुँश्रुति' यथा सामवेदे—"**ओमित्येकाक्षरं यस्मिन् प्रतिष्ठितं तन्नाम ध्येयं संसृतिपारमिच्छोः ।**" ऋग्वेदे—"**परंब्रह्म ज्योतिर्मयं नाम उपास्यं मुमुक्षुभिः ।**" यजुर्वेदे—"**मर्त्या अमर्त्यस्य ते भूरि नाममनामहे विप्रासो जातवेदसः**" "**यस्य नाम महद्यशः**" "**रामनामजपादेव मुक्तिर्भवति ।**" अथर्वणे—"**जपात्तेनैव देवतादर्शनं करोति कलौ नान्येषां भवति ॥**" "**यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं वदेत्तेन सहसंवदेत्तेन सह संवसेत्तेन सह संभुञ्जीयात् ॥**" (श्रीसीताराम नामप्रताप प्रकाशसे उद्धृत)

(ख) "कलि०" यथा—"**रामेतिवर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः । कलौयुगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः ॥**" (ब्रह्मसंहितायाम्) तथा—"**कलि नहिं ज्ञान बिराग न जोग समाधि । रामनाम जपु तुलसी नित निरुपाधि॥**" (बरवारामा०) "**कलि केवल मलमूल मलीना । पापपयोनिधि जनमन मीना ॥**" से—"**पालिहिं दलि सुरसाल ॥**" तक (बा० दो० २७—२८) तथा—'**कृतजुग त्रेता द्वापर०** ' से—'**नामप्रताप प्रगट कलिमाहीं ।** ' तक (उ० दो० १०२—१०३)

(भावार्थ)

(२) यह भर्तृ—भार्यासंबंध कर्तृत्वाभिमान-निवर्तक है, पूर्व इसके संबधोद्धारमें भी दिखा आये, कर्मोंका कर्तृत्व सामर्थ्य ऊपर सातों चौपाइयोंमें नामका ही दिखा आये और प्रत्येक कर्ममें युगप्रभाव भी सहायक रहता है, क्योंकि युग तथा तदंशभूत शुभाशुभ मुहूर्तके अनुसार ही कर्मोंके फल होते हैं, तथा जीवोंके हृदयमें नित्यप्रति भी सब युगोंके धर्म वर्तते हैं, यथा—"**नित युग धर्म होहिं सब केरे । हृदय राममायाके प्रेरे ॥**" से—"**बुध जुगधर्म जानि मन माहीं । तजि अधर्म रति धर्म कराहीं ॥**" (उ० दो० १०३) तकमें कहा है, तदनुसार ही कर्मचेष्टा भी होती है, पुनः कर्मोंमें वेदविधि भी सहायक रहती है, क्योंकि अविधिसे भी कर्म निष्फल होते हैं, यथा—"**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥**" (गीता. अ० १६) (यहाँ कर्ममें कर्म, ज्ञान, उपासनादि सब पुरुषार्थोंको जानना चाहिये) इस लिये इन चारों युगोंमें तथा चारों वेदोंमें

भी नामहीका प्रभाव यहाँ दिखाये हैं, अतएव जीवोंके सम्यक्प्रकारके पुरुषार्थरूप नाम ही हैं, यह निश्चय हुआ ॥

गीतासे मिलान । (तात्पर्यार्थ)

(३) यह संबंध समग्र श्रीमद्भगवद्गीताका सार है, क्योंकि जैसे अर्जुन प्रथम अपनेको स्वतंत्रकर्ता विचारकर युद्धरूप पापसे डरते थे और पुण्यके धनी बनते थे तब प्रथम भगवान्ने वाक्यसे ज्ञानोपदेश किया, वैसे ही नामने भी इस संबंधसे पूर्व **"अगुन सगुन बिच०"** में उपदेश किया, पुनः जैसे उसका यथार्थबोध न होनेपर आप (श्रीकृष्ण) ने उन्हें दिव्यचक्षु दिया, वैसे ही यहाँ भी **'रामनाम मणिदीप धरु०'** में मणिवत् प्रकाशमय नामरूप नेत्र जापकरूप अर्जुनको प्राप्त हुए, फिर जैसे भगवान्ने अपना पर (विराट्) रूप दिखाया, यथा— **"मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।"** (गीता. अ० ११) उस रूपके दिखानेका प्रयोजन यह था, कि जैसे जीव अपने शरीरका भोक्ता, पोषक स्वयं होता है और कर्म करनेमें इन्द्रियोंके निमित्त होते हुए भी शरीरी (जीव) ही कर्ता कहा जाता है, वैसे ही जब सब जीव तथा प्रकृति भगवान्के शरीर हैं, तब इनके निमित्त रहते हुए भी कर्मोंके कर्तृत्वाभिमानी तथा भोक्ता भगवान् हैं, क्योंकि उपाय तथा सामर्थ्यरूप भगवान्ही हैं, अर्जुनको यही बात दृढानेके लिये भगवान्ने अपने देहमें ही संपूर्ण विश्व दिखाया है, तब दिव्यचक्षुसे देख २ कर अर्जुनने कहा है. यथा—**'पश्यामि देवांस्तव देव देहे०'** से—**'न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ '** (गीता. अ० ११) तकमें स्पष्ट है, वैसे ही यहाँ भी दोहामें उपरोक्त दिव्यचक्षु पाकर जापकने नामरूप श्रीकृष्णका निजार्थमें दिखाया हुआ विराट्रूप उस (दोहा) के आगे पहिली चौ० **"नाम जीह जपि जागहिं०"** से देखना आरंभ किया और पाँचवीं चौ० तकमें समग्रपुरुषार्थ नाम ही में देखा और गीताके अठारहवीं अध्यायमें जहाँ ग्रंथभरका सार कहा है, यथा—**'असक्तबुद्धिः सर्वत्र०'** से—**'मद्भक्तिं लभते पराम् ॥'** तकमें क्रमशः कर्म ज्ञान और भक्ति कहा है, पुनः तटस्थ ही **"तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।"** में शरणागति भी कहा है, यही चारों क्रमशः चौ० १ से ५ तकमें नामने भी दिखाया है, पुनः आगे **"सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः । इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ "** (गीता. अ० १८) इसमें अपना विशेष प्यारा जानकर भगवान्ने श्रेष्ठ वचन कहनेको कहा, पुनः इसके आगे दो श्लोकोंमें कहा, वैसे यहाँ (नाममें) भी चौ० ७ में **' ज्ञानी प्रभुहिं विसेषि पियारा '** से नामरूप श्रीकृष्णने जापकको अपना विशेषप्यारा कहा और गीताके उन दो श्लोकोंका भी सार इस (चहुँजुग चहुंश्रुति०) चौ० में कहा। यथा—**"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥ मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥"** इसमें **'मन्मना भव'** का अर्थ यह कि मनकी समग्रवृत्तिसहित (मानसी-भावनारूप ध्यानात्मकपराभक्तिसहित) भगवान्में ही लगा रहना, यह 'सतयुग' का धर्म है । तथा **'मद्भक्तो'** से प्रभुके अंगरूप देवताओंकी यज्ञरूप सेवा (भक्ति) करना अर्थ होगा । जैसे इन्द्रके स्वरूपज्ञान-पूर्वक तिनकी यज्ञ करनेसे

श्रीरामजीके हस्तकी सेवा होती है, वैसे ही अग्निकी यज्ञसे मुखकी सेवा होती है, क्योंकि जो २ देवता जिस २ अंगसे होते हैं, वे तद्रूप ही हैं, यहाँ प्रत्यक्ष यज्ञोंको न कह कर भक्ति कहनेका अभिप्राय यह कि कहीं यह अल्पसमझवाले जीव यज्ञोंके अधिष्ठाता देवतोंको स्वतंत्र यज्ञोंका भोक्ता न समझ जायँ. इसलिये अपना अंगरूप करके कहा। अतएव यह 'त्रेता' का धर्म है। पुनः '**मद्याजी**' अर्थात् मेरे सौम्यरूपकी प्रतिमा आदिसे वा श्रीरामतापनीयोपनिषदादिमें कहे हुए यंत्रादि विधिसे मेरी पूजा करो। यह 'द्वापर' का धर्म है और '**मां नमस्कुरु**' के अर्थसे उपाय सामग्रीशून्य जो कलियुग है, उसका धर्म (उपाय) केवल शरणागति ही है, यह कहे क्योंकि नमःका अर्थ उपाय व शरणागति होता है। इसमें चारोंमें मां, मां, कहनेमें चारोंयुगोंके उपायरूप स्वयं हुए, वैसे ही यहाँ नामने '**चहुँजुग-नाम प्रभाऊ**' से जनाया। कि हम हीं चारोंयुगोंके पूज्य हैं। पुनः दूसरा श्लोक यथा—"**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**" इसमें जो सर्व धर्म त्यागकर अपने 'एक' की शरण होना कहा है। यह अर्जुनके पूर्ववाक्यपर है, यथा—"**आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।०**" (गीता. अ० १) इत्यादिको जो पूज्य कहा था और इनसे प्रतिकूल होनेमें पाप समझा था। उसे ही यहाँ पर भगवान् कहते हैं, कि पितृऋण, ऋषिऋण, देवऋण आदिके सब धर्मोंको मुझ एकमें जानकर मेरी ही शरण हो, तो उन धर्मोंके त्यागके पापोंसे मैं तुझे मुक्तकर दूँगा। यही चारोंवेदोंका सिद्धान्त है, पूर्व पिता-पुत्र संबंधमें इसे ही विस्तारसे कह आये और जैसे यहाँ अपनेको 'एकं' कहा है, वैसे वह संबंध भी श्रीलक्ष्मणजीके लक्ष्यपर है. उन्होंने श्रीरामजीको 'एक' ही कहकर तीनों ऋणोंको त्यागा है, यथा—'**मोरे सबुइ एक तुम स्वामी।**' यह सब वहाँ संबंधमें तथा—अ० प्र० नं० १ टि० (३) में और बा० दो० १९ चौ० ३ में दिखा आये, यही आशय यहाँ नामने '**चहुँश्रुति-नामप्रभाऊ**' से अपनेमें दिखाया है, कि चारोंवेदोंके समस्त धर्मोंमें नामका प्रभाव जानकर इनकी ही शरण होना चाहिये। इन श्लोकोंके आगे जैसे गीतामें और उपाय नहीं कहा गया, तैसे यहाँ भी '**नाहिं आन उपाऊ**' कहकर दिखाया। यह सब सुनकर जैसे वहाँ अर्जुनने "**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥**" (गीता. अ० १८) से अपना मोहनाश होना, स्मृति आना और संदेहराहित्य कहा, वैसी अवस्था यहाँ जापकको भी प्राप्त हुई *॥

नोट—*इस संबंधके प्रसंगमें जैसे पंचवटीमें श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीको गीताज्ञानोपदेश किया है, और सैन बुझाकर मोहरूप रावणकी बहिन अविद्यारूपा सूर्पणखाकी नाक और कान कटाया है, वह सब नामने जापकके प्रति भी किया है, उसमें यहां तकमें श्रीलक्ष्मणप्रति अंगुलीसे सैन करने तकका उपदेश होगया, नाक कान काटना आगेके तटस्थ दोहार्थमें है, यह सब आगे छठवें संबंधमें इसका स्वतंत्रप्रसंग पाकर वहाँके पंचवटी प्रसंगमें कहेंगे॥

संबन्ध सारांश।

इस संबंधके आदिके दोहार्थमें संबंधका सूक्ष्मतः साक्षात्कार हुआ। पुनः आगे सर्वत्र जीवका असमर्थ '**भार्या**' स्वरूप और नामका समर्थ '**भर्ता**' रूप मूलके अर्थमें दिखा आये। इसका विशेष सारांश ऊपर गीताके मिलानमें कह आये और पूर्वोक्त बा० दो० २० चौ० ४ में जो नामका संकर्षणस्वरूप कह आये, वही इस संबंधमें साक्षात्कार हुआ। यथा—ज्ञान और बल ऐश्वर्यसे उनमें संहार क्रिया कही गई थी, तहाँ ज्ञानमय तो उनका स्वरूप ही है और बलसे कार्य करते हैं। वैसे इस संबंधमें भी संपूर्ण गीताका सार नामार्थ हीमें दिखानेसे ज्ञानमय नामका स्वरूप सिद्ध हुआ और बल अर्थात् सामर्थ्यसे पुरुषार्थरूप होकर 'भर्ता' का कार्य किये, जिसमें जीवके कर्तृत्वाभिमानादि अविद्याकी निवृत्ति हुई। यह ऊपर चौ० ८ के नोटमें देखो, तथा ऊपर तटस्थ लिख आये। इस अविद्याकी निवृत्तिसे इसके परिवार मोहादि समस्त विकारोंका संहार हुआ। यथा—"**अचल अविद्याकर परिवारा। मोह आदि तम मिटैं अपारा॥**" इसे पूर्व '**रामनाम मणिदीप०**' का गुण कह आये थे, वही प्रसंगभरमें साक्षात्कार हुआ और इसके संबंधोद्धारमें कहा हुआ स्पर्शत० से रक्षा करनेका कार्य यहाँ कर्तृत्वाभिमानादि निवृत्तिमें हुआ तथा इसका भार्य्यास्वरूप प्रकट होनेसे वहाँके स्त्रीस्वरूपका भी तात्पर्य आया। इससे यह पूर्वोक्त '**स्पर्शत० के छठवें आवरण**' से मुक्त हुआ, और इसी आवरणमें आनेसे जो इसका '**विशोक**' गुण नाश हुआ था, उसके पुनः प्राप्तिकी आशा हुई॥

अथ अखिल प्रकरण नं० ४।

टिप्पणी (तात्पर्यार्थ)

अथ जापकके हृदयरूपगर्भमें नामकी अवस्था और अवतार प्रसंग।

(१) इसके पूर्वके अ० प्र० नं० ३ टि० (१) में इनका तीसरे आवरणमें स्वेच्छापूर्वक आना दिखा आये। अब यहाँ अहंकारके चौथे आवरणका आना दिखाते हैं, कि यह महत्तत्त्वका कार्यरूप है। इसीसे वहाँ (तीसरे आव०) के शेष-शेषी संबंधकी ही अनन्यता सहित कार्यावस्था इस संबंधमें कही गई। अर्थात् अ० प्र० नं० ३ टि० (१) में जो इन्हें कर्म (धर्म) इच्छा हुई थी, तिनकी पूर्तिहेतु कार्मकारिणी इन्द्रियोंका उत्पन्न होना यहाँ दिखाते हैं। जैसे इस अहंकारको ग्रहण करते हुए, जीव पूर्वके वीर्यरूपसे इसके अग्निके अंशसे खौलकर पिंडरूप होता है, तब पीछे उसीमें हस्त पादादि इन्द्रियाँ होती हैं, क्योंकि इस अहंकारकी अग्निसे उत्पत्ति है। वैसे ही इस संबंधके मूलरूप दोहेमें '**जीह देहरी द्वार**' पर नामको धरना कहा गया, तो जिह्वापर अग्निका वास है, पुनः मुखरूप दरवाजेके भी अग्नि ही देवता हैं, यहींपर अग्निरूप अहंकारसे इनका कार्य आरंभ हुआ, तो रटनरूप खौलनेसे, वहीं पर (उस दोहेकी) टि० (२) में जो संपूर्ण पुरुषार्थ नाममें दिखाया

गया, जिसमें विराट्का कार्य दिखाया गया, यही नामरूप विराट्का पिंड बना। फिर चौ० १-२ में जो शुद्धकर्मका फलरूप आत्मसाक्षात्कार कहा गया और चौ० ३ में ब्रह्मज्ञानकी जिज्ञासाका साक्षात्कार होना कहा गया यह दोनों (कर्म और ज्ञान) अग्निसे होते हैं, (यथा-यज्ञादिकर्म अग्निसे होते हैं, और अग्निका जातवेद नाम है जिसका अर्थ ज्ञानका कारण होता है) अतएव इन दो प्रसंगोंमें नामके अग्नितत्त्वकी कर्मेन्द्रिय दोनों चरण प्रकट हुए और चौ० ४ के अर्थदातृत्वमें तथा चौ० ५ के आर्त रक्षणमें दोनों हाथोंके कार्यसे हाथोंका आकार प्रकट हुआ और चौ० ६-७ में भक्तोंके मुखिया ज्ञानीके प्रियत्व दिखानेमें कर्मेन्द्रियोंके मुखिया मुखका आकार प्रकटा, आगे टि० (५) में इन्हीं पांचों प्रसंगोंमें पाँचों विषयोंसे रक्षक पाँचों मुद्राओंका स्वरूप दिखावेंगे और उन्हीं पाँचों विषयोंसे रक्षार्थ पाँचों संस्कार हैं, (प्रत्येक अ० प्र० की टि० (५) में दिखाये गये हैं) जिन्हें आगे " **रामनाम नरकेसरी०** " में नामरूप नरसिंहके हाथ पैर और मुखरूप दिखावेंगे। वहाँ यही हस्त पादादि जन्म होनेपर प्रकट देख पड़ेंगे। इन वड़े २ आकारकी इन्द्रियोंका रूप दिखाया गया तो शेष भी आगई। पुनः इसी आवरणमें जीव जैसे स्वभावरूप कार्यसमेत मनको ग्रहण करता है, वह मन इन्द्रियोंका प्रेरक है, वैसे ही मूलकी चौ० ८ टि० (३) के '**चहुँजुग० नामप्रभाऊ।**' में युगधर्मानुसार नाम ही की पुरुषार्थ प्रेरकता दिखाई गई वही नामका मनरूप हुआ, क्योंकि पुरुषार्थोंके स्वरूपमें ही इनके हाथ पैर मुखादि इन्द्रियाँ भी कह आये और वहीं पर '**चहुँ श्रुति-नामप्रभाऊ।**' के तात्पर्यमें स्वभावका ग्रहण हुआ, क्योंकि युगानुसार श्रुतिधर्म होनेसे, उस युगके कार्यरूप हैं, जैसे मनका कार्यरूप स्वभाव है और इस संबंधभरमें कर्मोंकी फलेच्छा, ममता तथा कर्तृत्वाभिमानादिराहित्य दृढ़ता दिखाये इसीमें नामने अपने '**अपिपास**' गुणका पूर्णप्रकाश दिखाया। इसी आवरणमें आनेपर कर्मवश जीवका यह गुण नाश होता है और नामका प्रकाश हुआ, उसका हेतु यह है, कि इनका जन्म कर्म दिव्य है ॥

अथ नामरूप ईश्वरकी प्रथम भावानुसार पंचधा स्थिति।

(२) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (गं) के क्रमानुसार यहाँ '**पर (विराट्)** रूपका प्रकरण है। वह नामका रूप मूलके अर्थमें स्पष्ट करते आये हैं, तथा चौ० ८ टि० (३) में भी देखो ॥

अथ नामान्तर दशअवतारोंके साक्षात्का प्रसंग।

(३) संबंधोद्धारके क्रमानुसार यहाँ '**नरसिंह**' अवतारके साक्षात्कारका प्रसंग है। जैसे प्रह्लादके असमर्थ होकर सर्वोपायरूप नाम ही समर्थको जानकर अनन्यशरण होनेपर पंचाननरूपसे नरसिंहअवतार लेकर भगवान्ने रक्षा किया। (शिकार करनेमें सिंह चार पंजों और एक मुख इन पाँचोंसे चीरना फाड़ना आदि मुखका कार्य करता है, इसीसे पंचानन

कहाता है) वैसे यहाँ भी असमर्थ जापकके लिये नाम, अपने दो हाथ, दो पैर, एक मुख रूप पाँच अंगसहित पंचानन रूपसे प्रकट हुए, ऊपर टि० (१) में दिखा आये, जैसे सिंह अपने पाँचों अंगोंसे अजा (बकरी) का शिकार सहजमें करता है, वैसे ही नामके भी इन्हीं अंगोंसे अजा (माया) के शब्दादि विषयरूप पाँचों अंगोंका नाश आगे टि० (९) में इसी संबंधपर दिखावेंगे। जैसे नरसिंहभगवान् तेजमय भयंकर रूपसे प्रकट हुए, वैसे नाम भी इस संबंधमें विराट्रूप है ऊपर दिखा आये। वह रूप तो तेजमय और भयंकर है ही, कि जिसे देखकर अर्जुन भी अत्यंत डर गये थे। पुनः जैसे वहाँ कालरूप हिरण्यकश्यप, कर्मपरिणाम शरीररूप खंभामें गुणरूप रस्सीसे बाँधकर जीवरूप प्रह्लादको डरवाता था. (यह रूपक आगे बा० दो० २७ के अनुसार है) तब भगवान् खंभा फाड़कर निकले और हिरण्यकश्यपको मारकर प्रह्लादको बंधनसे मुक्त किये, वैसे ही नामने भी यहाँ समस्त पुरुषार्थरूप कर्मपरिणाम खंभामें साररूप अपना दिखाकर प्रकट किया और '**चहुँजुग**' (काल) में अपना ही प्रभाव दिखाकर कालरूप हिरण्यकश्यपको विदारा, और '**चहुँश्रुति**' में भी निजप्रभाव दिखाकर गुणोंसे मुक्त किया, क्योंकि वेद गुणत्रयसंपत्तियुक्त हैं, यथा—"**त्रैगुण्यविषया वेदाः**" (गीता. अ० २) पुनः जैसे वहाँ भगवान् प्रह्लादको प्यारसहित लालन करने लगे थे, वैसे नाममें यहाँ जापकका प्यारा होना तो चौ० ७ में ही कहा गया। पुनः उसीके कार्यरूप आगे तटस्थ (**सकल कामनाहीन जे०**) दोहेमें नामका लालन भी जानना चाहिये॥

अथ नामान्तर भक्तिरस प्रकरण।

(४) पूर्वके अ० प्र० नं० १ टि० (४) के क्रमानुसार यहाँ '**दास्यरस**' की साधनावस्थाका प्रसंग है। दास्यरसका स्वरूप यथा—"**सहजसनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि विहाई॥**" (अ० दो० ३००) यहाँ छलका उपाय अर्थ है। यथा—"**कहे काह छलि छुवत न छाहीं॥**" (अ० दो० २८७) अर्थात् स्वारथ जो देहसुख तिसके लिये उपायरहित तथा निजसुख—सामग्रीरूप चारोंफलकी आशविहाय सहजस्नेहसे सेवा करना दास्यता है। यही भगवान्का दासत्व जीवका सहज धर्म है, क्योंकि अनेकों जन्मोंसे यह उनकी दी हुई इन्द्रिय-सामग्री सहित उनकी प्रेरणा तथा सामर्थ्यसे स्वइच्छित सुख कर आया, तो इस चैतन्यशरीरसे जब समझा, तो शेष आयुकी इन्द्रियवृत्ति उनके कृतज्ञतार्थ सेवामें लगाना चाहिये, अन्यथा जीव कृतघ्नी होगा। यथा—"**हृषीकैश्च हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।**" (पांचरात्रे) अर्थात् जैसे स्त्री अपना सब अंग पतिके वास्ते जानकर अनन्य होकर सेवा करती है, वैसे इस भक्तिका स्वरूप है, इसके उद्धार प्रसंग "**भगति सुतिय कल करनविभूषन।**" में कह आये। यही सब इस संबंधके मूलके अर्थमें भी कह आये। यथा—अपना उपायरूप नाम ही जाने गये और कर्मोंके कर्तृत्वाभिमानादि त्यागनेमें चारों फल त्याग होगये और अनन्य भावसे भर्तारूप नामकी सेवा भी दृढ हुई। यही सब इस रसके प्रकाशक श्री लक्ष्मणजीने करके दिखाया है। यथा—"**बारेहिं ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥**"

(बा० दो० १९७) इनकी दास्यता यों भी प्रकट है, कि श्रीरामजीने सुग्रीवसखाको सब भाँतिके समानसखा श्रीभरतजीके समान कहा है। यथा–"**तुम प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई।**" (कि० दो० २१) वैसे ही प्रसिद्धमें दास्यरसके आचार्य श्रीहनुमान्‌जीको श्रीलक्ष्मणजीकी उपमा दी है। यथा–"**तें मम प्रिय लछिमन तें दूना।**" (कि० दो० ३) और इन्होंने दासत्वका स्वरूप कहा भी है। यथा–"**हृदय घाव मेरे पीर रघुवीरै।० मोहिं कहा बूझत पुनि २ जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै। सोभा सुख छति लाहु भूपकहँ केवल कांति मोल ही हीरै॥**" (गी० लं० १९) अर्थात् लंकामें शक्तिकी मूर्छासे जागनेपर सुग्रीवादि प्रति निजअंगका घाव दिखाते हुए श्रीलक्ष्मणजीका वचन है, कि इसकी पीर जिनका शरीररूप मैं हूँ, तिन श्रीरघुवीरसे बूझो, इसकी पीर उनको है। (यही तात्पर्य नामको विराट्‌रूप कहनेमें है, जो मूलकी चौ० ८ टि० (३) में दिखा आये।) पुनः कहते हैं, कि जैसे पाठक तोताको जिस अर्थके अभिप्रायसे शब्द पढाता है, वही जानता है, उसी प्रकार निजप्रसन्नतार्थ स्वयं (श्रीरामजी) बुद्धि व पुरुषार्थ देकर कैंकर्यादि करवाय स्वयं प्रसन्न होते हैं, तो इसमें मेरा उपाय चातुर्य्य क्या है, अर्थात् मेरे दासत्वके उपायरूप आप ही हैं, पुनः फलेच्छाराहित्य भी दिखाते हैं कि जैसे हीरा धारण करनेमें उसकी शोभा लाभका सुख और उसके टूटने फूटनेकी हानिका दुःख उसके धारण करनेवाले राजाको होता है, वैसे जब हम श्रीरामजीके शरीररूप हैं, तो निस्संदेह हमारेद्वारा भये हुए कर्मोंकी हानिलाभके भोक्ता वे ही हैं और हीरेकी तरह हमें विवेक विरागादिरूप कांति और अनन्यदासत्वरूप मोलसहित रहना चाहिये, कि जिससे धारण करनेवाले भूपसम श्रीरामजीको हम प्रिय रहें। यह फलेच्छा राहित्य भी इस संबंधके उद्धारमें तथा मूलके अर्थोंमें पूर्णतः दिखा आये और भी अनन्योपायोपेय स्वामीके शरणमें जैसे २ दासकी अविद्या नाश होती है, मूलकी चौ० ८ के नोटके विस्तार प्रकरणमें दिखावेंगे और इस दास्यनिष्ठाकी सिद्धावस्था छठवें अ० प्र० टि० (४) में दिखावेंगे॥

अथ नामान्तर पंचसंस्कार प्रकरण।

(९) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (९) के क्रमानुसार यहाँ '**मुद्रा**' संस्कार धारणकी साधनावस्थाका प्रसंग है, मुद्रा यथा–"**ॐ श्रीरामं नत्वा मुद्राः पंच तत्त्वतो य आत्मनि धारयेत् स श्रीरामस्यानुचरो भवति**" इति ऋग्वेदे प्रथमसंस्कारः॥ (श्रीरामपटल) **अर्थ**–श्रीरामजीको नमस्कार करके जो पंचमुद्रा (चंद्रिका, मुद्रिका, युगलनाम, बाण, धनुष) को शरीरमें धारण करते हैं, वे श्रीरामजीके अनुचर (दास) होते हैं। यथा–"**धारयन् रामभक्तानां श्रियं बिन्दुश्च चान्द्रिकाम्। मुद्रया सधनुर्बाणरामनामाङ्कमेकया॥**" (श्रीनारदपांचरात्रे)

(क) **प्रश्न**–इस मुद्राके विषयमें कोई धनुष बाण ही धारण करते हैं और कोई पाँचों, तो इनका आशय क्या है ? ॥ **समाधान**–दोनों ही प्रशस्त हैं, क्योंकि पाँचोसंस्कार एक एक

तन्मात्राके विकारोंसे रक्षार्थ हैं, तिनमें यह मुद्रासंस्कार स्पर्शतन्मात्रासे रक्षार्थ है । (इन्हें १ से ९ वें अ० प्र० के प्रत्येककी टि० (९) में देखो)

अथ 'धनुष वाण' मात्रके धारणका माहात्म्य ।

(खं) उपरोक्त स्पर्शतन्मात्राकी ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हस्त हैं, तिनसे रक्षार्थ ये धनुष और वाण (दोनों) हैं, अर्थात् धनुषतो त्वचाच्छादितशरीर जो कि प्रकृतिका परिणाम है, उसके गुणोंसे भये हुए उपायाभिमानसे रक्षा करता है और वाण कर्मेन्द्रिय भुजाओंसे भये हुए कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानसहित फलेच्छासे जीवोंकी रक्षा करता है, क्योंकि कर्म प्रकृतिके गुणोंसे होते हैं, जीव उसका कर्तृत्वाभिमान करके फलेच्छा होनेपर सुख दुःख भोगता है । यथा— **"कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुख दुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥"** (गीता. अ० १३) इनका रक्षाका कार्य इस प्रकार होता है । यथा—श्रुतिः **"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥"** (मुंडक० द्वि०) अर्थ—ॐकार धनुष और आत्मा वाण है; ब्रह्म इनका लक्ष्य है, शांत चित्तसे वेधना चाहिये । इसमें वाणवत् जीव लक्ष्यरूप ब्रह्मके तदाकार होकर सायुज्य-मुक्तरूप तन्मय होते हैं, ऐसे यह दोनों (धनुष वाण) श्रीरामजी सदा अपने हाथोंमें धारण करते हैं, अर्थात् दोनों ही उनके हाथकी वस्तु हैं । जब चाहते हैं तब प्रणवाकार उपायरूप धनुषपर जीवात्मरूप वाणोंको अनुसंधान करके उनके विकारोंपर चलाय विकार नाश करके आप जो ब्रह्म है, अपने लक्ष्यरूप तरकसमें लेकर सायुज्यमुक्त कर लेते हैं, इसीसे सर्वत्र श्रीरामजीके वाणोंको लौटकर उनकेही तरकसमें आना लिखा हैं. यथा—**" पुनि रघुवीर निषंग-महँ प्रविसे सब नाराच । "** (लं० दो० ९८) **" मंदोदरि आगे भुज सीसा । धरि सर चले जहां जगदीसा ॥"** (लं० दो० १०२) अतएव इस प्रणवरूप धनुषके भुजाओंपर धारण करनेसे जीवको शरीरसे भये हुए उपायोंमें कर्तृत्वाभिमान नहीं होगा, क्योंकि यह देह प्रकृतिका परिणाम है और त्रिगुणात्मप्रकृति प्रणवकी कार्यरूपा है, वही सर्वोपायरूप प्रणव धनुषरूपसे श्रीरामजीके हाथोंकी शक्तिसे कार्य करता है, अन्यथा धनुषवत् जड़ है और वाणरूप आत्माको भी वेही प्रेरणारूप अनुसंधान करके उपायारूढ करते हैं, तो यह जीव स्वतंत्र कर्ता कैसे ; और जब ब्रह्मरूप लक्ष्यमें प्राप्त होना प्रयोजन हैं, तब वह (ब्रह्म) तो पूर्वोक्त ' एक अनीहादि ' गुणोंके होनेसे निर्विषय है, अतएव जीवोंको फलेच्छा करना विपरीत है, ऐसे ज्ञानपूर्वक इनके धारण करनेसे जीवमें फलेच्छा नहीं होगी, इसीलिये ऊपर श्रुतिमें ' **तत्त्वतो यः** ' लिखा है अर्थात् ज्ञानपूर्वक धारण करना चाहिये, यही उपायाभिमान और फलेच्छात्याग ही नामके इस संबंधमें कहा गया है, अतएव इसमें धनुष-वाण धारणकी साधनावस्था पूर्णरूपसे आई और इनका प्रकटरूप भी दिखाते हैं, यथा—दोहामें नामको ' **मणिदीप** ' कहा है, उसी मणिरूप नामको उससे पूर्वके **" एक छत्र एक मुकुटमनि "** के प्रसंगमें सायुज्यमुक्त जीवरूप कहा है, तहाँ जीवात्मारूप ' वाण ' का स्वरूप प्रकट है, पुनः

इसी संबंधके अंतकी चौ० ८ में ' **नहिं आन उपाऊ** " में जो सर्वोपायरूप नामको कहा है, तिसमें उपायरूप प्रणवाकार ' धनुष ' का रूप विचारना चाहिये, आदिमें वाण और अंतमें धनुष दिखाकर संबंधभरमें इन (दोनों) का विषय सूचित किये । इस प्रकार यहाँ ' वाण ' और धनुष का ता पर्य आया ॥

अथ पंचमुद्रामाहात्म्य तथा स्थिति ।

(गं) ऊपर टि० (खं) में स्पर्शतन्मात्राकी दोनों इन्द्रियोंके रक्षक धनुषवाणको दिखा आये, अब यहाँ उसी स्पर्शतन्मात्रासे उ पन्न होनेवाले पंच प्राणोंसे रक्षक इन पाँचों मुद्राओंको दिखाते हैं, यथा प्राणोंकीही शक्तिसे इन्द्रियोंसहित शरीरकी समग्र चेष्टायें होती हैं, अतः इसके कार्यरूप शब्दादि पंचविषयोंसहित इसकी शुद्धि पंचमुद्रा धारणसे दिखाते हैं ॥

(घं) प्रथम ' **चंद्रिका** ' यथा—" **चंद्रिका धार्यते येन सीतामस्तकभूषणा । तस्याचला भवेत्प्रीतीराघवे नात्र संशयः ॥** " (आनंदसंहितायां पांचरात्रे) अर्थात् श्रीजानकीजीका शिरोभूषण चंद्रिका जो धारण करते हैं, श्रीरामजीमें उनकी प्रीति निस्संदेह होती है, इसका माहात्म्य इस प्रकार है, कि लंकामें श्रीजानकीजीने श्रीहनूमान्जीको सहिदानीरूपमें जो अपना शिरभूषण चूडामणि दिया था, वह चंद्रिकाका मूल भाग है, उसे हर्षसमेत श्रीहनूमान्जीने लिया. यथा—" **चूडामनि उतारि तब दयऊ । हर्षसमेत पवनसुत लयऊ ॥** (सुं० दो० २६) और श्रीमद्वाल्मीकीयमें लंका जलानेके पूर्वही श्रीहनुमानजीको इसका प्राप्त होना लिखा है, यथा—" **अभिज्ञानं च रामस्य दद्या हरिगणोत्तम ॥** " (सुं० सर्ग ४०) अर्थात् हे कपिश्रेष्ठ ! श्रीरामजीको अभिज्ञान अर्थात् चिह्नस्वरूप व जिससे वे प्रतीति करें, ऐसी यह मणि देना, (श्रीजानकीजीका वचन है) यहाँ मणिमात्र देनेका हेतु यह कि उस समय वनवासके कारण पूर्ण चन्द्रिका न थी, वही लेकर उसकेही बल व आश्रय श्रीहनुमानजीने प्रवृत्तिरूप लंका जलाया था और यह जलानेकी बुद्धि भी इससे ही मिली थी, क्योंकि पूर्व लंका जलानेको इन्हें कोई नहीं कहा था, ऐसा महत्त्व विचारकर जो इसे चिह्नरूपसे शिरपर धारण करते हैं, उनकी लंकारूप प्रवृत्ति (सुत बित कुटुम्बादि संबंधरूप संसारकी बासना) छूट जाती हैं । प्रमाण—" **बपुष ब्रह्मांड सो प्रवृत्ति लंका दुर्ग ०** " (वि० ५९) इसमें जैसे श्रीहनुमानजीको अग्नि मिली वैसे जीवको प्रवृत्तित्यागकी बुद्धि मिलती है और वैसेही पुरुषार्थ मिलता है । पुनः जैसे उन्हें जलानेमें अनेकों जीवोंके जलानेका पाप न लगा वैसेही इसे अनेकों संबंधियोंके त्यागका दोष न लगेगा । फिर जैसे वही चिह्न देकर वे श्रीरामजीको अति प्यारे हुए, वैसे जीवभी संसार विमुख होकर भगवत्प्रिय होता है । यह सब चंद्रिकाका कर्तव्य नामके इस संबंधकी चौ० १-२ में प्रकट है, यथा—चौ० १ में विषय विलास त्याग, विरंचिप्रपंच (प्रवृत्ति) से वैराग्य होना, इत्यादि संसारवासना छूटना, " **नाम जीहजपि** " अर्थात् मणिदीपरूपनामकी रटनसे प्रकट है, यही नाम मणिरूपमें चूड़ामणिरूप हुआ । फिर जैसे उसकी प्रतीतिसे श्रीहनुमान्जी श्रीरामप्रिय हुए वैसे जापक भी नामको प्रिय

होकर चौ० २ में अनूप ब्रह्मसुखका अनुभव पाया । यहाँ कही हुई प्रवृत्ति गंधतन्मात्राका विषय है । (पूर्व नवें आवरणमें कह आये) अतएव यहाँ नामरूप चन्द्रिकासे गंधविषयकी निवृत्ति प्रकट है ।

शंका–श्रीगोस्वामीजीने श्रीहनूमान्‌जीको लंका जलानेके पीछे चूड़ामणिका पाना लिखा है, तो इसका तत्काल कैसे होगा ? **समाधान**–श्रीगोस्वामीजीके लेखानुसार श्रीजानकीजीने आशिषसे तथा आज्ञा देनेमें, वह शक्ति वचनसे ही दे दिया था । यथा–"**आसिष-दीन्ह रामप्रिय जाना । होहु तात बलसील निधाना ॥ अजर अमर गुननिधि सुत होहू । करहिं बहुत रघुनायक छोहू ॥**" इसी पर श्रीहनुमानजीका वचन है । यथा–"**अब कृतकृत्य भयउँ मैं माता । आसिष तव अमोघ विख्याता ॥**" (सुं० दो० १६) आशिष व वचनसे शक्तिदेनेमें प्रमाण यथा–"**पुनि पठवा बल देइ बिसाला ।**" (कि० दो० ८) पीछे कार्य होजानेपर प्रतीतिके लिये प्रकट चिन्हरूप दिया । पीछे प्रकटमें मणि देनेमें यह अगाध आशय है, कि चंद्रिका शीतल ही श्रीरामरजसे छापकर धारण की जाती है, यदि पहिले श्रीहनूमान्‌जी लिये रहते तो लंका जलातेसमय कुछ आँच लगनी संभव थी । इससे श्रीगोस्वामीजीके इस कल्पभेद चरित्रमें यह विशेषता है ॥

(ङ) द्वितीय, "**मुद्रिका**" यथा–श्रीजानकीजी श्रीरामजीकी अभिन्नशक्ति कृपास्वरूपा हैं ऊपर बा० दो० १८ टि० (१) में दिखा आये । इनकी ओटबिना श्रीरामरूप नहीं जाना जाता, यथा–"**तुम्हरी कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन । जानहिं भगत भगत उर चन्दन ॥**" (अ० दो० १२६) इससे ये ब्रह्मविद्याकी भी कारण स्वरूपा हैं, तिनके खोजनेके लिये श्रीरामजीने निजनामांकित मुद्रिका श्रीहनुमानजीको दिया था । यह मुद्रिका श्रीजानकीजीके करमें पहिननेकी थी, जो पूर्व ही केवट उतराई देनेको आपने श्रीरामजीको दिया था । यथा–"**पियहियकी सिय जाननिहारी । मनिमुँदरी मनमुदित उतारी ॥ कहेउ कृपालु लेहु उतराई ।**" (अ० दो० १०१) तब जो उसने नहीं लिया, तो फिर ग्रंथकारने लौटाकर श्रीजानकीजीको देना नहीं लिखा, अतः उसी मुद्रिकाने हनूमानजीको समुद्रपार उतारा श्रीहनुमानजीने जिस प्रकार मणिमुँदरीका प्रभाव जानकर श्रीजानकीजीके खोजनेतकका सब कार्य किया, वह सब ग्रंथकी भूमिकामें लिख आये । अब नामांकित मुद्रिकाका प्रभाव और भी दिखाते हैं जैसे श्रीहनुमानजीने श्रीरामजीसे दाहिने हाथमें मुद्रिका लिया वैसे ही जिज्ञासुको श्रीरामरूप आचार्यसे इसे दाहिने हाथमें छापरूपसे लेना चाहिये । पीछे वे उसे लघुरूपमें गालमें भी लिये इस लिये मुमुक्षुको भी इसे श्रवण और ललाटके मध्यमें शीतल छापना चाहिये । तब जैसे उन्हें श्रीकिशोरीजीके खोजनेकी यथार्थबुद्धि हुई, वैसे इसे भी कृपामय ब्रह्मके खोजनेकी बुद्धि होती है । पुनः जैसे उन्हे समुद्रतटपर मुद्रिकांकित नामार्थरूप चरित्र सुननेसे बल और बुद्धि प्राप्त हुई (जिसकी परीक्षा सुरसाने की थी) वैसे मुद्रिकाका यह प्रभाव विचारकर धारण करनेसे मुमुक्षुको बुद्धिद्वारा ज्ञान और बल अर्थात् वैराग्य होता है । पुनः जैसे समुद्रलांघनेमें

उन्हें तीन माया मिलीं तो उन्हें जीता, वैसे इसे भी ब्रह्मविचार परायण होनेमें तीनों गुणोंसे वैराग्य चाहिये । यथा-"**बादि बिरतिबिनु ब्रह्मबिचारू ।**" (अ० दो० १७७) और वैराग्यमूल रसनाका संयम है, क्योंकि रसना ही सब इन्द्रियोंको भाँति २ के रस देकर प्रमाद बढ़ाती है । यह रसतन्मात्राकी ज्ञानेन्द्रिय है और इसके देवता जलाधिपति वरुण हैं, अतएव इसका जीतना अगाध समुद्र लंघन सम है। इसे दूसरे संबंधभरमें तथा उसके मध्य "**ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती ।**" के अर्थमें विस्तारसे दिखा आये । इस रसनाके संयममें तीनों माया इस प्रकार आती हैं कि इसका आहार तीन प्रकारका (सात्विक राजस और तामस) होता है । यथा-"**आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।**"(गीता. अ० १७) (इन तीनों गुणमय आहारोंको इसके आगेके तीन श्लोकोंमें देखो) इसीसे इसके संयम करनेवालेको तीनों गुणोंकी अवस्थायें आहारके अनुसार आती हैं । समुद्र लांघनेमें जैसे उन्हें सुरसा मिली, वैसे इस जिज्ञासुको सद्गुणरूप देवोंकी माता सतोगुणी माया (शास्त्रावलोकन व विज्ञजनोंकी संगति) प्राप्त होती है । सुरसाके मुख बढानेकी तरह विद्या चाह बढ़ती ही जाती है तब उसके जाननेके लिये हनुमानजीकी तरह इसकी भी बुद्धिका श्रद्धारूप मुख बढ़ता जाता है । जैसे वे उसके पेटमें जाकर बाहर निकल आये, वैसे यह भी निरभिमानतारूप लघुता धारणकर उस (विद्या) का सार जानकर उसका व्यसन छोड़ देता है और ब्रह्मविद्याके लिये उद्यत होता है, तब वह विद्या सुरसाकी भाँति आशीष देती है । फिर जैसे उन्हें जलके भीतरकी माया तमोगुणी सिंहिका मिली वैसे इसे शब्दादि विषयरूप जलमें कामक्रोधादि विकाररूप तमोगुणी माया देख पड़ती है, तब यह उन्हें श्रीहनुमानजीकी तरह मार ही डालता है । फिर लंकिनीकी तरह इन्द्रियासक्तिरूप राजसी माया समझ पड़ती है । तब उसे भी यह मुष्टिक मारनेसम व्रतादि व फलाहारादि संयमोंसे प्रथम आधीन करके सामान्य आहार युक्त रखता है, तब इन्द्रियाँ भी लंकिनीकी तरह निर्बल होकर सहायक होती हैं। पुनः श्रीहनुमानजीकी तरह मुद्रिका धारण करनेवाला मुमुक्षु भी हृदयके राजा (कर्ता) श्रीरामजीको जानकर आप लघुरूप धारणकर अर्थात् दीन होकर खोजता है, तब दीनतासे ब्रह्म कृपामयरूपसे श्रीजानकीजीकी प्राप्तिकी तरह इसे ज्ञात होता है । पुनः जैसे श्री जानकीजीने चूडामणि देकर जो कार्य कराया ऊपर लिख आये वह इसे ब्रह्मविद्यासे प्राप्त होता है, इस मुद्रिकाके धारणका पूर्ण प्रभाव जिज्ञासुभक्तके प्रकाशक चौ० ३ में प्रकट हैं अर्थात् जैसे वहाँ श्रीजानकीजीका जानना रहा जो कि अतिगूढ़ (गुप्त) स्थलमें थीं वैसे इसमें जिज्ञासुका गूढ़गति जानना हुआ । जैसे वहाँ मणिमुन्दरी थी वैसे इसमें "**नाम जीहजपि जानहिं तेऊ ।**" में मणिदीपवत् नामका प्रसङ्ग है। यहाँके मुद्रिका प्रसङ्गकी आशय पूर्णतया चौ० ३ के अर्थमें तथा चौ० ६-७ के प्रसंगमें भी उसी चौ० ३ के प्रकरणमें देखना चाहिये इस प्रकार यहाँ मुद्रिका धारणकी साधनावस्थाका तात्पर्य आया ॥

(चे) तृतीय "**नाममुद्रा**" यथा "**स्वारथ औ परमारथहूको नहिं कुंजरो**

नरो। सुनियत सेतु पयोधि पखाननि करि कपि कटक तरो। " (वि २२७) इस पदमें नामका प्रकरण है, नाममें अपना भरोसा दिखाते हुए ग्रंथकार कहते हैं, कि ये (राम-नाम) स्वार्थ (लोकसुख) और परमार्थ (परलोकसुख) के साधक हैं यह मेरा कथन 'कुंजरो नरो ' अर्थात् जैसे महाभारतमें युधिष्ठिरजीने द्रोणाचार्यसे स्वार्थ मिली सत्य कहा कि " **अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरः** " अर्थात् अश्वत्थामा मरा मनुष्य वा हाथी, तो जब जानते ही थे कि इस नामका हाथीही मरा है, तब संदिग्ध वचन क्यों कहा ? यही स्वार्थ मिलीसत्य है इस भाँति नहीं है, किंतु अक्षरशः सत्य है क्योंकि ऐसा सुना जाता है, कि लंकाकी चढाईके समय सेतु बाँधनेमें वानरोंने एक पत्थरमें ' रा ' दूसरेमें ' म ' लिख २ कर जोड २ कर पुल बाँध दिया। वह ऐसा सुदृढ़ बना कि प्रबल चंचल वानरीसेना उतर गई और युद्ध करके श्रीजानकीजीको प्राप्त किया। ऐसे ही मुमुक्षुका अग्नितत्त्वकी रूपतन्मात्राका आधारभूत शरीर जड है, उससे कियेहुए सुकृत भी शिलावत् जड हैं शरीर सुखकामना रूप समुद्रमें डूब जानेवाले हैं, क्योंकि वहाँ वानरोंका पुरुषार्थ भी सुकृतरूपही था। यथा "**कैवल्यसाधन अखिल भालु मर्कट विपुल ज्ञान सुग्रीव कृत जलधिसेतू॥**" (वि० ५९) वहाँके अग्निके पुत्र नल, नीलकी तरह अग्न्यंश ज्ञानके सत्त्वादि गुणोंसे छोटे २ पत्थरसम किंचित् सुकृत निष्काम होती हैं। पुनः वहाँ जैसे श्रीराम प्रतापसे बडे २ पहाड उतराये तैसे भक्ति संगसे ज्ञानीकी बडी २ सुकृत भी निष्काम होती हैं, किंतु इन्द्रियोंकी ऐंचातानीमें नामके आधार विना पराभक्तिके मानसिकसेवा आदिके ध्याननिष्ठाकी साधनीभूत नहीं हो सकतीं, जैसे वहाँ जलझोंकोंमें पत्थर जहाँ तहाँ होजाते थे और श्रीजानकीजीके लिये पुलमार्ग नहीं होता था, तब श्रीहनुमान्‌जीके कहनेसे 'रा' 'म' लिख २ कर जोडा गया, तो सब पत्थर परस्पर जुड गये तब पुलबना वैसे ही मुमुक्षुके रूपके केन्द्रस्थान ललाटपर 'रामनाम मुद्रा' की छाप (शीतल) धारण रहनेसे इसके सुकृत रूपविषयकी बाधासे सुरक्षित पराभक्तिसाधक होते हैं। यह सब (स्वारथरूप अणिमादिकी प्राप्ति पुनः उनका पराभक्तिका साधनांगरूप परमार्थका होना) नामके बलसे होना इस संबन्धकी चौ० ४ में विस्तारपूर्वक दिखा आये तथा चौ० ६--७ में भी अर्थार्थीभक्त प्रसंगमें देखो। अतएव यहाँ नाममें इस रूप विषय रक्षक ' नाममुद्रा ' धारणकी साधनावस्थाका तात्पर्य प्रशस्तरूपसे आया ॥

(छः) चतुर्थ "**बाणमुद्रा**" यथा "**तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनाक्षिप्तमावहत् परमां गतिम्॥** " (वाल्मी० कि०) अर्थात् श्रीरामजीके धनुषसे छूटे हुए उस वीर वालिको परमगति (साकेतलोक) को प्राप्त कराया वह बाण स्वर्ग (साकेतलोक) का प्रकाशक है। यह वालि स्पर्शविषयका पापी था, क्योंकि अनुजवधू (सुग्रीवकी स्त्री) में रत था। वह उस पापसे शुद्ध होगया और मोक्ष पाया। इससे आर्तभक्त सुग्रीवकी रक्षा हुई। वैसे इस बाण--चिह्नके दाहिने हाथमें चिह्नरूपसे धारण करनेसे कर्तृत्वाभिमानरूप वालिकी त्राससे ज्ञानपूर्वक डरे हुए आर्तभक्तकी सुग्रीवसम रक्षा होती है और इसके कोटिन

जन्मके स्पर्शविषय दोष शुद्ध होजाते हैं। यही अभिप्राय इस संबन्धकी चौ० ९ में तथा चौ० ६--७ के आर्तभक्त प्रसंगमें दिखा आये अतएव इसमें नामान्तर 'बाणमुद्रा' धारणकी साधनावस्थाका तात्पर्य अपने 'स्पर्शविषय' शुद्धि कार्यसहित आया॥

(जं) पंचम "**धनुषमुद्रा**" यथा-"**प्रभु कीन्ह धनुषटँकोर प्रथम कठोर घोरभयावहा। भये बधिर व्याकुल जातुधान न ज्ञान तेहि अवसर रहा।**" (आ० दो० २०) तथा "**प्रथम कीन्ह प्रभु धनुष टँकोरा। रिपुदल बधिर भयउ सुनि सोरा**"॥ (लं० दो० ६७) अर्थात् इस धनुषटंकोरको सुनकर राक्षसोंके कान जो परनिंदा आदि सुनकर उनके ज्ञान करनेमें समर्थ रहे वे उस (निंदादि) ज्ञानसे हीन होकर बधिर हुए क्योंकि उनमें अन्य ज्ञान कहाँ ? पुनः यह आश्चर्य प्रभाव है, कि उन्हीं खरदूषणादिके प्रसंगमेंही टंकोरसे शुद्ध भये हुए कानोंसे, परस्पर रामरूप देखते हुए राक्षसोंने 'राम राम' कहा और सुना, तो रामाकार हो २ कर साकेतधाम पाया। यथा-"**राम राम कहि तनु तजहिं, पावहिं पदनिरबान। करि उपाय रिपुमारेउ, छनमहँ कृपानिधान॥** (आ० दो० २२) (इसका वर्णन विशेषरूपसे आगे बा० दो० २३ चौ० ८ में करेंगे) अतएव इसके इस प्रभावके ज्ञान सहित जो इस (धनुष) मुद्राको वामभुजामें तप्त किंवा शीतल धारण करते हैं, तिनकी प्रथम तो अनेकों जन्मोंकी परनिन्दाजनित श्रवणमलीनता शुद्ध होती है। यथा-"**परनिंदा सुनि श्रवण मलिन भए बचन दोष पर गाए।**"(वि० ८३) पुनः चौदह हजार राक्षसोंकी समान, जीवकी एकादश इन्द्रिय और तीन अंतःकरणोंसमेत चौदहोंकी वृत्तिसे, श्रवणके शब्दार्थभूत विषयोंके लिये, जो सहस्र २ संकल्प हुआ करते हैं वे नाश होते हैं। फिर शुद्ध कानोंसे जब शब्द सुनते हैं तब उन शब्दोंसे भगवत्संबंधी ही संकल्प फुरते हैं। इस प्रकार रामाकार होकर जीव शुद्ध होकर मुक्त होते हैं, यह आशय इस संबंधकी चौ० ६--७ में "**ज्ञानी प्रभुहिं विशेषि पियारा॥**" के प्रसंगमें है। तथा तत्संबंधी चौ० ८ में भी सर्वोपाय व आधार नामको कहनेमें है। वहाँ जैसे प्रभु हस्तसे धनुषटंकोर सुनाई दिया, वैसेही यहाँकेसे अनन्यज्ञानीको प्रथमही धनुषरूप प्रणव (ॐ) से अभेद तथा तद्वत् उपायरूप नामका शब्दरूप टंकोर, प्रभुरूप गुरुसे सुनाई देता है। उससे श्रवण शुद्ध होता है। पुनः उसी चौ० ८ के अनुसार अविद्यानिवृत्ति पूर्वक अनन्य होकर नाम कहने सुननेसे भगवद्रूप संकल्पोंसे रामाकार होकर तद्वत् मुक्त होता है। इस प्रकार यहाँ नाममें 'शब्दतन्मात्रा' की उभयेन्द्रिय (श्रवण-वाक्) से रक्षक 'धनुष' मुद्रा धारणकी अवस्था प्रशस्तरूपसे आई॥ *

नोट-* ऊपर जो टि० 'ख' में धनुष-बाण माहात्म्य कहा गया है, उसका भी मेल यहाँ कहे हुए 'चौथे तथा पाँचवें' मुद्रा प्रकरणसे है, विस्तारभयसे नहीं लिखा। अतः इन पाँचमें धनुष बाणका दोनों माहात्म्य ज्ञेय है। इस प्रकार यह 'पंचमुद्रा' स्पर्शतन्मात्रासे शुद्ध करता है॥

अथ नामान्तर भक्ति प्रकरण ।

(६) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (६) के क्रमानुसार यहाँ '**चौथी और छठवीं**' नवधाभक्तिका प्रसंग है । चौथी यथा–"**चौथि भगति मम गुन गन, करइ कपटतजि गान।** " (आ० दो० ३८) अर्थात् भगवान्के कृपा दया उदारतादि गुणोंको कपटतजि अर्थात् उपायाभिमान छोडकर गान करे, यही सब आशय इस संबंधमें विराट्रूप नामके सामर्थ्यके भरोसा करने तथा नामको सर्वोपाय समझनेमें हैं । पुनः इस चौथी भक्तिकी फलरूपा छठवीं यथा–"**छठ दमसील विरत बहुकर्मा । निरत निरंतर सज्जन धर्मा ॥**" (आ० दो० ३८) यहाँका '**दमसील**' अर्थात् अंतः करणोंसे विषयसंकल्प त्यागना, ऊपर टि० (जं) में दिखा आये । पुनः '**विरत बहुकर्मा**' अर्थात् अन्यदेवादिकोंका यजन त्यागना, सो इस संबंधकी भार्यावत् अनन्यतामें हो गया । तथा–'**निरत०**' का अर्थ यह कि सज्जनतामें रत रहे । यथा–"**जननी जनक बंधु सुत दारा । तन धन भवन सुहृद परिवारा ॥ सब कइ ममता ताग बटोरी । ममपद मनहिं बाँधि बरि डोरी ॥ सम-दरसी इच्छा कछु नाहीं । हरष सोक भय नहिं मन माहीं ॥ अस सज्जन०**" (सुं० दो० ४७) इसमेंका ममता त्यागादि इस संबंधके निर्णयप्रसंगमें प्रकट दिखा आये । पुनः सम-दर्शी होना तथा इच्छाराहित्य ऊपर टि०(जं) में देखो, और हर्षशोकादि इस संबंधके ज्ञानीभ-क्तके प्रसंगमें स्वाभाविक ही नहीं है । इस प्रकार यह दोनों भक्ति इस संबंधके एकांशमें आईं ॥

अथ नामान्तर ज्ञान प्रकरण ।

(७) इसके पूर्व अ० प्र० नं २ टि० (७) में 'तनमानसानामक' तीसरी भूमिका ज्ञानकी दिखा आये । अब इस संबंधमें चौथी '**सत्त्वापत्ति**' नामक दिखाते हैं । यथा "**मुदिता मथइ बिचार मथानी । दम अधार रजु सत्य सुबानी ॥ १ ॥ तब मथि काढि लेइ नवनीता । बिमल बिराग सुभग सुपुनीता ॥२ ॥** " (उ० दो० ११६) अर्थ–मथनेवाली मुदिता विचाररूपी मथानीसे दमरूप खंभेके आधार सत्यसुवानी रस्सीसे मथै, तब मथकर परमपवित्र विमलवैराग्य रूप सुन्दर मक्खन काढले इससे पूर्वकी भूमिकामें एकरस आत्मचिंतवनको दहीसम दिखा आये, उसी अन्तर आनंदरूपा वृत्तिको यहाँ मथनेवाली मुदिता कहते हैं, कि यह कर्मपरिणाम अनित्य शरीरसे कर्तृत्वाभिमान कर २ के मिले हुए तन्मय पूर्वचिंतित आत्माको अलग करनेके लिये विचार (कर्म और आत्मविवेक निर्णय) रूप मथानीसे मथे, पुनः मथनेका साज कहते हैं । कि '**दमअधार**' अर्थात् अंतःकरण वासना त्यागकर मनको खंभा समान स्थिर रक्खे, तो खंभेकी आधारसे जैसे दो रस्सी तनी हुई बँधी रहती हैं और आगेकी एक रस्सीसे पकडकर मथा जाता है वैसे ही यहाँकी '**सत्य-सु-बानी**' से सत्यवाणी, सुवाणी और वाणी करके क्रमशः पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी (वाणी) को कहकर जनाये । इनमें वैखरी व्यवहार संबंधी और मध्यमा स्वर्गादि-सुख-

निरूपक है। अतएव इन्हें असत् अर्थात् प्राकृत जडवत् जानकर विचार मथानीके पीछे दमरूप खंभामें बाँधकर एकरस तनीरहने दे। अर्थात् इनकी वृत्ति ढ़ीली न होने पावे। इनकी ओरसे विचारमथानीको मुदिता अपनी ओरको जीवात्मतत्त्वनिरूपक पश्यन्तीवाणीरूप आगेकी तीसरी रस्सीसे खींचे रहे। इस तीसरीके विना विचाररूप मथन नहीं हो सकता। वाणी यथा—**"श्रीसीतारामयोस्तत्त्ववर्णनं सा परा भवेत।याथात्म्यं जीवतत्त्वं च पश्यन्ती कथयेत्तदा॥ स्वर्गादीन् धर्मकामार्थान् वर्णयेत्सा तु मध्यमा। व्यवहारे वैखरी प्रोक्ता केवलं यच्च प्राकृतम्॥"** (जिज्ञासापंचके) इस सामग्रीसहित उपरोक्त मुदिता मथन करे। अर्थात् सब इन्द्रियोंकी वृत्ति और वैखरी मध्यमा वाणी बटुरकर मन चित्त अहंकारको बुद्धिके अनुकूल करके स्थिर मुदितारूप होकर पश्यन्ती वाणीसे मिलकर आनंदसहित विचार करे, कि भूमिमें स्वर्गपर्यंत यावत् कर्मपरिणाम नाशवान् सुख हैं। इनमें वृथा ही मन लगाना है॥ १॥

(कँ) उपरोक्त ज्ञानप्रसंग नामके इस संबंधमें दिखाते हैं। यथा—इसके पूर्वमें शुद्धशेषत्वमें इस भूमिकाकी पूर्वावस्था आत्मचिंतन दिखा आये। जैसे ज्ञानमें पूर्व वृत्ति यहाँ मुदिता हुई, वैसे नाममें भार्या होना है, क्योंकि वह अंतर आनंदरूपा है, वैसे भार्या भी भीतर उजियारके अर्थसे हुई और दम रूप खंभाका साक्षात्कार चौ० १ के वासनात्यागमें प्रकट है। जिह्वासे रटन मथनेसम है और नामके विराट्स्वरूपमें अपना पुरुषार्थ राहित्य विचारना मथानी है, और तीनवार जीह २ कहने (**जीह देहरीद्वार, जीह जपि जागहिं**० तथा—**जीहजपि जानहिं**०) में प्रथम दोहासे '**भीतर बाहर उँजियार**' करनेमें भीतर बाहर अँधेरा करनेवाली व्यवहारसत्ता वैखरीकी निवृत्ति हुई। तथा चौ० १ के '**प्रपंचवियोगी**' में स्वर्गादिवासना, दूसरी मध्यमा वाणीकी नाश हुई और चौ० ३ के '**गूढगति**' जाननेमें जो आत्मा परमात्माका संबंधसहित ज्ञान है। उस (जिज्ञासु) के प्रसंगमें तीसरी पश्यन्तीवाणीका कार्य है। ज्ञानप्रकरणमें कर्मपरिणाम जगत्सुख तथा स्वर्गादि सुखोंसे मनको अलग करना कहा गया और नाममें यहाँ तिसके मूल 'कर्म कर्तृत्वाभिमान' ही से अलग होना प्रत्यक्ष हुआ, नाममें यह विशेषता है, तथा विचारमें नाम मणिका अवलंव प्रकट और सुगम होनेसे बहुत विशेषता है॥

(खँ) पुनः ज्ञानप्रकरणकी चौ० २ का मिलान करते हैं। यथा—"**तब मथि काढि लेइ नवनीता**०।" अर्थात् जैसे दही मथनेसे उज्ज्वल नैनू निकलता है, वैसे यहाँ ज्ञानमें विरागका निकलना है। उसकी उज्ज्वलताके उपलक्षमें यहाँ चार विशेषण (विमल, सुभग, पुनीतता, तथा सुपुनीतता) कहे गये। वे सब नामके '**ज्ञानीप्रभुहि बिसेषि पियारा**' के प्रसंगमें आये। यथा—इसमें योगीके आत्मसुखचाहरूपी मलकी अपेक्षा विमलता है और जीज्ञासुकी ज्ञातृत्वचाहरूप कुरूपतासे सुंदरता (सुभगता) है, तथा अर्थार्थीकी अर्थचाहकी अपुनीतताकी अपेक्षा पुनीतता है और आर्तभक्तमें दुःख सुनानेकी सामान्यपुनीतता रहती है, इस (ज्ञानी) में वह भी न रहनेसे सुपुनीतता है। इस संबंध भरमें यही (विमल विरागवाला

ज्ञानी ही) सार रूपसे निकला। इससे इसकी ही अवस्था जापकको विमलविरागरूप माखन-सम प्राप्त हुई। इस प्रकार इस संबंधके अंतरगत जगत् असार तथा आत्माको सार जाननेकी ज्ञानकी चौथी भूमिका आई। यथा—"**चतुर्थ जु सत्त्वापत्ति यह, अनुभव उदय अभंग। आतम जग दरसेउ भले, ज्यों मिलि सिंधु तरंग॥**" (उ० टीका बैजनाथ) इस दोहेके सूक्ष्म वाक्यानुसार भी मिलान इसतरह है कि, आत्मा अर्थात् परमात्मा (विराट्) रूप नामका सिंधुवत् अगाधरूप और तिनका तरंगवत् विलासरूप कर्ममूलजगत् इस संबंधभरमें भली-भाँति देख पडा। इस प्रकार यह चतुर्थभूमिका इस संबंधके एकांशमें सुगमतासे आई॥

अथ नामान्तर भगवत्साधर्म्यप्राप्ति।

(८) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (८) के क्रमानुसार यहाँ '**अज**' का प्रसंग है। वह पूर्वोक्त बा० दो० १९ चौ० ४ टि० (चं) के अनुसार इस संबंधमें नामरूप ईश्वरका कर्माध्यक्ष होना भली भाँति दिखाया गया। इसीमें वहाँपर '**अज**' साधर्म्यकी प्राप्ति कह आये थे॥

इति श्रीरामवल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्तशरणकृत श्रीमन्मानसनामवन्दनायाः तत्त्वार्थ सुमिरनीटीकायां चतुर्थमणिकार्थवर्णने पंचमोऽध्यायः॥ ५॥

इति चतुर्थ मणिकार्थ समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः।

अथ श्रीमन्मानसनामवंदना पंचम दोहा।

मूल।

सकलकामनाहीन जे, राम-भगति-रस-लीन।
नामसुप्रेम पियूषह्रद, तिनहुँ किए मन मीन॥ २२॥

टीका—जो सब कामनाओंसे रहित हैं और श्रीरामजीकी भक्तिरसमें लीन हैं, वे भी नामके सुंदर प्रेमरूपी अमृतकुंडमें अपने मनको मछली किये हुए हैं॥ २२॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "**सकल० लीन**" का भाव-पूर्वोक्त बा० दो० २१ चौ० ६-७ टि० (कं) के अनुसार प्रेमीभक्तका कथन है। इसकी सकल कामना हीनता और श्रीरामभक्तिके रस अर्थात् आनंदमें लीनता वहाँ ही सप्रमाण दिखा आये, उसी उपलक्षके कुछ शंका समाधान दिखाते हैं.

शंका—प्रेमी भक्त ब्रह्मसुखादिकी दुर्लभकामनाओंको क्यों त्यागते हैं? **समाधान**—कैसेहूँ सुख क्यों न हो, वे प्रियतम प्रभुसे चाह करना मँजूरीके समान घृणित समझते हैं। यथा—

" **परहुँ नरक फलचारि सिसु, मीच डाँकिनी खाउ। तुलसी रामसनेहको, जो फल सो जरि जाउ॥** " (दोहा० ९२) और उन्हें विना चाहे भक्तिरस अर्थात् भक्तिका परानंद जो ब्रह्मसुखादिसे बहुत श्रेष्ठ है, प्राप्त होता है, उसमें लीन रहते हैं, यथा–" **जेहि सुख लागि पुरारि, अशुभ वेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि, तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस, जिन्ह बारेक सपनेहुँ लहेउ, ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥** " (उ० दो० ८८) तथा–" **मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ, परानंद संदोह॥** " (उ० दो० ४६) उपरोक्त रसके आनंद अर्थका प्रमाण यथा– श्रुतिः " **रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति** "॥

(कं) " **नामसुप्रेम० मनमीन।** " का भाव यह कि उन प्रेमीभक्तोंको भी नाम विना सामान्य आनंद है, जैसे मछली सामान्य जलमें कभी २ चुकनेके भयसे विकल होती है। यथा–" **जल संकोच बिकल भइ मीना।** " (कि० दो० १६) वैसेही प्रेमीभक्तके मनको भी नामविना ध्यानात्मिका भक्तिमें विक्षेपादिसे बिकलता होती है, जिससे सदा एकरस नहीं रह सकता। उस मीनवत् मनको नामका सुंदरप्रेम अमृतकुंडसम अपनी अगाधतामें सदा एकरस सुखी रखता है। यथा–" **सुखी मीन सब एकरस, अति अगाध जल माहिं।** " (आ० दो० ४२) मूलमें जलकुंड न कहकर अमृतकुंडका भाव यह कि अगाधजलमें मीन सुखी तो रहती है परन्तु स्वादवश होकर कभी ऊपर आकर बंसी आदिमें फँसकर अथवा मृत्युसे भी कभी मरतीही है। उन बाधाओंसे रक्षार्थ इस अमृतकुंडमें तुष्टि है इससे स्वादबाधा नहीं, तथा अमरत्वगुण भी सहज है, इससे मृत्युबाधा नहीं होती। वैसेही मनमीनके लिये जलवत् तो विषयसुख है। यथा–" **विषयबारि मनमीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।** " (वि० १०३) और अमृतवत् तृप्त तथा सदा एकरस अमर रखनेवाला ब्रह्मसुख (आत्मसुख) है, जिसकी साधनावस्था पूर्व बा० दो० २१ चौ० २ टि० (खं) में दिखा आये, उसीके साक्षात्कारका यहाँ (बा० दो० २२ भरमें) प्रसंग है। ऐसे अमृतका नामद्वारा कुंडही प्राप्त रहता है, इसके दृष्टान्तमें श्रीहनुमान्जी तथा श्रीशिवजी भी हैं। कि ये सकलकामना हीन और भक्तिरसलीन रहते हुए भी नामप्रेममें डूबे रहते हैं, यथा-श्रीहनूमान्जीने श्रीरामजीकी राजगद्दीसमय अमूल्यरत्नोंकी माला सिटकोंके समान तोड डाली, इसमें निष्कामता प्रकट है और भक्तिरस लीनता यथा–" **हनुमान समान बडभागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥** " (उ० दो० ४९) और मणि तोडतेसमयही आपने शरीर विदार कर रोम २ में नामके अंक ध्वनिसमेत दिखाया है, भक्तमालके श्रीप्रियादासजीकी तिलकमें प्रकट है, यह नामप्रेम है और श्रीशिवजीकी निष्कामता तो इनके कामारि विशेषणसे ही प्रसिद्ध है और भक्तिरसलीनता यों है, यथा–" **कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ॥ परमानंद प्रेमसुख फूले। बीथिन फिरहिं मगन मन भूले॥** "

(बा० दो० १९९) इनमें नाम सुप्रेम यथा–" **तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु, अनंग अराती॥**" (बा० दो० १०७) ॥

(अनुसंधानार्थ)

संबंध निर्णय।

(२) पूर्व मंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपणप्रसंगमें मंत्रके बीजके तृतीयाक्षर मकार (.) से '**ज्ञातृ–ज्ञेय**' संबंधका होना कह आये और बा० दो० १९ चौ० ६ टि० (६) में रूपक कहकर टि० (७) में उसीका उद्धार भी दिखा आये। यहाँ उसीके साक्षात्कारका प्रसंग है, क्योंकि वहाँ "**जगहितहेतु विमल विधु पूपन।**" में चन्द्रमासम जीवकी ११ इन्द्रिय ३ अंतःकरण (चौदहों) की कामनाहीनतासे सूर्यवत् आत्मज्ञानका लाभ नाममें लक्षित कर आये थे, वही सकलकामनाहीनता इस दोहेमें प्रकट हुई और वहींकी टि० (८) में जो श्रीरामपद-परायण होनेमें भक्तिरसलीनता कहे थे, वह भी यहाँ है, वहाँ जो चन्द्रमासम जीवको संतोष और अमरत्वका लाभ कहा गया था, वह भी यहाँके '**प्रेमपीयूषह्रद**' में आया, अतएव यहाँ उसीके साक्षात्कारका कारण प्रकट हुआ, इसीका कार्य दोहेभरमें दिखावेंगे, अब उपरोक्त मकारके धात्वर्थसे भी इस संबंधका स्वरूप दिखाकर फिर उसीको इसी (बा० दो० २२) दोहेके आधार पर दूसरे लक्ष्यसे भी दिखावेंगे। यथा–"**तृतीयपदेन मकारेण ज्ञानानंदस्वरूपो ज्ञानानंदगुणकोऽणुपरिमाणो देहादिविलक्षणः स्वयंप्रकाशो नित्यरूपो जीवः प्रतिपाद्यते॥**" (रहस्यत्रये) जीवके इन छहों विशेषणोंमें भी प्रथमके तीनके आधारसे अगले तीन रहते हैं। यथा–'**ज्ञाननंदस्वरूपता**'से '**देहादिविलक्षणता**' अर्थात् प्राकृत देहोंकी भिन्नताकी स्थिति रहती है, क्योंकि यह बोध रहता है, कि हम तो ज्ञानानंदमें रत रहनेवाले तद्रूप ही हैं, तो यह नाशवान्, मलीन तथा हेय शरीररूप हम कैसे हैं। इससे इस जीवमें देहधारियोंके प्रतिकूल आत्मलक्षण रहते हैं। यह ज्ञानानंदस्वरूपता मकारके '**मदि-हर्षे**' धातुसे सिद्ध होती है, क्योंकि हर्षका अर्थ '**आनंद**' हुआ और '**ज्ञानानंदगुणक**' होनेसे यह जीव '**स्वयंप्रकाश**' रहता है। अर्थात् ज्ञान करके जो आनंद, तिसका यह गुणक अर्थात् धर्मी अथवा प्रकाशक वा आधार है। इसका तात्पर्य यह कि इसका यह ज्ञानानंद ज्ञानेन्द्रियादिकी क्रियासे नहीं है। यह स्वयं चिद्रूप है और अपने धर्मभूत ज्ञानके प्रकाशसे समग्र इन्द्रिय अन्तःकरणोंको शरीरके एकदेशमें स्थित हुए २ चैतन्यता प्रकाशित किये रहता है। यथा–"**यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥**" (गीता. अ० १३) इस प्रकारका ज्ञानानंदगुणक ही '**चित्**' भी कहाता है, यह मकारके '**मन–ज्ञाने**' धातुसे होता है वही ज्ञान '**चित्**' है। तथा '**अणुपरिमाण**' होनेसे यह '**नित्यरूप**' है क्योंकि–सावयव पदार्थ ही अनित्य होते हैं, यह नियम है और यह (जीव) तो अणु

अर्थात् अतिसूक्ष्म स्वरूप है, यथा—श्रुतिः "**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः**" (मुंडको० ३ । ९) "**वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ।**" (श्वे० उ० ५।९) यह मकारके '**मसी—परिणामे**' धातुसे अणुत्व और नित्यत्व हुआ । इसी नित्यत्व अर्थात् सदा एकरस रहनेको '**सत्**' कहते हैं । इस प्रकार श्रीअग्रस्वामिकृत रहस्यत्रयके अनुसार तथा धात्वर्थसहित उपरोक्त मकार '**सच्चिदानंद**' स्वरूप जीवका वाचक स्पष्ट हुआ । निजस्वरूप भूले हुए जीवके लिये ऊपर बा० दो० १९ चौ० ४ टि० (खं) में '**द्वासुपर्णा०**' तथा—'**समानेवृक्षे०**' आदि श्रुतियोंसे जो समर्थ सच्चिदानंद ब्रह्मको देखकर तदनुसार निज सच्चिदानंद-स्वरूपताका देखना कहा था और वहीं पर टि० (गं) में श्रुतिः '**एको देवः०**' से जीवके इन्द्रिय अंतःकरणादिक चौदहोंमें कामनाराहित्य दिखा आये । उसके ही साक्षात्कारके प्रसंगका उपक्रम करते हुए, ग्रंथकारने यहाँ प्रथम ही '**सकल कामना हीन जे**' यह लिखा और इसी सच्चिदानंदस्वरूपताके साक्षात्कार करते हुए कोई २ अपनेको ही ब्रह्म मानने लगते हैं, उसी भ्रमके निवारणार्थ आगे '**रामभगति रसलीन**' भी कहा है । शेष '**नामसुप्रेम०**' का भाव उपरोक्त टि० (कं) के अनुसार ही है ॥

(कें) अब उपरोक्त जीवको ब्रह्म माननेके भ्रमका निरुवार करते हैं कि, इस विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्तानुसार तथा तर्क प्रमाणादिसे स्वयंब्रह्मवाद अग्राह्य है, क्योंकि उपासना दो प्रकारकी होती है । एक (सगुण) ब्रह्मोपासना, दूसरी (अक्षर) आत्मोपासना कहाती है । यथा—"**एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥**" (गीता. अ० १२) इन्हीं दोसे मोक्ष होना श्रुति सम्मत है । यथा—'**आत्मोपासना**' की श्रुति—"**तद् य इत्थं विदुर्येचेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवंति ।**" (छां० ५ प्र०) इस श्रुतिसे पंचाग्निविद्योपासककी मोक्ष कही है, पंचाग्निविद्या तो जीवात्माकी ही उपासना है । पुनः '**ब्रह्मोपासना**' यथा श्रुतिः—"**अथैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ॥**" (छां० ८ प्र०) यह श्रुति ब्रह्मोपासककी सीधी परधाम (श्रीसाकेतलोक) प्राप्ति कह रही है । इन दोनोंमें आत्मोपासनाकी अपेक्षा ब्रह्मोपासना अतिसुगम और सुखसाध्य है । जैसे किसी एक फलके लिये राजसेवा किंवा अमात्यसेवा पृथक् २ रूपसे स्वतंत्र साधन हों, तो वहाँ अमात्यसेवाकी अपेक्षा राजसेवा ही प्रशस्त होती है । वैसे ही भगवान् ईश्वर हैं, जीवात्मा उनका दास है, तब दासकी अपेक्षा स्वामीकी सेवा प्रशस्त है ही और साधनावस्थामें भी वहुत सा भेद है । यथा—"**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥**" (गीता. अ० ६) "**मय्यावेश्य मनोये मां नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥**" (गीता. अ० १२) इत्यादि वाक्योंसे ब्रह्मोपासककी श्रेष्ठता व साधन-सुगमता प्रकट है । तथा—"**क्लेशोऽधिकतरस्तेषा-**

मव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ " (गीता. अ० १२) इन वाक्यानुसार अक्षर अर्थात् आत्माकी उपासनामें कठिनता प्रकट है। पुनः इसके आगेके दो श्लोकोंसे ब्रह्मोपासककी अल्पकालमें सिद्धि कही गई है। यह प्रसंग साम्प्रदायी ज्ञेय ग्रंथ रामायणमें चरितार्थ भी है यथा-वेदकी क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा उपासनाशक्तिके अवतार तीनों कौसल्यादि रानी है, यथा " तासां क्रिया तु कैकेयी सुमित्रोपासनात्मिका । ज्ञानशक्तिश्च कौसल्या वेदो दशरथो नृपः ॥ " (शिवसंहिता) तिनमें उपासना शक्ति श्रीसुमित्राजीके दो पुत्र थे, एक श्रीलक्ष्मणजी ब्रह्मोपासक दूसरे श्रीशत्रुहनजी सिद्ध आत्मज्ञानी श्रीभरतजीकी ओटसे आत्मोपासक थे ॥ शंका—उपरोक्त कथनानुसार श्रीशत्रुहनजीको तो कठिनता न हुई और अंतमें फलरूप प्रभुशेषत्वमें भी श्रीलक्ष्मणजीके समान ही रहे, यथा "भरतादि अनुज विभीषनांगद हनुमदादि समेत जे। गहे छत्र चामर व्यजन धनु असि चर्म सक्ति विराजते ॥ " (उ० दो० ११) समाधान—क्लेश तो स्वतंत्र आत्मोपासनामें होता है, जैसे श्रीभरतजीने सगुण ब्रह्माधार श्रीरामचरणके चिह्नित खडाऊँकी उपासनासे १४ वर्षमें अतिकठिन साधनसे आत्मसाक्षात्कार दिखाया है, क्योंकि इन्होंने खडाऊँमें ही व्यापक ब्रह्मका लक्ष्य किये हुए चौदह वर्षमें उपरोक्त चौदहों कामनाओंकी निवृत्ति दिखाया है और शत्रुहनजीने तो उनके आश्रितहोकर वह अवस्था प्राप्ति दिखाया है। यथा—"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥ " (गीता. अ० ४) इससे स्पष्ट हुआ कि जो व्यापकब्रह्मके लक्ष्यसे श्रीभरतजीने आत्मस्वरूपता साक्षात्कार दिखाया, वही तदाश्रित आत्मोपासक शत्रुहनजीने सुगमतासे प्राप्ति दिखाया और जो निर्गुणउपासना कहते हैं, उसका भी प्रयोजन अंतर्यामीके लक्ष्यमें श्रीभरतजीकी तरह आत्मसाक्षात्कार ही है। श्री भरतजीका आत्मविवेक यथा—"सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी विमल गुनगन जगजोनी ॥ भरतविवेक वराह विसाला। अनायास उधरी तेहि काला ॥ विमल विवेक धरम नय साली। भरत भारती मंजुमराली ॥ " (अ० दो० २९७) शंका—ऊपर बा० दो० २१ चौ० ७ टि० (ग) में भक्ति सर्वोपरि कही गई और यहाँ ज्ञानशक्ति कौसल्या ही बडी हैं, यह क्यों ? समाधान—यहाँ उपासनाके साधनांगमें श्रीसुमित्राजीका लक्ष्य है और ज्ञानसे तो उसकी फलरूपा पराभक्ति ही श्रेष्ठ है, तथा सरस ज्ञानी अभेद भी है। वही ज्ञानाकार-भक्तिरूपा श्रीकौसल्याजी हैं, यथा "ज्ञान अवधेस गृहगेहनी भक्ति सुभ तत्र अवतार भूभारहर्ता ॥" (वि० ५९)

(ख) उपरोक्त मीमांसासे यह निश्चय हुआ कि पूर्व जो निर्गुण (व्यापक) ब्रह्मके समान सच्चिदानंद-स्वरूप-वाचक मकारार्थमें जीवस्वरूप कह आये, तिसके साक्षात्कारके लिये जापक श्रीभरतजीके समान सिद्धआत्मज्ञानी आचार्यके शरण हो और श्रीशत्रुहनजीके समान आत्मोपासनाकी वृत्तिसे खडाऊँरूप युगलवर्ण (रा-म) के प्रेमामृतकुण्डमें, मनमीन किये हुए ज्ञेय सच्चिदानंदब्रह्मके समान निजरूपका साक्षात्कार करे, क्योंकि इस दोहेमें जो २ बातें कही

हुई हैं, वह सब सिद्धरूपसे श्रीभरतजीमें रहीं, जैसे जीवको ११ इन्द्रिय ३ अन्तःकरण (१४) को विषयकामनायें, इन चौदहोंसे निर्विषयरूप आत्माके साक्षात्कारमें बाधक होती हैं, वैसे ही श्रीभरतजीको शेषत्वलाभमें जीवोंके कर्मपरिणाम-शरीररूप मातासम, उनकी माता कैकेयीने उपरोक्त चौदहों कामनासम चौदह वर्षका राज्य माँगा, तो वे अपनी सिद्धकामना हीनतासे सम्भल गये। यथा " **अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहँ निरबान। जनम जनम रति रामपद, यह वरदान न आन॥** " (अ० दो० २०४) इसमें तथा सर्वत्र भी इनकी भक्तिरसलीनता प्रकट है। यथा—"**भरतनीति रत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेम सकल जग जाना॥** " (अ० दो० २२७) तथा—नाम सुप्रेम यथा—" **बैठे देखि कुसासन, जटा मुकुट कृसगात। राम राम रघुपति जपत, श्रवत नैन जलजात॥** " (उ० दो० १) इत्यादि इस रीतिसे पूर्णता है। **प्रश्न**—श्रीभरतजीका तो सच्चिदानंद व्यापकके आश्रय श्रीरामपदका तद्रूप खडाऊँ ज्ञेय रहा, यहाँ तद्रूप आचार्यमें क्या है और शत्रुहनसम जापक कैसे रहे? **उत्तर**—आचार्यमें खडाऊँरूप नाम ज्ञेय हैं, क्योंकि ग्रंथकारने उसी (खडाऊँ) प्रसंगमें ही कहा है। यथा—" **चरनपीठ करुनानिधानके। जनु जुग जामिक प्रजा प्रानके॥ संपुट भरतसनेह रतनके। आखर जुग जनु जीव जतनके॥** " (अ० दो० ३१५) यहाँ इस खडाऊँके ही रूपकमें इस संबंधके उद्धार कारक नामका "**जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन॥**" रूप भी आगया, क्योंकि जैसे उसमें जग-हितहेतु कहे थे, तैसे यहाँ प्रजाप्रानके जामिक अर्थात् पहरू, खडाऊँको कहे, जैसे कि उसमें दिनके पहरू सूर्य और रातके चन्द्रमा थे। पुनः यहाँके नाम-सुप्रेमके लिये, कि कामनाहीनतामें जीवकी यत्न (रक्षा) कौन करेगा '**आखरजुग**' अर्थात् रामनामको खडाऊँ सम रक्षक दिखाये। इस नामकी गुरुत्वशक्ति (जीवस्वरूप प्रकाशकता) का परंपरानुसार आना पूर्व बा० दो० १९ के दोहार्थमें दिखा आये अतएव आचार्य आश्रित होकर जीव शत्रुघ्नजीके समान निजरूप प्रकाशक '**ज्ञेय**' रूप खडाऊँसम नाममें सुखपूर्वक सुष्ठुप्रेम कर सकता है। अब शत्रुहनजीकी परिस्थिति दिखाते हैं। यथा—"**गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदानघः। शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः॥** " (वाल्मी० अ० सर्ग १) अर्थात् जिस समय श्रीभरतजी मामाके घर चले, नित्यशत्रु जो कामादि हैं, यथा—"**आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥** " (गीता, अ० ३) तिनके मारनेवाले पापरहित प्रेमपूर्वक भाई शत्रुहनजीको भी संग लेगये थे। अतः ऐसे कामनाहीन और प्रेमी शत्रुघ्न सम अपनी स्थिति हेतु उनके स्मरणमें इसकी कामनाहीनता, व प्रेम पूर्णता बनी रहेगी। यथा—" **जाके सुमिरनतें रिपुनासा। नाम सत्रुहन वेदप्रकासा॥** " (बा० दो १९६) **सारांश**—इस दोहेके इस प्रसंगमें सूर्य तथा श्रीभरतजीके समान आचार्यमें नामके ज्ञेयस्वरूपका स्थान कहा गया और चन्द्रमा तथा श्रीशत्रुहनजीसम जीवका ज्ञातृ स्वरूप दिखाया गया। यही श्रुति सिद्धान्त भी है। यथा—"**श्रुतिः—" आचार्यवान् पुरुषो वेद**"

(छं ६ प्र.) अतएव यहाँ इस 'ज्ञातृ-ज्ञेय' संबंधके मूलका साक्षात्कार हुआ इसीका विस्तार प्रसंगभरमें होगा ॥

मूल (चौ०)

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥ १॥

टीका—ब्रह्मके निर्गुण और सगुण दो स्वरूप हैं, (दोनों) अकथ अगाध (गंभीर, जिनकी कोई थाह नहीं पाता) सनातन और उपमारहित हैं ॥ १ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) 'दुइ' का भाव यह कि. दोई ब्रह्मके स्वरूप है, तीसरा नहीं, तिनको यही 'अगुन सगुन' कहते हैं। 'अगुन' यथा—" **ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥**" (गी० अ० १८) तथा–श्रुतिः "**अंतः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा०**" (तै० आ० ३ । ७ । २) 'सगुन' यथा–" **चिन्मयानंदसारात्माऽनन्तमाधुर्यविग्रहः। परिपूर्णतमं ब्रह्म स्वयं रामः सनातनः ॥ वासुदेवादिरूपाश्च अवताराः प्रकीर्तिताः। तेषामैश्वर्यदातृत्वात्स्वयं पूर्णोत्तमोत्तमम् ॥ इति रामो विग्रहवान्स्वयं ब्रह्म सनातनः। आत्मारामश्चिदानन्दो भक्तानुग्रहकारकः ॥**" (माहेश्वरतंत्रे शिवपार्वती संवादे) तथा–"**जय सगुन निर्गुनरूप रूप अनूप भूप सिरोमने ॥**" (उ० दो० १२) अर्थात् सगुणवाच्य विष्णु आदि श्रीरामजीसे होते हैं, तथा निर्गुणब्रह्म भी इनका तेजरूप है, आप दोनोंके अंगी हैं। यथा–" **यामिच्छसि महाबाहो तां तनुं प्रविश स्विकाम्। वैष्णवीं तां महातेजा यद्वाऽऽकाशं सनातनम् ॥ त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते। ऋते मायां विशालाक्षीं तव पूर्वपरिग्रहाम्॥**" (श्रीमद्वाल्मी० उ० सर्ग १०९) यह श्रीरामजीके प्रति ब्रह्माजीका वचन है, कि आपके दो शरीर हैं। एक वैष्णवी अर्थात् विष्णुसंबंधी दिव्यविग्रह, दूसरा सनातन आकाश यथा–" **स पर्यगाच्छुक्रमकायम्** " (यजु० अ० ४० मं० ८) इस मंत्रके अनुसार आकाशवत् सर्वव्यापी ब्रह्म है तो हे तेजस्वी ! आप जिसमें चाहें प्रवेश करें और हे देव ! आप ही सब लोकोंकी गति हो, श्रीजानकीजीके विना आपको कोई नहीं जानता। **शंका**—तब दो क्यों कहे गये, **समाधान**—जैसे शरीर और उसका तेज भिन्न रहनेसे दो भी कहते हैं, वैसे ही यहाँ भी '**यद्वाऽऽकाशं सनातनम्**' कहा है।

(लक्ष्य)

'अकथ' अर्थात् अनिर्वचनीय, ऐसा निर्गुण-यथा–श्रुतिः"**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह**" (तैत्तिरी० २ व०) पुनः सगुण यथा–" **राम सरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धिपर। अबिगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह ॥** " (अ० दो० १२६) तथा अपर तीनों अगाधआदि विशेषणोंके लक्ष्य दोनोंमें मिश्रित

दिखाते हैं । **'अगाध'** यथा–"**प्रभु अगाध सतकोटि पताला ।**" (उ० दो० ९०) "**राम अमित गुन सागर, थाह कि पावइ कोइ ।**" (उ० दो० ९२) **'अनादि'** यथा–"**राम अनादि अवधपति सोई ।**" (बा० दो० ११७) तथा–"**आदि अंत कोउ जासु न पावा ।** से–**सोइ दसरथसुत जगतहित, कोसलपति भगवान ॥**" (बा० दो० ११८) तक, ' **अनूपा** ' यथा–"**निरुपम न उपमा आन रामसमान राम निगम कहै ।**" (उ० दो० ९२) "**नेति नेति जेहि वेद निरूपा । चिदानंद निरुपाधि अनूपा ॥**" (बा० दो० १४३) ॥

मूल (चौ०)

मोरेमत बड नाम दुहूँ ते । किय जेहि जुग निजबस निजबूते ॥२॥

टीका–मेरी सम्मतमें नाम (निर्गुण-सगुण) दोनोंसे बडा है, कि जिसने अपने पराक्रमसे दोनोंको वशमें कर लिया है ॥ २ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) **'मोरेमत'** का भाव यह कि औरोंका चाहे जो मत हो, **'बड नाम दुहूँते'** कहनेसे उपरोक्त **'को बड छोट कहत अपराधू ।'** से विरोध नहीं है, क्योंकि नामको केवल सौलभ्यतागुणमें बड़ा कहते हैं, और दोष तो तत्त्व महत्त्वकी बडाई छोटाई कहनेमें होता है । **"किय जेहिजुगनिजबस"** यथा–मनु शतरूपाने प्रथम द्वादशाक्षरमंत्र (रूपनाम) से आराधन किया । यथा–"**सुमिरहिं ब्रह्मसच्चिदानंदा ।**" (बा० दो० १४४) इस निर्गुण-स्मरणसे आत्मसाक्षात्कार होनेपर उसी मंत्रसे सगुणस्मरणपूर्वक तप किया । यथा–"**पुनि हरि-हेतु करन तप लागे ।**" (बा० दो० १४४) तब निर्गुणब्रह्म तो वश होकर आकाशवाणी किया । यथा–"**माँगु माँग वर भइ नभ बानी ।**" (बा० दो० १४५) और सगुण भी वश होकर प्रकट हुआ । यथा–"**बिस्वबास प्रगटे भगवाना ।**" (बा० दो० १४५) ' **निज-बूते**' का भाव यह कि ऐसे पराक्रमी हैं, कि जो दोनोंरूप अकथ अगाध अनादि अनूप हैं, उन्हें भी बलकरके वश कर लेते है । श्रुतियोंकी तरह प्रार्थना नहीं करना पडता । पूर्वोक्त ' **मोरेमत** ' का एकप्रमाण यहाँ दिखाये, कि दोनोंको वश कर लेनेसे बडे हैं और प्रबल-प्रमाण आगे देंगे ॥

मूल (चौ०)

प्रौढि सुजनजनिजानहिंजनकी।कहउँप्रतीतिप्रीतिरुचिमनकी ॥३॥

टीका-- (१) सज्जन इसे मुझ दासकी ढिठाई तथा अभिमानभरीबात न समझें । मैं अपने मनकी प्रतीति प्रीति और रुचि कहता हूँ । (२) पुनः कहीं २ "**प्रौढ सुजन जन**" पाठ है, तो प्रौढ अर्थात् सभाप्रवीण सज्जन लोग मुझ जनके हृदयकी जान लेंगे, शेष पूर्ववत्॥३॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) अर्थ--(१) के अनुसार भाव यह है, कि जो ऊपर 'किय जेहि जुग०' कह आये, उसमें जो बालदृष्टिसे प्रौढि (चातुरी वा अभिमानसे बढाकर कहनि) झलकती है। उस दोषके निवारणार्थ ग्रंथकार यहाँ नम्र प्रतिज्ञा करते हैं, कि आप लोग थोड़ीदेर मुझ जनकी प्रौढि पर ध्यान न दें तो मैं अपने मनकी प्रतीति प्रीति और रुचिका कारण कहता हूँ। तब आप-लोगोंके मनमें भी वैसे ही प्रतीति आदि सब निश्चय हो जायँगी। उनमेंसे अगली चौ० 'एकछत्रुगत० से–राजाराम अवध०' तकमें नामकी प्रतीतिसे जगत्की प्रतीति निवृत्त होना दिखावेंगे। जगत्प्रतीति यथा–"**जासु सत्यता ते जडमाया। भास सत्य इव मोह सहाया॥** दो०–**रजत सीप महँ भास जिमि, यथा भानुकर वारि। यदपि मृषा तिहुँकाल सोइ, भ्रम न सकइ कोउ टारि॥** चौ०–**यहि विधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥**" (बा० दो० ११६–११७) अर्थात् "**सुत वित देह गेह नेह इति जगत्**" अर्थात् देहसंबंधी सुतादि (माता पिता स्त्री तथा और कुटुंबसमूह) का स्नेह और गेहसंबंधी वित्त अर्थात् धन, जो पदार्थमात्र अर्थात् भोजनवसना-दिकी वस्तुका स्नेह, यही जगत् हैं। यह '**मोहसहाया**' अर्थात् मोहवशीभूत जीवोंको ही सत्य भासता है। चैतन्योंके विचारमें भ्रमरूप है, जगत्के उपरोक्त दो प्रकारके भेदोंको दो दृष्टान्तोंसे दिखाये। यथा–पदार्थोंमें स्वादादिसुख समझना सीपीमें रजत समझनेकी भाँति सर्वथा भ्रम है। अर्थात् उन जडपदार्थोंमें व्यापकब्रह्मकी सत्ता ही स्वादादिरूपसे सुख दे रही है, जैसे सीपीमें रजत (चाँदी) की भास होती है। पुनः जैसे उस (सीप) रजतसे भूषणादि नहीं हो सकते, वैसे ही इन प्राकृत स्वादादि सुखसे जीवका स्वार्थ नहीं बनता और सीपीसे अलग वैसे ही भासवाली जो सत्यरूपकी चाँदी होती है, उसका सबकुछ बनता है, वैसे ही सत्ताकारक ब्रह्मसे इसे स्वरूपप्रयुक्त सुख प्राप्त होता है। सत्ता यथा–"**रसोऽह-मप्सु कौन्तेय प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः।**" "**पुण्यो गंधः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ॥**" (गीता. अ० ७) इस प्रकारकी मिथ्याप्रतीति तो इसी संबंधभरमें मिटावेंगे कि जैसे २ शब्दादिकी कामनारहित जीवको व्यापकब्रह्म अपनी सत्तासे दिव्यसुख द्वारा संतुष्ट करता है यह सब नामद्वारा दिखाकर जगत्की मिथ्याप्रतीति हटाय व्यापकरूप नाममें ही करावेंगे। तब उसके देखनेमें समर्थ होनेपर यह तद्वत् अपना अप्राकृतस्वरूप देखेगा।

(क) पुनः जगत्का दूसरा अंग जो सुतकुटुंबादि संबंधसे सुख मानना है, वह '**भानुक-रवारि**' सम भ्रम है, क्योंकि इनका स्नेह जीवरूप मृगाको सूर्यकिरणवत् तीनों तापोंसे तपा-नेवाला है जैसे किरणोंमें जल देखकर भ्रमसे वह धाय धाय कर मर जाता है वैसे इन संबं-धोंमें सुख ढूँढते हुए जीव धाय २ आयु बिताकर कालवश होता है। जलवत् स्वरूप प्रयुक्त सुख नहीं पाता। तथा शास्त्रकी दृष्टिसे सूर्य उन्हीं किरणोंसे पृथ्वीसे जल खींचकर फिर सच्चा जल बरसाते हैं, वैसे ही ज्ञानदृष्टिसे इन किरणरूप कुटुंबादिमें व्यापकरूप सूर्य ही के रक्षक-

त्वादिगुण जानकर इनसे निष्काम हुए २ विहित कर्म करे, तो इसे आत्मसाक्षात्कार होनेसे आत्मसुखरूप सच्चेजलकी अनुभवरूप वृष्टि होती है। अर्थात् सुतकुटुंबादिमें ममतादिगुण प्रेरणा करके भगवान् ही सुख देते हैं, तथा वैसे ही मुमुक्षुको कृपा दयादि गुणसे मोक्ष सुख देते हैं। यथा–"**हेतुरहित जगजुग उपकारी। तुम्ह तुम्हारसेवक असुरारी॥**"(उ० दो० ४६) "**पूजनीय प्रियपरम जहाँते। सब मानियहि रामके नाते॥**"(अ० दो०७३) यह सब इस विचारसहित नामरटनरूप विहितकर्मसे आगे "**राम एक तापसतिय तारी।** ० से–**फिरत सनेह मगन सुख अपने।**" तकमें दिखावेंगे। अर्थात् मोहरूप रावणके नाशके लक्ष्यमें जगत्‌की प्रतीति निर्मूल करेंगे और सगुणब्रह्ममें प्रतीति दृढाय भोग्यत्व प्राप्त होनेपर इसे उपरोक्त साँचे जलकी वृष्टिसम आत्मसुख लाभ होना दिखावेंगे। इस प्रकार सगुणवशकारक नामका पुरुषार्थ देखनेपर इनमें '**प्रतीति**' स्पष्ट होगी, जिसमें संदेह था॥

(ख) प्रतीति होनेपर '**सेवक सुमिरत नाम सप्रीती।** ०' से '**अपत अजामिल गज गनिकाऊ।** ०' तकमें नामके सम्यक्‌प्रकारसे जीवोंके आधार होनेसे उनमें '**प्रीति**' होगी, अर्थात् सम्यक् प्रकारके आधार नामको जाननेसे बुद्धि सब ओरसे बटुरकर अत्यन्त-प्रीति-सहित नाममें ही रत होगी, यही प्रीति है। यथा–"**अत्यन्तभोग्यताबुद्धिरानुकूल्यादिशालिनी। परिपूर्णस्वरूपा या सा स्यात्प्रीतिरनुत्तमा॥**" (श्रीभगवद्गुणदर्पणे)॥

(ग) प्रीति होनेपर शुद्धमनसे एकरस भक्ति करनेमें विक्षेपकारक काल, कर्म गुण स्वभावादिके आधारभूत शरीरसंबंधसे अरुचि होगी और नित्य एकरस संयोग रखनेवाले नित्य-स्वरूपके प्राप्त्यर्थ मनसे शुद्धरुचि होगी यह "**कहौं कहाँलगि नामबड़ाई।** ० से–**भाय कुभाय अनख आलसहूँ।** ०" तकमें शुद्धमनकी '**रुचि**' कहेंगे। इस रुचिके रक्षक नाम ही को जानकर इनके लालन पालनमें जिह्वाद्वारा मनकी रुचि इनमें भी रहेगी। तब उपरोक्त सज्जनोंके मनमें भी स्वतः प्रतीति प्रीति और रुचि होगी, तो मुझमें प्रौढ़ोक्तिका संदेह न रहेगा॥

(घ) अथवा वेद शास्त्र तथा सद्गुरुद्वारा नामप्रभाव जानकर प्रतीति हुई। तब प्रीति हुई, फिर प्रीतिसहित नामरटनसे जो मनमें रुचि अर्थात् प्रकाश (ज्ञान) हुआ वही कहता हूँ। अतएव यह आस्तिक्य है, प्रौढि नहीं॥

(ङ) उपरोक्त प्रतीति प्रीति आदि क्रमका प्रमाण यथा–"**जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीतिबिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जलकी चिकनाई॥**"(उ० दो० ८८)॥

(च) तथा अर्थ (२) के अनुसार भाव यह कि, प्रौढ़सुजनका अर्थ चतुरज्ञानीका है। यथा–'**मोरे प्रौढ़तनय सम ज्ञानी।**' (आ० दो० ४९) और आगे जो '**जन**' पाठ है, उसका अर्थ भक्तका है। अतः चतुरज्ञानी भक्त ही मुझ जनके हृदयकी जानेंगे, इसलिये मैं अपने मनकी (उपरोक्त अर्थवाली) प्रतीति प्रीति तथा रुचि कहता हूँ. तब इन (नाम) का पुरुषार्थ ज्ञान पड़ेगा, कि देखो! अगुण सगुण जो भारी भारी पराक्रमसे भी दुःसाध्य हैं

जिन्हें नामने कैसे सहजहीमें निजबलसे वश कर लिया और उनके अतिरिक्त जो इन (अगुन सगुन) की दुर्लभताको जानते ही नहीं, वे नामके पुरुषार्थका महत्त्व क्या जानेंगे ॥

मूल (चौं०)

एक दारुगत देखिय एकू । पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू ॥ ४ ॥

टीका–उपरोक्त दोनों ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान दो अग्नि सम है। एक अग्नि जो लकड़ीमें रहता है, दूसरा जो प्रकट देखनेमें आता है ॥ ४ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) पहिले ब्रह्मके दो स्वरूप कहे थे, अब दोनोंका विवेक कहते हैं, कि जैसे वस्तुतः दोनों प्रकारके अग्नि एक ही हैं, भेद केवल गुप्त प्रकटका है। वैसे ही दोनों ब्रह्म भी एक ही तत्त्व है। अगुणका ऐश्वर्य काष्टमें अग्निसम गुप्त रहता है और वही २ सगुणमें प्रकट अग्निसम प्रकट रहता है जैसे काष्टमें व्याप्त अग्नि उसके अति रगड़नेसे प्रकट होता है। यथा–" **अति संघर्पन जौं कर कोई। अनल प्रगट चन्दनतें होई॥** " (उ० दो० ११०) ऐसे ही काष्टअग्निके समान अगुणब्रह्म चराचरमें व्याप्त है, प्रकट नहीं दिखाता और चराचरमय प्रकृति ही के गुणोंके परस्पर रगड़नेसे सब साधन होते हैं । यथा–' **कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।** ' (गीता. अ० १३) अतएव योग विरागादि साधनोंकी रगड़से वह व्यापक (अगुण) ब्रह्म ज्ञानाग्निरूपसे ऐश्वर्यसहित प्रकट होता है। उसे आगे ' **सोउ प्रगटत जिमि मोल रतनतें।** ' के अर्थमें दिखावेंगे ॥

(२) दूसरा प्रकट अग्निसम सगुणब्रह्म है, जैसे इस अग्निसे सुगमतासे जगत्‌का कार्य चलता है, वैसे सगुणब्रह्म भी अवतार ले २ कर चरित्र करता है, तो सबका हित होता है। यथा–" **सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तन धरहीं ॥** " (बा० दो० १२१) और प्रकट अग्निसम यह भी सबके दृष्टिगोचर होता है जैसे यह अग्नि किसी २ को जलाता भी है, वैसे ही सगुण ब्रह्म खलोंको भस्म करता है, पुनः यह अग्नि अपने प्रकाशसे देख पड़ता है, वैसे ही सगुण अपने चरित्ररूप प्रकाशसे अपने ब्रह्मत्वका दूरसे परिचय देता है जैसे इस अग्निके ग्रहण करनेमें जलनेका भय रहता है, वैसे सगुणका जानना (बुद्धिसे ग्रहण करना) कठिन है। यथा–" **निर्गुनरूप सुलभ अति, सगुन न जानहि कोइ। सुगम अगम नानाचरित, सुनि मुनिमन भ्रम होइ ॥** " (उ० दो० ७३) यहाँ तक कि दक्षसुता अर्थात् परमचतुर (दक्ष) की पुत्री (सतीजी) का भी बुद्धिरूपी हाथ ग्रहण करनेमें जल गया। जैसे अग्नि चिमटा आदिसे ग्रहण करनेमें सुखपूर्वक आता है । वैसे सगुण ब्रह्म भी आचार्य शरणागति द्वारा ग्रहण करनेमें सुखसाध्य है। यह सगुण साधन अगले दोहेमें कहेंगे ॥

मूल (चौ०)

उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहउँ नाम बड़ ब्रह्म रामतें ५॥

टीका—दोनों (का ज्ञान अर्थात् प्रकट करना तथा देखना) कठिन है और दोनों नाम (के साधन) से सुगम हो जाते हैं, इसीसे मैं ब्रह्म (अगुण) और राम (सगुण) से नामको बड़ा कहता हूँ ॥ ५ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**उभय अगम**' का भाव यह कि निर्गुणब्रह्मका जानना किसी एक अंशमें सुगम है, जैसे जलमें रस, पुष्पमें गंधादि होनेसे प्रकट विचारसे जाना जाता है, परन्तु साधन अति कठिन है, यथा—"**कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन विवेक। होइ घुनाच्छर न्याय ज्यों, पुनि प्रत्यूह अनेक ॥**" (उ० दो० ११८) (इति निर्गुण अगमता) और सगुणका जानना अगम है, पुनः जाननेपर भी अति दीन होकर प्रपन्न होनेपर प्राप्त होता है, यथा—"**निर्गुन रूप०**" (ऊपर चौ० ४ टि० (क) में देखो) (इति सगुणअगमता) "**जुग सुगम नामते**" का भाव यह कि दोनोंका प्रबोध नामसे ही होता है, यथा—"**अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभयप्रबोधक चतुर दुभाखी ॥**" (बा० दो० २०) "**सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निरगुन मनते दूरि। तुलसी सुमिरहु रामको, नाम सजीवनमूरि ॥**" (दोहा० ८) तथा निर्गुणका सुगम होना नामसे इसी दोहामें और सगुणका अगले दो दोहोंमें विस्तारसे दिखावेंगे और यहभी गर्भित है, कि नाम भिन्न अन्योपायसे अगमही हैं। "**कहौं नाम ०**" का भाव यह कि इसी सुगम प्राप्त करानेहीके गुणसे नामको दोनोंसे बडा कहता हूँ, उपरोक्त सगुणके अर्थ श्रीरामजीको यहाँ स्पष्ट कह दिये ॥

मूल (चौ०)

व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सतचेतनघनआनँदरासी ॥ ६ ॥
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जगदीन दुखारी७॥

टीका—जो ब्रह्म अंतर्यामीरूपसे सबमें व्याप्त है, अद्वितीय है जिसका कभी नाश नहीं होता, जो सदा एकरस रहता है, जो चेतन है जो आनंदका राशि है ॥६॥ ऐसे विकाररहित समर्थके हृदयमेंही रहते हुए, सब जीव संसारमें दीन और दुःखी हैं ॥ ७ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) यहाँ प्रथमकी चौपाईमें ब्रह्मके छः विशेषण कह कर दूसरीमें उसे '**प्रभु**' और '**अविकारी**' भी कहा है, उनमें प्रभुका भाव यह कि उपरोक्त छःविशेषणोंके अंतर वह षडैश्वर्यपूर्ण है इसीसे प्रभु अर्थात् समर्थ है और इन षडैश्वर्योंके रहते हुए उसमें षड्विकारोंकी

जगह नहीं है, इसीसे अविकारी है । इस प्रकार प्रभुके हृदयमें होते हुएभी जीवोंके दीन दुखारी रहनेका हेतु यह कि ये उसे नहीं जानते । यथा–" **आनँदसिंधु मध्य तव वासा । विनु-जाने कत मरसि पियासा ॥** " (वि० १३७) वह आनंदसिंधु श्रीरामही हैं । यथा– " **जो आनंदसिंधु सुखरासी । ० सो सुखधाम राम अस नामा ।** " (बा० दो० १९६) अर्थात् श्रीरामजीकाही सूक्ष्मरूप (व्यापक) हृदयमें बसा है, जिसको ऊपर छः विशे-पणवाला ब्रह्म कहा है, उस आनंदरूपके विनाजानेही जगत्के जीव शब्दादि विषयोंकी कामना रूप प्याससे दीन हैं और उस षडैश्वर्यवान्के षड्विकारराहित्यको न जाननेहीसे षड्विकारोंसे ये दुखारी हैं ॥

(अनुसंधानार्थ)

अथ ब्रह्मकी षडैश्वर्यपूर्णता और षड्विकारराहित्य ।

(२) **षडैश्वर्य** यथा–ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्यरूपसे छः हैं । प्रमाण ऊपर बा० दो० १८ चौ०१–२ टि० (८) में लिख आये । तथा ' **षड्विकार** ' यथा–काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह और मत्सर रूपसे छः हैं तदनुसारही क्रमसे ब्रह्मके उपरोक्त छः विशेषणभी हैं, जिनमें प्रथमका विशेषण ' **व्यापक** ' है । वह यथा–" **वासुदेवः सर्वमिति०** " (गीता. अ० ७) अर्थात् अखिलब्रह्मांडका ऐश्वर्यरूप वही है, इसमें षडैश्वर्यका पहिला ' **ऐश्वर्य** ' प्रकट है । इस भाँति जब सब वही है तो कामना किसकी करे, क्योंकि कामना तो अपनेसे भिन्न पदार्थोंकी होती है, इसीसे उसमें षड्विकारके ' **काम** ' की जगह नहीं है । इसी व्यापकके लक्ष्यमें पूर्व बा० दो० १९ चौ० ४ टि० (१) में इसके एक अनीहादि नवगुणोंके आधारपर जीवके इन्द्रिय अंतःकरण सबकी कामना राहित्य होना लिख आये । पुनः दूसरा विशेषण ' **एक** ' है । अर्थात् इस एक गुणके ही आधारपर पिता-पुत्र संबंध कह आये, जिसमें जीवके तीनों ऋणोंके धनी इन (एक) को ही दिखाया गया है, यही ऊपर बा० दो० २१ चौ० ८ टि० (३) में भी ' **मामेकं** ' के अर्थमें कहा गया । इससे संपूर्ण ' **धर्म** ' ऐश्वर्य भी इनमें है और जहाँ धर्म पूर्ण है, वहाँ ' **क्रोध** ' विकार नहीं, क्योंकि दोनों परस्पर व्याहत हैं । यथा–क्रोध पापका मूल और धर्म पुण्यका मूल है । तथा जब वह एक है तो द्वैतका अभाव है और क्रोध तो द्वैतबुद्धिसे होता है, यथा–" **दोइत बुद्धि विनु क्रोध किमि** " (उ० दो० १११) पुनः तीसरा विशेषण ' **अविनासी** ' है, इससे लोभ संभव नहीं, क्योंकि लोभवश होकर संकल्प कर कर के जीव योनियोंमें जा जा कर जन्मते मरते हैं और लोभराहित्य ही यशपूर्णताका भी परिचय दे रहा है, क्योंकि दोनों परस्पर व्याहत हैं । यथा– ' **लोभी जस चह चार गुमानी ।** ' (आ० दो० १८) तथा पूर्व बा० दो० १८ चौ० १–२ टि० (८) में इनकेही नामार्थमें ' हिमकर ' से यश ऐश्वर्यका होना सप्रमाण कह आये उस अमृतमय चन्द्रमाके कारण होनेसे ये (नाम) अविनाशी हैं और तदनुसार यशपूर्ण भी हैं । इस प्रकार यहाँ ' **यश** ' ऐश्वर्यपूर्णता और ' **लोभ** ' विकारराहित्य स्पष्ट हुआ ।

पुनः चौथा विशेषण '**सत**' है तिसका अर्थ सदा एकरस रहनेवाला होता है। इसमें ब्रह्मका '**श्री**' अर्थात् शोभा ऐश्वर्य है. क्योंकि सदा एकरस रहनेवाली आपके मुख कमलकी श्री है। यथा—"**प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लै वनवासदुःखतः। मुखांबुजश्री- रघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा॥**" (अ० श्लोक २) और मुखकी श्री एकरस रहनेमें मदका सर्वथा अभाव है, क्योंकि मदमें धनमदसे धनी, विद्यामदसे विद्वान् आदि हर्षमय चेष्टायें भाँति भाँतिकी हुआ करती हैं एक रस स्थिति नहीं रहती, इस प्रकार यहाँ '**श्री**' ऐश्वर्य पूर्णता और '**मद**' विकारराहित्य परिपूर्ण है। पुनः पाँचवाँ विशेषण '**चेतन**' है। इसका अर्थ यह कि जो चैतन्य अर्थात् ज्ञानवान् हो तथा जो सबको चैतन्य करे तब इस ज्ञानपूर्णतामें मोह संभव नहीं। यथा—"**भए ज्ञान बरु मिटै न मोहू।**" (अ० दो० १६८) अतएव यहाँ '**ज्ञान**' ऐश्वर्य पूर्णतासहित '**मोह**' विकार राहित्य प्रकट हुआ और छठवाँ विशेषण '**घनआनंदरासी**' है, इसमें उसका पूर्ण वैराग्य प्रकट होता है, क्योंकि जब स्वयं आनंदका राशि है तो नश्वर विषयसुखोंमें राग (प्रीति) क्योंकर हो? इसीसे उसमें मत्सर विकारका अभाव है, क्योंकि मत्सर डाह करने अर्थात् अपने सुखन्यूनतासे दूसरेकी सुखमय अवस्था न देख सकनेको कहते हैं तो जब उसमें दिव्यसुख पूर्ण है, तब मत्सर नहीं हो सकता इस प्रकार यहाँ '**वैराग्य**' ऐश्वर्यपूर्णता और '**मत्सर**' विकार राहित्य हुआ। यहाँतक ब्रह्मके छवोंगुणोंसे छवों-ऐश्वर्य पूर्णता तथा षड्विकार राहित्य दिखाया। शेष जो इनके जाननेसे जीवका दुखारीपना तथा दीनताका छूटना है, वह अगली चौ०में कहेंगे।

मूल (चौ०)

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥८॥

टीका—नामके अर्थ विचारसहित नामहीके रटनेसे वह भी प्रकट होता है, जैसे रत्नसे मोल प्रकट हो॥ ८॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**निरूपन**' अर्थात् "**निरूपणः स्यादालोके विचारे च निदर्शने**" (इतिमेदिनी) अर्थात् उसके अर्थ महत्त्वका विचारना. यथा—"**करइ निरूपन बिरति बिबेका।**" (बा० दो० १६२) '**जतन**' अर्थात् रटना, जपना, अभ्यासादि '**सोउ**' अर्थात् उपरोक्त छवोंविशेषणवाला ब्रह्म भी, इसका भाव यह कि जो हृदयमें भी रह कर अपनेको स्वतः नहीं जनाता और जिसका साधन अतिकठिन है वह भी। "**प्रगटत जिमि मोल रतनतें**" का भाव यह कि जैसे किसीके पास रत्न अर्थात् हीरा होता है तो वह उसे जौहरीके पास ले जाकर उसका मोल अर्थात् कीमत प्रकटाता है तो जब ज्ञात होता है कि यह इतने लाखका है, तो उसे भरोसा हो जाता है कि, इसमें तो मुझे भोजन वसनादिके लिये बहुत है तो अब क्यों काँच बटोरैं? यथा—"**असन बसन पसु बस्तु बिबिधि बिधि**

त्र मनिमहँ रह जैसे ॥" (वि० १०५) इतिमोर तथा—"**जेहिके भवन विमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै ॥**" (वि० ११७) अर्थात् वह सब काँचवत् प्राकृत पदार्थोंकी कामनाओंसे निस्पृह हो जाता है, वैसे ही यहाँ नाम रत्नरूप है और सद्गुरु उपदेश-द्वारा हृदयरूपी भवनमें प्राप्त रहता है। यथा—"**पायों नाम चारुचिंतामनि उर करते न खसैहों ।**" (वि० १०६) **शंका**—चिंतामणिरूप महत्त्वशाली दृष्टान्त छोड़कर यहाँ रत्न ही क्यों कहे ? **समाधान**—अभी साधककी अवस्था इतना ही जाननेकी है, जैसे जौहरी प्रथम छोटे २ रत्नोंको परखते हुए पीछे बड़े २ रत्नोंका कारबार करनेमें समर्थ होता है और यहाँ इसके भँजानेमें निर्गुणऐश्वर्य दिखावेंगे और नामका चिंतामणिसम रूपतो सगुणके प्राप्त करने पर पराभक्तिकी अवस्थामें ज्ञात होगा, क्योंकि चिंतामणि वांछित देते हुए भी ज्योंकी त्यों रहती है। तात्पर्य यह कि अभी इसे नाम निरूपण सहित रटनरूप भँजानेकी आवश्यकता है और नवें संबंधमें वह भी न रहेगी केवल जिह्वासे रटन ही का प्रयोजन रहेगा, वहाँ चिंतामणिसम नामद्वारा सगुण अवलोकनमें तृप्ति रहेगी और अन्यत्र साधनक्रम न रहनेसे नामको महत्त्वपूर्ण चिंतामणि ही कहते हैं। पुनः जापकके लिये सद्गुरु अथवा तत्त्वदर्शी संत जौहरी हैं, तिनसे जब यह ऊपर चौ० ६—७ की टि० (२) के कहे हुए अगुण प्रभावको जाने, कि जिससे षड्वि-काररूप काँचोंका बटोरना छूटता है। पुनः उसको भी वश करने (मोललेने) वाला रत्नरूप नामको जाने तब इस नाम रत्नको भँजावे।

अथ नामरत्नके भँजानेकी विधि ।

(२) इस नामरूप रत्नमें ब्रह्मके उपरोक्त षड़ैश्वर्योंके कारणकी स्थिति पूर्व बा० दो० १८ चौ० १—२ की टि० (८) में नामार्थमें ही दिखा आये। जैसे रत्न भँजानेमें पहिले उसके मोलमें बड़े २ सुवर्णके मुहर आदि जाने जाते हैं, वैसे ही वहाँ सत्संगसे नामार्थमें केवल मोलमात्र ज्ञात हुआ, कि इस (नाम) में षड़ैश्वर्यरूप मुहरोंकी अनंतशक्ति है, उन्हीं षड़ैश्वर्योंकी कार्यावस्थाको यहाँ निर्गुणब्रह्मके उपरोक्त स्वरूपप्रयुक्त छवोंगुणोंमें साररूप कह आये, तब जैसे श्रीसीतारामजी कल्पवृक्षसम हैं कि उनके निकट पहिचानपूर्वक जो कोई जो मनोरथ करता है वही वही पाता है। यथा—"**देव देवतरु सरिस स्वभाऊ। सन्मुख विमुख न काहुहिं काऊ ॥ दो०—जाइ निकट पहिचानि तरु, छांह समन सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच ॥**" (अ० दो० २६७) वैसे ही सद्गुरुद्वारा नाम भी हृदयमें ही कल्पवृक्षसम प्राप्त रहते हैं। यथा—"**अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि विषय बबूर-बाग मन लायो ॥**" (वि० २४९) अतः इनसे भी निरूपणरूप पहिचान करके निकट जाय तो ये (नाम) अपने बलसे उपरोक्त चौ० ६—७ के अप्रकट ब्रह्मके ऐश्वर्यको प्रकट करके जीवका दुखारीपना तथा दीनता दूर कर देते हैं ॥

(३) '**निरूपण**' यथा—पूर्व बा० दो० १८ चौ० १—२ की टि० (८) में जो 'कृसानु, भानु, हिमकर तथा विधि, हरि,हर' को क्रमशः ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान,

और वैराग्यके कारण दिखा आये । वे वहाँ कृसानु आदि तीन "**रा-दीप्तौ**" धातुसे और विधि आदि तीन "**रा-आदाने**" धातुसे प्रकटे थे, अतएव सब नामार्थरूप हैं । अतः यहाँके उपरोक्त ब्रह्मके प्रथम विशेषण '**व्यापक**' के ज्ञानकी इच्छा-सहित जापक नामको '**हेतुकृसानु**' जानकर रटनरूप यतन करे तो अग्निका नामही जातवेद है, अर्थात् जिससे ज्ञान उत्पन्न होता है, इस लक्ष्यसे नामकल्पतरुसे इसे ज्ञान प्राप्त होगा तो निजांतर्यामीकी महिमा पूर्वोक्त बा० दो० १९ चौ० ४ टि० (१) के अनुसार जानेगा क्योंकि उसकी महिमा उसके ही दिये हुए ज्ञानसे जानी जाती है । यथा-"**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ।**" (गीता. अ० ११) अर्थात् जैसे वहाँ अर्जुनको संपूर्ण ऐश्वर्य भगवान्के शरीररूपसे देख पडा, वैसे यह भी व्यापकके शरीररूपमें सर्व ऐश्वर्य जान जायगा । यथा-'**वासुदेवः सर्वमिति**' (गीता. अ० ७) और पूर्वोक्त बा० दो० १९ चौ० ४ टि० (१) के अनुसार इसकी सम्पूर्ण कामना भी निवृत्त हो जायँगी और उसी आधार पर वहाँ बा० दो० १९ भरमें जो एक अनीहादि गुणोंके अनुसार बाह्यविषयोंकी ईहा (चेष्टा) निवारण हुई थी, यहाँ भी उन्हीं गुणोंके लक्ष्य पर रटते हुए विषयोंके अर्थ इन्द्रिय अंतःकरणादि चौदहोंकी कर्मकामनायें निवृत्त होंगी, क्योंकि वहाँ भी ये गुण व्यापकके थे, उसीका यहाँ भी लक्ष्य है । तब अनित्यकारक कर्मोंके संगराहित्यसे यह अपने इसी संबंधके निर्णयप्रसंगमें कहे हुए 'नित्यस्वरूपता' को जानेगा । इस रकारके कार्य-रूप अग्निमें यह गुण स्फुटभी प्रमाण है । यथा-"**रकारोऽनलबीजं स्याद्येसर्वे वाडवादयः । कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम् ॥**" (महारामायणे) (यहाँ मनोमल विषय हेतुक कर्मोंकी कामनाको कहा है, जिनका नाश दिखा आये) अतएव नामनिरूपणके इस लक्ष्यसे ब्रह्मके '**व्यापक**' स्वरूप तथा उसके '**ऐश्वर्य**' (षडैश्वर्योंमें प्रथम) के देखनेका सामर्थ्य हुआ और तदनुसार इसके कर्मसंबंधी '**काम**' (कामना) विकार (षड्वि-कारोंमें प्रथम) का नाश अपने '**नित्यस्वरूपता**' का ज्ञान हुआ ॥

(**खं**) पुनः जापक नामार्थसहित नामको पूर्वोक्त '**हेतुभानु**' जानकर लक्ष्यसहित यहाँके, ब्रह्मके '**एक**' विशेषण युक्त ज्ञानार्थ इच्छासहित रटे तो पूर्वोक्त बा० दो० १८ चौ० १-२ की टि० (८) के अनुसार नाम कल्पतरुसे इसे 'धर्म' ऐश्वर्य ज्ञात होगा और ऊपर चौ० ६-७ की टि० (२) के अनुसार धर्मके साथ साथ क्रोधनिवृत्ति और ब्रह्मका एक होना भी देख पडेगा, क्योंकि सृष्टिरचना ब्रह्म अकेलेसे होती है, यथा-"**जेहि सृष्टि उपाई त्रिबिधि बनाई संग सहाय न दूजा ॥**" (बा० दो० १८९) तथा-श्रुतिः "**सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।**" (छां० प्र. ६) इस वेद वाक्यमें एक सत्रूपकी स्थिति कही है, अद्वितीय और एक इन दो पदोंसे उपादान और निमित्त कारण भी उसीको कहा है । इसीसे वह एकही सब धर्मोंका भोक्ता है, यथा-"**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।**" (गीता. अ० ९) इससे यह भी निश्चय होगा, कि सब धर्मोंका प्रकाशक

ब्रह्म, जो ऊपर टि० (कं) के अनुसार हमारे अंतर प्रकाशक है तो हमें वाह्येन्द्रियादिके धर्मभूत प्रकाशसे प्रयोजन नहीं हैं, हम स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं। अथवा सूर्यके लक्ष्यसे नामकल्पतरुसे सूर्यवत् ज्ञान प्राप्त होनेसे भी आत्माका स्वयं प्रकाशरूप झलक जायगा। यथा—"**यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥**" (गीता. अ० १३) पुनः नामार्थमें इस 'हेतुभानु' से प्रकाशकता स्फुट भी कहा है यथा—"**अकारो भानुवीजं स्याद्वेदशास्त्रप्रकाशकः।**" (महारामायणे) अतएव इस लक्ष्यसे ब्रह्मके 'एक' विशेषणसहित उनके '**धर्म**' ऐश्वर्यके देखनेका सामर्थ्य हुआ और तदनुसार इसके कर्मसंवंधी '**क्रोध**' विकारका नाश और अपने '**स्वयंप्रकाश**' स्वरूपका पहिचान हुआ॥

(गं) पुनः नामको '**हेतुहिमकर**' जानकर लक्ष्यसहित ब्रह्मको '**अविनाशी**' विशेषणसहित जाननेकी रुचियुक्त रटनेसे पूर्वोक्त बा० दो० १८ चौ० १-२ की टि० (८) के अनुसार ब्रह्मके 'यश' ऐश्वर्यका ज्ञान होगा और ऊपर चौ० ६-७ की टि० (२) के अनुसार लक्ष्यसहित जपसे इसका कर्मसंवंधी 'लोभ' विकार निवृत्त होगा और जिन नामसे चन्द्रमामें भी अमृत प्राप्त है, जिससे देवता अमर रहते हैं, वही (हेतुहिमकर) कल्पतरु नाम इसे भी अविनाशी वनावेंगे अर्थात् नाशवान् तीनों शरीरोंसे विलक्षण तुरीयामें स्थित करके इसे इसकी देहादिविलक्षणताका परिचय करावेंगे। स्फुट प्रमाण भी है यथा—"**मकारश्चन्द्रबीजश्च पीयूषपरिपूर्णकम्। त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च॥**" (महारामायणे) इसमेंके त्रितापसे तीनों शरीरसंवंधी ताप छूटना और शीतलत्वसे तुरीयावस्था समझना चाहिये, अतएव इस लक्ष्यसे ब्रह्मके 'अविनाशी' विशेषणसहित उसके '**यश**' ऐश्वर्यके देखनेका सामर्थ्य हुआ और इसका कर्मसंवंधी '**लोभ**' विकाराहित्य और अपने '**देहादिविलक्षण**' स्वरूपका ज्ञान हुआ॥

(घं) पुनः नामको '**विधिमय**' जानकर लक्ष्यसहित ब्रह्मको '**सत्**' विशेषणसहित जाननेकी रुचिसहित रटनेसे पूर्वोक्त बा० दो० १८ चौ० १-२ की टि० (८) के अनुसार ब्रह्मके 'श्री' ऐश्वर्यका ज्ञान होगा। तिसके साथही साथ ऊपर चौ० ६-७ की टि० (२) के अनुसार उस (ब्रह्म) के 'सत्' विशेषणका बोध होगा तथा उसके साथही 'मद' विकाराहित्य होनेपर इसे अपने 'अणुस्वरूप' का भी बोध होगा, क्योंकि सावयव वस्तु एकरस नहीं रहसकती और मदराहित्यसे इसकी तो सत् अर्थात् एकरस स्थिति है. इससे अणु है,. यह निश्चय होगा। इस लक्ष्यमें ब्रह्मके '**सत्**' विशेषणसहित उसके '**श्री**' ऐश्वर्य देखनेका सामर्थ्य हुआ और इसके कर्मसंबंधी '**मद**' विकारका नाश तथा अपने '**अणुस्वरूप**' का ज्ञान हुआ॥

(ङं) पुनः नामको '**हरिमय**' जान कर उस लक्ष्यसहित ब्रह्मको '**चेतन**' विशेषणयुक्त जाननेकी चाहसे रटनेसे पूर्वोक्त बा० दो० १८ चौ० १—२ की टि० (८) के अनुसार ब्रह्मके 'ज्ञान' ऐश्वर्यका बोध होगा और इसके साथ साथ ऊपर चौ० ६-७ की टि० (८)

के अनुसार उसका चैतन्य गुणभी देख पड़ेगा तथा तदनुसार जापकका कर्मसंबंधी '**मोह**' विकार नाश और अपनी ज्ञानानन्दगुणकता ज्ञात होगी क्योंकि जिस नामसे विष्णुभगवान् ज्ञानानंदगुणक हैं, अर्थात् सबको चैतन्य कर २ के ज्ञानानंद देते हैं। वे ही नाम कामतरु इसे भी इसके शरीररूप ब्रह्मांडके इन्द्रियादि लोकोंमें निज धर्मभूत ज्ञानसे प्रकाशकता प्रदान करेंगे। अतएव इस लक्ष्यसे यहाँ इसे ब्रह्मके 'चेतन' विशेषणसहित उसके '**ज्ञान**' ऐश्वर्यको देखनेका सामर्थ्य हुआ और इसके कर्मसंबंधी '**मोह**' विकारका नाश तथा अपनी '**ज्ञानानंदगुणकता**" का बोध हुआ ॥

(३) पुनः नामको '**हरमय**' लक्ष्यसहित ब्रह्मको '**घनआनंदरासी**' जाननेके वास्ते रटनेसे पूर्वोक्त बा० दो० १८ चौ १–२ की टि० (८) के अनुसार ब्रह्मके वैराग्य ऐश्वर्यका बोध होगा। उसके साथ साथ ऊपर चौ० ६–७ की टि० (२) के अनुसार उसके 'घनआनंदरासी' स्वरूपका भी ज्ञान होगा। तदनुसार नामकामतरुसे इसके भी 'मत्सर' विकारका नाश और 'ज्ञानानन्दस्वरूपता' का बोध होगा, क्योंकि प्राकृत शरीरानंद न्यूनाधिक्यसे मत्सरविहीन नहीं रह सकता और इसे तो मत्सरनिवृत्त होनेसे सत्रमें समत्व प्राप्त रहेगा। यथा—"**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥**" (गीता. अ० ६) अतएव यहाँ इस ब्रह्मके 'घनआनंदरासी' विशेषण सहित उसके '**वैराग्य**' ऐश्वर्यके देखनेका सामर्थ्य हुआ और इसके कर्मसंबंधी '**मत्सर**' विकारका नाश तथा अपने '**ज्ञानानंदस्वरूप**' का बोध हुआ ॥

(३) इस प्रकार यहाँ नामरूप रत्नसे मोलरूप निर्गुणब्रह्म प्रकट हुआ और जीवका कामनादि काँचोंका बटोरना छूटा पुनः रटनरूप भँजानेसम अल्पप्रयासमें अपने स्वरूपप्रयुक्तगुणरूप संपत्तिको देख कर संतुष्ट हुआ, जो अन्य साधनोंसे दुःसाध्य थीं। पुनः अन्य साधनोंकी तरह इसमें विघ्नकी भी शंका नहीं है यथा—"**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥**" (गीता. अ० ९) अतएव सौलभ्यता गुणसे नाम निर्गुणब्रह्मसे बहुत ही बड़े हैं ॥

संबंध सारांश ।

इस संबंधके निर्णयप्रसंगमें जो '**जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन ।**' के साक्षात्कारको यहाँ कहे थे, उसके संबंधोद्धारके अनुसार जैसे कामनाप्रकाशसे हीन होकर चन्द्रमा अमावसको सूर्यके संग एक राशिमें उदय होते हैं, वैसे ही यहाँ जीव भी कर्म कामनादि प्रकाशसे हीन होकर ब्रह्मके समान निजरूपको जानकर तदाश्रित ही अपनी स्थिति समझा। पुनः वहाँ (सं० निर्णय) के कथनानुसार शत्रुहनजीके समान अवस्था भी नित्यशत्रु कामादिके नाशसे हुई और यहाँके भये हुए आत्मसाक्षात्कारकी ध्याननिष्ठाका प्रसंग पूर्व शेष-शेषीसंबंधसे प्रारंभ हुआ था, उसका वहाँ उसके लक्ष्यरूप 'नरनारायण' के तप पर्यंतका साक्षात्कार हुआ था। पुनः जैसे वे ही अर्जुन और श्रीकृष्ण हुए, तथा जैसे श्रीकृष्णने अर्जुनको गीताका उप-

देश किया, तहाँ तकका मिलान चौथे (भर्तृ-भार्या) संबंधमें कर आये और जैसे नरनारायणरूपके बचे हुए एककवची कर्णको १०० भाई कौरवोंसमेत श्रीकृष्णाश्रित अर्जुनने युद्ध करके मारा, वैसे ही इस संबंधमें नामरूप श्रीकृष्णके आश्रित जीवरूप अर्जुनने रटनरूप संग्राम करके कर्णरूप जो कानका विषय शब्द है, उसे सहायसहित मारा । यहाँ सहायरूप सौ कौरवोंकी तरह शब्दसे जो तदर्थभूत विषयोंमें दशेन्द्रियोंकी दशप्रकारकी कामनायें उपजती हैं, उन एक एक के संपादन कर्ममें दशोंकी वृत्ति सहायक रहती हैं, यही दशदहाई सौ भाई हैं, तिनका (सब प्रकारकी कर्मकामनाओंका) इस संबंधमें संहार हुआ और कर्ण सम शब्दसंबंधी '**सूक्ष्मशरीराभिमान**' नाश हुआ। पूर्व बा० दो० २० चौ० ९ में जो नामसे ज्ञान होनेके उपलक्षमें नामका प्रद्युम्नस्वरूप कहा गया था और उनकी उत्पत्तिक्रियाके दोनों (ऐश्वर्य-वीर्य) ऐश्वर्य भी नाममें लक्षित किये थे। उसमें 'ऐश्वर्य' तो प्रद्युम्नका स्वरूपप्रयुक्त है और 'वीर्य' से उत्पत्ति करते हैं, वैसे यहाँ नामार्थमें ही निर्गुणके स्वरूपके छवों ऐश्वर्योंके कारणोंका बोध हुआ इससे '**ऐश्वर्यमय**' नामका भी रूप हुआ और '**नामनिरूपण०**' से ही आत्माके छवों (ज्ञानानंदस्वरूपतादि) गुण उत्पन्न हुए, यही इनका सृष्टिकारक '**वीर्य**' ऐश्वर्य प्रत्यक्ष हुआ॥ पूर्वके तीसरे संबंधसे यहाँ तकमें संपूर्ण **महाभारत**का सिद्धान्त आया, क्योंकि नरनारायण-प्रसंग महाभारतका आदि, गीता मध्य, और कौरव-पांडव-संग्राम अंत है। (यह प्रसंग पूर्वोक्त बा० दो० १९ चौ० ९ की टि० (१)–(२) से मिलान करके समझना चाहिये) इस संबंधसे जीव '**शब्द**' तन्मात्राके पूर्वोक्त '**पाँचवें आवरण**' से मुक्त हुआ और उसी आवरणमें आनेसे जो इसका '**अविजिघत्सा**' गुण नाश हुआ था. उसके पुनः प्राप्त होनेका भरोसा हुआ और निर्गुणसे नामके वड़प्पनका और '**ज्ञातृ-ज्ञेय**' -संबंधका साक्षात्कार हुआ॥ *

अथ अखिलप्रकरण नं० ५।

टिप्पणी (तात्पर्यार्थ)

अथ जापकके हृदयरूप गर्भमें नामकी अवस्था और अवतारका प्रसंग।

(१) इसके पूर्व अ० प्र० नं० ४ टि० (१) में इनका स्वेच्छापूर्वक चौथे आवरणमें आना दिखा आये। अब शब्दतन्मात्राके पाँचवें आवरणका आना दिखाते हैं, कि जैसे जीव इस आवरणमें शब्दविषयके अर्थभूत कामनाओंमें चित्तवृत्ति पसार कर उसके साधनीभूत कर्मोंकी

नोट—* इस नामप्रसंगमें प्रथमसे यहाँ तकमें राममंत्रके बीजके कारण नामके रकारका अर्थ इन पाँच संबन्धोंमें पूरा हुआ॥

भी अंतःकरणोंसे कामना करता है, वैसे ही नामने इस संबंधके मूल दोहार्थमें ही अपना अमृत-कुंडवत् स्वरूप किया, परवश जीवोंको इस आवरणके शब्दादिविषय मृत्युदायक होते हैं, स्वेच्छा पूर्ण इनका यह विषय इनके शरीररूप जीवोंको अमरत्वदायक है, जीव जैसे इसमें कर्मकामना करता है, वैसे इन्होंने भी अपने शरीररूप जीवोंके रक्षार्थ उनके ज्ञानानंदस्वरूपतादि साधनीभूत कर्मोंकी कामना किया । इन सब कार्योंमें इन (नाम) का '**अविजिघत्सा**' गुण प्रकाश हुआ ॥

अथ नामरूपईश्वरकी प्रथमभावानुसार पंचधास्थिति ।

(२) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (ग) के क्रमानुसार यहाँ नाममें '**अंतर्यामी**' का प्रसंग है । यह चौ० ८ की टि० (२) में विस्तारसे दिखा आये सौलभ्यतासे नामका विशेष महत्त्व भी प्रकट हुआ ॥

अथ नामांतर दशअवतारोंके साक्षात्का प्रसंग ।

(३) संबंधोद्धारके क्रमसे यहाँ '**वामन**' अवतारके साक्षात्का प्रसंग है । इसके संबंधमें जो कुछ वहाँ (बा० दो० १९ चौ० ६ की टि०(८) में लक्ष्यरूपमें कह आये उसीका यहाँ साक्षात्कार हुआ, अतएव वहाँ पढ कर यहाँ विचारना चाहिये ॥

अथ नामान्तर भक्तिरस प्रकरण ।

(४) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (४) के क्रमानुसार यहाँ '**शांतरस**' की साधनावस्थाका प्रसंग है । इसका स्वरूप यथा–"**शास्त्रचिंत हरि गुरु कृपा, है विभाव सत्संग । अनूभाव नासाग्रदृग, सात्विक सकल अभंग ॥ मति धृति अरु निर्वेदता, अपस्मृती संभ्रान्ति । वितर्कादि संचार सब, अस्थाई मति शान्ति** ॥" (टीका वैजनाथ, बा० १८ वाँ प्रकाश) इस रसका श्वेतवर्ण है, ब्रह्म (अंतर्यामी) देवता (प्रकाशक) है, परमात्मा श्रीरामरूप आलंबन और आत्मतत्त्व उद्दीपन है । उनमें इस संबंधके निर्णय प्रसंगमें आत्मतत्त्व उद्दीपन दिखा आये और '**राम भगति रस लीन**' में श्रीरामरूप आलंबन भी प्रत्यक्ष है । इस संबंध भरमें अंतर्यामीका प्रकाश भी प्रकट है और नामनिरूपणमें शास्त्रचिंतवन भी है । पुनः गुरुकृपा संबंध निर्णयमें देखो और चौ० ८ के षड्विकाररहित्यमें धैर्यसहित निर्वेद अर्थात् विषयविराग भी कह आये, तथा और विकारोंकी शुद्धिमें सब लक्षण आगये, और '**अस्थाई मति शांति**' जो फलरूपमें है वह इस संबंधके फलरूप आत्मज्ञानकी ध्यान निष्ठामें आई क्योंकि विना आत्मज्ञानके मन स्थिर नहीं होता । यथा–"**निजसुख बिन मन होइ कि थीरा** ।" (उ० दो० ८९) इस रसके प्रकाशक श्रीशत्रुहनजी हैं, जैसे कि ऊपर दास्यरसमें श्रीलक्ष्मणजी तथा सख्यमें श्रीभरतजीको कह आये; क्योंकि रसके उपरोक्त लक्षण इनमें सब रहे तथा फलरूप शांति भी ऐसी परिपूर्ण थी, कि रामायण भरमें कहीं इनका हँसना,

रोना आदि नहीं है और जो किंचित् मंथराप्रति क्रोध प्रगटे, वह अपने सेव्य श्रीभरतजीकी सेवारूपमें है, अपने उद्वेगसे नहीं है और इस रसकी तरह गौर भी है, जैसे इस रसका अंतर्यामी देवता होता है, तैसे खड़ाऊँद्वारा निर्गुणतत्त्वको साक्षात्कार किये हुए तद्रूप विवेकी श्रीभरतजी इनके देवता भी है और अंतमें जो परिकर हुए, वहाँ श्रीरामरूप आलंबन भी हुआ. यथा—"भरतादि अनुज विभीषनांगद ० गहे छत्र चामर व्यजन०॥" (उ० दो० ११) और कामादि विकारोंका जीतना इनके नामहीसे प्रकट है। इन सब लक्षणोंके सहित इस संबंधमें इनकी स्थिति संबंधनिर्णयमें भी दिखा आये तो प्रसंग भरमें जानना चाहिये, क्योंकि इन्हें जापकके लक्ष्यरूपमें वहाँ कहे थे। अतएव यहाँ इस रसकी साधनावस्था बढचढ कर आई। 'फलस्वरूपता—'राम नाम नरकेसरी०" में आगे कहेंगे॥

अथ नामान्तर पंचसंस्कारप्रसंग।

(५) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (५) के क्रमानुसार यहाँ **'मंत्र'** संस्कारकी साधनावस्थाका प्रसंग है। मंत्र यथा—श्रुतिः"**ॐ योऽसौ नासाग्रे परमात्मानं सत्यं नित्यं जपति ध्यानविशेषो भवति। श्रीरामं संध्यायति स महात्मा भवति श्रीरामे सदा मतिर्भवति॥** इति ऋग्वेदे पंचमः संस्कारः॥" (श्रीरामपटल) अर्थात् जो नासाग्र भ्रूके मध्य ध्यान निष्ट होकर परमात्मा सत्यस्वरूपको हृदयमें धारण करके मंत्र नित्य जपते हैं, वे माहात्मा होते हैं, उनकी श्रीरामजीमें सदा मति होती है। इस मंत्रसंस्कारके आराधनका ही विषय इस संबंधमें परिपूर्ण है, क्योंकि पूर्व मंत्रोद्धार प्रसंगमें ही नामसे मंत्र तथा नव संबंध होना कह आये, चौ० (८) के अर्थमें उसी नामके अर्थविचारसहित आराधन हुआ और उसमें नव संबंधका भी लक्ष्य 'व्यापक' प्रसंगमें कहा गया। पुनः नामार्थभूत निर्गुण ऐश्वर्यसहित श्रीरामजीका ध्यान भी प्रकट है और श्रीरामजीमें मति होना **'राम भगति रस लीन'** में प्रकट है, इससे यहाँ मंत्राराधनकी साधनावस्था आई। फलस्वरूपता—बा० दो० २७ में आगे कहेंगे॥

अथ नामान्तर भक्ति प्रकरण।

(६) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (६) के क्रमानुसार यहाँ **'पाँचवी नवधा'** भक्तिका प्रसंग है। यथा—"**मंत्र जाप मम दृढ विस्वासा। पंचम भजन सो वेदप्रकासा॥**" (आ० दो० ३८) इसका मंत्राराधन ऊपर टि० (५) में देखो और विश्वासकारक मंत्रार्थमें षडैश्वर्यदातृत्व आदि दिखा आये॥

अथ नामान्तर ज्ञानप्रकरण।

(७) इसके पूर्व अ० प्र० नं ४ टि० (७) में 'सत्त्वापत्ति' नामक ज्ञानकी चौथी भूमिका दिखाई गई। इस संबंधमें पाँचवीं **'असंशक्ति'** नामकी दिखाते हैं। यथा—"**जोग अगिनि करि प्रगट तब, कर्म सुभासुभ लाइ। बुद्धि सिरावइ ज्ञान घृत, ममता**

मल जरि जाइ ॥" (उ० दो० ११७) अर्थात् यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, धारणा ध्यान, समाधि इत्यादि अग्नि प्रकट करे, उसमें शुभाशुभ कर्म ईंधन लगावे, अर्थात् पूर्व जो निर्वासिक कर्म करता रहा, वह भी अब त्याग दे, अंतरंगकी केवल धारणा ध्यान और समाधि रूप योगाग्निमें विरागरूप नवनीतको अवटे और ममता (देह सुख कामना) रूप मल जला दे, अर्थात् असार संसार संबंध त्याग दे और ज्ञानरूप घृतको बुद्धि शीतलकरे अर्थात् योगक्रियादिकी उष्णताको भी मिटाकर शांति ग्रहण करे, अर्थात् शरीरसंबंधसे की हुई क्रियादिका भी अभिमान त्याग दे। इस प्रकार असार संसारको त्यागकर सार आत्मरूपको ग्रहणकी यह पाँचवीं भूमिका हैं। यथा–" **बूझेउ तन अभिमान जन, निश्चय कियो स्वरूप। असंशक्ति यह भूमिका पंचम महा अनूप ॥** " (बैजनाथ. टीका उ०) उपरोक्त ज्ञानसंपत्ति इस संबंधमें दिखाते हैं। यथा—जो वहाँ योग क्रियासे अग्नि प्रकट करना है, वह चौ० ८ की टि० (क) के ' हेतुकृसानु ' लक्ष्यमें है, वहीं पर शुभाशुभकर्मोंका तथा ममताका जलना भी प्रत्यक्ष है। वहाँ चौ० ८ की टि० (२) में जहाँ कर्मोंमें कामादिशुद्धि कहा है, वहाँ अभिमानराहित्य ही सार है। तथा यहाँ (नाममें) तो अभिमानका कारण ही नहीं है, क्योंकि नामरूप रत्नको परखवाकर भँजानामात्र अपना कार्य है, सो भी भगवत् कृपाविग्रहसंत तथा उनके अभिन्नरूप आचार्यद्वारा ही हुआ और रटन आदि कर्तृत्व भी भगवत्सामर्थ्यसे ही हुआ, यह भर्तृ-भार्या सं०में ही दिखा आये और षड्विकारोंकी शुद्धिमें शांति भी आई और 'तनअभिमान' त्यागना संबंधसारांशमें दिखा आये। तथा–'निश्चय कियो स्वरूप ' का अर्थ भी चौ० ८ की टि० (२) में छवोंअंगसहित जीवस्वरूपका पहिचान दिखा आये, अतः यह भूमिका भी इस संबंधसहित नामके एकांशमें आई ॥

अथ नामान्तर भगवत्साधर्म्यप्राप्ति ।

(८) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (८) के क्रमानुसार यहाँ ' अनाम ' का प्रसंग है। वह पूर्व बा० दो० १९ चौ० ४ टि० (छ) में इसके साधनका जो स्वरूप कहा गया, वह सब यहाँ साक्षात्कार हुआ, अर्थात् शरीराभिमान राहित्यसे तत्संबंधी नामसे भी अनाम हुए ॥

अथ नामान्तर पंचकोशोत्क्रमणक्रम ।

(९) पूर्व अ० प्र० नं० ३ टि० (९) में इन पाँचों कोशोंको सप्रमाण दिखा आये, तथा अन्नमयकोशसे मुक्त होना भी वहीं दिखाया गया। वहाँसे आगे यहाँ पर्यंत दो संबंधोंमें दूसरे ' **प्राणमय** ' कोशका प्रसंग है। उसमें चौथे संबंधमें यह जीव इस प्राणमयकोशमें आया। इस कोशमें सब पवनोंका विलास होता है, अर्थात् इन पवनोंकी ही शक्तिसे सब कर्म होते हैं। तथा इन्हीं पाँचों प्राणोंसे ही इन्द्रियाँ अपने २ विषयोंकी चेष्टा तथा तदर्थ साधन हेतु कर्मोंकी भी कामना करती हैं। तिनमेंसे कर्मोंके कर्तृत्वाभिमानादि दोष मिटना चौथे संबंधमें कह आये और इन्द्रियोंकी विषयकामना तथा कर्मकामना छूटना भी इस संबंधकी चौ० ८ की टि०(२) में दिखा आये, अतएव यहाँ तकमें जीव प्राणमयकोशसे मुक्त हुआ ॥

उपरोक्त पवनविलास यथा—" प्राणापानौ समानश्चोदानव्यानौ च वायवः। नागः कूर्मः कृकिलश्च देवदत्तो धनञ्जयः॥ भिन्नास्थाभिः शरीरेस्मिन्तिष्ठन्ति प्राणसंज्ञकाः। स्वस्यस्वस्य क्रियायुक्ताः ज्ञातव्या हि मुमुक्षुभिः॥ हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशे स्याद्व्यानः सर्वशरीरगः॥ नागः करोति ह्युद्गारं कूर्मो नेत्रनिमीलनम्। कृकिलस्तु क्षुधाकारो देवदत्तस्तु जृम्भणाम्॥ मृत्युदेहे वसत्येवं पंचमो वै धनञ्जयः। मनुष्याणां शरीरेऽस्मिन् स्युरेवं पंचवायवः॥" (जिज्ञासापंचके)

इति श्रीरामवल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्तशरणकृत श्रीमन्मानसनामवंदनायाः तत्त्वार्थसुमिरनीटीकायां पंचममणिकार्थवर्णने षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

इति पंचम मणिकार्थ समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

अथ श्रीमन्मानसनामवंदना छठवाँ दोहा।

मूल।

निरगुनतें यहि भाँतिबड़, नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नाम बड़ रामतें, निज बिचार अनुसार॥ २३॥

टीका—इस प्रकार निर्गुणसे नाम बड़ा है और उसका प्रभाव अपार है। अपने विचारके अनुसार नामको (सगुण) श्रीरामजीसे बड़ा कहता हूँ॥ २३॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "**निरगुन०अपार**" का भाव—यह कि जो निर्गुण ब्रह्म अकथ अगाध आदि विशेषणोंसे भूषित है और उसका प्रकट करना अतिअगम है, उसे भी प्रकट करके नामने जीवका कल्याण किया, इसीसे इसका प्रभाव अपार है और यह उससे बड़ा है क्योंकि इसीके प्रभावसे वह प्रकट होता है और वह हृदयमें रहता हुआ भी जीवको स्वतः सुख नहीं दे सकता। पर नाम सद्गुरुद्वारा हृदयमें आकर सुखी करते हैं।

(क) "**निज बिचार अनुसार**" का भाव यह कि जैसे पूर्व समष्टिमें दोनों स्वरूपोंके तईं '**कहौं प्रतीति प्रीति रुचि मनकी**' कहे थे और उसके अर्थमें पीछे सबको प्रतीति आदि करानेका अभिप्राय गर्भित हुआ था, वैसे यहाँ भी निजविचार कह रहे हैं, आगे सबके विचारमें दृढ़ा देंगे। विचार बुद्धिसे होता है, वही बुद्धिरूपा अहल्याके लक्ष्यसे यह विचार प्रारंभ करेंगे और '**फिरत सनेह मगन सुख अपने**' तकमें विचारफल प्राप्त कराते हुए सगुणसे भी बड़ा नामको सिद्ध करेंगे।

(ख) **शंका**–पूर्व तो ' **को बड़ छोट कहत अपराधू ।** ' ऐसा कहे थे, अब क्यों कहते हैं ? **समाधान**–अपराध तो तब है, कि जब एकको बड़ा कहकर दूसरेकी निंदा करें, अर्थात् एकके गुण और दूसरेके दोष कह कर एकको बड़ा कहा जाय तो दोष है, किंतु यहाँ तो ग्रंथकार दोनोंके गुण ही कह रहे हैं। इससे दोष नहीं है । गुण दोष कह कर बड़ाई छोटाई कहनेसे दोष इस प्रकारमें होता है, कि जैसे श्रीजानकीजीकी मुख छबि वर्णनमें श्रीरामजीने चन्द्रमाके दोषोंको कहा है यथा–" **सीय बदन सम हिमकर नाहीं । से–अवगुन बहुत चन्द्रमा तोहीं ॥** " तक (बा० दो० २३६–२३७) ऐसी बड़ाई छोटाई यदि नाम नामीमें की जाती तो दोष था, क्योंकि ये दोनों तत्त्व महत्त्वमें समान हैं और वहाँ चन्द्रमा बहुत ही न्यून था. इससे दोष न हुआ । इस प्रकार नामका बडापन और ठौर भी कहा गया है। यथा– "**प्रिय रामनामते जाहि न रामो । ० रामते अधिक नाम महिमा जेहि किए नगर गत गामो ॥** " वि० २२९) तथा अन्य ग्रंथोंमें भी प्रमाण है यथा–" **राम त्वत्तोऽधिकं नाम इति मे निश्चला मतिः । त्वया तु तारिताऽयोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम् ॥** " (श्रीहनुमत् संहिता) (यह श्रीहनूमानजीका वचन श्रीरामजीसे है) अतएव दोष नहीं है ॥

मूल (चौ०)

राम भगतहित नरतन धारी । सहि संकट किय साधु सुखारी॥ १॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा । भगत होंहि मुदमंगल बासा ॥ २ ॥

टीका–श्रीरामजीने तो भक्तोंके वास्ते मनुष्यशरीर धारण किया और दुःख सह २ कर साधुओंको सुखी किया ॥ १ ॥ परन्तु प्रेमसमेत नाम जपनेसे भक्तलोग मानसी आनंद और उत्सवादिमंगलके निवासस्थान हो जाते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) " **रामभगत ०** " का भाव यह कि श्रीरामजी तो परात्पर नित्य द्विभुज नराकार ही हैं, जैसे कि वेदमें कहा हैं । " **बाहू राजन्यः कृतः** " (पुरुषसूक्ते) इसमें बाहूशब्द द्विवचन है, इससे दो ही हाथका अर्थ हुआ । पुनः श्रुतिः " **आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः ।** " (बृ० उ० अ० १।४) तथा च–"**स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं चैव चतुर्भुजम् । परं तु द्विभुजं रूपं तस्मादेतत्रयं यजेत् ॥** " (आनंदसंहितायाम्) " **रामो निजपरोमूर्तिर्मानवाकृतिरीश्वरः ।** " (ब्रह्मयामले) परन्तु इसमें नरतनधारना यह है, कि आपका रूप तो नित्यकिशोर ही रहता है, जैसे मनुशतरूपाकी प्रार्थनासे प्रकट हुए । कहा भी है, यथा–" **षोडस बरस किसोर राम नित सुंदर राजैं ।** " (ध्यानमंजरी) उसमें अवतार लेनेपर नरवत् लीलामें बाल कुमारादि अवस्था तथा तदनुसार व्यवहार धारण करते हैं, यही नरतन धरना है । लक्ष्य–यथा–" **कृपासिंधु जनहित तन धरहीं ।** " (बा० दो० १२१) " **राम सगुन भए भगत प्रेम बस ।** " (बा० दो० २१८)

" तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे॥ " (सुं० दो० ४७) इत्यादि।

टिप्पणी (लक्ष्य)

(क) ' सहि संकट '—यथा—" राम लषन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि-वेष फिरत बन बनहीं॥ " (अ० दो० २१०) " अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुस पात। बसि तरु तर नित सहत हिम, आतप बरषा बात॥" (अ० दो० २११) " व्याल पास बस भयउ खरारी। स्ववस अनंत एक अवि-कारी॥ " (लं० दो० ७२) " तुरत बिभीषन पाछे मेला। सन्मुख राम सही सो सेला॥ " (लं० दो० ९३)॥

(ख) ' किय साधु सुखारी ' काललक्ष्य यथा—" सकल मुनिनके आश्रमन्हि, जाय जाय सुख दीन्ह॥ " (अ० दो० ११)" जबतें राम कीन्ह तहँ वासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा॥ " (अ० दो० १९) तथा आगे इसी संबंधमेंही बहुत कहेंगे॥

(ग) " नाम सप्रेम० वासा " का लक्ष्य—" नाम प्रसाद संभु अविनासी। से—अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥ " तक (बा० दो० २९)

(अनुसंधानार्थ)

संबंध निर्णय।

(२) पूर्वं मंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपण प्रसंगमें रामनामसे षडक्षरका होना तथा तिसके मध्यके ' राम ' शब्दमें ' जीवान् रमयति ' इस एक अर्थसे संपूर्ण जीवोंके रमण करानेमें ' शरीर-शरीरी ' संबंध कह आये। उसीको पुनः संबंधोद्धार प्रसंगमें " स्वाद तोष सम सुगति सुधाके " के अर्थमें ' रा ' को सुगतिरूप अमृतमें चौथे संबंधके समस्त पुरुषार्थरूप ' स्वाद ' और ' म ' को पाँचवें संबंधमें भये हुए ' संतोष ' का स्वरूप कह कर सुगतिद्वारा जीवोंको रमाना नामहीका कार्य दिखा आये कि जैसे शरीरी (शरीराभिमानी जीव) शरी-रको पोषता है, वैसे नाम जीवोंके पोषनेवाले शरीरी हैं। उसीके साक्षात्कारका यहाँ प्रसंग है, अतः उस संबंधका कारण इन दो चौपाइयोंमें दिखाये हैं, कि श्रीरामजीने भक्तोंके हितार्थ नरनाट्य करते हुए कष्ट सह २ कर एक एक गुण विस्तार किया, तिनसे साधु लोग सुखी हुए। वही २ गुण लोकमें नामद्वारा अनन्त २ हो २ कर विस्तृत हुए जैसे कोई वेलि किसी फलके वीजसे उत्पन्न होकर बहुत शाखाओंसे फैल जाय, तो उसके फूल फलादिसे जीवोंका उपकार हो, वैसेही श्रीरामरूप फलसम है, गुण वीजवत् हुए, और उन गुणोंसे कीर्ति फैलना वेलिसम तथा तदनुसार नाम होना फलरूप लगा। पुनः नामार्थमें उनके गुणोंके विचारसहित सप्रेम जपना फल खानेसम हुआ, तो जैसे फल खानेवालेको उसके वीजके कारणरूप पूर्वके फलके स्वादादि गुण प्राप्त हों इसमेंभी ज्योंके त्यों प्राप्त होते हैं वैसे, यहाँ कारणके एक फल सम रूपके

गुण नामद्वारा अनेक २ होकर कार्य करते हैं । यही पूर्व बा० दो० १९ चौ० ३ में ज्योतिषीके दृष्टांतसे भी दिखा आये थे, अतएव यहाँ श्रीरामजीने अवतार लेकर जो २ कृपा दया उदारतादि गुणरूप बीजोंको बोया है । उसका अभिप्राय अनेकोंफलरूप नामद्वारा जीवोंके रमानेका है, कि जिसके गुणानुसंधानसहित जपसे वेप्रयासही रूपके वर्तमानका लाभ हो, अतएव यहाँ रूपकी तरह पुरुषार्थरूपसे नामका जापकोंके प्रति अनंतरूपसे रमाना सिद्ध हुआ । इससे यहाँ उपरोक्त ' शरीर-शरीरी ' संबंधके मूलका साक्षात्कार हुआ । इसीका विस्तार आगे करेगें ॥

मूल (चौ०)

राम एक तापस तिय तारी । नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥ ३ ॥

टीका—श्रीरामजीने तो एक तपस्वी (गौतमऋषि) की स्त्री (अहल्या) को तारा और नामने करोडों खलोंकी कुत्सितबुद्धिको सुधार दी ॥ ३ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) **"राम एक तापसतिय तारी ।"** का भाव यह कि 'राम' शब्द पूर्वोक्त संवंधनिर्णयके 'जीवान् रमयति' के कार्यका प्रारंभ सूचित करता है और 'एक तापसतिय' कहनेसे निर्हेतुकृपालुतामें उसके पतिकी तपस्या बाधक नहीं है, क्योंकि गौतमऋषि तेजवंत थे, और सबके पापोंके प्रायश्चित्त करनेवाले जो शास्त्र हैं, तिनमेंसे भी पाँचोंके न्याय करनेवाले न्यायशास्त्रके आचार्य्य हैं तो यह प्रायश्चित्त भी करा सकते थे, परन्तु विमुख होकर पत्थर करके चले गये जिनकी यह अर्द्धांगिनी स्त्री थी और श्रीरामजीने जाकर निर्हेतु उद्धार किया यथा—" **गृहते गवनि परसि पद पावन घोर सापते तारी ।** " (वि० १६७) ॥

(क) **"नाम कोटि खल कुमति सुधारी ।"** का भाव यह कि वही गुण नामद्वारा अनन्त होकर कोटिन खलोंकी भी अहल्यासम पापमयी कुमति सुधार दिया । (पूर्व कह आये कि रूपकी शक्ति नाममें ज्योंकी त्यों आती है,) यथा—"**सहस सिलाते अति जड मति भई है । कासों कहौं कौने गति पाहनहिं दई है ।**" (वि० १८२)

(ख) रूपमें 'एक' और 'तापसतिय' तथा नाममें ' कोटि ' और ' खलकुमति ' कहकर छोटाई और बडाई दिखाया है ॥

(अनुसंधानार्थ)

(ग) इस अहल्योद्धारमें श्रीरामजीका उदारता गुण है, जो अन्य किसी ईश्वररूपमें नहीं प्रकटा, क्योंकि वे सब इनके आधीन हैं, अतः नियमबद्ध हैं और इस प्रसंगकी उदारता तो इनकी तरह सर्वोपरि स्वतंत्रका ही भूषण है । उदारता यथा—" **पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात् । वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्य्यवचसा हरेः ॥** " (भगवद्गुणदर्पणे) अर्थात् पात्रकुपात्र देश काल न विचारते हुए, याचकमात्रको परिपूर्ण देना उदारता है, यह गुण

अहल्याके प्रति इस प्रकार वर्ते यथा—"**आश्रम एक दीख मग माहीं । खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं ॥ पूँछा मुनिहिं सिला प्रभु देखी।सकल कथा मुनि कही बिसेषी ॥ दो०—गौतम नारी सापवस, उपलदेह धरि धीर । चरन कमल रज चाहती, कृपा करहु रघुवीर ॥**" (वा० दो० २०९–२१०) अर्थात् इसे प्रभुने स्वयं देखा, दिखानेमें कोई हेतु नहीं है, और मार्गमें शिलारूपसे पडी थी, इससे किसी मंदिरमें कोई रूपवान् प्रतिमा भी न थी यह लक्षित है, इससे उसके संचितकर्मकी सहायता न थी और खग मृग जीव जंतु भी नहीं थे, कि बोल चालके भी श्रीरामजीके ताकनेमें हेतु होते, इससे प्रारब्धकर्म भी सहायक न था, क्योंकि अन्य जीवोंकी अनायास शत्रुता मित्रता पूर्व जन्मके कर्म (प्रारब्ध) से ही होती है, तथा श्रीविश्वामित्रजीको भी ग्रंथकारने '**मुनिहिं**' लिखा है, अर्थात् वे मनन करते ही जाते थे, उधर ताके भी नहीं, कि जिससे क्रियमाणकर्मकी सहायता समझी जाती, क्योंकि इस शरीरसे भी जो कोई किसीका उपकार करता है तो वह उसकी सहायता करता है। तथा दंडवत् आदि भी कुछ क्रियमाणकर्म नहीं हैं, और पापमय पत्थररूप होनेसे दानकी पात्र भी न थी, क्योंकि ब्राह्मणत्वकी भी उत्तमता जाती रही थी, तब आप (श्रीरामजी) ने उसे गतिरूप दान दिया । यथा—"**तरी अहल्या कृत अघ भूरी ।**" (वा० दो० २२२) अतएव उद्धार करना निर्हेतु है, इसी उदारताको ग्रंथकारने कारणरहित कृपालुता कहा है। यथा—"**अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारनरहित कृपालु ।**" (वा० दो० २११)

(२) **शंका**—यह प्रसंग चरित्रमें विश्वामित्रजीसे पीछे है, यहाँ पहिले क्यों कहा गया ? **समाधान**—(१) जैसे कोई स्वतंत्र बादशाह अपने किसी देशमें जाय तो चाहे सब कैदियोंको छोड दे तो योग्य ही है और ऐसा होता भी है। वैसे ही परात्परप्रभुने इस लीलाविभूतिमें पधारते समय इच्छा किया कि सब संसारको निर्हेतुकृपालुतासे उद्धार करें, यह जानकर वेदादिकोंने स्तुति किया, कि हे प्रभु ! सनातनी मर्यादाकी भी रक्षा करिये जो मनुष्य आपकी भक्ति तथा प्रपत्तिकी ओट लें तिन्हें ही उद्धार करिये । यथा—"**दित्साकुलमना रामः कीर्त्याकृष्टसदत्तरः । सर्वाञ्जीवान्भवाम्भोधेस्तारयेयमिति प्रभुः ॥ ततो वेदैः, पुराणैश्च सेतिहासैः सहेश्वरैः । आगत्य याचितो रामः पूर्वां वार्तां रिरक्षुभिः । धर्माधर्मादिवैयर्थ्यं कर्तुं ते नोचितं प्रभो । सनातनीं च मर्यादां स्वकृतां रक्ष राघव ॥ तव भक्तिप्रपत्तिभ्यां ये ये सेत्स्यन्ति राघव । कृतार्थीकुरु तांस्तांश्च लीला नैवं विछिद्यते ॥**" (श्रीभगवद्गुणदर्पणे) यह सुन कर आपने स्वीकार किया, परन्तु अपनी सत्यसंकल्प रक्षार्थ एक अहल्याके प्रति वही उदारता किया, उसीको लेकर नाम अनंत रूपसे प्रभुके पूर्वाभीष्टका पालन कर रहे हैं। यह प्रतिज्ञा अर्थात् पालनका कार्य आगे दिखावेंगे । इससे यह गुण पूर्ण ब्रह्मत्वसूचक है, इसीसे यहाँ प्रथम लिखा गया। यथा—"**सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं । बड प्रभाउ देखत लघु अहहीं ॥ परसि जासुपदपंकजधूरी । तरी**

अहल्या कृत अघ भूरी ॥" (बा० दो० २२२) (२) तथा—यहाँ साधनक्रम है, तिसमें इस गुणसहित नामकी प्रथम ही आवश्यकता है ॥

अहल्याकी कथा।

(३) अहल्याजी पंचकन्याओंमें एक हैं, ये प्रथम ब्रह्माकी अतिरूपवती पुत्री थीं। इनके गुण नामसे ही प्रकट हैं, यथा—अ-रहित, हेलन-दूषण, अर्थात् ये सब दूषणोंसे रहित थीं, तो इन्हें ब्रह्माने किसीसे व्याहनेकी चेष्टा किया। तब बहुतों (देवादिकों) ने कामना किया, परन्तु ब्रह्माजीने उन सकामियोंको न दिया और परीक्षार्थ गौतमजीकी कुटियामें इसे थातीकी भाँति सौंप दिया तो तपोधन गौतमजीने एक वर्ष पर्यंत उसकी ओर ताका भी नहीं । फिर ब्रह्माजी आये तो निष्काम जानकर इसे इन्हें समर्पण किया। कुछ कालोपरान्त इन्द्रने चन्द्रमासे मत लेकर गौतमका रूप बनाकर इस परमसुंदरीसे भोग करना चाहा। तब चन्द्रमा छलसे मुर्गा बनकर मध्यरातमें ही बोला, सुनकर समय जानकर गौतमजी गंगास्नानार्थ चले गये। इतनेमें अवसर पाकर इन्द्रने वही छल किया। गंगाजीके चेतानेसे गौतमजी तुरंत लौटे और इन्द्रको अपनारूप बनाये हुए कुटियासे निकलते देखा, तब आपने हाल जानकर इन्द्रको शाप दिया, कि एक भगके तईं तूने ऐसा अधर्म किया, जा, वैसे ही सहस्रभगयुक्त शरीरसे रह. पीछे इन्द्रके दीन वचनोंसे अनुग्रह किया और कहा कि श्रीरामजीकी व्याहशोभा देखते समय वे ही भग नेत्र हो जायँगे और चन्द्रमाको भी क्षयीरोगका शाप दिया, फिर उसी तरहकी अनुग्रह किया, कि श्रीरामविवाहमें तुम षड़ाननरूप होगे, तो बारह नेत्रोंसे श्रीरामजीकी शोभा देखोगे। पुनः भीतर जाकर अहल्यापर कोपकर पूछा तो यद्यपि छल करनेके पीछे यह इन्द्रको जान गई थी, पर भयसे छिपाया। यह देखकर गौतमजीने शाप दिया कि तू चर्मसुखके लिये हमारा निरादरकरके अन्यमें रत हुई, इससे तू पत्थर होकर रह, फिर इसकी दीनतापर बोले, कि श्रीराम चरण स्पर्शसे उद्धार होगा। ऐसा कहकर अन्यत्र चले गये। तबसे यह पाषाणरूपसे पड़ी रही। बहुत काल पीछे श्रीरामजीने जाकर चरण रज छुवाकर मुक्त किया ॥

कथा-दूसरी प्रकार।

(क) इस कथाका स्थूलरूप यों भी है, कि अहल्या पृथ्वी है, क्योंकि सृष्टिकर्ताब्रह्मासे, पैदा होती है और गौतम (गो—किरण. तम—श्रेष्ठ-अर्थात्) सूर्य हैं, क्योंकि सूर्यका नाम ग्रहपति हैं, और पृथ्वी भी एक ग्रह है। यथा—'**विभावसुर्ग्रहपतिः**' (अमरकोशे) तथा प्रत्यक्ष भी है, कि सातों ग्रहोंके नामसे सातों दिन हैं, तिनमें रविवार प्रधान है और भौमवार अर्थात् भूमिके पुत्र मंगलका मंगलवार उसके आश्रित माना जाता है, अतः पतिरूप सूर्यके दूर रहते हुए पृथ्वी पर मेघरूप इन्द्रने धावा किया, और चन्द्रमाकी सहायतासे पृथ्वीका रस सोखा, क्योंकि चंद्रमाकी शीतल किरण पड़नेपर पृथ्वीसे जलमय गरम भाफ निकल २ कर मेघ बनता है। पुन सूर्यके कोपरूप प्रकाशसे मेघमें किरणोंद्वारा सहस्रों छिद्र होते हैं और चन्द्रमा भी

पूर्णमासीको एकदम सूर्यसे अलग होनेसे क्षयीरोगवत् कृष्णपक्षमें क्षीण होता है और जल सूख जानेपर पृथ्वी उजाड़रूप जड़ हो जाती है फिर कर्कराशिके सूर्य होनेसे सावनमें पृथ्वी हरी-भरी हो जाती है और मेघ उन छिद्रोंसे वृष्टिरूप नेत्रका सुख पाते हैं। तथा अमावसको चन्द्रमा सूर्यके नेत्रसे देखते हैं, तो उनके छःऋतुरूप मुख संग वारह राशिरूप नेत्र हुए क्योंकि राशिके अनुकूल सूर्यमें प्रकाश होता है ॥

अहल्याचरित्रका नाममें मिलान ।

(खँ) स्थूल ब्रह्मांडके समान धर्मवाला जीवका वपुष (देह) ब्रह्मांड भी है । यथा– '**वपुष ब्रह्मांड सो प्रवृत्ति लंका दुर्ग०**' (वि० ५९) अर्थात् जैसे सूर्य चंद्रमादि स्थूलरूपसे ब्रह्मांडमें रहते हैं। वैसे उन एक २ के अंशरूप देवता इस देहमें भी वैसे २ स्थानोंमें वैसे ही व्यापारसहित रहते हैं अतएव जैसे वहाँ पृथ्वीकी सूक्ष्मशक्ति अहल्या है, तैसे यहाँ पृथ्वीके परिणामरूप शरीरकी तन्मय बुद्धि है, इसीको ग्रंथकारने '**कुमति सुधारी**' कहा है। अर्थात् कु नाम पृथ्वीका है और मति बुद्धिको कहते हैं। अतः देहबुद्धि अहल्यासम है, पहिले संबंधमें जो 'माता पिता गुरु स्वामी' के चारों संबंधोंकी व्याख्यामें चारों वेदोंका सिद्धान्त दिखा आये, उसीसे खलवत् जीवकी देहबुद्धि सुमति हुई, यही वेदवक्ता चतुराननसे इसका सुंदरी पुत्रीरूप होना हुआ। तथा दूसरे रक्ष्य–रक्षक संबंधमें इसने अनीहतारूप निष्कामतासे मकारार्थ आत्मारूप गौतमकी हृदयरूप कुटिंगामें संबंधोद्धारानुसार विचाररूप सेवा किया, तब जो शेषशेषी संबंधमें आत्मचिंतवन हुआ, यही गौतमको व्याही गई। इसीसे चौथे संबंधमें भार्या कहाई। तहाँ (चौथे सं०में) जो गीताका सिद्धान्त कहा गया, तदनुसार इसे जीवका कर्तृत्वाभिमानराहित्य समझ पडा तब इस बुद्धिको पूर्वकृत कर्तृत्वाभिमानमें मनरूप चन्द्रमासहित कर्मेन्द्रिय हस्तके देवता इन्द्रका छल जान पड़ा और जीवात्मारूप गौतमको उसी चौथे संबंधमें जब अपनी असमर्थता समझ पडी तो अपनी बुद्धिरूपा अहल्यामें पूर्वकृत कर्तृत्वाभिमानसे चन्द्रमासमेत इन्द्रका जार समझ पड़ा। पुनः पाँचवें संबंधमें आत्मारूप गौतमको सूर्यवत् नामके लक्ष्यसे जो ज्ञानका प्रकाश हुआ, यही कोप करना है । यथा–"**जनु कोपि दिनकर कर निकर जहँ तहँ बिधुंतुद पोहहीं।**" (लं० दो० ९१) (कोपमें ज्ञानका रूपक अ० प्र० नं० २ टि० (५) में दिखा आये) और वहीं (पाँचवें सं०) पर मनोमय जीवरूप चन्द्रमाका कामनारूप प्रकाशसे क्षीण होकर अमावसकी भाँति सूर्यवत् नामके शरण होना दिखा आये। इनके संग (प्रकाश) में रहनेसे मनके वारह नेत्र भी इस (छठे) संबंध भरमें आगे '**सबरी–गीध**' प्रसंग तकमें होंगे, क्योंकि मनके विकारवाले छः लक्षण छूटेंगे। उसमें दश इन्द्रियवृत्ति और संकल्प विकल्प यह दो मनोवृत्ति शुद्ध होनेसे (१२) नेत्रसम होंगे और वहीं (पाँचवें सं०) पर जो सब इन्द्रियोंके देवताओंके राजा इन्द्रका सब इन्द्रियोंसहित कर्म-कामना-हीन होना कहा गया। यथा–"**कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हें।**" (उ० दो० १११)

(वहाँ आत्मरूप देखना कहा गया, जैसे आत्मारूप गौतमके देखनेसे उनके कोपसे इन्द्रके भग हुए थे) वहाँ इन्द्रियदेवोंकी अनेकों कर्म कामनाओंका खाली होना कर्मविषयी इन्द्रमें छिद्र हुए। इन्हें भी इसी संबंधमें आगे पंचवटीके लक्ष्यमें जो श्रीरामजीकी सर्वेन्द्रिय प्रकाशकता ज्ञात होगी, तो इन्द्रियरूप छिद्रोंमें भी प्रकाशक श्रीरामरूप देख पड़ेगा तब नेत्रवत् पाकर अतीवानंद होगा। पुनः वहीं (पांचवें सं०) पर जो आत्माने देहबुद्धि छोड दिया, क्योंकि यह उसे जड़ कर्मोंमें रत होनेसे जड़रूपा निश्चय कर चुका, यही इसका कोपरूप ज्ञानसे प्रकाशरूप शाप देना है, तथा अ० प्र० नं० ५ टि० (३) में जीवात्मा श्रीरामपदरूप अंतर्यामीमें ध्याननिष्ठ हुआ। इससे अपने अणुस्वरूप सम्हालसे सायुज्यमुक्तिके अनुसार श्रीरामचरणके रजवत् हुआ, उसीका संग करनेकी चाहसे यह बुद्धि अपने जड़त्वपर ग्लानि करती हुई असमर्थ पड़ी है। यथा–" **चरन कमल रज चाहती, कृपा करहु रघुवीर॥** " (बा० दो० २१०) तब जैसे उदारतागुणसे परात्पर श्रीरामजीने अहल्याको चैतन्य किया। (इसी उदारतामें कर्कराशिके सूर्योदयका भी अभिप्राय है, पूर्वोक्त बा० दो० १९ के अर्थसे देखो) वैसे ही नाम भी उसी शक्तियुक्त अनन्तरूपसे अपनी उदारतासहित निज चरण रजवत् आत्माका संग कराके इसे (बुद्धिको) चैतन्य करते हैं॥

प्रसंग विचार।

इस संबंधसे आगेके नवें संबंध तकमें पूर्वार्द्धके नामके कर्तव्यपर विचार करते हैं, कि नामने पूर्वमें जो २ कार्य किया, वह सामर्थ्य उनमें कहाँसे रहा और इसके साथ २ जीवके भी अंतःकरणका विषयानुराग (सूक्ष्म) नाश होगा। जो २ इसका अपने निमित्त होनेमें था। इसका क्रम यों है कि इस छठे संबंधमें चौथे संबंधका, सातवेंमें तीसरे सं० का आठवेंमें दूसरेसं० का और नवें सं०में पहिले सं० का तथा ' **रामनाम नरकेसरी** ' इस अंतिम दोहेमें पाँचवें सं०का सूक्ष्मविषयानुराग निवृत्त होगा और भी आगे बहुतसे लाभ दिखावेंगे॥

(गं) ऊपर प्रसंग विचारके अनुसार यह संबंध चौथे संबंधका नामगुण प्रकाशक और जीवके अहंकारका विषयानुरागशोषक है। पुनः इस संबंधमें परस्वरूपका प्रसंग है, ऊपर टि० (२) में दिखा आये। आगे अ० प्र० नं० ६ टि० (२) में स्पष्ट करेंगे। इससे पूर्वमें अ० प्र० नं० १ टि० (२) में जो कह आये, कि सूक्ष्मविषयानुराग पररूप श्रीरामजीके देखनेसे निवृत्त होता है, उसका देखना इस चौपाईसे प्रारंभ है। यथा–पूर्व चौथे संबंध (दो० २१ चौ० १–२) में योगी अर्थात् आत्मज्ञानसाधक निष्कामकर्मयोग करनेवालेको ब्रह्मसुख अर्थात् आत्मसुख केवल नामसे प्राप्त होना कह आये थे उसका लक्ष्य यहाँ दिखाये कि, इस अहल्याचरित्रमें श्रीरामजीका जो उदारतागुण है, वही नामद्वारा वहाँ कार्य किया, क्योंकि जैसे यहाँ अहल्याको श्रीरामजीने चरणस्पर्श कराया, वैसे वहाँ पूर्व ' **रामनाम मनि दीप०** ' इस दोहेमें ' **भीतर उँजियार** ' के अर्थमें (श्रीरामपदरूप) अंतर्यामीका संयोगरूप स्पर्श है. जैसे यहाँ इन्द्रसंगका दोष छूटा वैसे वहाँ ' **बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी** '

का कार्य है, जैसे यहाँ अहल्या चैतन्य हुई वैसे वहाँ 'जागहिं' का तात्पर्य है और जैसे यहाँ इसे गौतमका संग प्राप्त हुआ, वैसे वहाँ 'ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं अनूपा' का अभिप्राय है अतः यहाँ जीवोंमें सुखदातृत्व नामका प्रकट हुआ। पुनः जो बा० दो० २१ चौ० १–२ में नाममें कर्मपुरुषार्थ कहा गया, वह यहाँके उदारता गुणका ही है, क्योंकि अहल्याके इन्द्रसंग दोषकी तरह जीवका कर्तृत्वाभिमान निष्कामकर्मसे ही छूटता है। जैसे अहल्या पूर्ववत् स्वरूप पाकर आगेके लिये सावधान हुई, वैसे ही जापककी बुद्धिका यहाँ जड़त्व दूर हुआ। इस लक्ष्यसे इसने जड़कर्मोंका संग छोड दिया, जैसे अहल्याने फिर इन्द्रकी ओर नहीं ताका वैसे अब बुद्धि कर्मवृत्ति बटोरकर आत्माकी ध्यान निष्ठामें रत होगी।

(घँ) पहिले संबंधमें जो कुमति सुमति हुई, ऊपर टि० (खँ) में दिखा आये। वह भी इसी उदारताका कार्य है, क्योंकि जो वहाँ ऋणत्रयका त्याग हुआ, वही यहाँ 'बिरंचि प्रपंच वियोगी' में तात्पर्य है, और जो वहाँ जीव विषयविलासरूप संसारसे जागा वही यहाँ उपरोक्त 'जागहिं' में जानना चाहिये और वहाँ जो बुद्धिने आत्माका पुत्रत्व लाभ किया वही उपरोक्त 'ब्रह्मसुखहिं' में हुआ जैसे वहाँ जापक नामकृपासे ही दोषसे मुक्त हुआ, वैसे यहाँ अहल्या भी। इस प्रकार इस चौपाईमें पहिले संबंधकी भी पुरुषार्थासक्ति निवृत्त हुई॥

मूल (चौ०)

रिषि हित राम सुकेतु सुताकी। सहित सेन सुत कीन्ह बिबाकी॥४॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रवि निसि नासा॥५॥

टीका—श्रीरामजीने तो विश्वामित्रऋषिके वास्ते सुकेतु यक्षकी लड़की (ताड़का) का सेना और पुत्रसमेत नाश किया॥ ४॥ परन्तु नाम दासकी दुराशाको दुःख दोषसमेत ऐसे नाश करते हैं, जैसे रातको सूर्य, (विना श्रम नाश करते हैं)॥ ५॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "ऋषिहित" का भाव यह कि ऋषिकी आज्ञासे उनके हितार्थ मारा, नहीं तो स्त्रीवध करना वीरको निषेध है। 'बिबाकी' अर्थात् निश्शेष, अर्थात् उस स्थान पर किसीको शेष न रक्खा। 'सहित दोष दुख०' के अर्थमें उपरोक्त 'सेन' का होना 'सहित' में है। यथा—सहित, अर्थात् हित जो सेना तिनके सहित, 'दुरासा' अर्थात् दुःखप्रद चाह।

(अनुसंधानार्थ)

(२) इसमें श्रीरामजीका वीर्य अर्थात् वीरता गुण है, क्योंकि थोडी अवस्थामें साधारण भी युद्ध नहीं देखे थे और खेलनेके धनुषबाणसे विकट भट राक्षसोंको मारा तो भी उदासीनता न आई और उत्साह बना रहा। यथा—"**वीर्यं चाक्षीणशक्तित्वं वर्द्धमानातिपौरुषम्। अपि सर्वदशास्वस्य रामस्याविकृतिश्च तत्॥ त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रम महावीरो धर्मवीरः सदा स्वतः॥ पंचवीराः समाख्याता राम**

एव स पंचधा। रघुवीर इति ख्यातिः सर्ववीरोपलक्षणः॥ " (श्रीभगवद्गुणदर्पणे) इस प्रसंगमें पाँचों वीरता प्रत्यक्ष हैं। यथा-प्रसन्नतापूर्वक माता पिता त्यागनेमें '**त्याग वीरता**' है और खलोंसे पीड़ित ऋषिरक्षामें '**दयावीरता**' है, तथा केवल अग्निबाणसे सुबाहुको मारे उसमें '**बाण विद्यावीरता**' है। पुनः उत्साहभरे युद्धमें '**पराक्रमवीरता**' है और पिताकी आज्ञा, गुरुका हित तथा यज्ञरक्षादि करनेमें प्रसन्न रहे तो '**धर्मवीरता**' है वही [वीर्यगुण पूर्वोक्त रीतिसे नामद्वारा अनन्त हुआ ॥

(३) ऊपरकी चौपाईकी तरह इन दो चौ० का भी अभिप्राय पूर्वोक्त चौथे संबंध (बा० दो० २१ चौ० ३) के ज्ञानपुरुषार्थ तथा जिज्ञासुभक्तके प्रति भये हुए नामके गुणका प्रकाशक और दूसरे संबंधका विषयानुरागशोषक है। यथा—चौथे सं० की '**जाना चहहिं गूढ़-गति०**' इस चौपाईमें व्यापककी गूढगति जो एक अनीहादि गुणोंका व्यवहार है, उसका जानना ज्ञान पुरुषार्थ दिखा आये, उन्हीं नवों गुणोंका जानना दूसरे संबंध भरमें हुआ। अब यहाँ जाना गया कि नामने वहाँका कार्य अपने इसी वीर्यगुणसे किया है, जो कि रूपद्वारा इस विश्वामित्रप्रसंगमें प्रकट हुआ हैं, क्योंकि जैसे वहाँ जापक '**बरनत बरन प्रीति ०**' में व्यापककी अपने विषे प्रीति जानकर नव संबंधोंसहित शेषत्वका अनुसंधान करता रहा, वैसे ही यहाँ विश्वामित्रकी याग भी है। यथा—"**पद राग याग चहौं कौसिक ज्यों कियो हौं। कलिमल खल देखि भारी भीति भियो हौं॥**" (वि० १८२) इसमें '**पदराग-याग**' का अर्थ यह है, कि चरणमें व्यापक स्वरूप ऊपर चौ०में दिखा आये, उसमें राग अर्थात् प्रीतिकी यज्ञ अर्थात् उपरोक्त नव प्रकारका शेषत्व विचार जो दूसरे संबंधमें कह आये। अर्थात् उस (दूसरे) संबंधमें जापक कौशिकसम जिज्ञासु रहा। जैसे ताड़का आदिसे उनका पुरुषार्थ कुछ न चला। वैसे वहाँ जापकको भी जो इन्द्रिय, अंतःकरणसे विषयोंकी ईहा (चाह) थी, वही दुराशा जापकदासको ताडकासम दुःखद थी और बहुत दिनकी चेष्टाओंके संसर्गसे जो इन्द्रियादिमें दोष (कुटेंव) पड गया था तिनमें प्रधान मनका दूषित-रूप मारीचसम था और दोषका फल दुःख होता है, वैसे दूषित मनकी अनेकों संकल्पें सुबाहु-सम थीं जैसे श्रीरामजीने प्रथमही ताडकाको मारा, वैसेही नामनेभी प्रथमही "**बरषा रितु रघु ०**" में सद्गुरुशरण कराय दासकी दुराशा दूर किया। पुनः जैसे मुनिने हृदयसे पहिचानकर श्रीरामजीको विद्या तथा आयुध समर्पण किया। वैसेही वहाँ नामको "**रामलषन सम प्रिय तुलसीके।**" में जापकने भी निज नाथ जाना फिर "**ब्रह्मजीवसम ०**" में श्री-रामजीको क्षुधापिपासारहित और विद्याके निधि जाना, कि जिसे वेदभी न दिखा सके उसे व्यापकरूपसे श्रीरामजीने दिखाया तो यह अपनी अल्पविद्यादि उन्हें ही दे दिया और नवों प्रकारसे रक्षक जानकर अन्योपायरूप आयुध भी नामको दिया। पुनः '**नर-नारायन ०**' में जहाँ अग्नितत्त्वकी शुद्धिका प्रकरण है, वहीं यज्ञकुंड हुआ, तहाँ जापक भी शेष-शषीसंबंध विचारसहित रटनरूप उपरोक्त यज्ञ करने लगा, क्योंकि उसमें आत्मचिंतवन प्रारंभ हुआ पुनः

' **जीह जसोमति** ० ' तक जानना चाहिये। वहाँ जैसे दोनों तरफसे श्रीरामलक्ष्मण पहरा देते रहे, वैसे इस यज्ञमें भी, श्रीरामरूप ' रा ' से शेषी भर्ता ज्ञेयादि लक्ष्य एक तरफसे रक्षक था, दूसरी तरफ जीवस्वरूपप्रकाशक लक्ष्मणरूप ' म ' से शेष भार्या ज्ञातृ आदि लक्ष्य रक्षक था, तव इन्द्रियोंका दोषरूप मारीच दूर हुआ और दुःखद-संकल्प-समूहरूप सुबाहुका आत्मविचाररूप अग्निवाणसे नाश हुआ, अर्थात् मनकी कुटेंव छूटकर ज्ञानाग्निसे संकल्पें भस्म हुईं और जो वहाँ जापकमें " **एक अनीहादि** ० " के लक्ष्यसे अनेकों विषयोंकी चेष्टा नाश हुईं, वे मकारार्थमें अपना रूप विचारनेसे हुईं, तो श्रीलक्ष्मणजीके पुरुषार्थमें गिनी गईं। अत एव चौथे संवंधके जिज्ञासुभक्तप्रसंगमें नामका यही शौर्यगुण रहा और दूसरे संवंधका भी पुरुषार्थ नामके इसी गुणका है, अतः वहाँका इन्द्रियाभिमानरूप विषयानुराग निवृत्त हुआ और वुद्धि नामहीको ज्ञानकारक जानकर भविष्यके लिये इन्द्रियवृत्ति वटोरकर आत्माकी ध्याननिष्ठामें तत्पर हुई॥

मूल (चौ०)

भंजेउ राम आप भवचापू। भवभयभंजन नाम प्रतापू॥ ६॥

टीका–श्रीरामजीने तो स्वयं शिवजीके धनुषको तोडा और नामका प्रतापही जन्ममरणके भयको नाश कर देता है॥ ६॥

टिप्पणी (अनुसंधानार्थ)

(१) यहाँ जो पिनाक धनुष तोडनेमें श्रम न आई और क्षण भरमें ही तोड डाला, इससे वल गुण है। यथा–" **तव भुजवल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु विघटन परिपाटी॥** " (वा० दो० २३८) वल यथा–" **यस्यामस्य च गुर्व्यान्तु खेदाभावो वलं गुणः।** " (श्रीभगवद्गुणदर्पणे) यह वलगुण सुयशमूल हुआ, क्योंकि इसीसे जनकजीका संशय मिटा पुनः पूर्वका अहल्योद्धार आदि कीर्त्ति मिलकर प्रताप गुण हुआ, यथा–" **होत जु अस्तुति दानते, कीरति कहिये ताहि। होत वाहुवलते सुयश, सज्जन कहत सराहि॥ जाकी कीरति सुयश सुनि, होत शत्रुउर ताप। जग डेरात सव आपही, कहिये ताहि प्रताप॥** " (टीका वैजनाथ) यही प्रतापगुण रूपका नामद्वारा अनन्त होकर सर्वत्र जडधनुषवत् जन्ममरणदुःखका नाश करता है। इसीसे कहा है कि " **प्रभुहूँते अधिक प्रताप प्रभु नामको।** " (क० उ० ७०) अतएव नाम रूपसे वडा है, और भी नामकी विशेषता यों है कि, रूपको जाकर हाथसे तोडना पडा और नामका प्रताप ही वह कार्य कर लाया। पुनः जैसे भवचाप श्रीरामजीसेही टूटा वैसेही भवभय भी नामसे ही नाश होता है और उपायोंसे नहीं॥

भवचापकथा।

(२) यह शिवजीका धनुष जड भया हुआ वहुत पुराना रहा। इसकी कथा श्रीमद्वाल्मी-

कीय बा० कां. ७९ सर्गके अनुसार यों है, कि एक समय शिवजीने त्रिपुरासुरसे बहुत दिन तक संग्राम किया, पर वह न मरता था और तीनोंलोक (पुर) में एक साथही संग्राम करता था इसीसे उसका त्रिपुरासुर नाम था, तब शिवजीके इसी धनुषपर विष्णुभगवान् बाणरूप हुए तो संधानकर शिवजीने उसे मारा । पीछे शैवों और वैष्णवोंमें पक्षापक्षी करके विरोध बढा । शैव कहते थे. कि जीत शिवजीकी है, क्योंकि शस्त्रीकी ही जय मानी जाती है, शस्त्रकी नहीं और वैष्णव कहते थे कि, शिवजीका सामर्थ्य तो प्रथमही जान पडा, जब न मार सके थे । मध्यस्थ श्रीनारदजी हुए, तो फिर क्या था, दोनों तरफसे इन्होंने ऐसा विरोध बढाया, कि उधरसे कोप करके गणों समेत शिवजीने चढाई किया और इधरसे अपने पार्षदोंसहित विष्णुभगवान् भी सन्मुख हुए, परस्पर घोर संग्राम हुआ । अंतमें विष्णुभगवान्ने अपना सहजप्रभाव प्रकट करते हुए हुंकार किया, तो शिवजी इस धनुषसमेत जड होगए, तब ब्रह्मादि देवताओंकी प्रार्थनासे विष्णुभगवान्ने प्रसन्न होकर शिवजीको तो चैतन्यकर दिया, परन्तु धनुष जडही रहा, पुनः शिवाराधनसे जनकजीको मिला, तबसे वे नित्य पूजते रहे । संयोगतः एक दिन माताकी आज्ञासे श्रीजानकीजी बालपनेमें ही उसके समीप चौका लगानेको गईं तो बायें हाथसे धनुष उठाकर दाहिने हाथसे चौकोर चौका लगा आईं । ऐसा जान कर जनकजीने विस्मयपूर्वक शिवजीकी प्रार्थना किया तो शिवजीने स्वप्नमें कहा, कि इसके भंग करनेका प्रण करो, तो जो इसे तोड़े, उसे ही यह कन्या विवाहि देना, इसीमें तुम्हें परात्पर ब्रह्मका पहिचान होगा और ब्रह्मके विषयका भारी संशय मिट जायगा । यथा—"**जेहि कर कमल कठोर संभुधनु भंजि जनक संशय मेट्यो ॥**" (वि० १३९) फिर श्रीरामजीने तोड़ा और उन्हींको श्रीजानकीजी व्याही गईं ॥ (इति भवचाप कथा)

भवभय प्रसंग ।

(कं) यथा—यह चौ० भी ऊपरकी तरह चौथे संबंधकी चौ० "**साधक नाम जपहिं लउ लाए । होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए ॥**" के कहे हुए भक्तिपुरुषार्थके गुणोंकी प्रकाशक है और तीसरे (शेष-शेषी) संबंधका विषयानुराग निवर्तक है जैसे—वहाँ शिवजीने संग्राम किया, वैसे इस जापकके शरीररूप ब्रह्मांडमें रूपाभिमानके आश्रय जो विषय इन्द्रिय और देवता हैं, यही तीनों लोकसम हैं । यथा—"**विषय करन सुर जीव समेता । सकल एकते एक सचेता ॥**" (बा० दो० ११६) यह तीनों प्रकृतिके गुणोंके कार्यरूप हैं, अर्थात् तमोगुणसे विषय, रजोगुणसे सत्वांशसहित कुछ तामस भी मिलकर इन्द्रियाँ और सतोगुणसे देवता होते हैं । इन तीनोंकी आसुरीसंपत्ति त्रिपुरासुरके समान है । इससे तीसरे संबंधमें जापक अपने त्रिधाऽहंकारके देवता शिवजीके बलसे चौ० ४-५-६ में संग्राम किया । वहाँ इसके तीनों गुणोंका कार्य अ० प्र० नं० ३ टि० (१) में प्रकट है, तथा वहाँ तीनों गुणोंके देवता संकर्षणादिमें नामरूप संकर्षणसे चौ० ४ में मोहादि संहारमें '**विषय**' की आसुरीस्वरूपता नाश हुई । चौ० ५ में प्रद्युम्नरूप नामको एक अनीहादि गुण उत्पत्तिकारक

दिखा कर '**इन्द्रियाभिमान**' रूप आसुरीसंपत्तिका नाश कहा गया और चौ० ६ में नामरूप अनिरुद्धद्वारा शेषत्वयोग्य स्नेहादि उपजाकर पालन करनेसे अन्यदेवादिशेषत्व निवृत्तिमें '**सत्त्वगुण**' की आसुरीसंपत्तिका नाश हुआ, यही त्रिपुरासुरके वधसम है । पुनः '**अगुन सगुन बिच नाम०**' में शिव विष्णुके संग्रामका तात्पर्य है, अर्थात् जैसे वहाँ विष्णुभगवान्के बाणसे ही असुर मरा था, तैसे ही सगुणरूप विष्णु जो षडैश्वर्यसहित वासुदेवरूपसे सब आत्मांतर प्रकाश करते हैं, वे आत्मा उनके बाण हैं और तीनों गुणमय प्रणव उनका धनुष है। यथा—श्रुतिः "**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा०**" (ऊपर अ० प्र० नं० ४ टि० (९) में कह आये) और उपरोक्त संकर्षणादिमें वासुदेवहीसे षडैश्वर्य रहता है, जिससे वे कार्य करते हैं। ऐसा बोध हुआ, कि सगुण ही अगुणरूपसे जीवोंका प्रकाशक है। अतएव तीसरे संबंधमें बाणरूप आत्मचिंतवनसे तथा संकर्षणादिरूप गुणोंसे जो उपरोक्त त्रिपुरासुरका नाश हुआ है, उसमें विष्णुकी ही शक्ति थी. जीवात्माके अहंकारकी नहीं, यही शिवजीकी हार होना है। पुनः उसी चौ० (अगुन सगुन० की टि० (२)) में जो जीवका विशेष स्नेहसहित शेषत्व दृढाना सगुणका ही सिद्ध हुआ और प्रणवरूप प्रकृतिके गुणोंका जड़त्व बोध हुआ, यही विष्णुद्वारा अहंकाररूप शिवजीके गुणरूप धनुषका जड़ होना है। भाव यह कि अहंकारके गुणोंके प्रकाशक सगुणसे अभिन्न अंतर्यामीको जानकर साधन करे तो वे गुण मोक्षसाधक होते हैं, नहीं तो निज अहंकारके गुणरूप जड़धनुषसे जीवरूप बाणोंका जड़व्यापार (योनियों) में ही लक्ष्य रहता है। पुनः जो बा० दो० २० चौ०६ के '**आवत हृदय सनेह विशेषे**' में जीव विशेषस्नेहसहित पराभक्तियुक्त शेषत्वका लाभ किया, उसमें रक्ष्य शेष भार्या आदिभावोंके ग्रहण करनेमें जो प्रकृतिके जड़त्वका तोड़ना है, उसे यह जापक अपना जानता था. वह यहाँ ज्ञात हुआ कि वह कार्य यहाँके धनुषभंग वाले नामके प्रताप गुणका है, यही बात (गुणाभिमाननिवारण) उपरोक्त '**साधक नाम जपहिं०**' में भी स्पष्ट कहा है, अर्थात् वहाँ जो जड़ प्रकृतिके गुणोंकी अणिमादि जड़सिद्धियोंका पराभक्तिके संगसे दिव्य होना है, यही पराभक्तिरूपा श्रीजानकीजीको जडधनुष उठाना है और जो भक्तिके अर्थ नामने अणिमादिका जडत्व खंडन किया, है, वह नामका गुण यहाँ-ज्ञात हुआ कि यही धनुभंगसमयका प्रताप गुण है। पुनः जैसे उस धनुषके तोडनेसे श्रीजनकजीको ज्ञात हुआ कि हमारी पुत्री इन (श्रीरामजी) की ही शक्ति है तो उन्हें ही समर्पण किया वैसे इस जापकको भी यहाँपर इस चौ० के लक्ष्यसे ज्ञात हुआ, कि तीसरे संबंधके '**आवत हृदय०**' में जो हमें पुत्रीरूपा पराभक्ति प्राप्त हुई, वह नामकी ही शक्ति है, यह जानकर उसका कर्तृत्वादि सब कार्य नाममें समझा यही इन्हें समर्पण करना है। इस प्रकार जापकका यहाँ गुणाभिमान निवृत्त हुआ, अर्थात् देवादिप्रकाशक नामको जाना । इसीसे इसका भवभय छूटा, क्योंकि यह भय गुणसंगसे ही रहता है। यथा—'**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनि जन्मसु ॥**' (गीता. अ० १३) और जीवकी बुद्धि गुणसंबंधी स्वतंत्र देवादिसे उपाय चाहनेकी वृत्ति बटोरकर आत्माकी ध्याननिष्ठामें एकरस लगी ॥

मूल (चौ०)

दंडकबन प्रभु कीन्ह सोहावन। जन मन अमित नाम किय पावन ७

टीका—प्रभुने दंडकवनको शोभायमान किया. पर नामने असंख्य दासोंके मनको पवित्र कर दिया ॥ ७ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**कीन्ह सोहावन**' अर्थात् शोभायुक्त (हरा भरा फलफूलयुक्त) कर दिया। यथा—"**जबतें राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा॥ गिरि बन नदी ताल छबि छाए। दिन दिन प्रति अति होत सोहाए॥**" (आ० दो० १९) अर्थात् प्रथम भयावन था. अब सोहावन हो गया और अनेकों जगह ग्रंथकारने इसी (सोहावन) की जगह पुनीत भी कहा है। यथा—"**दंडकवन पुनीत प्रभु करहू। उग्र साप मुनिवर कर हरहू॥**" (आ० दो० १४) '**कहि दंडकवन पावनताई।**' (उ० दो० ६९) "**दंडकपुहुमि पाँय परसि पुनीत भइ उकठे बिटप लागे फूलन फरन॥**" (वि० २९८)

दंडकवनकी कथा।

(२) यह वन पहिले राजा दंडककी राजधानीसे सुशोभित था। पीछे यहाँके पेड सब झुलस गये, प्रजाका नाश होगया और राक्षस रहने लगे, तिसका कारण ग्रंथकारने ही लिखा है कि "**उग्रसाप मुनिवर करहरहू।**" (आ० दो० १४) यह मुनिवरका शाप श्रीमद्वाल्मीकीयके अनुसार यों है कि राजा दंडकने अपने विद्यागुरु शुक्राचार्यकी कन्याका बलात् धर्मभंग किया था। उस पर शुक्राचार्यने शाप दिया, कि यहाँ जलती हुई रेत बरसैगी, वैसा ही हुआ॥

(अनुसंधानार्थ)

(३) यहाँ श्रीरामजीका दया गुण है। क्योंकि आपने विना स्वारथ जाकर अपने पतितपावन चरणोंसे स्पर्श करके पावन तथा सोहावन कर दिया। दया, यथा—"**दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न कारणम्॥**" (भगवद्गुणदर्पणे) उसी दयागुण सहित नामने अनंत रूपसे अनन्त भक्तोंके मनको दंडकवनसम पवित्र कर दिया॥

जनमन तथा दंडकवनका मिलान।

(४) यह चौ० भी ऊपरके प्रसंगोंकी तरह चौथे सं० की '**जपहिं नाम जन आरत भारी। ०**' का अभिप्रायदीपक है। तथा उसी (चौथे) संबंध भरका सूक्ष्मविषयानुरागशोषक है। यथा—चौथे संबंधकी चौ० ८ टि० (३) में गीताका अभिप्राय जानना कह आये। वहाँ दंडकराजासम मन तथा शुक्राचार्यसम भार्यास्वरूप आत्मा है, तिनकी कन्यासम आत्मबुद्धि है और वनसम इन्द्रियसमूह हैं, तथा श्रीकृष्णसम नाम हैं, क्योंकि वहाँ श्रीकृष्णकी तरह अपने अर्थसे नामने गीताका ज्ञान प्रकाश किया, जिससे अर्जुनकी तरह जीव सारासारवेत्ता हुआ, वैसा ही सारासार वेत्ता (कवि) शुक्राचार्य हैं यथा—"**कवीनामुशनाःकविः**"

(गीता. अ० १०) जैसे इस वाक्यानुसार शुक्रमें कविपनेका ऐश्वर्य (अंतर्यामी) श्रीकृष्णका है, वैसे ही भार्यारूप आत्मा शुक्रका भी कविपना भर्तारूप (समर्थप्रेरक) नामका है। अर्थात् नामार्थप्रकाशसे जो अपनी भार्यास्वरूपता जाना, यही कविपना है कि जीव स्त्रीवत् अपनेको असमर्थ जानकर पुरुषरूप समर्थ प्रभुके अनन्य होकर शरणागति रूप बाँह पकडावे, इसी बुद्धिका नाम शुक्रसुतारूप आत्मबुद्धि है ऐसी आत्मबुद्धि वहाँ **'ज्ञानी प्रभुहिं विसेषि पियारा।'** में हुई, जो उस संबंधकी फलरूपा है, वहाँ ही मनरूप दंडकराजाने **'नाम जीह-जपि जागहिं जोगी। ०'** से–**'होहिं सिद्ध अनिमादिक पाए।'** तकमें तीनों कांड वेदकी विद्या सीखा और भार्या स्वरूपतारूप शुक्रने पढाया। पुनः जो ' ज्ञानी प्रभुहिं विसेषि पियारा' प्रसंगकी आत्मबुद्धिको भी अपने पुरुषार्थ (ज्ञातृत्व) से जानना समझा, यही मनका बलात् शुक्रसुतासे भोग करना हुआ, क्योंकि वह ज्ञान तो अंतर्यामीरूप नामके ही प्रकाशसे हुआ था, मनकी ज्ञानेन्द्रियादि तथा प्राकृत बुद्धिका न था तो वहींपर (चौथे संबंधके) **'नहिं आन उपाऊ'** में जो सर्व वेदप्रकाशकता तथा काल व युग नियामकताका ज्ञान प्रबल हुआ। यही भार्यास्वरूपतारूप शुक्रका क्रोध और शाप हुआ। (क्रोध व शापमें ज्ञानप्रकाशका रूपक पूर्व अ०प्र० नं०२ टि० (९) में दिखा आये) पुनः **'सकल कामना हीनजे।०'** में इन्द्रियोंके विषय जो रजोगुणी होनेसे रज (रेत) रूप हैं, वह इस मनको जलतीरेत सम लगे और इन्द्रियाँ निष्कामतासे उकठे वृक्षों सम होगईं और विषय व्यापाररूप शोभा गई यह सब जब जीवात्मारूप शुक्रके कोपरूप ज्ञानसे हुआ तो भी प्रारब्धकर्म प्रेरित संकल्पोंसे कामना रूप जलती हुई रेतवृष्टिसे जीवआरत होकर नाम जपा तो यहीं (दंडकवनप्रसंग) के दया गुणसे नामने कुसंकट मिटाया, यह उसी दोहेके उत्तरार्द्धसे प्रत्यक्ष है, यथा– उपरोक्त जलते हुए मनको **'नाम सुप्रेम पियूष ह्रद'** प्राप्त हुआ, तब बुद्धिरूपी भूमि सोहावनि हुई और आत्मअनुभव सहित शुभकामनारूप फलफूल इन्द्रियमयमन वनमें लगने लगे। इत्यादि, इस प्रकार यहाँ स्पर्श तन्मात्राके कार्यरूप पुरुषार्थोंका विषयानुराग निवृत्त हुआ और जीव उपायवृत्ति बटोरकर आत्माकी ध्याननिष्ठामें आत्मबुद्धिद्वारा रत हुआ। यहाँ जीवांतर पुरुषार्थ प्रकाशकता नामकी प्रकट हुई ॥

मूल (चौ०)

निसिचर निकर दले रघुनन्दन। नाम सकल कलि कलुष निकंदन८॥

टीका–श्रीरामजीने तो निशिचरसमूहका नाश किया, परन्तु नाम संपूर्ण कलिके पापोंको जडसे उखाड डालते हैं॥ ८॥

टिप्पणी (अनुसंधानार्थ)

(१) यहाँ भी उपरोक्त दंडकवनका ही प्रसंग है, परन्तु ऊपर पावनकारकता कहते हुए जीवकी शरणागति दिखाये और यहाँपर पंचवटी निवासोपरांतके चरित्रका लक्ष्य है, कि जैसे चित्रकूटसे दंडकवन जानेके समय मार्गमें श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामाभिन्ना कृपामयी श्रीजानकीजीकी

ओट लिये थे। यथा-"**आगे राम अनुज पुनि पाछे। मुनिवर वेष बने अति आछे॥ उभय बीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥**" (आ० दो० ८) यहाँ मायाका अर्थ कृपाका है। यथा-"**मायादंभेकृपायाञ्च**" और कहा भी है। यथा-"**कृपारूपिणि कल्याणी रामप्रियेसि जानकी। कारुण्यपूर्णनयने कृपादृष्ट्यावलोकय॥**" इसीसे श्रीलक्ष्मजीको श्रीरामजीने निजाश्रित देखकर प्रथम वाक्यसे गीताका उपदेश किया फिर सैन दे शूर्पणखाकी नाक कान कटवाया, पुनः श्रीजानकीजीके सहित इन्हें गिरिकंदरामें भेजकर चौदहसहस्र राक्षसोंको अकेले ही क्षणभरमें मारा॥

(कं) इसमें इनका शौर्यगुण है यथा-"**सर्वस्माद्भीतिराहित्यं युद्धोत्साहश्च कीर्तये। शूरैः शौर्यमिदं चोक्तं राज्ञां स्वर्ग्यं यशस्करम्॥ एकतो राघवस्त्वेको योद्धुं यातिमतिस्थिरः। एकतो योद्धुकामा च भुवनानां चतुर्दशी॥ ० रामवध्यो न शक्यः स्यात् रक्षितुं सुरसत्तमैः। ब्रह्मरुद्रेन्द्रसंज्ञैश्च त्रैलोक्यप्रभुभिस्त्रिभिः॥**" (भगवद्गुणदर्पणे) अर्थात् सुरासुर नर नागादि तीनहूँ लोकोंके वीर एकत्र होवें, तब हूँ श्रीरामजी किंचित् भय न करें और क्षणभरमें सबको नाश करें। ऐसे वीर हैं। तथाहि-"**सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहिं समर न जीतनिहारा॥**" (अ० दो० १८८) यहाँके इस शौर्यगुणको ग्रंथकारने प्रकट भी कहा है। यथा-"**खर दूषन बिराध बध पंडित।**" (उ० दो० ५०) पंडितको शूरी भी कहते हैं, उसीसे शौर्य गुण हुआ। यहाँके चरित्रकी युद्धशूरताका तात्पर्य पांडित्यरूपमें ही है। अतः इसी शौर्यगुण सहित नाम अनंतरूपसे अनंत ठौरके जीवोंके पापरूप, जो ११ इन्द्रिय ३ अंतःकरणसहित चौदहोंकी कामनायें सहस्र २ होनेसे उन चौदह सहस्रसम हैं, नाश करते हैं। इसका रूपक काष्ठजिह्वा स्वामीने इस प्रकार कहा है। यथा-"**भाई पंचवटीके रनमें। बड़ो रंग समुझनमें॥ चाह सुपनखा सदा सोहागिनि खेलि रही मन वनमें। लषन दास ताके धरि काटे नाक कान यक छनमें॥ भाई०॥ खर है क्रोध लोभ है दूषन काम फिरै त्रिस्रनमें। कामै क्रोध लोभ मिलि दरसै तीनों एकै तनमें॥ भाई०॥** (वैराग्यप्रदीप)

नाममें पंचवटी प्रसंगका मिलान।

(२) श्रीलक्ष्मणजीके प्रति श्रीरामजीके उपदेशका प्रस्ताव जो पूर्व चौथे संबंधकी चौ० (८) के नोटमें कर आये, सो भी यहाँ दिखावेंगे। तथा ऊपरके प्रसंगानुसार यह प्रसंग चौथे संबंधके "**ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा।**" का नाम गुण प्रकाशक है और संपूर्ण 'ज्ञातृ-ज्ञेय, संबंधका विषयानुराग शोषक है यथा-ऊपर टि० (१) में श्रीलक्ष्मणजीने प्रभुकृपाकी ओट लिया, वैसे ही चौथे संबंधके निर्णयप्रसंगमें जापकने भी नामके सामर्थ्यको ओट लिया। कृपा और सामर्थ्य एक ही है। यथा '**कृपू-सामर्थ्ये**' धातु है। फिर जैसे श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीके पाँच प्रश्नोंके उत्तर देते हुए प्रथम माया कहा, (यह

सब चरित्र प्रसंग आ० दो० १९–१६ में है) वैसे नामने भी अपने चौथे संबंधमें '**नाम जीह जपि जागहिं जोगी**' के अर्थसे जापकको मायाका स्वरूप दिखाया पुनः जैसे वहाँ विराग कहा, वैसे ही '**जाना चहहिं गूढ़०**' के उपलक्षमें अ० प्र० नं० ४ टि० (९) में पूर्णरूपसे तीनगुणत्यागी विरागीका रूप दिखा आये जैसे फिर वहाँ ज्ञान कहा, कि '**लखइ ब्रह्म समान सबमाहीं ।**' वहीं नाम '**साधक नाम०**' में सब पदार्थ तथा सिद्धियोंमें भी ब्रह्मस्वरूप दिखाया । पुनः वहाँ जैसे '**माया ईस न आपु कहँ०**' में जीवकी असमर्थता और ब्रह्मको समर्थ कहा, वैसे नामने '**जपहिं नाम जन आरत०**' के अर्थसे जीवको शरण और प्रभु (आपने) को शरण्य दिखानेसे जनाया । पुनः जो श्रीलक्ष्मणजीका प्रश्न अपने '**सब तजि करौं चरन रज सेवा ।**' इस मुख्याभिप्रायका पोषक '**कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ॥**' यह था और इसके उत्तरमें श्रीरामजीके वचनोंका सार यह दोहा था, यथा— "**वचन करम मन मोरिगति, भजन करहिं निःकाम । तिन्हके हृदयकमलमहँ, करउँ सदा विश्राम ॥**" यह भी "**ज्ञानी प्रभुहिं विसेषि पियारा**" में नामने दिखाया ॥

(रौ) पुनः जैसे श्रीरामजीने सैन दिखाकर श्रीलक्ष्मणजीसे शूर्पणखकी नाक कान कटाया, वैसे ही नामने '**चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ**' से किया । प्रथम शूर्पणखाका प्रसंग दिखाकर तब तद्वत् नाममें भी दिखावेंगे । यथा—शूर्पणखा अविद्या अथवा चाहकी कारणरूपा है, (इसका चरित्र आ० दो० १८ में है) क्योंकि इसने अपने योग्य तीनों लोकमें पुरुष न पाया तो कुँवारी रही, ऐसा कहा है । अर्थात् तीनों लोकोंके जीव माया (इस) के वश रहते हैं, इसीसे अपने पुरुष होनेके योग्य समर्थको न पानेसे यह कुँवारी ही रहती है । पुनः जो समर्थ पुरुष ईश्वर श्रीरामजी हैं, तथा तदाश्रित रहनेसे श्रीलक्ष्मणजी हैं, तिन्हें देखकर इसका कुछ ही मन माना, क्योंकि उसकी समझमें ये भी माया लिये हुए अवतार लिये । यथा—"**मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ०**" (कि० मं० श्लोक) अर्थात् जो बालकिशोरादि अवस्था नरवत् आपने धारण किया । इसका उत्तर श्रीरामजीने एक ही वाक्य (**सीतहिं चितय०**) में दिया, कि तेरा तो कुछ मन माना, पर मेरा तो कुछ भी नहीं क्योंकि तू तो हम पर विकल है और हम तेरी ओर ताकते भी नहीं तथा हम तो इन माया (श्रीजानकीजी) की प्रेरणासे स्वेच्छा पूर्वक आये, कुछ तुझ मायाके वश होकर नहीं आये । माया शब्दके यह दोनों अर्थ (कृपा और दंभरूपा) ऊपर दिखा आये । पुनः जो उसने तीनों लोकोंके जीवोंके वश रखनेका घमंड किया था, उसे श्रीजानकीजीकी ओर देखकर श्रीलक्ष्मणजीको कुमार कहकर उनके पास भेजनेमें तोड़ा । इसमें यह आशय है, कि हमारी इन कृपास्वरूपिणीकी ओट बिना जो जीव हैं, उन विमुखोंको ही तूने आधीन किया है और इनकी ओट लिया हुआ हमारा छोटा भाई भी तो जीव ही है परंतु अभी तक कुमार* ही है, क्योंकि उसके योग्य सुंदरी

नोट—*यहाँ जैसी वह कुँवारी बनकर आई, उस अभिप्रायपर वैसी स्त्रीके उपलक्षमें कुमार कथन है । वह आगेके अर्थसे स्वतः स्पष्ट होजायगा ।

स्त्री नहीं मिलती, अर्थात् तेरे शब्द स्पर्शादि सब रूपोंको उसने मिलाकर देखा, तो उसके योग्य सुंदरता तथा व्याहके लिये राशि, एको न मिली । तब विना गणना मिले व्याह कैसे करे । यथा—वह नित्य है और तू अनित्य, वह अणु है तू स्थूल, वह सच्चिदानंदस्वरूप है और तू तीनों गुणमय दुःखरूपा है । अतः तुझे अति कुरूपा जानकर वह कुँवार ही है, न प्रतीति हो तो जा देख आ, तब जैसे गई तैसे लक्ष्मणजीने राक्षसी जानकर लौटाया । पुनः दो एक वार आने जानेमें निजाश्रित जीवरूप लक्ष्मणजीपर जीवोंको डसनेवाली इस सर्पिणीसे श्रीजानकीजी वात्सल्यगुणसे डरीं, क्योंकि माताको प्रियवत्सपर बलाय भेजना नहीं सुहाता । इससे स्वयं डरकर इसकी विकरालता सूचित करते हुए श्रीलक्ष्मणजीकी रक्षा चाहा, तब श्रीरामजीने सैन देकर श्रीलक्ष्मणजीको इसकी पूर्ण विकरालता बुझाया । यथा—"**वेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास । पठयो सूपनखाहिं लषनके पास ॥**" (बरवा रा०) अर्थात् चार अँगुली आकाशकी ओर उठाकर चारों वेदोंका नाम जनाया । पुनः अँगुलियोंको नवाकर खंडन करना दिखाया और शूर्पणखाको लक्ष्मणजीके पास पठाया इस सैनके अनेकाशयपर शूर्पणखाका स्वरूप दिखाते हैं ॥

(मे) यथा—(१) चार अँगुलीसे वेद इस कारण समझा गया, कि जो आकाशकी ओर दिखाया गया है, क्योंकि आकाशका कारण शब्दतन्मात्रा है और शब्दोंमें आदि वेद ही हैं, वे चार ही हैं भी, तथा आकाशकी ओर ईश्वर भी लखाया जाता है, अतः ईश्वरीय शब्द तो वेद ही है । वेदोंका नाम श्रुति भी है, तथा आकाशको नाक भी कहते हैं । इससे दो (श्रुति) कान और दो (नाक) नासिका इन चारोंके खंडनार्थ चार अँगुली उठाये (२) तथा आकाशके सूक्ष्मांशसे अंतःकरण होते हैं, वे तीन हैं और चौथा मन इन्द्रिय होते हुए भी अधिकांशमें समानता होनेसे प्रायः उन्हींमें परिगणित होता है । यथा—"**चौथि चारि परिहरहु बुद्धि मन चित्त अहंकार ।**" (वि० २०४) और आकाशके ही नाक नामसे नासिकाका विषय गंध अर्थात् वासना अर्थ लेनेसे, चारों अंतःकरणकी वासना (चाह) रूपा इसे दिखाकर खंडनसे त्यागना जनाये । (३) तथा—आकाशकी ज्ञानेन्द्रिय श्रवणसे उसका विषय शब्द सुनकर तदर्थभूत विषयोंकी कामनायें होती हैं और नाकसे जो स्वर्गादि सुखोंकी वासनायें होती हैं, इनके खंडन अर्थात् त्यागमें इस अविद्याका नाश दिखाये । यथा—"**यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति । तदा गंतासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥**" (गीता. अ० २) यहाँ मोहरूपी कीचडसे शुद्धबुद्धिवालेका श्रोतव्य अर्थात् उपरोक्त शब्दजन्य कामनायें और श्रुतस्य अर्थात् सुने हुए स्वर्गादिसुखोंकी बासना अर्थात् उपरोक्त नासाविषयसे वैराग्य होना कहा है । अतः इस तीसरी आशयसे मोहितबुद्धि (अविद्या) रूप शूर्पणखाकी कुरूपता दिखाकर दूर किया । (४) आकाशतत्त्वकी श्रवणेन्द्रिय और पृथ्वीतत्त्वकी नासिकाके सैनसे इनके मध्यकी तीनोंतत्त्वोंके भी विषयोंको त्यागना दिखाया, यही पाँचों अविद्याके अंग हैं । (५) तथा आकाश दिखाकर जनाया कि जैसे वह नीलरंग (तमरूप) है,

वैसे यह भी अज्ञान (तम) रूप ही है। (६) जैसे आकाश, देखनेसे यद्यपि नीलरंगसा दिखाता भी है, पर शून्य है। वैसे यह भी खोज करनेपर हेराय जाती है यथा—" **ज्यों कदली तरुमध्य विलोकत नहिं कछु निकसत सार।**" (वि० १९९) पुनः "**जेहि जाने जग जाइ हेराई।**" (बा० दो० १११) इसीसे श्रीलक्ष्मणजीकी दृष्टिसे वह कुरूपा होकर हेराय गई, क्योंकि फिर पता नहीं लगा। (७) तथा इसकी कार्यावस्थारूप देहव्यवहारको मिथ्या (आकाशवत्शून्य) दिखाकर त्यागना दिखाया। (८) तथा आकाश भाँति २ के नक्षत्रोंसे विचित्र है, वैसे ही यह विचित्र कार्यकारिणी होनेसे माया नामसे ख्यात है। इस प्रकार एक ही सैनमें बहुत जनाया, क्योंकि इन्हें प्रथम ही गीता उपदेश करके विद्याशक्ति दे रक्खा था, ऊपर दिखा आये।

(कं) उपरोक्त सैनकी तरह नामने भी उसी चौथे संबंधकी चौ० '**चहुँजुग०**' से वही सब आशय दिखाया है, क्योंकि '**चहुँजुग**' के अनुसार जीवोंकी वासनायें होती हैं, यथा—"**नित युगधर्म होहिं सब केरे।० से-बुध जुग धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं॥**" (उ० दो० १०३) तकमें प्रकट है इस वासनाका आधार नासिका है और उसीके नाक 'नामसे उपरोक्त आकाशका संकेत है। तथा—'**चहुँश्रुति**' से चारों वेदादि भी आ जाते हैं। तिनके वासनानुसार कर्मोंके खंडनार्थ ही '**नहिं आन उपाऊ**' कहा है जैसे वहाँ श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीकी सेवाके आधारसे उसे दूर किया है यथा—"**सुंदरि सुनु मैं उनकर दासा। पराधीन नहिं तोर सुपासा॥**" (आ० दो० १८) तैसे ही यहाँ भी केवल नामके सेवन करते हुए सबका त्याग (नहिं आन उपाऊ-में) है, चाहे वे उपाय तथा उनके फल स्वर्गादिसुख सुंदर भी क्यों न हों। यहाँ तक चौथे संबंधकी चौ० ८ के नोटकी प्रतिज्ञा पूरी हुई। इसका आशय भी चौथे संबंधके गुणप्रकाश करनेवाली ऊपरकी चौ० ७ के अंतर्गत जानना चाहिये, क्योंकि मन पावनता ही इसमें भी हुई।

(खं) अब उपरोक्त '**ज्ञानी प्रभुहिं बिसेपि पियारा**' में नामका गुण तथा '**ज्ञातृ-ज्ञेय**' संबंधका विषयानुरागशोषक प्रसंग दिखाते हैं, कि जिसका प्रसंग इस चौ० ८ के अंतर्गत है। यथा—खर दूषणके आक्रमणसे प्रथम ही श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीको श्रीजानकीजी सहित गिरिकंदरामें पठाकर अकेले चौदहों सहस्र राक्षसोंका वध किया। वैसे नामने भी अपने अर्थ प्रकाशसे जापकरूप लक्ष्मणको 'ज्ञातृ-ज्ञेय' संबंधकी चौ० '**नाम निरूपन०**' में निजार्थ-विचार (जो सब सद्ग्रंथोंके सिद्धान्तयुक्त है) रूप कंदरामें निज कृपाशक्ति किंवा तदाश्रित विद्याशक्तिरूपा जानकीजीके संगमें बैठा दिया। कंदरा यथा—'**सद्ग्रंथ पर्वत कंदरन्हि महँ जाय तेहि अवसर दुरे।**' (बा० दो० ८३) तात्पर्य यह कि सद्ग्रंथोंमें भी भगवच्छक्तिसे ही चैतन्यता विचारादि गुण रहते हैं। अन्यथा वे भी तो जड़ ही हैं, क्योंकि कहा भी है, यथा—'**शास्त्रयोनित्वात्**' (ब्रह्मसूत्र ३) अर्थात् अनेकों विद्याके स्थानभूत और सर्वप्रकाशक जो महान्ऋगादि वेद हैं, तिनका योनि अर्थात् कारण ब्रह्म है, भाव विना भगवत्सत्ताके

वेदशास्त्रादि सब जड गिरिकंदरासम हैं । अतः वहाँ जो नामार्थ विचार शास्त्रबलसे जीवद्वारा हुआ था, वह भी नामहींका प्रकाश है। पुनः जैसे खरादि चौदहों सहस्रको श्रीरामजीने ही अपने शौर्यगुणसे ऐसा मारा, कि वे परस्पर रामरूप देखकर राम राम कहते हुए शरीर छोड छोड़ कर नित्यधाममें प्राप्त हुए, वैसे ही जापकके हृदयमें जो कालरूप खर कर्मरूप दूषण और गुणरूप त्रिशिरा प्रेरित ११ इन्द्रिय और ३ अंतःकरण सहित्त चौदहोंद्वारा सहस्र सहस्र संकल्पें फुरते रहें, तिन्हें वहीं (' **नाम निरू०** ') पर नामने अकेले नाश किया है, वह यही शौर्यगुण है, जो कि यहाँ खर दूषण प्रसंगसे ख्यात हुआ है, क्योंकि वहाँ भी यहाँकी तरह ब्रह्मरूप सूर्यने चन्द्रमारूप जीवको अस्ताचलरूप कंदरामें रक्खा था. जैसे यहाँ श्रीरामजीको सबोंने घेरा, यथा-" **यथा बिलोकि अकेल, बाल रविहिं घेरत दनुज ।** " (आ० दो० २०) वैसे ही इस दृष्टान्तमें ही प्रकट है, कि परिवाको सूर्योदयके पीछे पीछे १ घडीमें चन्द्रमा उदय होते हैं। तहाँ उदयकालमें सूर्यको भी दनुजसमूह घेरते हैं । पुनः श्रीरामजीकी तरह क्षणभरमें सूर्य भी दनुजोंका नाश करते हैं फिर यहाँ जैसे श्रीलक्ष्मणजी आ मिले, वैसे वहाँ चन्द्रमा भी उदय होते हैं

(**गै**) **प्रश्न**-वहाँ (ज्ञातृ-ज्ञेय सं०में) तो संकल्पोंका रामरूप होना प्रकट नहीं है और काल कर्म गुणादि भी देखनेमें नहीं आये, वह कहाँ हैं ? **उत्तर**-वहाँकी चौ० ८ में '**व्यापक**' के लक्ष्यमें यहाँकी तरह इन्द्रियादि चौदहोंकी संकल्पोंका ब्रह्मके एक अनीहादि गुणोंमें लक्ष्य करके तद्रूप होना कहा है, पुनः वहाँ भी संकल्पोंका स्वरूप ' **नाम जतन** ' में राम राम कहते २ ही नाश हुआ है और वहाँ जो षड्विकार शुद्धि दिखा आये, तिनमें खररूप काल जो अग्निका अंश है. उससे क्रोध, कर्मसे फलविकाररूपमें लोभ, गुणसे तीनों गुणमई कामनाओंसे काम होता है, ऐसे ही ऊपर टि० (१) में प्रमाण भी है और शेष मोह मत्सर और मद क्रमशः उन्हीं क्रोध, लोभ और कामसे होते हैं, अतएव पाँचवें संबंधका समग्र ' कलिकलुषनिकंदन ' कार्य इसी शौर्यगुणसे नामद्वारा हुआ और इसी पाँचवें संबंधका कारणरूप उपरोक्त ' **ज्ञानी प्रभुहिं०** ' का प्रसंग है, पाँचवें सं०के निर्णयमें दिखा आये । इससे वहाँ भी जापकमें निष्काम ज्ञानीकी अवस्थाका ज्ञान करानेवाला यही शौर्यगुण है, काल कर्म गुणसे स्वभाव होता है, अतः यहाँ स्वभावकी शुद्धि हुई । इससे बुद्धि यहाँ सर्व प्रकाशक नामको जानकर और स्वभावदोषसे भी निर्मुक्त होकर निश्चित एकरस आत्माकी ध्यान निष्ठामें रत हुई और पाँचवें संबंधका शब्दतन्मात्रासंबंधी विषयानुराग निवृत्त हुआ ॥

संबंध सारांश ।

इस शरीर-शरीरी संबंधमें "**विषय करन सुर जीव समेता। सकल एकते एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ॥** " (बा० दो० ११६) का भी तात्पर्य आया क्योंकि पूर्व अहल्या प्रसंगमें श्रीरामरूपसम नामकी विषयप्रकाशकता, विश्वामित्रके लक्ष्यमें ' करन ' अर्थात् इन्द्रियप्रकाशकता, धनुभंगलक्ष्यमें सुरप्रकाशकता, दंडक-

वनप्रसंगमें जीवप्रकाशकता और पंचवटी प्रसंगमें नामकी अकेले ही सर्वप्रकाशकता सिद्ध हुई और संबंद्धोधारानुसार स्वादरूप चारोंपुरुषार्थ यहाँके अहल्यासे दंडकवन तकके लक्ष्यमें नामके ही दिखाये गये और संतोषरूप मकारका कार्य भी पंचवटी प्रसंगमें नामका ही सिद्ध हुआ, अतएव जापककी बुद्धिसे स्वाद और चित्तसे संतोषकारकताकी आसक्ति निवृत्त हुई। पूर्व बा० दो० २० चौ० ६ में जो नामका '**अनिरुद्ध**' स्वरूप कहा गया था। वही यहाँ साक्षात्कार हुआ, क्योंकि अनिरुद्धकी तरह यहाँ नामका भी '**तेज**' ऐश्वर्यरूप सिद्ध हुआ. उपरोक्त संबंध भरकी प्रकाशकतासे जानना चाहिये और उनका जो '**शक्ति**' ऐश्वर्यसे पालनकार्य है। वह भी यहाँ स्वाद संतोषसहित पालनमें हुआ और चौथे संबंधके सारांशकी तरह यहाँके भी इन दो ऐश्वर्योंसे जापकके दो विकार प्रधानतया नाश हुए यथा–शक्तिसे पालन होते हुए जाननेसे '**काम**' (कामना) विकार तथा तेजकी प्रकाशकता जाननेसे विद्यादि '**मद**' विकार छूटा और पूर्वोक्त चतुर्थावरणके स्वभाव ग्रहण किये हुए मनकी वैकारिक अवस्थासे जो चित्तमें मलीनता हुई थी. वह भी इस संबंधमें शुद्ध हुई। चित्तका शुद्धस्वरूप यथा–"**योगो विरागः स्मरणं ज्ञानं विज्ञानमेव च । उच्चाटनं तथा ज्ञेयं चित्तस्यांशानि पट् यथा ॥**" तथा मनोविकार–"**कर्माकर्मविकर्मादावनियमेन वर्तते । संकल्पश्च विकल्पश्च मनसो वहुशो यथा ॥**" (जिज्ञासापंचके) अर्थात् चित्तके अंश स्पष्ट हैं, तथा कर्म और अकर्म अर्थात् ज्ञान पुनः विकर्म अर्थात् विशेषकर्मरूपाभक्ति, आदिमें अनियम अर्थात् विपरीत करना. अर्थात् इनमें पुरुषार्थाभिमान करना, जो कि शरणागतिके विरुद्ध दोष है, ऐसा वर्तना पुनः संकल्प करना और विकल्प अर्थात् घृणा करना यह छः मनके अंश हैं। इनमेंसे प्रथमके पाँच पंचविषयोंके संबंधसे विकाररूपसे चित्तके प्रथमके पाँच अंशोंको मलीन करते हैं और छठें २ अंश दोनोंके शुद्धस्वरूपप्रयुक्त हैं इनमेंसे इस संबंधके अहल्याके लक्ष्यमें मनका '**कर्माभिमान**' दूर हुआ तो चित्तका '**योग**' अंश स्वतंत्र हुआ, क्योंकि यह प्रसंग चौथे संबंधके '**योगी**' का प्रकाशक है, यहाँ जापकके स्वस्वरूपप्रयुक्त छवोंगुण जो पूर्वोक्त '**नाम निरूपन**' प्रसंगमें निर्गुणके लक्ष्यमें कह आये थे, तिनमेंसे गौतमके लक्ष्यमें '**ज्ञानानंदस्वरूपता**' प्रकट हुई। तथा विश्वामित्रके लक्ष्यमें '**ज्ञानाभिमान**' निवृत्ति होनेसे चित्तका '**वैराग्यांश**' भी शुद्ध हुआ, क्योंकि चौथे संबंधके जिज्ञासुकी विरागमय अवस्था यहींके गुणसे कही गई। यहाँ जापककी '**ज्ञानानंदगुणकता**' प्रकट हुई, क्योंकि विद्यानिधिब्रह्मका शरीर अपनेको जाना। पुनः धनुभंग लक्ष्यमें '**भक्तिपुरुषार्थाभिमान**' की निवृत्तिसे चित्तका '**स्मरणांश**' स्वतंत्र हुआ, क्योंकि मान मदादि इसमें कंटक हैं। यहाँ जापककी '**अणुस्वरूपता**' प्रकट हुई, क्योंकि गुणोंसहित होनेकी स्थूलता गई तथा दंडकवनके लक्ष्यसे मनका '**अनियम**' छूटा क्योंकि उसमें शुद्धशरणागतिप्रापक गुण प्रकट हुआ इससे चित्तका '**ज्ञानांश**' शुद्ध हुआ, क्योंकि सर्वभावसे शरण होनाही शुद्ध ज्ञान है। यथा–"**तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसा-**

दात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ॥" (गीता. अ० १८) यहाँ जापककी '**देहादिविलक्षणता**' प्रकट हुई, क्योंकि ज्ञानांश शुद्ध हुआ तो देहधर्म कहाँ ? पुनः पंचवटीप्रसंगमें '**संकल्प**' विकार निर्मूल हुआ, तो चित्तका '**विज्ञानांश**' स्वतंत्र हुआ, क्योंकि प्रकृतिवियुक्त आत्माके ज्ञानको विज्ञान कहते हैं, वह प्राकृत संकल्पपर्यंत त्यागमें हुआ और प्रकृतिसे अलग इसको सर्व प्रकारसे प्रकाशक अपना अंतरात्मा (अंतर्यामी) ज्ञात हुआ, तो यह प्रकृतिसे भिन्न अपनी स्थिति पाया। यहाँ जापककी '**स्वयंप्रकाशकता**' प्रकट हुई, क्योंकि निजांतर्यामीकाही संपूर्ण प्रकाश बोध हुआ, इस प्रकार यहाँ इन दोनों (मन—चित्त) की विकारशुद्धि हुई शेष एक २ शुद्ध अंश आगे शवरीगीधप्रसंगमें दिखावेंगे और वहाँही इसकी छठवीं '**नित्यरूपता**' भी प्रकट होगी। इस प्रकार यह संबंध जीवस्वरूपप्रकाशक है और इस संबंधकी चौ० ३ के गंधविषयसे चौ० ८ के शब्दविषय तकके सूक्ष्मविषयानुराग शुद्ध होनेमें '**तामसअहंकार**' शुद्ध हुआ, क्योंकि इसीसे शब्दादि विषयोंका होना पूर्व चौथे आवरणमें कह आये थे। पुनः उपरोक्त चित्तकी शुद्धिमें '**सात्त्विकअहंकार**' की और मनकी शुद्धिमें '**राजसाहं**' की शुद्धि हुई। अतएव जापक यहाँ पूर्वोक्त "**त्रिधाऽहंकारके चौथे आवरण**" से मुक्त हुआ और उसमें ही आनेसे जो इसका पूर्वका '**अपिपास**' गुण नाश हुआ था, उसकी प्राप्तिका भरोसा हुआ और अभी इस गुणके कुछ सूक्ष्म अंशका साधन इस अहंकारके कारण रूप महत्तत्त्वके आवरणसे मुक्त होनेमेंभी होगा, तव पूर्णता होगी ॥

अथ अखिलप्रकरण नं ६

टिप्पणी (तात्पर्यार्थ)

अथ जापकके हृदयरूप गर्भमें नामकी अवस्था और अवतारका प्रसंग।

(१) इसके पूर्वके अ० प्र० नं ९ में इनका पाँचवें आवरणमें आना तथा 'अविजिघत्सा' गुण प्रकाश करके अपने शरीररूप जीवके लिये दिव्य कर्मकामना करना कह आये, पुनः जैसे छठे आवरणमें जीव स्पर्शतन्मात्राको ग्रहण करनेसे पिंड़रूप शरीरमें त्वचा धारण करता है, वैसे इन्होंने पंचवटीप्रसंगमें अपनी सर्वप्रकाशकता दिखानेमें तेजमय त्वचा किया, पुनः जैसे जीवके शरीरमें प्राणोंका प्रवेश होता है, तो कर्मेन्द्रियहस्तसे कर्मोंकी चेष्टा होती है वैसे इन्होंनेभी अपने शरीररूप जीवोंके समस्त पुरुषार्थरूप कर्मोंकी चेष्टा किया, अर्थात् अपनाही करना दिखाया और इस आवरणमें आनेसे परवश जीवोंका शोक मूल कर्मोंकी इच्छासे विशोक गुण नाश होता है, परंतु इनका तो जन्म कर्म दिव्य है, इससे अपने शरीररूप जीवोंको अहंकारसे विशोक करनेमें यह '**विशोक**' गुण प्रकाश हुआ ॥

अथ नामरूप ईश्वरकी द्वितीय भावानुसार पंचधास्थिति।

(२) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (वं) के क्रमानुसार यहाँ 'पर' स्वरूपका प्रसंग है, वह इस संबंधकी चौ० ३ में प्रकट हुआ और अंतके पंचवटीप्रसंगकी सर्वप्रकाशकता तक वही प्रकरण निर्वाह हुआ, क्योंकि जो सबका परम प्रकाशक हो वही पर है और पूर्व चौथे संबंधमें जो पर (विराट्) रूप नामका कार्य दिखा आये थे, वहींके गुणोंका यहाँ प्रकाश हुआ। अतः वह भी इन्हींका रूप है, यहाँ सौलभ्यतागुणते नाम पर (श्रीरामजी) से भी बड़े देख पड़े॥

अथ नामांतर दशअवतारोंके साक्षात्का प्रसंग।

(३) संबंधोद्धारके क्रमसे यहाँ 'परशुराम' अवतारके साक्षात्कारका प्रसंग है। इसके उपलक्षमें जो बा० दो० १९ चौ० ७ टि० (४) में लक्ष्यरूपमें कह आये, वही सब यहाँ साक्षात्कार हुआ, अतः वहाँसे पढ़ कर यहाँ विचारना चाहिये॥

अथ नामांतर भक्तिरसप्रकरण।

(४) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (४) के क्रमानुसार यहाँ 'दास्य' रसकी गुणप्रकाशकता तथा सिद्धावस्थाका प्रसंग है। यह संबंध पूर्वोक्त चौथे संबंधका फलरूप है। अतः वहाँके अ० प्र० नं० ४ टि० (४) के दास्यांगमें जो स्वामीको ही उपायरूप जानना तथा फलेच्छात्यागादि कहे थे, वही, यहाँ चौ० ३ से ८ तकमें सर्वोपायरूप नाम ही प्रकट हुए और जीवके पाँचोंविषयोंके विषयानुराग त्यागमें फलेच्छाकाभी त्याग हुआ और मनोविकारसे चित्त शुद्ध हुआ, तब इस चित्तका देवता जीव प्रकृतिवियुक्त होकर अपने परमप्रकाशक अंतर्यामीका दास हुआ। (संबंधसारांशमें भी लिख आये) पुनः आगे तटस्थ दोहेमें भी दिखावेंगे॥

अथ नामांतर पंचसंस्कार प्रकरण।

(५) इसके साधनरूप अ० प्र० नं० ४ टि० (५) में प्रथम जो 'मुद्रा' संस्कारके अंतर्गत केवल धनुषबाण धारणमें धनुषको सर्वोपायरूप कहा था, वह यहाँ अहल्यादि चार प्रसंगोंमें नाम ही सर्वोपाय होकर धनुषरूप हुए और आत्माकी बाणस्वरूपता भी पंचवटी प्रसंगमें प्रकट हुई, क्योंकि यहाँ इसके परमप्रकाशक नाम ही सिद्ध हुए। यही अपनेको उनके हाथका बाण समझनेका तात्पर्य है। पुनः वहाँके पंचमुद्राके प्रकरणमें पाँचों विषयोंके शोधक पाँचों मुद्राओंको जिस क्रमसे जिस २ चौ० में दिखाया था, उन्हीं २ की गुणप्रकाशकता तथा फलस्वरूपता यहाँ ज्योंकी त्यों है। इससे उन पाँचोंमुद्राओंके धारण करनेकी सिद्धावस्था यहाँ विचार लेना चाहिये॥

अथ नामांतर भक्तिप्रकरण।

(६) पूर्व अ० प्र० नं० ५ तकमें नवधाभक्तिका प्रसंग संपूर्ण दिखा आये अब यहाँ '**प्रेमा**' भक्तिकी साधनावस्थाकी दशा आना दिखावेंगे। प्रेमाभक्ति यथा—"**अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥ सा त्वस्मिन्परमप्रेमरूपा ॥ २ ॥ अमृतस्वरूपा**

च ॥ ३ ॥ यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति ॥ ४ ॥ यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति ॥ ५ ॥ यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति ॥ ६ ॥ " (नारदभक्तिसूत्र) इसका समग्र आशय इस संबंधमें आया। यथा—दूसरे सूत्रका आशय '**नाम सप्रेम जपत०**' में कहा है, तथा सूत्र (३) की अमृतस्वरूपता इसके संबंधोद्धारसे प्रकट है, क्योंकि वहाँके '**सुगति सुधाके**' के साक्षात्कारका यह प्रसंग ही है और सूत्र (४) का सिद्ध होना (आत्मा की ध्याननिष्ठा) अहल्याप्रकरणमें हुआ, तथा सूत्र (५) का अभिप्राय धनुभंगके लक्ष्यकी पराभक्तिमें आया, क्योंकि उसकी यही दशा है। यथा—"**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥**" (गीता. अ० १८) और सूत्र (६) की '**मत्त स्तब्धादि**' दशा आगे तटस्थ शवरीजीके लक्ष्यमें प्रकट होगी। तथा—'**आत्माराम**' होना पंचवटी प्रसंगमें हुआ। पुनः "**रघुपति भगति करत कठिनाई। ० ज्यों सर्करा मिले सिकतामहँ बलतें न कोउ बिलगावै। अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनुप्रयास ही पावै ॥ ०**" (वि० १६८) इसका पहिला चरण (**जो जेहि कला०**) अ० प्र० नं० १ टि० (६) में नवधाभक्तिस्वरूपमें कह आये और यह प्रेमाका प्रकाशक है। अर्थ—जैसे शक्कर रेता (बालू) में मिल जाय, तो जो कोई बल करके बिलगाया चाहे तो नहीं बिलगा सकता, पर अतिरसज्ञ चींटी बेप्रयास ही अलगा लेती है, अर्थात् श्रीरामजीके उदारता वीरता प्रताप दया शौर्यादिगुण शक्करसम हैं, प्राकृत-लीलारूप बालूमें मिले हुए हैं। तिन्हें चींटीसम (निराभिमानी) होकर रसज्ञता (चुन २ कर स्वादसहित पाना) 'प्रेमा' भक्ति है। वह यहाँके प्रसंग भरमें है, यथा—यहाँके पाँचों प्रसंगोंमें निरभिमानतासहित प्रेमरूप स्वादयुक्तरूप और नामके गुणोंका चुनना दिखा आये। अतएव प्रेमाभक्ति भी अपने साधनांगसे आई ॥

अथ नामान्तर ज्ञानप्रकरण।

(७) ज्ञानकी छठवीं भूमिका पूर्णरूपसे आगेके अ० प्र० नं० ७ टि० (७) में कहेंगे ॥

अथ नामांतर भगवत्साधर्म्य प्राप्ति।

(८) भगवत्साधर्म्यके एक अनीहादि नवगुणोंमेंसे संबंधोद्धारके अनुसार यहाँ 'सत्' (एकरस हृदयका रहना) का प्रसंग है। वह यथा—यहाँ पर स्वादराहित्यमें अपने कार्यरूप अहंकारसहित बुद्धिकी चंचलता मिटी और मनोविकारशुद्धिसे चित्त शांत हुआ। (संबंधोद्धार और सं० सारांशसे मिलाकर विचारना चाहिये) इस प्रकार यहाँ मनसहित तीनों अंतःकरणकी स्थिरतासे हृदय एकरस आत्माकी ध्याननिष्ठामें रत है ॥

इति श्रीरामवल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्तशरणकृत श्रीमन्मानसनामवंदनायाः तत्त्वार्थसुमिरनीटीकायां षष्ठमणिकार्थवर्णने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इति षष्ठमणिकार्थ समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः।

अथ श्रीमन्मानसनामवंदनाका सातवाँ दोहा ।

मूल।

सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्ह रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, वेद विदित गुन गाथ ॥ २४ ॥

टीका—श्रीरघुनाथजीने तो शवरी और गीध (जटायु) सुंदर सेवकोंको शुभगति दी, पर नामने अनगणित खलोंका उद्धार किया, उन गुणोंकी कथा वेदोंमें प्रसिद्ध है ॥ २४ ॥

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) 'सवरी सुगति' यथा—"जोगिवृन्द दुर्लभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई ॥० तजि जोग पावक देह हरि पद लीन भइ जहँ नहिं फिरे॥० जाति हीन अघ जन्म महि, मुकुति कीन्हि असि नारि ॥ "(आ० दो० ३८–३९) 'गीध–सुगति 'यथा—"गीध देह तजि धरि हरि रूपा। भूषन बहु पटपीत अनूपा ॥ स्यामगात बिसाल भुज चारी। ० दो०—अविरल भगति माँगि वर, गीध गयउ हरिधाम। तेहिकी क्रिया यथोचित, निजकर कीन्हीं राम ॥ ० गीध अधम खल आमिष भोगी। गति दीन्हीं जो जाँचत जोगी॥ " (आ० दो० ३४–३९) ' नाम उधारे अमित खल ' यथा—" पाई न केहि गति पतित पावन राम भजु सुनु सठ मना। गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खल तारे घना ॥ आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे । कहि नाम वारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते ॥ " (उ० दो० १३०)

श्रीशवरीजीकी कथा।

(२) श्रीशवरीजी मतंगऋषिकी चेली थीं। इनकी कथा श्रीनाभाजीके भक्तमालमें श्रीप्रियादासकी टीकाके ३१ से ३७ वें कवित्तमें वर्णन की गई है यहाँ सूक्ष्म लिखता हूँ, कि ये जंगली कोलोंकी शवरजातिमें जन्म पाईं, इनके माता पिता इनके विवाहार्थ बहुत पक्षियोंको बझा २ कर रखते थे तो ये दयावश चुपकेसे कोठीका ढँपना खोलकर किसी समय उडा देती थीं, जानते ही माँ बाप मारने दौडे, तव ये जाकर श्रीमतंगऋषिकी शरणमें वचीं और उनके ही अवलंबसे समीपमें रहने लगी, हरिकृपासे उनकी चेली भी हुईं। मतंगऋषि परधाम पधारते समय कह गये, कि तुम नित्य फल मूलादि ला २ कर रखना, कभी तुम्हारी इस कुटिया पर श्रीरामलक्ष्मण आवेंगे तो उनका सत्कारकर कृतार्थ होगी । तबसे ये नित्य ही प्रातःकाल आश्रम लीपके जल रखकर फल चुननेको जातीं और बेरादि फल चुन

चुन कर लाती थीं । पुनः समस्तदिन प्रेमभरी उचक २ कर ताका करती थीं । ऐसे ही इन्हें दशसहस्र वर्ष बीत गये, तब प्रभु दोनों भाई आये, देखते ही इनके सर्वाङ्गमें प्रीति छा गई और देह तककी भी सम्हाल न रही । यथा-“**प्रीति होय सर्वाङ्ग उर, दृष्टि अधीन सदेह ॥**” तब अत्यन्त वात्सल्यसे फलोंके खट्टे वा कडे होनेके भ्रमसे मुंह * में धर २ कर घुला २ के पका जान कर पानेको देनेलगीं, क्योंकि अतिवृद्धापनेसे दाँत नहीं थे. इससे मसकुरसे दाव २ कर कोमल कर २ के सरस कह २ कर देती थीं, तो प्रभु प्रेमसहित पा २ कर अति संतुष्ट हुए । यथा-“ **कंद मूल फल सुरस अति, दिए राम कहँ आनि । प्रेमसहित प्रभु खाए, बारम्बार बखानि ॥** ” (आ० दो० ३७) तथा महर्षि वाल्मीकिजीने तो आश्चर्य ही लिखा है । कि ‘ **शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः ।** ’ (मूल रा०) तथा प्रभुने भी इनके पूजाकी सर्वत्र प्रशंसा किया है । यथा-“**घर गुरुगृह प्रिय सदन सासुरे जब जहँ भइ पहुनाई । तब तहँ कहे सबरीके फलनकी रुचि माधुरी न पाई ।**” (वि० १६५) पुनः स्तुतिकी और टि० (१) के अनुसार सुगति पाई इस तरह इनकी सुंदर सेवकाई है ॥

श्रीगीधराज जटायुजीकी कथा ।

(३) श्रीजटायुजी अपने भाई संपातिसहित तरुणाईके मदसे आकाशमें उडकर सूर्यके निकट गये तब ये तो तेज न सह सकने पर लौट आये, पर संपाति चलाही गया और पंख जल जानेसे गिरा, तब चन्द्रमा मुनिके उपदेशानुसार श्रीरामदूत वानरोंके दर्शनसे पुनीत हुआ, तथा पंख जमें और जटायुजी लौटकर इस दंडकवनमें ही रहते थे । एक समय श्रीदशरथजीने श्रीवशिष्ठजीसे वर्षफल सुना, कि इस वर्षमें शनैश्चर रोहिणीकी दशाको वेधकर निकल ज़ायँगे, इसीसे बारह वर्ष पृथ्वी पर अवर्षण (अकाल) पड़ेगा, सुनकर चक्रवर्तीजीके हृदयमें प्रजापर वात्सल्यप्रीति उमँगी और आपने चुपके अकेले ही अपने रथपर चढकर आकाशमें जाकर शनैश्चरके उदयकालमें सामनेसे उनका मार्ग रोंका, शनिका प्रभाव है, कि जो सामने पडे जल जाय, पर ये महातेजस्वी थे, इससे न जले, परंतु रथ नीचेको गिरा, तैसेही संयोगतः नीचेसे ये जटायुजी जा पहुँचे और अपने पंखसहित पीठपर बैठा लिया फिर दशरथजीने शनिके सन्मुखसे शस्त्रका अनुसंधान किया तब शनि डरे और विचारने लगे, कि ऐसा साहस तो हमने नहीं देखा फिर प्रसन्न होकर बोले कि वर माँगो, तो चक्रवर्तीजीने यह माँगा, कि आजसे आप कभी इस रोहिणीकी दशाको न भेदन करें, वैसाही हुआ । तबसे इनकी श्रीदशरथजीसे मित्रता थी । (यह शनिप्रसंग पद्मपुराणमें है वहींपर शनिस्तोत्रभी है.) यही बात इनसे जानकर श्रीरामजीने इन्हें पितातुल्य माना है और ये वात्सल्यप्रीतिसहित गोदा-

---

नोट-*“यज्ञके फल गहत यत्ननि यज्ञपुरुष कहाय । बेर जूंठे दियो शबरी भक्षियो सुखपाय ॥” (रामचंद्रिका. प्र० २७ छं० १८)

वरी तटपर श्रीरामजीके पर्णकुटीकी रक्षा करते थे । जब छायारूपा जानकीजीको रावण हरे जाता था, तब आपने चोंचोंसे घोरयुद्ध किया जब उसने इनके पंखोंको काट डाला, तब आप घायल होकर गिरे और पड़े हुए श्रीरामजीकी वाट जोहते रहे, तैसे श्रीरामजी दोनों भाई आये और इन्हें गोदमें लेकर अतीव सुख दिया पुनः जगजीवनका लोभ दिखाकर बहुत कहा, कि तात ! अभी कुछदिन जीवन रखिये । परन्तु आपको तुच्छ जगजीवनसे उचाट हुआ और बोले कि "**जाकर नाम मरत मुख आवा । अधमौ मुकुत होइ श्रुति गावा ॥ सो मम लोचनगोचर आगे । राखौं देह नाथ केहि खाँगे ॥** तब श्रीरामजीने कहा । कि **तात ! करम निजते गति पाई ।**" (आ० दो० ३३) और इन्हें कृपाकरके चतुर्भुज हरिरूप दिया, पुनः ये स्तुति करके अविरलभक्ति माँगकर हरिधाम पधारे जैसे ऊपर टि० (१) में लिख आये । इस प्रकारकी इनकी सुंदरसेवकाई है, कि श्रीजानकीजीकेतई प्राण दिये ॥

(अनुसंधानार्थ)

नामान्तर शबरीसुगति ।

(४) ऊपर टि० (२) से मिलान करते हैं, यथा—यहाँसे जो संबंध (भोक्ता-भोग्य) आता है । वह पूर्वोक्त शेष-शेषी संबंधकी सिद्धावस्था है और वहाँके नामके गुणोंका प्रकाशक है, आगे प्रसंग भरमें दिखावेंगे । वहाँकी पाँचवीं चौ० में शवरीरूपा बुद्धिकी उत्पत्ति हुई, क्योंकि वहाँ जापकके विचारमें आगया, कि एक अनीहादि शुभगुणोंके उपजानेवाले तो नाम ही हैं तो हमारी रजोगुणप्रधानबुद्धि केवल अवगुणोंकी ही उपजानेवाली है, इसीसे यह शवरी-सम है । पुनः इस बुद्धिने भर्तृ-भार्या संबंधमें रजोगुणप्रधानइन्द्रियोंके देवतारूप कोलोंसे व्याहकी अनिच्छा करके स्वतंत्रकर्म-संकल्परूप चिड़ियोंको उड़ा दिया । वहाँकी चौ० ७ में स्पष्ट है, यदि संकल्प (कामना) रूप चिड़ियोंको न उड़ाती, तो तदनुसार जीवका अनेकों जन्म-मरण करानेमें हिंसाका पाप होता वहींपर जो यह असमर्थ होकर शरण हुई, यही चेली होना है । पुनः ज्ञातृ-ज्ञेय संबंधमें इसने सत्त्वगुणसहित '**नाम निरूपन** ०' में विचारादि सेवाकी, तो वहीं पर शुद्धमनरूप मतंगऋषि प्रसन्न हुए, क्योंकि वहाँ मन अपने पूर्वके मतंग अर्थात् मत-वाले-हाथीसमरूपपर हेयदृष्टिसे विचारता रहा, (इसीसे मतंग संज्ञा पाया) और वहींपर जो इस मनका चन्द्रमाके लक्ष्यमें ज्ञानरूप सूर्यसंग श्रीरामपदरूप पातालमें जाना है, यही परधाम यात्रा हुई जैसे यहाँ शवरीके प्रति मतंगका अंतिम उपदेश हुआ, वैसे नाममें मनकी निष्का-मतासे बुद्धिको उपदेश हुआ । अर्थात् मनका कर्मसंकल्प करनेमें स्वाद था, उस स्वादके छोडनेमें गति पाया, तैसे बुद्धिभी अपने स्वादरूप स्वतंत्र पुरुषार्थोंके छोडनेपर गति पावेगी, यह निश्चय हुआ पुनः शरीर-शरीरी सं० के अहल्याप्रसंगमें इसे पररूप श्रीरामजी प्राप्त हुए, तो वहाँसे पंचवटीप्रसंग तकमें क्रमशः कर्म, ज्ञान, उपासना, प्रपत्ति तथा निजप्रकाशकतारूप फलादिको जो प्रथम निजकृतज्ञानरूप मुखमें रक्खे रही सोई क्रमशः लक्ष्य देख २ कर

श्रीरामजीका ही समझती हुई निकाल २ कर देती गई। उनके विचारनेमें अति प्रेम होता था, यही प्रेमसहित दिया, पुनः जैसे श्रीरामजीने संतुष्ट होकर उसे अपने पदमें लीन किया। वैसे ही यहाँ बुद्धिने संपूर्ण पुरुषार्थोंको नामरूप अंतर्यामीका ही गुणप्रकाश व सामर्थ्य जाना यही पदलीनता है, क्योंकि श्रीरामपद अंतर्यामीका आश्रय है, ऊपर कई जगह दिखा आये। शवरीका बेरफल देना विशेष ख्यात है जो कि जीवोंका कुपथ्य है, यथा—"**धात्रीफलं सदा पथ्यं कुपथ्यं बदरीफलम्।**" वैसे ही यहाँ बुद्धिनें भी पुरुषार्थोंका अभिमान रखना जीवका कुपथ्य जानकर तथा भगवत्का ही होनेसे उनके लिये पथ्य जानकर उन्हें अपर्ण किया और वहाँ श्रीरामजीके जूंठा न माननेका हेतु यहाँ यह है, कि विचारसे इस बुद्धिकी उन पुरुषार्थरूप फलोंमें स्वादबुद्धि नहीं थी, क्योंकि उनके कर्ता कारयिता श्रीरामरूपसे अभिन्नतत्त्व नामको ही जानती जाती थी तो इसका प्रथमका मुखमें रखना ही भ्रम समझ पडता था, कि मुखमें तो उन्हींके था। अर्थात् वास्तवमें इसके अभिमानी वे ही थे। पुनः जैसे शवरी योगाग्निमें शरीर त्याग कर फिर दिव्यरूप पाकर यहाँ फिरनेकी अनिच्छा (विकल्प) सहित हरिपदलीन हुई, वैसे ही यह बुद्धि भी चित्तके आश्रयसे पूर्व पंचवटी प्रसंगके संबंध सारांशमें राजसाहं मनके पाँचविकार नामके गुणोंके योगरूप अग्निमें जला दिया और फिर जगत् मूल कर्मोंके अभिमानसे अनिच्छा (विकल्प) किया, कि इनकी ओर अब न फिरूँगी, क्योंकि इन्हींसे मेरा शवरी शरीर था। यहाँ तकमें बुद्धिद्वारा चित्तके ग्रहण किये हुए मनके छवोंअंश निवृत्त हुए। अतएव बुद्धि राजसाहंके '**विकल्प**' अंशसे भी शुद्ध हुई, जिसकी शुद्धि 'शरीर—शरीरी' संबंधके सारांशमें शेष थी॥

नामान्तर गीधसुगति।

(५) यह उपरोक्त टि० (३) से मिलान होगा। जैसे शेष—शेषी सं० में शवरीरूपा बुद्धिकी उत्पत्ति दिखा आये, वैसे ही वहींपर चौ० ४ में गीधरूप चित्तकी उत्पत्ति हुई, क्योंकि वहाँ जापकने जाना, कि यहाँके ज्ञानादि दिव्यगुण नामके हैं, । जिनसे मोहादिका संहार होता है, हमारे सतोगुणाभिमानी चित्तके नहीं और चित्तद्वारा होनेवाले राग द्वेषादि ही इसके कार्य हैं, जो कि मांस भक्षण सम हैं, इसीसे यह गीधवत् है और वहींपर चौ० ६ में जो अनिरुद्धके तेज ऐश्वर्यमय शरीरसे सत्त्वगुणका पालन कार्य हुआ, वह नामका कहा गया। शब्दादिमें अपनी आसक्तिरूप तामसाहंका व्यापार अपना दोष समझ पड़ा, उसी तामसाहंमें संपातिस्वरूपता है, शब्दादिविषय ही इसके पंख हैं। पुनः भर्तृ—भार्या संबंधमें सत्त्वप्रधान चित्तरूप गीध अपने विद्यादि गुणरूप पंखोंसे ज्ञानरूप सूर्यके समीपको उड़ा उसके संग संग जो शब्दादिविषयनाशकइच्छा थी, यही संपातिका संग उडना है, वहाँ जो ज्ञान प्रापक सामर्थ्य नामका प्रत्यक्ष हुआ और जीवके सत्त्वादि गुणोंकी असमर्थता समझ पड़ी, यही जटायुका हताश होकर लौटना हुआ और वहींपर (**चहुँ जुग चहुँ श्रुति०**) के नोटमें जो शब्दादि विषयसहित अविद्याकी कुरूपता समझ पडी, यही संपातिका पंख जलना हुआ, पुनः ज्ञातृ—ज्ञेय संबंधमें जो

चन्द्रमाके लक्ष्यमें देहाभिमान छूटा, यही संपातिप्रति चंद्रमामुनिका ज्ञानोपदेश हुआ और छठें संबंधमें जो अहल्यादि लक्ष्यसे श्रीरामजीकी शक्तिका खोजना है, यही इस (संपाति) को श्रीरामदूतोंका दर्शन है, वहाँ ही दंडकवनप्रसंगमें यह पुनीत हुआ और पंचवटीप्रसंगमें जो शब्दादिमय संकल्पोंकी दिव्यस्वरूपता हुई, यही इसके नवीन पंख जमें । पुनः चौथे संबंधमें लौटे हुए जटायुका प्रसंग दिखाते हैं, यथा–वेद ज्ञानका रूप श्रीदशरथजी सम है । यथा– 'ज्ञान अवधेस०' (वि० ९९) और शनैश्चरसम तामसधर्मका स्वरूप है । यथा–" **अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता । सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥"** (गीता. अ० १८) इस तामस(विपरीत) धर्मसे शनिकासा अवर्षण भी होता है । यथा– **"तामस धर्महिं करहिं सब, जप तप मख व्रत दान । देव न वर्षहिं धरनि पर, वए न जामहिं धान ॥"** (उ० दो० १०१) ऐसे ही तामस धर्म अर्थात् प्राकृतकर्म संकल्पोंके विनाशार्थ तथा मोह नाश हेतुक ज्ञातृ–ज्ञेय संबंधमें **'नाम निरूपन०'** प्रसंग था । मोह यथा–**"प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ।"** (गीता. अ० १४) वहाँ जीवका (जो कि चित्तका देवता है) रूप गीधवत् रहा, यह अपने सत्त्वगुणके विद्यादिरूप पंखपर ज्ञानाकारसूर्यसम नामरूप दशरथजीको रखकर (चित्तपर नामार्थ विचारपर वृत्ति किये हुए) जो शनिरूप प्राकृत संकल्पोंका तथा मोहका नाश किया, वहाँके उन गुणोंकी जीवको गुणासक्ति रही, कि हमने अपने विद्यादिसे विचारपूर्वक नामसे मोहका नाश किया है, यही गुणासक्ति गीधराजको भी प्रथम रही, तभी तो श्रीसीताजीसमेत कुटियाकी रक्षा करनेकेलिये कहकर रक्षा करते थे । पुनः जब वही मोहरूपी रावण आकर श्रीजानकीजीको हरा तो आपने अपना कुछ पुरुषार्थ शेष नहीं रक्खा परन्तु रावणका कुछ भी न कर सके,तब यह निश्चय होगया, कि पूर्वमें जो हम श्रीदशरथजीके आधार हुए थे, तहाँ शनिपराजयमें उन्हींका पुरुषार्थ था, हमारा नहीं, क्योंकि शनि और रावणका प्रभाव एकसम है, तब जैसे गीधराजको पंखवाले शरीरसे उचाट हुआ, वैसे जापकको यहाँ इस लक्ष्यसे वहाँके गुणाभिमानसे उचाट हुआ । गीधराजके अभिप्रायसे उसे चतुर्भुज हरिरूप मिला, वैसे उस लक्ष्यसे जापक भी यहाँ जो गुणाभिमानी अंतर्यामीको समझा तो अपने चित्तादि चारों (कि जिनके द्वारा गुणोंका कार्य होता है) को उसके हस्तसम जाना और उसका शरीररूप स्वयं होनेसे वे भुजा अपने हुए, (क्योंकि यहाँ शरीर–शरीरी संबंध ही है) अर्थात् पूर्वमें इन्हीं चारोंको प्रकृतिके गुणोंसे सचेत जानता रहा वह भ्रम दूर हुआ । तब इसे भी गीधशरीरसम गुणाभिमानसे उच्चाट हुआ यही चित्तका छठवां अंश '**उच्चाटन**' भी आया और अनित्य शरीरोंसे उचाट होनेसे जापककी '**नित्यरूपता**' प्रकट हुई, जो छठें संबंध सारांशमें शेष थी । पुनः यह भी सब भाँति पोषक जानकर श्रीविष्णुरूप अंतर्यामीका पार्षद हुआ, जैसे गीधराज हरिधाम गये, वैसे उसी लक्ष्यसे यहाँ जापक भी अंतर्यामीको अपना धाम अर्थात् आश्रय जान पाया । **शंका**– यहाँ पार्षदरूप चतुर्भुज क्यों हुआ, द्विभुज होना रहा ? **समाधान**–शरीरकी आयुपर्यंत

जीवको अंतर्यामीरूपका ही पार्षद किये, पश्चात् द्विभुजत्व प्राप्त होना दिखावेंगे, क्योंकि अंतर्यामी श्रीरामजीका ही सूक्ष्मस्वरूप है और जो चतुर्भुजरूपसे गीधराजको श्रीदशरथजीके सन्निधिमें भेजा और कहा कि "**सीता हरन तात जनि, कहेहु पिता सन जाय ॥**" (आ० दो० ३४) तो श्रीदशरथजीके साथ २ साकेत यात्रा इनकी भी जानना चाहिये, क्योंकि साकेतमें श्रीदशरथआदि समस्त परिवार श्रीरामजीके नित्य हैं और इन चारभुजाओंकी व्यवस्था आगे विभीषणजीके लक्ष्यमें भी कहेंगे ॥

(६) इस दोहेकी साधनावस्थाके '**एक छत्र एक मुकुट०**' के प्रसंगमें जो जीवका अणुरूपसे वासुदेवका पार्षद होना कह आये थे, उसकी ही सिद्धावस्था यहाँ आई, तथा वहाँके नामका गुण यहाँसे जाना गया कि इसी प्रसंगसे प्रसिद्ध भये गुणसे नाममें वहाँकी अभीष्टपूरकता है ॥

(७) उपरोक्त अहल्यादि प्रसंगकी तरह यहाँ रूपका '**अनुकंपा**' गुण है, यथा-"**रक्षिताश्रितभक्तानामनुरागसुखेच्छया । भूयोभीष्टप्रदानाय यश्चताननुधावति । अनुकंपा गुणो ह्येष प्रपन्नप्रियगोचरः ॥**" (भगवद्गुणदर्पणे) अर्थात् जो पूर्व रक्षित आश्रित अनुरागी भक्त हैं, उनकी लाखों प्रकारसे सुख अभिलाष पूरी करनेकी हर्षसहित प्रतिज्ञा बनी रहना अनुकंपा है यही गुण अनंत होकर नामद्वारा जापकको शबरी गीधकी अवस्थाका लाभ कराया । यद्यपि यहाँ जापककी अवस्था ऊँची है, तो भी '**नाम उधारे अमित खल**' कहनेका हेतु यह कि नामके इस गुणपर विश्वाससहित खल भी जपे तो एकवार ही यह अवस्था आजाय, क्योंकि नाम कामतरु हैं ॥

(८) अहल्या प्रसंगसे जो नवों संबंधोंके लक्ष्यका क्रम है, उसमें यहाँ '**शरीर-शरीरी सं०**' का लक्ष्य है क्योंकि वह अहंकारशोधक है । वही यहाँ प्रकट हुआ । यथा-शबरीमें राजसाहंशुद्धि और गीधराजमें सात्त्विकअहंकार तथा तामसाहंकी शुद्धि हुई और छठें संबंधके तटस्थ होनेसे यह उसका निचोड़ भी है, पुनः छठें संबंधके सारांशकी तरह यहाँ भी शबरीजीकी स्वादराहित्यमें नामका '**शक्ति**' ऐश्वर्य और जापकमें '**काम**' राहित्य पुनः गीधके लक्ष्यके संतोषमें तथा नामकी प्रकाशकतामें '**तेज**' ऐश्वर्य और जापकमें '**मद**' राहित्य आया ॥

संबंध निर्णय ।

(९) पूर्व मंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपण प्रसंगमें रामनामसे षड़क्षरका होना तथा तिसके मध्यके राम शब्दके दूसरे अर्थमें '**श्रीरमयति**' के अनुसार '**भोक्ता-भोग्य**' संबंध होना कह आये, उसीका उद्धार बा० दो० १९ चौ० ७ टि० (६-७) में दिखा आये, वहाँ जो वसुधारूपा धर्ममय बुद्धि और शेषरूप जीवके धारणकर्ता ब्रह्मके होनेसे उसे भोक्ता कह आये, वही यहाँ शबरीके लक्ष्यमें बुद्धिके स्वादरूप समस्तपुरूषार्थों अर्थात् धर्मोंके धारणकर्ता नाम ही प्रकट हुए और गीधके लक्ष्यमें सत्त्वादिगुणसहित जीवके धारण करनेवाले नाम ही हुए, इससे नाम इसके भोक्ता और यह उनका भोग्य सिद्ध हुआ और ऊपर टि० (९)

तथा (६) में प्रकट भी जीवका भोग्यत्व पार्षद होनेमें कह आये, अतएव यहाँ इस संबंधका मूल प्रकट हुआ ॥

मूल (चौ०)

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ ॥ १ ॥
नाम गरीब अनेक निवाजे। लोक बेद वर बिरद बिराजे ॥ २ ॥

टीका—श्रीरामजीने सुग्रीव और विभीषण दोनोंको शरणोंमें रक्खा, यह सब कोई जानता है ॥ १ ॥ और नामने अनेकों गरीबोंकी रक्षा की, इन (नाम) की विरदावली लोक और वेदमें जगमगा रही है ॥ २ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

नाममें '**वर विरद**' कहनेका भाव यह कि नामका वाना रूपसे श्रेष्ठ है, क्योंकि श्रीरामजीने तो परिश्रम कर २ के रक्षा किया, पीछे लोकदेखावमें एकने सेनासहित दूसरेने भेद बतला कर कुछ सहायता भी की, किंतु नाममें वह भी नहीं और रूपकी विरदको '**जान सब कोऊ**' कहा है, अर्थात् वेद पुराणके जनायेसे सबलोग जानते हैं और नामकी विरदको '**विराजे**' कहकर जनाया, कि अब भी जापक इससे सुखी होते हैं, यह प्रत्यक्ष है, इससे नाम बड़ा है ॥

(अनुसंधानार्थ)

(१) यहाँके सुग्रीव और विभीषणजी आर्तभक्त थे। यथा—"**नाथ सैलपर कपि पति रहई। सो सुग्रीव० दीन जानि तेहि अभय करीजै ॥**" (कि० दो० ४) तथा— "**कृत भूप विभीषन दीन रहा।**" (उ० दो० ११०) और दोनों दुःखसे अकुला कर शरण हुए। यथा—"**वालि त्रास व्याकुल दिन राती। तन बहु व्रन चिंता जर छाती ॥ सो सुग्रींव कीन्ह कपिराऊ।**" (कि० दो० १२) तथा—"**रावन क्रोध अनल निज, स्वास समीर प्रचंड। जरत विभीषन राखेउ**" (सुं० दो० ४९) इस प्रकार आश्रित जानकर रक्षा करनेमें श्रीरामजीका करुणा गुण है। यथा"**आश्रितार्त्यानिनादो यः रक्षितुर्हृदयद्रवः। अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्द्रवत्। कथं कुर्यां कदा कुर्यामाश्रितार्तिनिवारणम्। इतीच्छा दुःखदुःखित्वमार्तानां रक्षणत्वरा॥परदुःखानुसंधानाद्विह्वलीभवनं विभोः। कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्तानां भीतिवारकः ॥**" (भगवद्गुणदर्पणे) अर्थात् शरणागतोंके दुःख देखते ही आपहू दुःखित होकर तुरंत निवारण करके उसे सुखी करना करुणागुण है, रूपके इसी करुणा गुणसहित नामने अनंतरूपसे अनेकोंकी विपत्ति हरा.

(२) यह '**भोक्ता-भोग्य**' संबंध पूर्वोक्त '**शेष-शेषी**' सं०का नामगुण प्रकाशक तथा उसकी सिद्धावस्था है। यहाँके ऊपरके दोहार्थमें भी वहाँके मूलकी सिद्धावस्था दिखा आये, पुनः इन दो चौपाइयोंमें वहाँकी चौ० '**देखियहि रूप नाम आधीना।०**' के नामका गुण और उसकी सिद्धावस्था दिखाते हैं। यथा—वहाँ जो नाममें संकर्षण स्वरूपता कही गई,

उसके 'ज्ञान-बल' दोनों ऐश्वर्योंका कार्य भी चौथे संबंधमें विस्तारसे दिखा आये, तहाँके भी गुणोंका निरुवार तथा सिद्धावस्था छठें संबंधमें कही गई, वहाँ जो अहल्यादि प्रथमके तीन लक्ष्योंमें ज्ञानपूर्वक पराभक्ति लाभ हुई उसमें जीवके निमित्त होनेका मान था और दंडकवनके लक्ष्य (चौथे) में जो वैराग्यद्वारा शरणागति प्राप्त हुई, उस वैराग्यमें भी अपने निमित्त होनेका मान था । इन दोनों दोषोंके निवारणार्थ यहाँ सुग्रीव और विभीषणके लक्ष्य हैं, क्योंकि सुग्रीवजी सुकृतसाध्य ज्ञानके स्वरूप हैं, इन्हें मानरूप वालिका अति त्रास था, क्योंकि ज्ञानमें एक भी मान न चाहिये । यथा–'**ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं ।**' (आ० दो० १६) मान ही संसृतिका मूल है यथा "**संसृति मूल सूलप्रद नाना । सकल सोकदायक अभिमाना ।**" (उ० दो० ७२) ऐसे वालिको श्रीरामजीने एक ही बाणमें नाश किया । अर्थात् बाणरूप आत्माको उपाय मूल प्रणवरूप धनुषपर चढाकर श्रीरामजी ही जीवोंके दोषोंको नाश करते हैं, उपायोंमें जीव कुछ भी निमित्त नहीं रहता । ऐसा जाननेसे मान नाश होता है । अंतः इस सुग्रीवजीके लक्ष्यमें नामके करुणा गुणसे जीवका ज्ञान शुद्ध हुआ यहाँ नामके '**ज्ञान**' ऐश्वर्यका कार्य है ॥

(कै) पुनः विभीषणके प्रसंगमें वैसे ही '**बल**' ऐश्वर्यका कार्य है, इसमें जीवके उपरोक्त वैराग्यका मान निवारण दिखाते हैं, 'बल' ऐश्वर्य ही वैराग्यरूप है । यथा–'**जब उर बल बिराग अधिकाई ।**' (उ० दो० १२२) और वैराग्यके ही अवतार श्रीहनूमान्‌जी हैं । यथा–'**प्रबल बैराग दारुण प्रभंजनतनय०**' (वि० ५९) वे श्रीहनूमान्‌जी श्रीराम प्रेरित जाकर विभीषणजीके प्रति रामगुण कहकर प्रतीति कराये, पुनः लंकाको अकेले जलाकर श्रीरामजीका प्रभाव दिखाये, तब उन्हें उस लंकासे वैराग्य हुआ और आकर शरण हुए, नहीं तो पहिले बहुत दिनोंसे दुःख सहते हुए भी लंका न छोड सके थे, अतः इस लक्ष्यसे जीवके वैराग्यका मान भी शुद्ध हुआ ॥

(खै) इस प्रकार यहाँ नामकी संकर्षण स्वरूपता सिद्धरूपसे प्रकट हुई और चौथे संबंधमें जो इनको इन्हीं दो ऐश्वर्योंसे क्रोध और मोहविकार शुद्धि करना कहे थे, उसके भी झीनांशकी यहाँ शुद्धि इन दो ऐश्वर्योंके साथ जानना चाहिये और यहाँ क्रमशः नव संबंधोंमें महत्तत्त्व-शोधक '**भोक्ता-भोग्य**' संबंधका लक्ष्य है, क्योंकि विराग और ज्ञानसे ही उसका कार्य होता है, वही यहाँ शुद्धरूपसे आया और जापक अनन्यशरण होकर नामको अपना आश्रयजाना॥

अथ स्थूलशरीर प्रकरण ।

(३) ऊपर 'शवरी-गीध' के लक्ष्यमें गीधराजके अनुसार जापकमें अवस्था आई, वहाँ गीधराजजीको शेषत्वयोग्य चतुर्भुजस्वरूपमात्र मिला, यह दोहा भर जैसे 'शेष-शेषी' संबंधके '**आवत हृदय सनेह बिसेषे**' की कही हुई योग्यता प्रापक है, वह न हुआ, क्योंकि गीधराजको भी उसके लिये 'अविरलभक्ति' वर मांगकर जाना लिखा है, उसका कारण यह था कि उन्होंने कर्मके निमित्तपनेका झीनांश मनमें रक्खा था, क्योंकि जब श्रीरामजीने इनके

कर्मकी प्रशंसा की, तब उत्तर नहीं दिया, इस लिये उन तीन प्रकारके (क्रियमाण, प्रारब्ध, संचित) कर्मोंकी आधार भूत जो तीनों (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) क्रमशः अवस्था हैं, यहाँसे उनका तथा तत्संबंधीशरीरादिकोंका दोष राहित्य दिखाते हैं:—

यथा—शरीर स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण चार हैं, तिनके साथ साथ क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय अवस्था तथा वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा, वाणी और सत, रज, तम, शुद्धसत्त्व, गुणकी प्रवृत्ति रहती है। तिनमें यहाँ प्रथमकी जाग्रदवस्था दिखाते हैं यथा— "**श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियैश्शब्दादि विषयं ज्ञायते इति जाग्रदवस्था स्थूलशरीराभिमानी विश्वात्मा उच्यते ॥**" (तत्त्वबोधप्रकरणे) अर्थात् जब ज्ञानेन्द्रियोंसे शब्दादि विषयोंका ज्ञान होता है, वही सत्त्वगुणप्रधान जाग्रदवस्थासहित स्थूलशरीर है। यह पाँचतत्त्व, पाँचतन्मात्रा, ११ इन्द्रिय ३ अंतःकरणसहित २४ तत्त्वका होता है, ऐसे प्रतिशरीरोंका साक्षी विश्वात्मा है, उनके नियामक श्रीलक्ष्मणजी हैं। यथा—श्रुतिः '**अकाराक्षरसंभूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः ॥**' (रामतापनीये) इस स्थूलशरीरका शोधनकार्य चौथे संबंध तकमें हुआ, क्योंकि उस संबंधके नियामक श्रीलक्ष्मणजी थे और उसीमें शरण होना तथा मोह त्यागना कहा गया, पुनः उसीका साधनीभूत नामगुण छठें संबंधके चार लक्ष्यों (दंडकवनतक) में कहा गया, तहाँके भी शरणागतिकी सिद्धावस्था यहाँके लक्ष्यमें आई, क्योंकि यह अवस्था यहाँके प्राप्त, शुद्धज्ञान, विरागसे शुद्ध होती है। प्राकृत तीनों शरीरोंके साथ ३ मोहरूप रावणका भी नाश दिखाते चलेंगे, जिससे स्पष्ट प्रतीत हो, क्योंकि प्राकृत देहाभिमान ही मोह है। यथा—यहाँ श्रीविभीषणजीके लक्ष्यमें इसका स्थूलांश नाश हुआ, यथा—"**राम सत्यसंकल्प प्रभु, सभा कालवस तोरि। मैं रघुवीर सरन अब, जाहुँ देहु जनि खोरि ॥ चौ०—अस कहि चला विभीषन जवहीं। आयूहीन भए सब तवहीं ॥**" (सुं० दो० ४१) यहाँ '**सत्यसंकल्पप्रभु**' कहनेका भाव यह कि जैसे प्रभुने सत्यसंकल्प करके एकही बाणमें वालिको मारा, वैसे इसे (रावणको) भी मारेंगे, (इस एक बाणका आशय अ० प्र० नं. ४ टि० (९) में दिखा आये) यहाँ स्थूलशरीर और जाग्रत् अवस्थाका विकार शुद्ध हुआ, आगे सेतुबंध प्रसंगमें स्वप्नावस्था और सकुल रावणके नाशमें सुषुप्तिअवस्थाकी शुद्धि प्रकट होगी ॥

मूल (चौ०)

राम भालु कपि कटक बटोरा। सेतु हेतु श्रम कीन्ह न थोरा ॥ ३ ॥
नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु विचार सुजन मन माहीं ॥ ४ ॥

टीका—श्रीरामजीने तो भालु वानरोंकी सेना इकट्ठीकी और पुलके वास्ते थोड़ा परिश्रम नहीं किया अर्थात् बहुत श्रम किया और नाम लेते ही लेते भव समुद्र सूख जाते हैं, तो हे सज्जनो! अपने मनमें (नामकी बड़ाई पर) विचार कीजिये।

टिप्पणी (लक्ष्य—भावार्थ)

(१) '**श्रम कीन्ह न थोरा**' यथा—"**बिनय न मानत जलधि जड़, गए तीनि दिन बीति।**" (सुं० दो० ५७) "**तीसरे उपास वनवास सिंधु पास सो समाज महाराजजूको एकदिन दान भो।**" (क० सुं० ३२)

(कं) "**नाम० सुखाहीं**" का भाव यह कि वहाँ तो निमित्त मात्र सेना भी रही, तथा नल नीलको मुनिकी आशीष भी रही और कुछ समुद्रने भी सेवा सहाय की, परन्तु नाममें सो भी नहीं, जपते ही भवसमुद्र सूख ही जाते हैं, कि जिससे फिर नहीं होते, अतएव नामबड़े हैं, यहाँ '**सुखाहीं**' यह शब्द बहुवचन है, इससे जैसे समुद्र मुख्य सात ही हैं वैसे भवसमुद्र भी जो संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण (तीनोंकर्म) अविद्या तथा दैहिक, दैविक और भौतिक (तीनोंताप) ये सात हैं, तिनका सूख जाना सूचित किये, यथा—रकार जो अग्निबीज है, वह तीनों कर्मोंको भस्म करता है, उन कर्मोंका मूल जो अविद्या है, उसे भानुबीज अकार नाश करता है और तीनों तापोंको चंद्रबीज मकार हर लेता है, जो कि तीनों कर्मोंसे होती हैं, इनके प्रमाण पूर्वोक्त बा० दो० १८ चौ० १ टि० (३) में देखो॥

(खं) अथवा सातों समुद्र सोखना यों है, कि इनका रूपक भवसिंधुसे है, उसका कारण देहाभिमान है, जिसे ग्रंथकारने भयंकर समुद्र कहा है। यथा—"**कुनपअभिमान सागर भयंकर घोर विपुल अवगाह दुस्तर अपारम्। नक्ररागादि संकुल मनोरथ सकल संग संकल्प बीची विकारम्॥**" (वि० ५९) यहाँ कुनपका अर्थ शरीर है, यह सप्तधातुओंका होता है। वे शुक्र, रक्त, मज्जा, मेद, मांस, हाड और त्वच इन भेदोंसे सात हैं। यथा—"**सातैं सप्तधातुनिर्मित तनु करिय बिचार।**" (वि० २०४) इस शरीराभिमान (शरीरधारण) से ही जीव कर्मोंको करता है, जिन्हें कार्यकारणसहित सातरूपमें ऊपर टि० (कं) में कह आये, अतः देहाभिमान ही भवसिंधु है, उसीका सूखना कहा है॥

(गं) "**करहु बिचार०**" का भाव यह कि पूर्व जो बा० दो० २२ चौ० ३ में सुजनोंको अपनी प्रतीतिमें प्रतीति दिलानेकी प्रतिज्ञा किये थे, उसे यहाँ तकमें पूरी करके तिन्हें भी विचारपूर्वक हृदयस्थ करना कहे, इसीसे आगेके प्रसंगमें इसका फल प्रीति भी कहेंगे, यथा—'**सेवक सुमिरत नाम सप्रीती०**'॥

(अनुसंधानार्थ)

(२) ऊपरकी चौ० १-२ टि० (२) के अनुसार यहाँ '**रूप बिसेष०**' में नामके प्रद्युम्नरूपमें कहे हुए, '**ऐश्वर्य-वीर्य**' से लाभकी यहाँ पूर्णता है। अर्थात् उसका कार्यरूप देहाभिमाननिवारण पाँचवें संबंधमें और वहाँका नाम-गुण छठें संबंधके पंचवटीप्रसंगमें दिखाये, अब यहां जीवके निमित्त होनेका संग (आसक्ति) दूर करते हैं, कि जैसे यहाँ सेतु बाँधनेमें वानर भालु रहे, वैसे बुद्धिके मोक्षसाधनीभूत गुण होते हैं। यथा—"**जपो यज्ञस्तपस्त्यागः आचारोऽध्ययनं तथा। बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः॥**"

(जिज्ञासापंचके) यथा-" **कैवल्य साधन अखिल भालु मरकट विपुल ०** "
(वि० ५९) जैसे यहाँ पत्थरका सेतु बँधा, वैसेही बुद्धिसे होनेवाली सुकृत शिलासम जड होती हैं, जैसे शिलाओंके उतरानेमें वानरोंकी करणी तथा पत्थरोंके हलकापन आदि गुण न थे। यथा-"**महिमा यह न जलधिकै वरनी। पाहन गुन न कपिन कइ करनी। दो०-श्रीरघुवीरप्रतापतें, सिंधु तरे पाखान।**" (लं० दो० २-३) वैसे ही नाममें सिंधु बाँधनेकी जगह पाँचवें संबंधमें सुखाना ही हुआ यथा-वहाँ '**नाम निरूपन०**' की टि० (कँ) में '**हेतुकृसानु**' के लक्ष्यमें भवमूल कर्मोंका जलना वा सूखना ही कहा गया, वह भी रूपका यहीं (सेतुबंधप्रसंग) का प्रतापगुण लेकर नामने किया था, क्योंकी प्रतापके साधारण अंशसे वहाँ उतराना हुआ था, उसका विशेषांश समुद्रसोखना ही है यथा-" **प्रभु प्रताप वडवानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि वारी॥** " (लं० दो० १) वही नामके रकारार्थ (हेतुकृसानु) में आया यथा-" **रकारोऽनलवीजं स्याद्ये सर्वे वाडवादयः। कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम्॥** " (महारामायणे) इस प्रताप गुणके कार्यको जाननेसे बुद्धिका अपनी चतुराई आदिसे '**नाम निरूपन**' में जो निमित्तका भ्रम था, कि हमने वहाँ एक अनीहादिगुणोंके लक्ष्य करनेमें कुछ किया है वह निर्मूल हुआ क्योंकि इस रजोगुणप्रधानबुद्धिके गुण तो वानरभालुसम राजस तामसमय चंचलतादियुक्त होते हैं, उससे निष्कामकर्मसंकल्पोंका प्रादुर्भाव तथा उनका एक संग भक्तिमें ही लगना नामके चातुर्यगुणसे हुआ था, जो कि इस सेतुबंध प्रसंगसे ख्यात हुआ है॥

(कें) यहाँका चातुर्य-यथा-" **केवलया स्वबुद्ध्यैव प्रयासार्थविदुत्तमाः। दुःसाध्यकर्मकारित्वं चातुर्य्यं चतुरा विदुः॥ साधकेष्वपि सिद्धानां चतुराणां च राघवः। कीशानां भाषया रामः कीशेषु व्यपदेशिकः॥ ऋक्षराक्षसपक्षीषु तेषां गीर्भिस्तथैव सः॥** " (भगद्गुणदर्पणे) तथा यों भी स्पष्ट है, कि जैसे जीवरूप विभीषणने वहाँ सेतु बाँधनेकी सम्मति मात्र कहा था, वानरोंके बटोरने आदिकी चातुरी सब श्रीरामजीकी ही थी, वैसे वहाँ नामने उसी चातुरी गुणसे बुद्धिमें गुणोंका संग्रह किया, अतएव निश्चय हुआ, कि देहाभिमान सुखानेमें जीव अपनी बुद्धि-शक्तिसे कुछ नहीं किया, सब नामने किया ॥

(३) यहाँ महत्तत्त्वके रजोगुणशुद्धिमें जापकको जो संतोषका लाभ तथा लोभ और मत्सरका नाश नामके 'ऐश्वर्य और वीर्य' ऐश्वर्यसे हुआ, जिसे वहाँ (पाँचवें सं० में) प्रद्युम्नका कार्य कह आये, उसमें भी नामके इसी चातुर्य गुणका कार्य था इससे यहाँ जापककी महत्तत्त्वके रजोगुणकी आसक्ति दूर हुई ॥

(४) यहाँ जीवकी भवसिंधु सुखानेकी चाह पूरी करनेमें नाम पूर्णतया आधार हुए, इससे यहाँ नवों संबंधोंके '**आधार-आधेय**' संबंधका लक्ष्य विचारना चाहिये ॥

अथ सूक्ष्मशरीर प्रकरण।

(५) ऊपर चौ० १-२ टि० (२) के अनुसार यहाँ 'सूक्ष्मशरीर और स्वप्नावस्था.'

का प्रसंग है, वह यथा—" **पंचप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियसमन्वितम् । अपञ्चीकृतम-स्थूलं सूक्ष्माङ्गं भोगसाधकम् ॥** " (जिज्ञासापंचके) अर्थात् ५ प्राण, १ मन १ बुद्धि १० इन्द्रिय, इन १७ तत्त्वोंका सूक्ष्मशरीर होता है । इसकी स्वप्नावस्था यथा—" **जाग्रदव-स्थायां यद्दृष्टं यच्छ्रुतं च तत्तज्जनितवासनया निद्रासमये यः प्रपंचः प्रतीयते सा स्वप्नावस्था सूक्ष्मशरीराभिमानी तैजसात्मा उच्यते ।** " (तत्त्वबोधप्रकरणे) अर्थात् जाग्रत्अवस्थाकी देखी सुनी वस्तुकी वासनासे स्वप्नमें अनुभव होना स्वप्नावस्था है । इसके प्रति शरीरोंका साक्षी जो तैजसात्मा है, उसके नियामक श्रीशत्रुहनजी हैं यथा—**श्रुतिः "उकाराक्षरसं-भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥** " (रामतापनीये) इसका साधन पाँचवें संबंधकी संपूर्णकाम-नाओंकी हीनता पूर्वक संकल्पशुद्धि होनेमें हुआ, क्योंकि वहाँकेभी नियामक शत्रुघ्नजी थे और उसीमें जगत्वासना छूटकर आत्माकी ध्याननिष्ठा हुई और सूक्ष्म शरीराभिमान भी नाश होना तहाँके संबंधसारांशमें दिखा आये, उसीका गुणप्रकाशक पंचवटीप्रसंग (छठें सं० का) है। तहाँ खर दूषण, त्रिशिरादिके नाश होनेके लक्ष्यमें मोहरूप रावणके सूक्ष्मरूपका नाशक नामका गुण प्रकट हुआ, क्योंकि वे भी रावणके समानही कहे गये हैं । यथा—" **खर दूषन मो सम बलवंता ।** (आ० दो० २४) (यह रावण वचन है,) इसीसे वहाँकी संतोष-पूर्णसिद्धावस्थारूप इस 'सेतुबंध' प्रसंगमें रावणका सूक्ष्मरूप भी नाश हुआ । यथा— " **सुनत श्रवन बारिधि बंधाना । दससुख बोलि उठा अकुलाना ॥ दो०—बाँध्यो पयनिधि नीरनिधि ०** " (लं० दो० ४—५) यहाँ दशोंमुखसे यकवारही बोल उठना उसकी मृत्युका सूचक है, ऐसा उसे पूर्वका वरदान था, इस प्रसंगके सिंधुबंधनसे विशेषरूप जो सिंधु सोखना है, वह भी एकही बाणके पुरुषार्थसे होता है । यथा—" **सक सर एक सोखि सत सागर ।**" (सुं० दो० ५५) अतएव रावणके सूक्ष्मरूपका भी नाश एकही बाणसे दिखाये । अतः यहाँ इस शरीर और अवस्थाकी शुद्धि पूर्णरूपसे हुई ॥

मूल (चौ०)

राम सकुल रन रावन मारा । सीयसहित निजपुर पगुधारा ॥ ५ ॥
राजा राम अवध रजधानी । गावत गुन सुर मुनि वरबानी ॥ ६ ॥
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती । बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती ७॥
फिरत सनेह-मगन सुख अपने । नामप्रसाद सोच नहिं सपने ॥ ८॥

टीका—श्रीरामजीने तो कुटुंबसमेत रावणको मारा और श्रीजानकीजी सहित अपने पुर (श्रीअवध) को आये ॥ ५ ॥ श्रीरामजी अयोध्या राजधानीमें राजा हुए, देवता, मुनि श्रेष्ठ-वाणीसे उनके गुण गाते हैं ॥ ६ ॥ पर सेवक प्रीतिसहित नामस्मरण करते हुए विना श्रमही बड़े भारी बली मोहको उसकी सेनासमेत जीतकर, नामके स्नेहसहित अपने सुखमें मगन विचरते हैं और नामके प्रसादसे उन्हें स्वप्नमेंभी शोच नहीं होता ॥ ७—८ ॥

टिप्पणी (लक्ष्य-भावार्थ)

(१) '**सकुल रावन तथा मोहदल**' यथा-"**मोहदसमौलि तद्भ्रात अहँकार पाकारिजित काम विश्रामहारी।** ०" (वि० ५९) '**गावत०बरबानी**'-का भाव यह कि, देवता वंदीखानेसे छूटे और मुनियोंका भय मिटा तो सुखी होकर गुणगाते हैं। '**बर बानी**" का भाव कि देवता दिव्य होते हैं, उनकी वाणी भी दिव्य होती है और मुनि भी सुकृती ही होते है, अपनी सुकृतिरक्षाके लिये झूँठ नहीं वोलते. यथा-"**सत्यमूल सब सुकृत सुहाए।**" (अ० दो० २७) तथा-"**सुनहुँ भरत हम झूँठ न कहहीं। उदासीन तापस वन रहहीं॥**" (अ० दो० २०९) '**गावत गुन**' का लक्ष्य. यथा-'**रिपु रन जीति सुयस सुर गावत।**' (उ० दो० १) "**वार वार नारद मुनि आवहिं। चरितपुनीत रामके गावहिं॥**" (उ० दो० ४१) "**सनेह मगन**" अर्थात् नामके स्नेहमें डूवे हुए लक्ष्य. यथा-"**राम सनेही सों तैं न सनेह कियो।** ० **जपि नाम करहि प्रनाम कहि गुन ग्राम रामहिं धरि हिए। विचरहिं अवनि अवनीस चरन सरोज मन मधुकर किए॥**" (वि० १३६) '**सुख अपने**' अर्थात् निजानंद (आत्मसुख) '**सप्रीती**' का लक्ष्य यथा-"**नामसों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत। पावन किय रावनरिपु तुलसिहूँसे अपत॥**" (वि० १३१)॥

(अनुसंधानार्थ)

(२) '**सकुलरावन**' यथा-ऊपर चौ० ३-४ टि० (९) में दिखा आये कि, खर-दूषणादिमें मोहरूप रावणकी सूक्ष्मावस्था रही, अव यहाँ उसीकी कारणावस्था है इसीसे यहाँ '**प्रवल मोह दल**' लिखा है। अतः उनसे यहाँ विशेष करालता है, वह दिखाते हैं, जैसे पूर्व छठेंसंवंधके पंचवटीप्रसंगमें कालरूप खरको कहा है, वैसे यहाँ कुंभकरण कालरूप है। यथा-"**कुंभकरन रनरंग विरुद्धा। सन्मुख चला काल जनु क्रुद्धा॥**" (लं० दो० ६६) **काल त्रोन सजीव जनु आवा।**" (लं० दो० ७०) और काल सबको ग्रासकर जाता है, यथा-"**नाथ सकल जग काल कलेवा।**" (उ० दो० ९३) वैसे इसे भी लिखा है। यथा-"**ग्रसन चहत मानहुँ त्रयलोका।**" (लं० दो० ६९) जैसे कालसे समय २ पर प्रलय भी हुआ करती है, वैसे यह भी छः २ महीनेपर कालरूप होकर जागता रहा। यथा-"**जागत होइ तिहूँ पुर त्रासा॥**" (वा० दो० १७९) **शंका**-ऊपर टि० (१) में इसे अहंकार क्यों कहा गया? **समाधान**-कालकी उत्पत्ति अग्निसे बा० दो० १८ चौ १-२ में कह आये और अहंकार भी उसीसे होता है। यथा- "**अहंकारोग्निसंजातो रुद्रोस्तस्यास्ति देवता**" (जिज्ञासापंचके) अर्थात् तमोगुण प्रधान अहंकारके देवता शिवजी भी कालरूप हैं, क्योंकि प्रलय आदि भी करते हैं, इससे शंका नहीं है, पुनः कालको ही खरस्वरूपमें क्रोधरूप भी कहा है, वैसे इसे भी ऊपर '**काल जनु क्रुद्धा**' कह आये, पुनः पंचवटीके लक्ष्यप्रसंगमें लोभविकारसहित कर्मको 'दूषण' सम कहा है, वैसे ही यहाँ संचितकर्मदोषरूप रावण

है, क्योंकि कर्मका जाग्रत् अवस्थाके संग क्रियमाण, स्वप्नसंग प्रारब्ध और सुषुप्तिसंग संचितका अंश रहता है, इसमें भी लोभका भीषणस्वरूप था । यथा"**काटत बढहिं सीस समुदाई । जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई ॥**" (लं० दो० १०१) जैसे संचितकर्म चौरासीका मूल है । वैसे रावणरूप मोह भी, यथा–"**मोह सकल व्याधिन कर मूला ।** " (उ० दो० १२०) और गुणके दोषको जैसे वहाँ काम विकारमय त्रिशिरारूप कहा है, वैसे यहाँ कामरूप मेघनाद है, इसे ऊपर टि० (१) में 'विश्राम हारी' कहा है । अर्थात् जैसे मेघनाद इन्द्रादि-देवोंको भगाता रहा, यथा–"**सुर पुर नितहिं परावन होई ।** " (बा० दो० १७९) वैसे काम विविध कामनाओंद्वारा इन्द्रियदेवोंको स्वस्थानसे विषयोंमें भगाया करता है और कालादि तीनोंके अंशभूत स्वभावचेष्टासम इनकी सेना है । **शंका**–वहाँ खरादि सबको श्रीरा-मजीने अकेले ही मारा था और यहाँ मेघनादको श्रीलक्ष्मणजीने तथा बहुत सेनाको वानरोंने, यह क्यों ? **समाधान**–श्रीलक्ष्मणजीके बहुत उपायोंसे भी मेघनाद नहीं मरता था, तब श्रीराम-जीके प्रतापबलसे मारा । यथा–"**सुमिरि कोसलाधीसप्रतापा । सरसंधान कीन्ह करि दापा ॥**" (लं० दो० ७५) और वानर भालुओंमें भी श्रीरामजीका ही बल था । यथा–"**कपि जय सील राम बल ताते ।**" (लं० दो० ८०)

(३) यहाँ सकुल रावणवधमें श्रीरामजीके स्थिरता, शौर्य, वीर्य, धैर्य, तेज, बल आदि गुणोंका कार्य है । इन्हीं गुणोंसहित नाम अनंतरूपसे सदैव सर्वत्र वैसेही कार्य करते हैं ।

(४) ऊपरकी चौ० १–२ टि० (२) के अनुसार यहाँ 'शेष–शेषी' संबंधके "**सुमि-रिय नाम रूप बिनु देखे । आवत हृदय सनेह बिसेषे ।**" की सिद्धावस्थाका प्रसंग है । वहाँ जो 'शक्ति–तेज' ऐश्वर्य सहित नामका अनिरुद्धत्व कहा गया, उसका साधन तथा गुण छठें संबंधमें दिखाया गया और 'शबरी–गीध' के लक्ष्यमें सामान्यतः फलस्वरूपता भी आई, परंतु ऊपर चौ० १–२ टि० (३) के अनुसार जो न्यूनता है वह यहींपर पूरी होगी, वह दिखाते हैं ॥

(५) यथा–"**सेवक सुमिरत नाम सप्रीती**" अर्थात् ऊपर टि० (३) के नामगुण विचारते हुए सेवक अर्थात् श्रीरामजीकी प्रकट अथवा मानसी सेवाध्यानपूर्वक करते हुए प्रीति-सहित स्मरण करे । प्रीति यथा–"**अत्यंतभोग्यताबुद्धिरानुकूल्यादिशालिनी । परिपूर्ण-स्वरूपा या सा स्यात्प्रीतिरनुत्तमा ॥**" (भगवद्गुणदर्पणे) अर्थात् जब इन्द्रियोंके विषय मनमें मिलें, और मन, चित्त, अहंकारकी वासना बुद्धिमें मिले, तब शुद्धबुद्धि अनुकूल होकर प्रभुके गुणगण स्मरण करकर लाखों अभिलाषा करती रहे,वही प्रीति है । वह प्रीति यहाँ हुई । यथा–इन्द्रियोंसहित मनोवृत्ति चित्तमें लीन होना शबरी-गीधके लक्ष्यमें हुआ और चित्तका शुद्ध होकर बुद्धिमें लीन होना सुग्रीव विभीषणप्रसंगमें हुआ और समुद्र सोखनेके लक्ष्यमें बुद्धिभी सूक्ष्मशरीराभिमानसे शुद्ध होकर अनुकूल हुई और उपरोक्त स्थिरतादि गुणोंके स्मरण-सहित शुद्ध प्रीति पूर्वक नाममें लगी इस प्रीतिके आठ अंग हैं । यथा–"**प्रणय प्रेम आसक्ति**

पुनि, लगन लाग अनुराग। नेहसहित सब प्रीतिके, जानव अंग विभाग॥" तिनमें तुम हमारे हम तुम्हारे यह भाव प्रणय है, इसकी सौम्य दृष्टि है, और रूपमें आसक्त होना आसक्ति है, इसकी यकटक दृष्टि है, यह दोनों शुद्धअहंकारके विषय हैं, तथा— जो प्रीति उमंग होकर रोम २ पुलके और नेत्र व कंठ भर जाँय, उसे प्रेम कहते हैं, इसकी विह्वल दृष्टि है। प्रतिक्षण प्रभुकी सुधि होना लगन है, इसकी उत्कंठा दृष्टि है, यह दोनों शुद्धमनके विषय हैं, तथा—चित्तकी चाह लाग है, इसकी चोप दृष्टि है, जो प्रीतिमें चित्त रंगा रहे, वह अनुराग है, इसकी मत्त दृष्टि है, यह दोनों शुद्धचित्तके विषय हैं, इष्टके मिलने बोलने हँसने आदिमें प्रसन्न रहना नेह है, इसकी ललित दृष्टि है, और चिक्कनता शोभासहित व्योहार प्रीति है, इसकी आधीन दृष्टि है, यह दोनों शुद्धबुद्धिके विषय हैं, इन मन बुद्ध्यादि चारोंसहित प्रीति पूर्वक जपका लाभ यहाँके लक्ष्यसहित आगे टि० से प्रकट होगा॥

(६) यथा—"**बिनुश्रम प्रबल मोहदल जीती**" अर्थात् ऊपर टि० (९) की रीतिसे प्रीतिसहित जापक श्रीरामजीके गुणोंके "**राम सकुल रन रावन मारा। सीयसहित निजपुर पगुधारा॥**" आदि कार्योंका अपनेमें विचारता हुआ नाम जपे। विचार यथा— ऊपर जो कारण शरीरसंबंधी मोह परिवाररूप रावणादिमें काल, कर्म, गुण, स्वभावादि कह आये, तिन्हें जीव ' निजइच्छा ' नामके पहिले आवरणमें ग्रहण किया है, (आवरण प्रसंगमें लिखा है) वहाँ प्रथम जो जीव विषयकी इच्छा किया तो तमोगुण ग्रहण हुआ, क्योंकि शब्दादि विषय तमोगुणसे ही होते हैं, उसी तमोगुणका परिणामरूप काल है ऊपर टि० (२) में भी दिखा आये, उसे ग्रहण करके यह उसका आश्रय हुआ, अर्थात् उसमें अपनी शक्ति समझा। पुनः कालाश्रित कर्मको ग्रहण करके उसमें भी अपनी शक्ति समझा। इसी प्रकार गुणग्रहण करके उसमें भी अपनी ही शक्ति जाना यही भ्रम था, क्योंकि इन सबोंमें श्रीरामजीकी शक्ति है यह पहिले संबंधमें विस्तारसे दिखा आये, यह भ्रम इसे प्रथमहीके तमोगुणग्रहणसे मोहवश हुआ था, यही श्रीरामजीकी शक्तिका मोहद्वारा हरण होनेसम है, फिर ऐसे रावणरूप मोहके वश होकर जीवरूप विभीषण परतंत्र था तो जब श्रीरामजीने अपने भुजबल (शक्ति) से मारा, तब कालरूप कुंभकरणका और संचितकर्मदोषरूप रावणका तेज अपने कारणरूप श्रीरामजीके मुखमें आ मिला यथा—"**तासु तेज प्रभुवदन समाना।**" (लं० दो ७०) "**तासु तेज समान प्रभु आनन**" (लं० दो० १०२) यहाँ तेजके लीन होनेमें जीवात्माको न समझना चाहिये, क्योंकि तेज भिन्न है, जैसे परशुरामजीने जब श्रीरामजीको धनुष चढ़ानेको दिया, तब उसके साथ २ उनकी शक्ति चली गई शक्ति और तेज दोनों समान रूपसे षडैश्वर्योंमें गिने जाते हैं इन दोमेंही श्रीरामजीका तेज दिखानेका अभिप्राय यह है, कि कालवश होनेसे ही गुणोंका वैषम्य होता है तो काममूल गुणोंके ग्रहणसे कर्तृत्वाभिमानी होनेपर वैराग्य दूषित होकर अहंकाररूप कुंभकर्णसम और संचितकर्मसहित शरीरोंकी इच्छा करनेसे विवेक मोहरूप होजाता है। यथा—"**कालाद्गुणव्यतिकरः परि-**

णामः स्वभावतः । कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत् ॥ " (भागवत २ स्कंध ५ अध्याय) अतः काल और गुणकी एकता रहनेसे दोईसे तेज आना कहा है । इन दोनोंका तेज श्रीरामजीके मुखमें लीन होना देखकर जीवरूप विभीषणको प्रत्यक्ष हो गया, कि इन हमारे विवेक विरागरूप दोनोंमें श्रीरामजीका ही तेज था परंतु हमारे अभिमानी होनेसे उनमें राक्षसस्वरूपता हुई थी, जब उनका तेज अपने कारणरूप उनके मुखमें मिला । यथा— " **आनन अनल अंबुपति जीहा ।** " (लं० दो० १४) तो उन दोनोंमें रावणद्वारा हरी हुई श्रीरामजीकी शक्ति भी अपने कारणरूप श्रीरामजीकी आदिशक्तिमें लीन होना चाहिये, इसीसे श्रीविभीषणजीने भलीभाँति पूजकर श्रीजानकीजी (प्रतिबिंबरूपा) को लाकर श्रीरामजीको समर्पण किया, तब उनकी सत्यश्रीरूप जानकीजीमें (जो हरणसमय अग्निमें समा गई थीं) वह उनका प्रतिबिंबरूप जो लंकासे आया, लीन हुआ । यथा—" **प्रतिबिंब अरु लौकिककलंक प्रचंडपावक महँ जरे ।** " (लं० दो० १०८) इसमें '**जरे**' शब्दका अर्थ '**जड़े**' करके होता है । अर्थात् प्रतिबिंबरूप अपने कारणरूप (सत्यश्री-जानकीजी) में मिला और लौकिक कलंक अग्निमें मिला अर्थात् जल गया वा न रह गया । तब जीवरूप विभीषण श्रीसीतारामजीको पूर्ण शोभायुक्त देखने लगे । यथा—" **श्रीजानकी समेत प्रभु, शोभा अमित अपार ।** " (लं० दो० १०९) पुनः श्रीविभीषणजीको श्रीरामजीने शुद्धलंकाका राजा बनाया, वैसेही नामद्वारा विभीषणसम जापकके मोहका कारण रूप भी नाश होजायगा और मनरूप मयदैत्यरचित प्रवृत्तिरूप लंकाका नाश होनेपर इसे शुद्ध मनरूप शुद्धलंकाका राज्य मिलेगा । पुनः विभीषणसहित श्रीसीतारामजी जैसे अपने पुर (श्रीअवध) पधारे, वैसे नाम भी पश्यंती वाणीसे लंकारूप कारणशरीरको शुद्धकर जापकसहित परावाणीरूप अवधपुरीको पधारेंगे ॥

सिंहावलोकन ।

उपरोक्त लक्ष्यसे स्पष्ट हुआ कि, श्रीरामजी प्रेरणा कर २ के अंतर्यामीरूपसे अथवा सगुणरूपसे जो २ कार्य करते हैं, वह इनकी अभिन्नशक्तिरूपा श्रीजानकीजीके अंशोंसे होते हैं तब जो जीव स्वयं कर्तृत्वाभिमान करता है, अर्थात् उनकी शक्तिका स्वयं अभिमानी होता है, वह इनकी शक्तिके अंश (प्रतिबिंबरूप) को पतिरूप श्रीरामजीके सान्निध्यसे हरण करता है । क्योंकि इन (दंपति) का नित्यसंयोग है, जैसे कि श्रुतिमें कहा है, यथा—" **श्रीरामस्य सान्निध्यवशाज्जगदानंददायिनी । उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥** " (श्रीरामतापनीये) श्रीसीता नामसे भी यही सिद्ध होता है । यथा—" **षिञ् बंधने** " धातुसे सीता शब्द होता है, इससे जो अपने गुणोंमें परब्रह्मको बाँध ले, अथवा सियें रहे, तथा जो स्वयं परब्रह्ममें सियी हुई अर्थात् प्रीतिमें बँधी रहे अर्थात् उनसे एक क्षण भी पृथक् न हो । इसमें ब्रह्मका अर्थ सीताशब्दके दूसरे ' ता ' वर्णसे हुआ क्योंकि ' ता ' से तारकब्रह्म कहा है, वह श्रीरामजी ही हैं । यथा—" **ता तारक तिहुँ गुन जलधि, तीव्र त्याग-**

दातार । " (श्रीयुगलानन्यशरणकृत रहस्योपदेशविंशतिका) पूर्णनामार्थ प्रमाण यथा–श्रुतिः " सिनोत्यतिगुणैः कान्तं सीयते तद्गुणैस्तु या । वात्सल्यादि गुणैः पूर्णा तां सीतां प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ " (सीतोपनिषद्)

(७) " फिरत सनेहमगन सुख अपने " का अभिप्राय यह कि " राजा राम अवध० " के अनुसार जैसे श्रीरामजी श्रीअवधके राजा हुए और विभीषणादिको अपने समानरूपसहित नित्यपार्षदकर इनकी विशेषस्नेहसहित भोग्यत्वके भोक्ता हुए, वैसे नामद्वारा जीव विशेषस्नेहसहित भोग्यत्व पाता है जिसे ऊपर टि० (४) में कह आये थे। यहाँ ' फिरत ' का अभिप्राय कालक्षेपका है और ' सुख अपने ' से आत्मसुख विवक्षित है अर्थात् जैसे परिकरोंको लिखा है, कि " ब्रह्मानंद मगन कपि, सबके प्रभुपद प्रीति । जात न जाने दिवस निसि, गये मास पट् बीति ॥ "(उ० दो० १९) यहाँ 'ब्रह्मानंद ' से आत्मसुख (उपरोक्त विशेषस्नेहसहित शेषत्व सुख) का अर्थ है । पुनः जैसे वहाँ सुर मुनि श्रीरामजीका गुण गाते थे, वैसे शुद्ध शेषत्व मनन करनेवाला जापकरूप मुनि शुद्ध इन्द्रियदेवोंसहित दिव्यसुख पाते हुए कृतज्ञता पूर्वक नामके गुणगण गान करता है ।

(८) ' नामप्रसाद सोच नहिं सपने ' का अभिप्राय यह कि स्वप्नमें जैसे इधर उधर भी मन चला जाता है और नाना प्रकारके शोकादिके कार्य भी प्रतीत होते हैं, वैसे ही जापकको भी कालक्षेपमें अनित्यशरीररूप स्वप्नका भी संसर्ग रहेगा तो भी स्थूलशरीरसंबंधी गुणबाधा (जो सत्त्वप्रधान जाग्रत् अवस्थासहित है) और सूक्ष्मशरीरसंबंधी कर्मबाधा (जो रजोगुण प्रधान है) तथा कारण शरीरसंबंधी कालबाधा (जो तमोगुणप्रधान है) नामके प्रसादसे न होगी, जैसे चरित्रमें परिकरोंको कहा है,यथा ' बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं । ' (उ० दो० १९) यहाँ जापकके लक्ष्यमें ' गृह ' से उपरोक्त तीनों प्राकृतशरीर हैं । अर्थात् वे शरीर विस्मरण रहते हैं इसी शोचराहित्यको श्रुति भी कहती है यथा–' तरति शोकमात्मवित् ' तथा ' आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्नबिभेति कुतश्चन ' (मुंडक) ॥

(९) यहाँ महत्तत्त्वका तमोगुणविकार भी शुद्ध हुआ, क्योंकि उसका विकार मोह निर्मूल हुआ, यथा ' प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ' (गीता. अ० १४)

(१०) संबंधोद्धारके अनुसार यहाँ काल, कर्म, गुण, स्वभावबाधा रक्षक 'स्व-स्वामी' संबंधका लक्ष्य है, टि० (२)–(८) में स्पष्ट है ।

अथ कारण शरीर प्रकरण ।

(११) ऊपर चौ० १–२ टि० (२) के अनुसार यहाँ कारण शरीर और सुषुप्तिअवस्थाका प्रसंग है । वह यथा–"अविद्या भगवच्छक्तिर्बद्धजीवस्य बन्धनम् । सदसद्भ्यामनिर्वाच्यं शरीरं सास्ति कारणम् ॥ " (जिज्ञासापंचके) इसका आधार तमोगुणप्रधान सुषुप्ति अवस्था है । यथा–"अहं किमपि न जानामि सुखेन मया निद्राऽनुभूयते । इति सुषुप्त्यवस्थाकारणशरीराभिमानी आत्मा प्राज्ञ उच्यते ॥ " (तत्त्वबोध-

प्रकरणे) अर्थात् घोर निद्रामें इन्द्रिय बुद्ध्यादिके लय होजानेपर भी जहाँ स्वयं आत्मा ही सुख दुःखादिका अनुसंधान करता है, वही सुषुप्तिअवस्था है, इसका साक्षी आत्मा प्राज्ञ है, उसके नियामक श्रीभरतजी हैं। यथा-'**प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसंभवः ।**' (रामतापनीये) इस शरीरकी करालता यों है, यथा-"**घृतपूरन कराह अंतरगत ससिप्रतिबिंब लखावै । ईंधन अनल लगाय कल्पसत अवटत नाश न पावै ॥**" (वि० ११६) इसके तमोगुणकी शुद्धि ऊपर टि० (९) में देखो और आत्माकी स्वयं प्रकाशकताका साधन इस संबंधमें ही हुआ, क्योंकि तीनों गुणोंकी तीनों अवस्थाओंके विना आत्माकी स्वयंप्रकाशकता साक्षात्कार हुई और श्रीभरतजीका नियामकत्व भी इसीके अ० प्र० नं० ७ टि० (४) में स्पष्ट होगा, जैसे ऊपर दो शरीरोंके प्रसंगमें एक बाणका कार्य दिखा आये, वैसे यहाँ भी है, क्योंकि रावणवध एक ही बाणसे हुआ, यथा-'**सायक एक नाभिसर सोषा**' (लं० दो० १०२) शेष ३० क्रीडार्थ थे, क्योंकि वे तो पूर्वसे ही बहुत बार लगे, पर वह न मरता था ॥

अथ महाकारण शरीर प्रकरण ।

(१२) शुद्ध सत्त्वमय तुरीयावस्था * ही महाकारण शरीर है। उसमें जापकका प्राप्त होना ऊपर टि० (६-८) में विचारना चाहियें ॥

संबंध सारांश ।

इसमें जीव महत्तत्त्वके तीनों गुणोंकी विषमतासे मुक्त हुआ, तथा तीनों अवस्थाओंसे भी मुक्त होनेसे इसे तुरीयावस्थाकी प्राप्ति हुई और नवों सबंधोंकी तृतीयावृत्ति भी पूरी हुई। (प्रथम नवों सं० के लक्ष्य दूसरे सं० में पुनः पांचवें सं० के 'नाम निरूपन०' में फिर छठें सातवें भरमें उन्हींकी यह तृतीयावृत्ति हुई) यहाँ जापक पूर्वोक्त "**महत्तत्त्वके तीसरे आवरण**" से मुक्त हुआ और तीनों अवस्थाओंकी भी वासना निवृतिसे पूर्व छठें संबंधके सारांशके कहे हुए, '**अपिपास**' गुणकी पूर्णतया प्राप्तिका इसे भरोसा हुआ। तथा दिव्यरूपसे विशेष स्नेहसहित पार्षदरूपकी प्राप्तिसे यहाँ-"**भोक्ता-भोग्य**' संबंधका पूर्णतया साक्षात्कार हुआ ॥

नोट-*इस तुरीयावस्थामें नाम परावाणीमें आ गये, क्योंकि जो पूर्व संबंधोद्धार प्रसंगमें 'जीह जसोमति हरि हलधरसे।' के अर्थमें काल, कर्म, गुण, स्वभावकी शुद्धि होनेपर नामका परावाणीमें आना कह आये थे, वह सब यहाँकी टि० (६) में दिखा आये। ऊपर टि० (१०) में 'जीह जसो०' वाले 'स्व-स्वामी' संबंधका लक्ष्य भी है, इसी प्रकार पहिलेके 'आधार-आधेय' संबंधकी भी विकारशुद्धि इसी संबंधके सेतुबंध प्रसंगमें हुई, उसकी टि० (४) में लिख आये और जो आगे आठवें संबंध (आधार-आधेय) का कार्य चाहपुराना आदि कहेंगे, तथा नवें दोहामें नवें (स्व-स्वामी) संबंधका कार्य, काल, कर्म, गुण, स्वभावादिसे रक्षा दिखावेंगे, वह जापककी सिद्धावस्थाके कालक्षेपमें जो माया संसर्गसे बाधायें होती हैं, तिनसे रक्षार्थ इन संबंधोंके विचारका प्रयोजन रहेगा ॥

अथ अखिल प्रकरण नं ७ ।

टिप्पणी (तात्पर्यार्थ)

अथ जापकके हृदयरूप गर्भमें नामकी अवस्था और अवतार प्रसंग ।

(१) इसके पूर्व अ० प्र० नं० ६ टि० (१) में नामने अपने 'विशोक' गुण प्रकाशसे जीवके अहंकारकी शोकमूलकर्मेच्छा छुडाकर विशोक किया । यहाँ इनका सातवें आवरणका ग्रहण करना दिखाते हैं, कि जैसे जीव इस (सातवें आ०) में परवश आकर रूपतन्मात्राको ग्रहणकर रूपाभिमानी होता है, वैसे इन्होंने स्वेच्छा पूर्वक आकर अपने शरीररूप जीवको तिसके वास्तविक दिव्यरूपका रूपाभिमानी किया, पुनः इसमें जीव अग्नितत्त्वके तेजरूप देवतोंको इन्द्रियोंमें ग्रहणकर तिन सहित मोहवश होता है, वैसे नामने इसमें देवतोंकी विपत्ति छुडाया और कुलसमेत मोहका नाश किया । पुनः जीव इसमें प्राकृत रूपका भोक्ता होता है, वैसे नाम अपने शरीररूप जीवात्माके दिव्यरूपके भोक्ता हुए और जीवका इसमें प्राकृतरूपाभिमानी होनेसे 'विमृत्यु' गुण नाश होता है, दिव्य होनेसे इनका प्रकाश हुआ क्योंकि इन्होंने अपने शरीररूप जीवात्माकी तीनोंशरीरासक्ति छुडाकर मृत्यु भय मिटाया ॥

अथ नामरूप ईश्वरकी द्वितियभावानुसार पंचधास्थिति ।

(२) पूर्व अ० प्र० नं० १ टि० (घं) के क्रमानुसार यहाँ 'व्यूह' स्वरूपका प्रसंग है, उसके कंदभूत् वासुदेवका साक्षात्कार गीधराजके लक्ष्यमें हुआ, मूलमें क्रमशः संकर्षण, प्रद्युम्न, तथा अनिरुद्धकी साक्षात्कारस्वरूपता नाममें दिखा आये ॥

अथ नामांतर दशअवतारोंके साक्षात्का प्रसंग ।

(३) संबंधोद्धारके क्रमानुसार यहाँ 'श्रीराम' अवतारका प्रसंग है । इनका परस्वरूप अ० प्र० नं० ६ टि० (३) में दिखा आये, यहाँ इनके विभवांतररूपका प्रसंग है । कि जो पररूप श्रीरामजी (साकेतविहारी) का पूर्व कल्पमें मुख्य अवतार हुआ, उसी लीलाको प्रत्येक कल्पमें नवीन करनेके लिये उनके अभिन्नांशरूप जो श्रीमन्नारायण भगवान् अवतार लेते हैं तो प्रथम चतुर्भुजरूपसे प्रकट होकर श्रीकौसल्याजीको दर्शन देकर फिर सब लीला (साधुपरित्राण धर्मसंस्थापन और दुष्टविनाशन आदि) करते हैं, वैसे ही क्रमसे इस संबंधमें हुआ । यथा— गीधराजके प्रसंगमें नाम अपने शरीररूप जीवसहित चतुर्भुज देख पड़े । फिर द्विभुजरूपसे सुग्रीव विभीषणप्रसंगमें साधुपरित्राण हुआ । सेतुबंधप्रसंगमें धर्मसंस्थापन भी हुआ, क्योंकि सुकृत समूह शिलावत् कहकर निष्कामतासे देहाभिमानरूप समुद्रमें उतराना दिखाया गया, पुनः नामसे वह समुद्र सूखना कहा, यह बहुत विशेष धर्मसंस्थापन हुआ, फिर भी इन धर्मोंका भक्तिरूपा श्रीजानकीजीके प्राप्त्यर्थ मार्ग (पुल) होना दिखाकर धर्मका परम गुह्य सिद्धान्त

भी दिखाया गया तीसरा दुष्ट विनाशन रावणप्रसंगमें स्पष्ट है । तथा–" **फिरत सनेह मगन सुख अपने**" में श्रीरामराज्यप्रकरण लक्ष्य रूपसे आया ॥

अथ नामांतर भक्तिरस प्रकरण ।

(४) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (४) के क्रमानुसार यहाँ '**सख्य**' रसकी सिद्धावस्थाका प्रसंग है । इसके साधनरूप अ० प्र० नं० ३ टि० (४) में इस रसकी जो व्याख्या कर आये, वही २ यहाँ भी जानना चाहिये । वहाँ जो श्रीभरतजीका लक्ष्य रहा, वही यहाँ प्राप्त हुआ, क्योंकि जापकको सुग्रीव विभीषणका लक्ष्य है, इन दोनोंमें श्रीभरतजीकी समानता श्रीमुख कथित है । यथा–"**तुम्ह प्रिय मोहिं भरत जिमि भाई ।**" (कि० दो० २१) (यह सुग्रीवप्रति वचन है,) पुनः विभीषणजीको समष्टिमें कहा है । यथा–" **मम-हित लागि जनम इन्ह हारे । भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे ।**" (उ० दो० ७) पुनः वहाँ परस्पर सहायतामें जो सख्यत्व कहा था, वह भी प्रकट हुआ । यथा–"**सो सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ ।**" (कि० दो० १२) "**जरत विभीषण राखेउ**" (सुं० दो० ४९) (विशेषरूपसे मूलकी चौ० १–२ टि० (१) में देखो) यह प्रभुकी सहायता, पुनःयथा–"**ए सब सखा सुनहुँ मुनि मेरे । भए समर सागर कहँ बेरे ॥**" (उ० दो० ७) यह सुग्रीवादिकी सहायता, पुनः परस्पर समानता यथा–"**प्रभु तरु तर कपि डार पर, ते किय आपु समान ।**" (बा० दो० २९) तथा–राजगद्दीके लक्ष्यमें रूपकी तथा भोगकी भी समानता हुई । यहाँ लक्ष्यद्वारा प्रभुके गुण नाममें और सुग्रीवादिके गुण जापकमें प्राप्त हुए, इससे जापकमें इस रसकी सिद्धावस्था आई ॥

अथ नामांतरपंचसंस्कार प्रकरण ।

(५) पूर्वोक्त अ० प्र० नं १ टि० (५) के क्रमानुसार यहाँ '**ऊर्ध्वपुण्ड्र**' संस्कारधारणकी सिद्धावस्थाका प्रसंग है, पूर्व अ० प्र० नं. ३ टि० (५) के इसके साधनांगमें हरिपादाकृतिसे अंतर्यामीके लक्ष्यमें स्वस्वरूप देखना कहा गया, वह यहाँ गीधराजके लक्ष्यमें आया । पुनः इसमें विभीषणजीका लक्ष्य है, वे भी चरणहीका ध्यान करते हुए आये थे । यथा–" **जिन्ह पायन्हके पादुकन्हि, भरत रहे मन लाय । ते पद आजु विलोकिहौं, इन नयनन्हि अब जाय ॥** " (सुं० दो० ४२) और जो तिलकके ध्यानसे मोह छूटना कहा था, वह भी रावणनाश होनेके लक्ष्यमें हुआ और जो वहाँ तिलकमें ही शेषत्वका अनुसंधान कहा था. वह यहाँकी पार्षदस्वरूपतामें आया ॥

अथ नामान्तर भक्ति प्रकरण ।

(६) इसके पूर्वके अ० प्र० नं० ६ टि० (६) में '**प्रेमा**' भक्तिकी साधनावस्था दिखा आये, यहाँ उसकी सिद्धावस्थारूप प्रीति आई । मूलकी चौ० ७ में दिखा आये । इस प्रेमाभक्तिका फलरूप प्रीतिका होना इसी भक्तिके प्रतिपादक '**नारदसूत्र**' में प्रमाण है । यथा–

" गुणमाहात्म्यासक्ति-रूपासक्ति-पूजासक्ति-स्मरणासक्ति० " (८२) यहाँ आसक्तिका अर्थ प्रीति ही है, क्योंकि इसकी आधीन दृष्टि है। यथा-" **प्रीति होइ सर्वांग उर, दृष्टि अधीन सदेह ॥** " यह प्रीति यहाँ सहजमें आई ॥

अथ नामांतर ज्ञान प्रकरण।

(७) इसके पूर्व अ० प्र० नं० ९ टि० (७) में ' असंशक्ति ' नामक ज्ञानकी पाँचवीं भूमिका दिखाई गई और छठें संबंधकी आशय इस संबंधके साथ है, क्योंकि वह संबंध अहंकार शोधक था, जो यहाँके महत्तत्त्वका कार्यरूप था, इसीसे ज्ञानमें इन दोनोंका शोधन इस एक ही ' **पदार्थ अभावनी** ' नामकी छठीं भूमिकामें किया है, वह दिखाते हैं। यथा-" **तव विज्ञाननिरूपिनी, बुद्धि विसद घृत पाइ। चित्त दिया भरि धरै दृढ, समता दियटि बनाइ ॥ तीनि अवस्था तीनि गुन, ते कपास तें काढि। तूल तुरीय सँवारि पुनि, वाती करइ सुगाढि ॥ सो०-यहि विधि लेसइ दीप, तेजरासि विज्ञानमय। जातहिं तासु समीप, जरहिं मदादिक सलभ सव ॥** " (उ०दो०११७) **अर्थ**-तव विज्ञाननिरूपण करनेवाली बुद्धि समताकी दीवट बनावे, तिसपर उपरोक्त पाया हुआ घृत चित्तरूपी दिया (दीप) में भरके दृढ करके धरे। पुनः तीनों अवस्थारूप फकली तथा तीनों गुणरूप वेनौर कपाससे निकालकर तुरीयारूपा रुईकी दृढ मोटी वत्ती करे इस प्रकारसे विज्ञानमय तेजराशि दीपक जलावे, तो मदादिक विकार पतङ्गोंकी तरह समीप जाते ही जल जाते हैं। इसका मिलान नाम प्रसंगमें करते हैं। यथा-मनसे विविध-कर्मोंकी संकल्पोंका निरोध पूर्व ज्ञानकी पाँचवीं भूमिकाके ममतारूप मल जलानेमें दिखा आये। अव यहाँ उसका सूक्ष्मविषयानुराग जो बुद्धिकी सहायतासहित चित्तसे हुआ करता है, तिसका निरोध दिखाते हैं, कि जिस बुद्धिने पाँचवें संबंधमें ज्ञानघृत साक्षात् किया था। वही अव छठें संबंधसे विज्ञान अर्थात् प्रकृतिवियुक्त आत्माके ज्ञान निरूपणमें लगी। अर्थात् जो पूर्वकृत साधनोंको प्रकृतिके गुणोंद्वारा समझा था, वही २ अहल्याके लक्ष्यसे क्रमशः सगुणब्रह्मके गुणोंसे जाना और समता अर्थात् सूक्ष्मविषयोंकी वासना त्यागमें बुद्धिकी स्थिरता छठें संबंधके पाँचों प्रसंगोंमें यह झीनीवासनायें भी छूटीं और मनोविकारशुद्धिसे चित्तके योगादि अंशोंको स्वतंत्र पाकर बुद्धिमें स्थिरता दृढरूपसे आई तो वही बुद्धि शवरीजीके लक्ष्यमें चित्तरूपी दीपकका आधार हुई और गीधराजके लक्ष्यमें जो चित्त शुद्ध होकर योग विरागादि छवों अंशोंसहित आत्मस्वरूपमें रत हुआ, तहाँ तक विज्ञाननिरूपिणी बुद्धिने आत्माको प्रकृतिके कार्यावस्थापन्नगुणों (अहंकार) से वियुक्त (पृथक्) साक्षात्कार किया। अव भोक्ता-भोग्य संबंधसे प्रकृतिके महत्तत्त्वसे भी अलग करना दिखाते हैं, कि जव दीपक घृतादि सव हुआ तो वत्ती चाहिये, उसके लिये रुई कपासकी वोड़रीसे होती है वह वोडरी फकली (छिलके) रुई और वेनौरों (वीजों) सहित रहती है, तिसमेंसे फकली और बीज निकालकर केवल रुई ली जाती

है, वैसे ही इस भोक्ता—भोग्य संबंधमें तीनों गुणरूप बीजे और तीनों अवस्थारूप फकलियोंको बुद्धिने अलगकर तुरीयावस्था रूप रुई लिया । पुनः पार्षदरूपसे शेषत्वमें दृढ होनेमें गाढी बत्ती हुई । पुनः जो वह दीप योगाग्निसे लेसा (जलाया) जाता है, उसका आशय यह कि प्रकाशस्वरूप आत्मा हीमें बुद्धिद्वारा योग रहे, अर्थात् प्रकृतिके गुणोंकी प्रकाशकता विस्मरण हो जाय । यहाँ तकमें पूर्वोक्त विज्ञाननिरूपिणी बुद्धिका विज्ञानमय दीपकसाक्षात्कार हुआ अर्थात् आत्माका प्रकृतिके गुण तथा अवस्थाओंसे कुछ भी संबंध न रह गया । यही सत्र और मदादिका नाश मूलकी चौ० ५ से ८ की टि० (७–८–११–१२) में दिखा आये सारांश यह हुआ कि देहेन्द्रियमनादिवृत्ति त्यागकर स्थिरचित्तसे आत्मरूपकी वृत्ति परमात्मामें लगाना पदार्थअभावनी भूमिका है । यथा " **कहे पदारथ बुद्धि लौं, सबको होइ अभाव । यहै पदार्थ अभावनी, षष्ठी भूमि लखांव ॥** " (टीका-बैजनाथ) इस प्रकार यह भूमिका भी इस संबंधमें विशेषरूपसे सहजहीमें आई ॥

अथ नामांतर भगवत्साधर्म्यप्राप्ति ।

(८) संबंधोद्धारके अनुसार इस संबंधके साथ इसके (एक अनीहादिके) '**चित्**' के प्राप्तिका प्रसंग है । वह यथा—यहाँ जीवमें पूर्ण चैतन्यता आई, अविद्या निर्मूल हुई, तथा चिन्मय तुरीयावस्थाकी प्राप्ति हुई ॥

अथ नामान्तर पंचकोशोत्क्रमणक्रम ।

(९) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० ३ टि० (९) में इन कोशोंके प्रमाण लिख आये तदनुसार यहाँ तीसरा मनोमयकोश दिखाते हैं । यथा—इस कोशमें संकल्प विकल्पादि होते हैं, यह सब शबरी—गीधके लक्ष्यमें शुद्ध हुए । पुनः मूलकी चौ० ५ से ८ की टि० (७–८) में मनका संतुष्ट होना भी कहा गया । तहाँ ही इस कोशसे भी जापक मुक्त हुआ ॥

इति श्रीरामवल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्तशरणकृत श्रीमन्मानसनामवंदनायाः तत्त्वार्थसुमिरनीटीकायां सप्तममणिकार्थवर्णने अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इति सप्तममणिकार्थ समाप्त ।

नवमोऽध्यायः ।

अथ श्रीमन्मानसनामवंदनाका आठवाँ दोहा ।

मूल ।

ब्रह्म राम तें नाम बड़, बरदायक बर दानि ।
रामचरित सतकोटि महँ, लिये महेस जिय जानि ॥ २५ ॥

टीका—(१) ब्रह्मजो निर्गुण तथा राम जो सगुण दोनोंसे यह (राम) नाम वड़ा है और वर देनेवालोंको भी वर दाता है । शिवजीने हृदयमें ऐसा जानकर सौकरोड़ रामचरित्रमेंसे (अपने तईं) लिया । (२) ० सौ करोड़ रामचरित्रका आत्मा (प्राण) जानकर लिया ॥२९॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) ऊपर दो० २३ में जो ' कहउँ नाम वड़ ब्रह्म राम तें । ' से उपक्रम हुआ था, उसी प्रसंगका यहाँ ' ब्रह्म राम तें नाम वड़ ' कहनेमें उपसंहार हुआ ॥ ' वरदायक वरदानि ' का भाव यह कि जो वरदेनेवाले त्रिदेव हैं, यथा—"विधि हरि हर तप देखि अपारा । मनु समीप आए वहु वारा ॥ माँगहु वर वहु भाँति लोभाए ।" (वा० दो० १४४) तथा प्रमाण यथा—" सावित्री ब्रह्मणा सार्द्धं लक्ष्मीर्नारायणेन च । शंभुना रामरामेति पार्वती जपति स्फुटम् ॥ महाशंभुर्महामाया महाविष्णुश्च शक्तयः । कालेन समनुप्राप्ता राघवं परिचिंतयन् ॥ " (पुलहसंहितायाम्)

(क) तथा—' वर—दायक वरदानि ' इसमें प्रथम ' वर ' का अर्थ श्रेष्ठका है, अर्थात् जो सवसे श्रेष्ठ (वड़ा) होनेसे ब्रह्म संज्ञासे कहा जाता है, वह निर्गुणब्रह्म, यह अर्थ हुआ, पुनः ' दायक ' शब्द देहलीदीप है और ' वरदानि ' सगुणब्रह्म श्रीरामजी हैं, यथा—मनु प्रति श्रीमुखवचन है, कि " माँगहु वर जो भाव मन, महादानि अनुमानि । " पुनः वहीं पर मनुका वचन है । यथा—" दानिसिरोमनि कृपानिधि । " (वा० दो० १४८–१४९) अर्थात् यह नाम उन दोनोंका दायक अर्थात् देनेवाला है, इसीसे उनसे वड़ा है, क्योंकि ' सोउ प्रगटत० ' में नामका निर्गुणदातृत्व और ' फिरत सनेहमगन० ' में सगुणका सुलभदातृत्व प्रकट भी है, इसी आधारपर ग्रंथकार प्रथम भी नामको वड़ा कहनेकी प्रतिज्ञा किये थे । यथा—" उभय अगम जुग सुगम नाम तें । कहउँ नाम वड़ ब्रह्म राम तें ॥ " (वा० दो० २२) अतः यह अर्थ प्रवल है ॥

(ख) " रामचरित० " यथा—" सत कोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो वामदेव काढ़ि नाम घृतु है ॥ " (वि० २२९)

(२) इसकी कथा इस प्रकार है, कि श्रीवाल्मीकिजीने सौकरोड़ रामचरित्र श्लोक वनाकर शिवजीको श्रीरामभक्ताग्रगण्य जानकर लाके दिखाया, तो कैलाशपर कथा होने लगी, सव लोकवासी सुर मुनि सुनने गये, पीछे संपूर्णचरित्रको हरएक लोकवालोंने ले जाना चाहा । तव शिवजी वरावर ३ भाग लगाकर वाँटने लगे तो सौकरोड़में तीन लोकोंका तीन भाग करते हुए एक श्लोक वचा, जो कि अनुष्टुप्छंदका था, क्योंकि गणना अनुष्टुप्से ही होती है । उसमें ३२ अक्षर होते हैं, तिसके भी तीन भाग करनेपर दो अक्षर शेष रहे, तव शिवजीने कहा, कि तीन होते तो वाँट देते, परंतु दो ही हैं, अतः तीनों लोकोंसे न्यारी जो काशी है, उसके लिये मुझे मिलना चाहिये, यही मेरा भाग है, वे दो अक्षर यही रकार मकार हैं । यह नाम सौकरोड़का जीव है, क्योंकि सव रामचरित्र इसीका अर्थ है, जैसे वीजसे वृक्ष होता है । यह भूमिकामें विस्तारसे दिखा आये ॥

(कं) अथवा ऊपर टि० (क) के अनुसार इन्हें निर्गुण सगुणके प्रापक जीमें जानकर सौ कोटिमेंसे लिया और लिये हुए सदा स्मरण करते हैं ॥

(३) इस कथाका नाम प्रकरणमें मिलान इस तरह है कि ऊपरके भोक्ता-भोग्य संबंधके अ० प्र० नं० ७ टि० (३) में संपूर्ण रामावतार दिखा आये, तिनके गुणोंके लक्ष्यमें जो तीनों शरीरोंकी शुद्धि कही गई, वे शरीरें महत्तत्त्वके एक २ गुण प्रधान थे, तिन्हीं गुणोंके विस्तार तीनों लोक भी हैं, यही तीनों लोकोंका बाँटना हुआ, इन तीनों शरीरोंके साथ तीनों वाणी भी रहती हैं, ऊपर दो० २४ चौ० १-२ की टि० (३) में दिखा आये । तो उन तीनोंको नाम अपने अर्थभूत गुणोंसे शुद्धकर स्वयं परावाणीमें गये, ऊपर दो० २४ चौ० ९ से ८ की टि० (१२) में दिखा आये । वही परावाणी ही तीनों शरीररूप तीनों लोकसे न्यारी काशीसम है । काशीमें नाम काल, कर्म, गुण इन तीनोंकी अपेक्षा छुडा देते हैं । यथा–"**भरत महेस उपदेस हैं कहा करत सुरसरितीर कासी धरम धरनि । रामनामको प्रताप कहैं हर जपैं आप जुग जुग जाने जग वेदहूँ बरनि ॥**" (वि० १८९) अर्थात् काशीमें शिवजी यद्यपि महेश हैं, अर्थात् बडे समर्थ हैं, तथापि अपने प्रभावका भी प्रकाशक जानकर नाम ही उपदेश करते हैं । पुनः पास ही गंगाजी वह रही हैं, जो जीवोंके कोटिन जन्मके पापोंको दर्शस्पर्शमात्रसे शुद्धकर देती हैं, जो यज्ञादि बडे २ कर्मोंसे शुद्ध नहीं हो सकते उनके तीरमें भी उनकी अपेक्षा न करके नाम ही उपदेश करते हैं । पुनः काशी धर्मकी धरणी है, अर्थात् धर्म उत्पन्न करती है, उस धर्मसे वैराग्य पुनः तिससे ज्ञान होता है । यथा–" **धर्म ते बिरति योग ते ज्ञाना ।** " (आ० दो० १७) इसीसे काशी ज्ञानखानि कही जाती है । यथा–" **मुक्ति जन्म महि जानि, ज्ञानखानि अघ हानि कर । जहँ बस संभु भवानि, सो कासी सेइय कस न ॥** " (कि० दो० १) यह सब (धर्म आदि) सत्त्वादिगुणोंके कार्य हैं, अतः गुणोंके सिद्धफलरूप काशीकी भी अपेक्षा न करके नामकाही उपदेश करते हैं । इसका कारण यह है, कि उपरोक्त तीनोंके कार्य नाममें विद्यमान हैं । यथा– शिवजी कालके नियामक हैं, क्योंकि कालके नियामक अग्नि, सूर्य, और चन्द्रमा इनके नेत्र हैं । इससे ये कालकी विषमतासे रक्षा कर सकते हैं । यह बा० दो० १८ चौ० ३ में भी प्रकट हुआ और विधिवत् कर्मोंका फल गंगाजी देती हैं, तथा गुणोंका सर्वस्व काशीसे प्राप्त होता है । शिवजी तमोगुणके देवता हैं, गंगाजीमें रजोगुणप्रधानकर्मका सर्वस्व विद्यमान है और काशीमें सतोगुणका कार्य है, इन्हीं तीनों गुणोंसे तीनों शरीरों तथा अवस्थाओंका होना भोक्ता भोग्य संबंधमें दिखा आये, तिनसे नामने वहाँ अपने शरीररूप चरित्रके अनुसंधानसे रक्षा किया है, वही सब कार्य काशीरूप परावाणीमें नाम विना चरित्रअनुसंधानके भी करते हैं ऊपर पदके अर्थमें प्रकट है, जैसे जीव शरीरका दुःख सुख इन्द्रियोंद्वारा ज्ञान करता है और वही ज्ञान मूर्छादि तथा सुषुप्ति आदि अवस्थामें बुद्धि व इन्द्रियोंके लय होजानेपर भी स्वयं कर लेता है, क्योंकि घोरनिद्रासे जागकर लोग कहते हैं, कि मैं सुखसे सोया था अथवा कुछ गडता रहा,

इत्यादि, इसीसे आत्माकी प्रत्यक् संज्ञा भी है। यथा—"**स्वस्मै स्वेनैव भासमानत्वं प्रत्यक्त्वम्**" अर्थात् जो इन्द्रियादि विना स्वयं अपने सुख दुःखादिका भान करे, वह प्रत्यक् है। तात्पर्य यह है, कि जो आत्मा बुद्धयादि टहलुओंसे कार्य करवाता है, वह चाहे तो स्वयं क्यों नहीं कर सकता जैसे कोई राजा टहलुओंसे कोई काम करवाता हो वह चाहे तो स्वयं भी उस कार्यको कर सकता है, ऐसे ही नाम भी अपने शरीररूप चरित्रद्वारा अर्थात् तिनके अनुसंधानसहित, जो २ कार्य (काल, कर्म, गुणसे तथा तीनों शरीरोंसे रक्षा आदि) करते थे, वही काशीरूप परावाणीमें रहनेसे अब अकेले निमित्तविना ही करेंगे, क्योंकि मूलमें चरित्रके प्राणरूप नामको कहा गया। इसीसे शिवजीने काशीमें केवल नामही लिया। पुनः यही सब कार्य केवल नामद्वारा इस संबंध भरमें होगा ॥

संबंधनिर्णय।

(४) पूर्वोक्त मंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपण प्रसंगमें रामनामसे षडक्षरका होना तथा तिसके मध्यके चतुर्थी (आय) के अर्थसे सब प्रकारकी चाह पुरानेवाले नामको दिखाकर '**आधार-आधेय**' संबंधका होना कह आये। उसका संबंधोद्धार "**जन मन मंजु कंज मधुकर से।**" के अर्थमें करते हुए, पवित्रमनके जापककी चाह पुराने (आधार होने) में दिखा आये, वैसे यहाँ जापक पूर्व भोक्ता-भोग्य संबंधमें विभीषणके शुद्धलंकामें राजा होनेके लक्ष्यमें मनको मंजु (पवित्र) कर चुका है, अतः अब कालक्षेपअवस्थामें जो इन्द्रिय विषयोंके संसर्ग तथा कर्मकामनाओंसे काल, कर्म, गुण तथा अवस्था आदिसे बाधा होंगी, तब उनसे रक्षा करानेकी चाह जापकको होगी तो उसके आधार होने (चाहपुराने) की योग्यता यहाँ अनुसंधानादिविना नामने अकेले दिखाया, इससे यहाँ संबंधका मूल प्रकटा ॥

मूल (चौ०)

नाम प्रसाद संभु अविनासी। साज अमंगल मंगल रासी ॥ १ ॥

टीका--नामके प्रसादसे श्रीशिवजी अविनाशी है, अमंगल साजकी शरीरमें रहते हुए भी मंगलकी राशि है ॥ १ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**साज अमंगल**' यथा--भूत प्रेतोंका संग, भाँग धतूरादि सेवन, चिताभस्मादि लेपन, मुंड़माल धारण, बैल सवारी, सर्पादि लपेटना इत्यादि तथा एक कविने भी कहा है। यथा--"**आपुको वाहन बैल बली बनिताहुको वाहन सिंहहिं पेषिकै। मूसक वाहन है सुत एक औ दूजो मयूरको पक्ष विशेषिकै। भूषण हैं कवि चैन फणीन्द्रके बैर परे सबते सब लेषि कै ॥ तीनहुँ लोकके ईश गिरीश सो योगी भये घरकी गति देखिकै ॥**" (यह कथन व्यंग है) ऐसा इनका साज है कि, क्षण भर भी सुख शांतिसे न रह सकें.

(क) **'मंगलरासी' तथा–'अविनासी'** उपरोक्त साजसे भी मंगलराशि हुए । यथा– **"गरल कंठ उर नर सिरमाला । असिव वेष सिव धाम कृपाला ॥"** (बा० दो० ९१) यह कथा श्रीरामोत्तरतापनीयमें है, कि शिवजीके जीमें चिंता हुई, कि मेरे काशीक्षेत्रमें जो मेरे परायण भक्त रहते हैं, इनकी सुलभगतिका उपाय करें, अतः सहस्रवर्ष आपने षडक्षर-मंत्रराजका जप किया तो श्रीरामजीने प्रकट होकर वर दिया, कि आप इस काशीमें जिसके कानमें यह मंत्र उपदेश करेंगे, उसे आपके समान अविनाशी मुक्ति प्राप्त होगी । यथा– **"जासु नाम बल संकर कासी । देत सबहिं सम गति अबिनासी ॥"** (कि० दो० १०) यह इनके मंगल राशि होनेकी व्यवस्था है, अविनाशी होना कालकूट पीनेमें नाम बलसे हुआ था । पूर्व बा० दो० १८ चौ० ८ में कह आये ॥

(अनुसंधानार्थ)

अव०–ऊपर जो **'नामप्रसाद सोच नहिं सपने'** के प्रसंगमें जापककी जो अवस्था रही । यहाँसे उसीकी रक्षाका प्रसंग है क्योंकि कालक्षेपमें शरीरसंबंधी काल, कर्म, गुणादिसे वृत्तिविक्षेप भी हुआ करेगा तो जैसे अपनेसे पृथक् रहनेके लिये विभीषणादिको श्रीरामजीने प्रसादका अवलंब दिया, अर्थात् वहाँ विभीषणजीको श्रीलक्ष्मणजीसे सुग्रीवजीको श्रीभरतजीसे वस्त्रादि प्रसाद पहिनवाय तिनको सारूप्य वनाय तिनके समान रहना लक्षित किया और वैसेही अंगदजीको अपना सारूप्य किया । तहाँ जीवरूप विभीषणके लिये कालसे रक्षार्थ अष्टकाल स्मरणरूप सेवा दिखाया, यथा–**"कबहूँ काल न व्यापिहिं तोहीं । सुमिरि स्वरूप निरंतर मोहीं॥"** (उ० दो० ८७) और ज्ञानरूप सुग्रीवको कर्मबाधासे रक्षार्थ निष्कामता लखाया, क्योंकि श्रीभरतजीपर क्रियाशक्तिरूपा कैकेयीजीकी बाधा नहीं व्यापी तथा सत्त्वादिगुणरूप अंगदको अपने वस्त्रादिसे दिखाया कि गुणोंमें हमाराही प्रकाश सदा स्मरण रखनेसे वह निर्विघ्न रहते हैं, यथा–**'सत्त्वं सत्त्ववतामहम्'** (गीता. अ० १०) शेषवानरोंको अंगदजीसम विचारना चाहिये । वैसे यहाँ जापकके लिये ही तीनों अवलंब चाहिये, वह नामका प्रसाद अगली टि० से दिखाते हैं:–

(२) यहाँ जैसे शिवजीका उपरोक्त अमंगल साज है, कि अपने अंगका विपरीत साज और स्त्री पुत्रादि भी विपरीत ही साजवाले हैं, वैसा ही तुरीयावस्थाके ज्ञानीको पृथ्वीतत्त्वके गंधविषयका भयंकर स्वरूप देख पडता है, क्योंकि पृथ्वीतत्त्वका परिणाम शरीर है, उसकी ओर वृत्ति होनेसे इस ज्ञानीको उपरोक्त **'फिरत सनेहमगन सुखअपने'** के निजानंदसे विक्षेप होता है तो इस शरीरका साज तथा इसके सहयोगी जो प्राकृतसुख प्रद हैं, (आवरण निरूपणमें जितने गंधविषयमें परिगणित हैं) वे सब ऐसे ही विपरीत देख पडते हैं, क्योंकि जैसे इस पार्षदस्वरूपतामें सुख रहता है, वैसा ही श्रीरामराज्यसे अवधवासियोंको आशा थी किंतु वनवास करके विक्षेप होनेपर उनको भी यही अमंगलसाज देख पडा । यथा–**"लागति अवध भयावनि भारी । मानहुँ काल राति अँधियारी ॥ घोर जंतु सम पुर नर**

नारी। डरपहिं एकहिं एक निहारी॥ घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥" (अ० दो० ८२) अर्थात् जैसे शिवजीका भयंकर स्वरूप है, तथा भूतप्रेत गण हैं, जो भयंकर रातमें विचरते है और घोरजंतु साँप विच्छू आदि लपेटे रहते हैं वैसे इस शरीरका साज इस ज्ञानीको दिखाता है तो फिर पृथ्वीपरिणामशरीरसंगसे, तिसकी गंधतन्मात्रासे इसकी धर्मोंकी ओर भी वृत्ति दौड़ती है, तव इसे नामप्रसादसे अपना धर्मरूप वैलपर सवार होना जान पडता है, तथा उन धर्मोंके प्रकाश करनेवाली सत्त्वादि गुणों सहित बुद्धि गुणरूप सिंहपर सवार दिखाती है, पुनः ऐसा जान पडता है कि जब हम धर्मरूपी वैलपर चढेंगे, अर्थात् धर्मकी इच्छा करके इसके पास जायँगे तो वह वलीवैल अवश्य हुँकडेगा, अर्थात् कर्तृत्वाभिमान होगा ही, तब सिंहका तो यह स्वभावतः आहार ही है, फिर हुँकडनेपर कब छोडेगा अर्थात् खा जायगा, यथा--"**कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।**" (गीता. अ० १३) पुनः इन्द्रियरूप सेनासे कर्म करानेवाला मन सुरसेनप (स्वामिकार्तिक) सम देख पडेगा, क्योंकि यह भी उनकी तरह षडानन है, यथा--"**मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।**" (गीता. अ० १५) स्वामिकार्तिकका वाहन मोर है, जो सर्पोंके खानेके लिये जहाँ तहाँ दौडता है, वैसे यह मन स्वभावरूप वाहनसहित काम क्रोधादि छवों सर्पोंके लिये दौडता है। यथा--'**खाए उरग छहूँ।**' (वि० ८७) और कालरूप जो शिवजीको कह आये, वे अहंकारके देवता हैं, वह अहंकार कर्मवृत्ति सहित होकर शिवपुत्रगणेशसम गजाननरूप देख पडेगा क्योंकि अभिमान इसका सहजविकार है, इसीसे गजवत् है, यथा--"**पसु पामर अभिमानसिंधु गज०**" (वि० १४९) जैसे गणेशजीकी सवारी अधोगतिवाले मूसाकी है, वैसे यह वृत्तिभी अधोगतिवाली देख पडेगी। यहाँ शिवजीके साजमें कालविकार, स्वामिकार्तिकमें गुण विकार और गणेशजीमें कर्मविकार तथा पार्वतीजीमें भी स्वभावांतर गुणविकारका लक्ष्य है। इस साजमें जैसे शिवजी केवल नामाराधनसे मंगलरूप रहे, ऊपर दोहेके अनुसार गंगाआदिकी अपेक्षा न करना पडा, क्योंकि इस समय नाम परावाणीमें हैं, इससे पार्वती और गणेशादि सबकी रामाकार वृत्ति होगई। **प्रश्न**--स्वामिकार्तिककी कहाँ? **उत्तर**--श्रीरामविवाहमें प्रकट है। यथा--"**सुरसेनप उर अधिक उछाहू। विधि ते डेवढ सुलोचन लाहू॥**" (वा० दो० ३१६) वैसे ही तुरीयाकी वृत्तिमें विक्षेपसे जो ३ काल, कर्म, गुणकी विषमतासे भय है, नाम प्रसादसे वह निवृत्त हो जायगा और फिर मन अहंकार तथा बुद्धि आदिकी पूर्ववत् रामाकार वृत्ति हो जायगी और यह पार्षदरूपसे मंगलादिमें रत हुआ मंगलराशि होकर रहेगा, यह सामर्थ्य केवल नाम हीमें है, छठवें सातवें संबंधकी तरह गुणोंके अनुसंधानादिकी अपेक्षा नहीं है, ऊपर दोहामें दिखा आये, ऐसे ही आगे इस संबंध भरमें जानना चाहिये *॥

नोट--*यह (आधार आधेय) संबंध पूर्वोक्त 'रक्ष्य-रक्षक संबंध' के गुणोंका प्रकाशक तथा फलस्वरूप भी है। वहाँ जो नवों संबंधोंके अनुसंधानसहित साधन कहा गया, तथा--

जीवकी स्वस्वरूपस्थिति ।

(३) यहाँ अनित्य शरीरमें बुद्धयादिकी सहायता विना तथा काल, कर्म और गुणादि अपेक्षा विना जीवकी आनंदपूर्णता रहनेमें पूर्वोक्त छठवें संबंध सारांशकी प्रकटी हुई '**ज्ञानानंद-स्वरूपता**' की निर्विघ्न स्थिति साक्षात्कार हुई । यहाँ नामने अपने '**वैराग्य**' * ऐश्वर्यसे चाह पुराया ॥

नामान्तर नवों संबंध तथा विभव ईश्वरत्व ।

(तात्पर्यार्थ)

(४) इसके साधनरूप रक्ष्य-रक्षक संबंधके '**राम लषन सम प्रिय तुलसीके**' में जो गंधविषयसे रक्षक '**पिता-पुत्र**' संबंध कहे थे, उसके यहाँ सब कार्य देख पडे । जैसे वहाँ संसारीनातोंका त्याग हुआ वैसे यहाँ भी, तथा जैसे वहाँ पिता माता आदि रूपसे उपकार करना नामहीका दिखाया गया. वैसे यहाँ भी केवल नामहीका चाहपुराना है और वहाँकी तरह यहाँ भी काल कर्मादिकी रक्षा नाममें विद्यमान है, अतएव वहाँकासा नामका '**मीनावतार**' यहाँ भी सिद्धरूपमें हुआ और यहाँ जो नामके प्रसाद (प्रसन्नता) से ही कार्य हुआ. यही गुण व सामर्थ्य इनका वहाँ भी था । इस विचारसे वहाँका अपने अनुसंधानादिके निमित्त होनेका विषयानुराग निवृत्त हुआ ॥

मूल (चौ०)

सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी । नामप्रसाद ब्रह्मसुख भोगी ॥२॥

टीका–श्रीशुकदेवजी और श्रीसनकादिक (सनक, सनातन, सनंदन, सनत्कुमार) जो सिद्ध, मुनि और योगी नामहीके प्रसादसे ब्रह्म सुखके भोगी हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**सुक**' यथा–शुक उवाच–“ **यन्नामवैभवं श्रुत्वा शङ्कराच्छुकजन्मना । साक्षादीश्वरतां प्राप्तः पूजितोऽहं मुनीश्वरैः ॥ नातः परतरं वस्तु श्रुतिसिद्धान्त-**

–उनके साथ २ विभवस्थिति भी कही गई । वह सब यहाँ भी त्योंही दिखावेंगे । वहाँ दशवाँ अवतार जैसे आगेके दोहेमें आया था, वैसे यहाँ भी अगले तटस्थ दोहेमें होगा और छठवें संबंध सारांशमें जो जीवोंके स्वरूपप्रयुक्त ज्ञानानंदस्वरूपतादि छः गुण ज्ञात हुए थे, उनका भी यहाँसे लेकर छठवीं चौ० तकमें निर्विघ्न स्थित होना कहा जायगा और सातवें संबंधसे प्राप्त अवस्थाकी निर्विघ्नस्थिति चौ० ७ में प्रकट होगी । उपरोक्त नवों संबंधोंके ' कोशानुसार ' अनुसंधानकी यहाँ चतुर्थावृत्ति है ॥

नोट–*जीवके गुणोंके साथ इन षडैश्वर्योंका बा० दो० २२ चौ० ८ टि० (२) भरमें मिलान कर आये हैं, वैसे ही यहाँ तथा आगे छठवीं चौ०तक भी जानना चाहिये ॥

गोचरे। दृष्टं श्रुतं मया क्कापि सत्यं सत्यं वचो मम॥" (शुकदेवसंहितायाम्)
अर्थात् एक समय शिवजी पार्वतीजीको अमरकथा रामनाम सुनाते थे। वहाँ यद्यपि करतालीसे सब पक्षियोंको उड़ा दिये थे, परन्तु संयोगसे एक अण्डा जो बयण्डा होगया था, कहीं समीपमें रह गया। वह सुनते ही सजीव होगया और फिर सुनने लगा। किसी समय पार्वतीजीको निद्रा आगई, तब वही हूँ हूँ करने लगा। जानतेही शिवजीने छल समझकर त्रिशूलसे मारना चाहा, तब वह उडता हुआ व्यासजीकी स्त्रीके मुखसे उदरमें प्रवेश कर गया फिर वही शुकदेवजी प्रकट हुए, कि जो कर्मसंस्कार होनेसे प्रथम ही विरक्त हो गये और परमहंसोंके गुरु कहाये। इसी बातको स्मरण करते हुए शुकदेवजीने स्वयं कहा है, कि जिसके नामके ऐश्वर्यको शिवजीसे सुनकर हम ऐसे शुक्र जन्मसे भी परमश्रेष्ठता पाये और मुनीश्वरोंसे भी पूज्य हुए, अतः नामसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहताहूँ। ऐसा ही और भी प्रमाण है। यथा—
'**व्यासपुत्रः शिवांशश्च शुकश्च ज्ञानिनां वरः॥**' (ब्रह्मवैवर्तपुराणे अ० १०)

(२) और सनकादिकोंका भी नाम ही आधार होना उनके ही वचनों (सनत्कुमार संहिता) से प्रकट है। यथा—'**किं तत्त्वं किं परं जाप्यं किं ध्यानं मुक्तिसाधनम्।**' इसके उत्तरमें परम जाप्य नामहीको कहा है, यथा—"**श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्म संज्ञकम्। ब्रह्महत्यादिपापघ्नमिति वेदविदो विदुः॥ श्रीरामरामेति जना ये जपंति च सर्वदा। तेषां भुक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न संशयः॥**" (श्रीरामस्तवराज)

(अनुसंधानार्थ)

(३) यह चौ० पूर्वोक्त रक्ष्य-रक्षक संबंधकी चौ०'**ब्रह्म जीवसम सहज संघाती।**' का नामगुण प्रकाशक तथा उसकी सिद्धावस्थाप्रापक है। वहाँ कई श्रुतियोंके प्रमाणसे जो जीवका इन्द्रिय अंतःकरणके विषयोंसे मनको हटानेसे ब्रह्मसुखका लाभ कहा गया। उसी प्रसंगका नामगुण यहाँके लक्ष्यसे दिखाकर तत्संबंधी विषयानुराग निवारण करते हैं। यथा— विषयास्वादनका आधार रसना है, क्योंकि इससे ही सब सरस पदार्थ खाये जाते हैं, तब उसीके रससे सब कर्मेंद्रियोंमें तथा इस (रसतन्मात्रा) की कर्मेंद्रियलिंगमें विषयास्वादनकी प्रबलता होती है, उन सरस पदार्थोंमें दूध सबसे प्रबल है, वही मुख्य विषय सनकादिकोंका था, परंतु उससे भी नामद्वारा सनकादिकोंकी रक्षा हुई, कि काम विकारवाली अवस्था ही न आने पाई, क्योंकि यह विकार मनुष्योंमें पाँच वर्षकी आयुके उपरांत व्यापता है और इनकी आयु पाँच वर्षके भीतरकी ही रहती है। यथा—'**देखत बालक बहुकालीना।**' (उ० दो० ३१) इस लक्ष्यमें चार भाइयोंके दिखानेका तात्पर्य यह है, कि कामासक्त होनेसे मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चारों अंधे होजाते हैं जैसे सनकादिक अवस्थानुसार उस आहारविना न रह सकते थे, वैसे जापकको भी शरीर संबंधसे रसनाके विषय बरबस ग्रहण करने पडते हैं, तो भी जैसे सनकादिकोंको उसका विकार नहीं व्यापने पाया, वैसे जापकको भी उपरोक्त '**ब्रह्मजीव०**' के लक्ष्यमें लाभ हुआ। पुनः नामाधारसे जैसे उन्हें ब्रह्मसुखमें विक्षेप नहीं होता था, वैसे

यहाँ जापकको भी जो तुरीयावस्थामें प्राप्त है, इस ब्रह्मसुखमें निर्वाहमात्र रसविषय संसर्गसे अंतःकरणद्वारा विक्षेप न होगा ॥

(क) पुनः दूसरे प्रकारका रसविषय रसनासे खट्टा मीठा आदि ग्रहण करना है। इस विषयसे मन और अंतःकरण चपल होते हैं तो ज्ञानेन्द्रियोंसहित नाना प्रकारके विषयप्रापक कर्मोंको कर २ के तिनके फलोंकी कांक्षा होती है, तब जैसे सुवा नाना प्रकारके फलोंके स्वादहेतु अनेकों वृक्षोंपर उड २ कर बैठा करता है वैसेही मनभी शरीररूप वृक्षकी इन्द्रियरूप डालियोंपर कर्मफल आस्वादनके लिये उड २ कर बैठता है अर्थात् स्थिर नहीं रहता। ऐसी बाधासे जापककी नामने पूर्वही '**ब्रह्मजीव सम०**' प्रसंग (रस-ईहा निवृति) में रक्षा किया। पुनः जैसे शुकदेवजीकी सुवाकीसी रसना तथा मुख था, कि जिससे फलास्वादन विना न रह सकें, पर उन्हें नामप्रसादसे कर्मफल संपादनकी अवस्था ही न आने पाई, क्योंकि कर्मका अधिकारी तो द्विजातीय, आदि संस्कारोंसे होता है, इसीसे कर्मोंकी विक्षेपकारक बाधाविना वे ब्रह्मसुखके एकरस भोक्ता रहते हैं। वैसेही नाम अपने प्रसाद (प्रसन्नता) से यहाँ तुरीयावस्थाके इस जापककी षड्रससंसर्गमें तजन्य कर्मबाधासे रक्षा करेंगे, तब इसकाभी ब्रह्मसुख एकरस पूर्ववत् बना रहेगा ॥

(४) शुक सनकादिकी ब्रह्मसुख भोगनेकी अवस्थाका ग्रंथकारने इनके विशेषणोंसे परिचय दिया है यथा—"**सिद्ध, मुनि, योगी**" यह तीन विशेषण मूलमें हैं, तिनमें सिद्धसे ब्रह्मके '**सत्**' का, मुनिसे '**चित्**' का और योगीसे '**आनंद**' का भोगी दिखाया है। **सिद्ध** यथा—"**सिद्धानां कपिलो मुनिः**" (गीता. अ० १०) वे कपिलमुनि तत्त्ववेत्ताओंमें शिरमौर थे यथा—"**आदिदेव प्रभु दीनदयाला। जठर धरेउ जेहि कपिल कृपाला॥ सांख्यसास्त्र जिन्ह प्रगट बखाना। तत्त्वबिचार निपुन भगवाना॥**" (बा० दो० १४१) और तत्त्वज्ञोंके सिद्धान्तमें '**असत्**' जो देहव्यवहार है, उसे अनित्य (सदा एकरस न रहनेवाला) जानकर '**सत्**' (सदा एकरस रहने वाले) आत्माको ग्रहण करना है यथा—"**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥**" (गीता. अ० २) अतः वहाँ नाम प्रसादसे सिद्ध होनेमें शुकादिको '**सत्**' का भोगी लखाया। तथा सिद्धशब्दसे आत्माकी एकरसध्याननिष्ठाका स्फुटभी प्रमाण है। पूर्व ही बा० दो० १८ चौ० ४ टि० (४) में दिखा आये। वहाँ ही इसे निष्काम कर्मका फल भी लिख आये। अतएव सिद्ध करनेमें नामका '**कर्म**' से चाह पुराना हुआ ॥

(क) '**मुनि**' यथा—"**मुनीनामप्यहं व्यासः**" (गीता. अ० १०) अर्थात् मुनियोंमें श्रेष्ठ व्यासजी हैं जिन्होंने संपूर्ण ज्ञानादिगुणप्रकाशक वेदोंका विभाग किया, पुनः उसका सारतत्त्व ब्रह्मसूत्र (वेदान्त) रचा, जिससे ब्रह्मका '**ज्ञान**' (**चित्**) हुआ, जो संपूर्ण सत्त्वादि गुणोंके पुरुषार्थका फल है। इससे यहाँ शुकादिके प्रति नामका '**गुण**' द्वारा

चाहपुराना सिद्ध हुआ, तथा नामाश्रित होनेसे इस लक्ष्यसे जापक भी व्यास शुकादिकी तरह '**ज्ञानगुणक**' (ज्ञानगुण पैदा करनेवाला) हुआ ॥

(खँ) तथा–'**जोगी**' का भाव यह कि योगियोंका ध्येय भगवान्‌का विराट्‌रूप है। यथा–"**कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्** । " (गीता. अ० १०) अर्थात् अर्जुनने भगवान्‌से पूँछा, कि मै योगी होकर आपका कैसे चिंतवन करूं । तब भगवान्‌ने विराट् ऐश्वर्य कहा, बोध न होनेपर वही दिखाया और उस रूपका नाम स्वयं काल कहा । यथा–"**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः । ऋतेपि त्वां न भविष्यंति सर्वे** ० " (गीता. अ० ११) यहाँ जो योगीके लिये लोकोंका नाश करना कालरूपसे कहा है, ऐसे ही भोक्ता-भोग्य संबंधमें जापकके तीनों शरीररूप तीनों लोकोंका नाश नामसे हुआ, जिससे '**आनंदगुणक**' तुरीयावस्थाकी इसे प्राप्ति हुई थी । अतः योगी करनेमें नामका ब्रह्मके '**आनंद**' का भोगी कराकर शुकादिकी चाहपुरानेमें '**काल**' रूपसे आधार होना है ।

(गँ) यहाँ तकके '**सिद्ध मुनि जोगी**' लक्ष्यसे नाम जप करनेवालेको '**सच्चिदानंद**' रूप ब्रह्मके सुखका भोगी होना तथा नामका '**काल कर्म गुण**' द्वारा चाह पुराना सिद्ध हुआ ॥

जीवकी स्वस्वरूपस्थिति ।

(५) पूर्वोक्त छठें संबंध सारांशकी प्रकटी हुई इसकी '**ज्ञानानंदगुणकता**' यहाँकी ऊपरकी टि० (कँ–खँ) के अनुसार निर्विघ्नस्थितिसहित साक्षात्कार हुई और नाम अपने '**ज्ञान**' ऐश्वर्यसहित आधार हुए ॥

नामान्तर नवाँ संबंध तथा विभव ईश्वरत्व ।

(तात्पर्यार्थ)

(६) ऊपर टि० (३) में पूर्वोक्त '**रक्ष्य-रक्षक**' संबंधका नाम-गुण और उसकी सिद्धावस्था दिखा आये । वहाँकी तरह यहाँ भी ११ इन्द्रिय ३ अंतःकरणरूप १४ रत्नोंका रस-विषयरूप समुद्रसे अलग करना हुआ और आतमबुद्धिरूपा लक्ष्मीका साक्षात्कार हुआ तथा अमृतप्राप्तिकी तरह ब्रह्मके सत्, चित्, आनंदके भोगमें क्रमशः तुष्टि, पुष्टि, अमरत्वका लाभ हुआ, इससे यहाँ भी नामका '**कमठावतार**' सिद्धरूपमें आया और यहाँका यह सब कार्य नामके प्रसादसे ही हुआ, यह लक्ष्यसे ज्ञात हुआ । अतएव पूर्वोक्त '**रक्ष्य-रक्षक**' संबंधमें भी नामका यही गुण था, यह निश्चय हुआ ॥

मूल (चौ०)

नारद जानेउ नामप्रतापू । जगप्रिय-हरि-हरि-हरप्रिय आपू ॥ ३ ॥

टीका–श्रीनारदजीने नामका प्रताप जाना, जगत्‌को हरि प्रिय हैं, हरिको हर (महादेव) प्रिय हैं, तथा हरको वा हरि-हर दोनोंको आप (नारदजी) प्रिय हैं ॥

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) '**जगप्रिय०**' में मालादीपक अलंकार है । यथा-"**जग जपु राम रामजपु जेही ।**" (अ० दो० २१७) '**नामप्रतापू**' का भाव पूर्व '**भवभयभंजन नामप्रतापू ।**' में कह आये । पुनः लक्ष्य यथा-"**कलसजोनि जिय जानेउ नाम प्रताप । कौतुक सागर सोखेउ करि जिय जाप ॥**" (बरवा रा०) '**जगप्रियहरि**' यथा-'**ए प्रिय सबहिं जहाँलगि प्रानी ।**' (बा० दो० २१५) '**हरिको हरप्रिय**' यथा-'**कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरे ।**' (बा० दो० १३७) '**हरिहरको नारद प्रिय**' यथा-'**करत दंडवत लिए उठाई । राखे बहुत बार उर लाई । ० कवन वस्तु अस प्रिय मोहिं लागी । जो मुनिवर न सकहु तुम माँगी ॥**" (बा० दो० ४३-४४) (इति हरिप्रियत्व) तथा-"**मारचरित संकरहिं सुनाए । अतिप्रियजानि महेस सिखाए ॥**" (बा० दो० १२६) (इति हरप्रियत्व)

(अनुसंधानार्थ)

(२) श्रीनारदजीका नामप्रताप जानना इनके मोहप्रसंग (बा० दो० १२४ से १३८) में प्रकट है यथा-ऊपर टि० (१) के अनुसार नामप्रतापसे भव-भय अर्थात् जन्ममरण नाश होता है और जन्ममरणका कारण देहाभिमान है, उसकी समुद्रकी भी उपमा है । यथा-"**कुनपअभिमान सागर भयंकर०**" (वि० ५९) ऐसे ही सागरका सोखना नामप्रतापसे ऊपर टि० (१) में कहा है । जीवका सहजस्वरूप '**अणु**' है, कारणशरीरके ग्रहण करते ही देहाभिमानी होता है । कारणशरीर काल, कर्म, गुण, तीनोंके दोषसे होता है, उसका अविद्या ही कारण है, ऊपर सातवें संबंधमें दिखा आये । श्रीनारदजी सदा अपने '**अणु**' स्वरूपमें स्थित रहते हैं । इसीको दो घड़ीसे विशेष न ठहरनेकी शापमें घटना है, क्योंकि जीव अपने शुद्धस्वरूपसे अवस्थाकी दो ही घड़ीमें अखिलब्रह्मांडोंकी योनियोंमें अनेकोंवार जन्मते मरते फिर अणुरूपसे भगवत्समीपमें प्राप्त होते हैं । अथवा भगवत्प्राप्ति होनेपर कोटिन कल्पोंका दुःख इसे दोही घड़ीकासा जान पड़ता है । यथा-"**एक २ ब्रह्मांडमहँ, रहेउँ कल्पसत एक ।**" "**भुवन २ देखत फिरेउँ, प्रेरित मोह समीर । ० उभय घरी महँ मैं सब देखा ।**" (उ० दो० ८०-८१) इस प्रकार विचारना आत्मचिंतवन कहाता है । बा० दो० १९ चौ० ६ टि० (६) में दिखा आये तदनुसार अपने अणुत्व व नित्यत्वादिके आधारपर विचारना कि यह जो योनियोंमें भ्रमण करनेकी अवस्था है सो अनादि मायाके वश होनेसे है । यही सम्हाल श्रीनारदजीका सदा रहता है । यह अवस्था कालसे पर है, क्योंकि काल तो देहाभिमानियोंको नाश करता है । पुनः जब इन्होंने नामस्मरण किया तो समाधिमें स्थित हुए, समाधि अर्थात् सम-सम्यक्प्रकार, अधि-प्राप्ति, अर्थात् सम्यक्प्रकारकी प्राप्ति, जो जापकको भोक्ता-भोग्य संबंधके "**फिरत सनेह मगन सुख अपने ।**" में कह आये, अर्थात् उसी अणुस्वरूपसे

अपने सत्यसंकल्प गुणद्वारा अपने इष्टके अनुरूप पार्षदरूप होकर सेवामें रहना सम्यक्प्रकारकी प्राप्ति है, यह अवस्था नारदजीकी हुई तो पूर्वकी शापगति बाध गई अर्थात् इस शापका अर्थ विशेषज्ञानके अनुभवका है पूर्व अ० प्र० नं० २ टि० (९) में दिखा आये अतः जैसे प्राकृतरूपके देहाभिमानियोंको मायावश होकर भ्रमणका भय रहता है वैसे उस दिव्यरूपमें न रहा, क्योंकि वह तो चिदानंदमय स्वरूप है। यहाँ नामने दो घड़ीका नियम तोड़कर कालसे रक्षा किया तो फिर कर्मोंके अधिष्ठाता अर्थात् कर्मेन्द्रियहस्तके देवता इन्द्रने काम भेजकर उपद्रव किया इस कर्मबाधाके साथ २ क्रोध कराकर गुणबाधा भी करना चाहा। यथा–" **संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ॥** " (गीता अ० २) अर्थ–कर्मका संग अर्थात् कर्तृत्वाभिमान करनेसे काम अर्थात् कामना उपजती है, उसकी हानिसे क्रोध और उससे मोह तिससे स्मृतिविभ्रम अर्थात् स्वस्वरूपसम्हालमें भ्रम होता है। अतः कामके आनेमें कर्मबाधा और क्रोधके उद्योगमें ज्ञानादिनाशक गुणबाधा हुई। उससे भी नाम हीने रक्षा की यथा– " **कामकला कछु मुनिहिं न व्यापी** " तथा–" **भयउ न नारद मन कछु रोषा।** " इत्यादि, इसी प्रकार इस लक्ष्यसे यहाँके पार्षदरूप जापकके भी सेवाकर्ममें कर्तृत्वाभिमानकी कामबाधासे तथा विक्षेपादिमें क्रोधबाधासे नाम रक्षा करते हैं। नारदजीकी समाधिमें बाधा न होनेका कारण यह है, कि यह सब बाधा तो प्राकृतरूपके कर्मोंमें होती हैं, इस प्रकार नारदजी कारणमायासे नामके प्रतापसे बचे। इसीमें जो कामारि हुए तो समानता (सजातित्व) होनेसे शिवजीके प्रिय हुए और वैसे ही क्रोध जीतनेसे विष्णुभगवान्के प्रिय हुए क्योंकि उन्होंने भी भृगुमुनिके पदप्रहारमें क्रोध जीता रहा। सजातित्वसे प्रियत्व यथा–" **रहिमन यों सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत। ज्यों बड़री अखियाँ निरखि, आँखिनको सुख होत ॥** " किंतु उपरोक्त कार्यमें नामका प्रताप नारदजीने प्रथम नहीं जाना, उसीसे अभिमान उपजा तो वही भक्ति मायारूप होगई। अर्थात् उसी दिव्यरूपमें कर्तृत्वाभिमान होते ही प्राकृतरूपाभिमान आगया तो कालवश हुए। पुनः उस विश्वमोहनीके रूपमें कामासक्त हुए तो कर्मबाधा हुई, क्योंकि स्त्रीसंग करना कर्म हैं। यथा–"**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥** " (गीता. अ० ८) तथा माया स्त्रीरूप है, उसका संग कर्मसे ही होता है। पुनः क्रोधवश होकर भगवान्को शाप देनेमें गुणबाधा हुई। इन तीनों बाधाओंको जब स्वयं न सम्हाल सके और भगवान्ने रक्षा किया तब उनके नामका प्रताप जाना कि, जिन्होंने अभी हमारी माया हरी। इसी गुणसहित इनके नामने हमें पूर्व इन्हीं तीनों बाधाओंसे बचाया है जो वहाँ प्राकृतरूपाभिमान होने ही न पाया था, जिससे हम हरिहरप्रिय हुए।

जीवकी स्वस्वरूपस्थिति।

(३) पूर्वोक्त छठें सं० सारांशकी प्रकटी हुई इसके यहाँ '**अणुस्वरूपता**' की निर्विघ्नस्थिति हुई तथा नामका अपने '**श्री**' ऐश्वर्यसे आधार होना भी स्पष्ट हुआ ॥

नामांतर नवों संबंध तथा विभवईश्वरत्व।

(तात्पर्यार्थ)

(४) पूर्वोक्त बा० दो० १९ चौ० ९ के अरूपकारक **शेष--शेषी सं०** की सिद्धावस्था यहाँ केवल नामके प्रताप (प्रसादसे भी) से प्राप्त हुई, क्योंकि उस संबंधके साक्षात्कार प्रकरणके '**एक छत्र एक०**' में जो जीवके अणुरूपका शेषत्व कहे थे, वही यहाँ नारदजीके सहजस्वरूपमें दिखाये और जो '**अगुन सगुन०**' में सगुणशेषत्व कहे थे, वह भी समाधिके लक्ष्यमें है यहाँ इसके प्रापक तथा रक्षक नाम प्रकट हुए, अतएव वहाँ भी यहाँकी तरह अरूपकारकतामें नामका यही गुण रहा, वहाँका सब कार्य यहाँ सिद्धरूपसे हुआ, अतः वहांकासा '**वाराहअवतार**' नामका यहाँ भी विचारना चाहिये ॥

मूल (चौ०)

नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥४॥

टीका--नाम जपनेसे प्रभुने अनुग्रह (प्रसन्नता प्रकट) किया, (जिससे) प्रह्लादजी भक्तोंमें शिरोमणि हुए ॥ ४ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) '**भगतसिरोमनि**' कहनेका भाव यह कि द्वादश परमभागवतोंमें इनकी गणना प्रथम है। यथा--"**प्रह्लादनारदपराशरपुंडरीकव्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्। रुक्मांगदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन् पुण्यानिमान् परमभागवतान्स्मरामि ॥**"(पांडवगीता) और यहाँ (नाममें) इनके ऊपर नारदजीके लिखे जानेका हेतु एक तो तत्त्वोंके विचारका क्रम है, दूसरा यह कि नारदजी प्रह्लादजीके गुरु हैं।

श्रीप्रह्लादजीकी कथा।

(२) इनका यश अनेकों पुराणोंमें गाया हुआ है । हरिइच्छासे सनकादिकोंने वैकुंठमें जय विजयको तीन जन्म राक्षस होनेका शाप दिया, उनके लिये भगवान्ने तीन अवतार लेकर उद्धार करनेकी प्रतिज्ञा भी किया. वे ही दोनों पहिले जन्ममें हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप हुए जब हिरण्याक्षको भगवान्ने वाराह अवतार लेकर मारा, तब हिरण्यकश्यपने ब्रह्मासे तप करके वर माँगा कि, मैं किसी आयुधसे, किसी जीवसे एवं रातमें और दिनमें तथा घरमें और बाहरमें और किसी भी लोकमें न मरूँ. ब्रह्माजीने वैसा ही वर दिया। वर पानेसे पहिले जब यह तप करता था, तभी उसकी स्त्रीके गर्भमें प्रह्लादजीको जानकर श्रीनारदजीने उसे इन्द्रसे बचाया और ज्ञानोपदेश किया, पुनः कहा कि, यह उपदेश इस स्त्रीको न प्राप्त होकर इसके गर्भके बालकको धारण होगा, वैसा ही हुआ। जब हिरण्यकश्यप वर पाकर राज्यकरने लगा, तब प्रह्लादजीको रामनाम रटते देखकर अपने प्रतिकूल जानकर

दुःख देने लगा । यहाँ तक कि पहाड़से गिरवाया, हाथीसे कुचलवाया, हत्यारोंद्वारा प्राण लेनेका उद्योग किया, हालाहलविष दिवाया और अपनी वहन होलिकाकी गोदमें बैठाकर चितामें अग्निसे जलवाया परन्तु नामके प्रसादसे उस दुष्टके सब उपाय निष्फल हुए. होलिकाको जो अग्निकी सिद्धिका वल था, वह तो जल गई पर आपका बाल भी बाँका न हुआ। पश्चात् वह स्वयं तलवार लेकर इन्हें खंभेमें बँधवाकर मारनेपर उद्यत हुआ और पूँछने लगा कि, बता तेरा रक्षक कहाँ है ? आपने कहा सर्वत्र. फिर उसने कहा कि, क्या इस खंभेमें भी ? आपने कहा निस्संदेह. तब देखनेपर उसे भी खंभेमें नरसिंह भगवान्का आकार देखपड़ा, त्यों ही उस दुष्टने खंभेमें मुष्टिका मारी तब खंभेमेंसे प्रचंडशब्दके साथ२अतितेजमय भयानक एक ऐसी मूर्ति देख पड़ी कि, जिसे वह न तो मनुष्य ही कह सकता था और न सिंह ही समझ सकता था । यह अवतार वैशाख शुक्ल चतुर्दशीको मध्याह्न कालमें मुलतान देशमें हुआ था । बहुत कालतक युद्धकरके भगवान्ने उसे संध्यासमय घरकी देहलीपर बैठकर अपनी जंघापर नखोंसे विदार डाला । आपका अत्यन्त क्रोध देखकर सब डरे, तब देवताओंके स्तुति करनेके पीछे प्रह्लादजीकी स्तुतिसे प्रसन्न हुए और इन्हें वर दिये तथा इनकी अनिच्छा पर भी अपनी प्रसन्नतासे राज्यतिलक करके भगवान् अंतर्द्धान हुए, तबसे ये भक्त शिरोमणि कहाये । यथाः-“ **प्रेम वदौं प्रह्लादहिंको जिन पाहनते परमेश्वर काढ्यो ॥** ” तथा-“**काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ पितु काल कराल विलोकि न भागे । राम कहाँ ? सव ठाउँ हैं खंभमें ? हाँ सुनि हाँक नृकेहरि जागे । वैरि विदारि भए विकराल कहे प्रह्लादहिंके अनुरागे । प्रीति प्रतीति वढ़ी तुलसी तवते सव पाहन पूजन लागे ॥** ” (क० उ० १२७-१२८)

(अनुसंधानार्थ)

प्रह्लाद और जापकका मिलान ।

(३) अब जापककी अवस्थाका प्रह्लादजीमें मिलान करते हैं कि, जैसे प्रह्लादपर कलि-कालरूप हिरण्यकश्यपने अपने अनुकूल गुण सिखाकर कर्म करानेकी चेष्टा की, वैसे ही इस तुरीयावस्थाके जीवको भी शेषआयुके कालक्षेपमें कालानुसार गुणोंकी विषमतासहित कर्मकामनायें होंगी, वह नामप्रसादसे न व्यापेंगी । कलिकालका रूपक आगे वा० दो० २७ में भी कहेंगे जैसे हिरण्यकश्यपने उन्हें पहाडसे गिरवाया वैसे ही आजदिन भी बहुत लोगोंकी मति इस जापकको प्रतिकूल कलिरूप दिखावेगी । अर्थात् वे इसकी ऊँची अवस्थाकी जो वढ़ाचढ़ाकर स्तुति अर्थात् बड़ाई करने लोंगे, वह इसे नामप्रसादसे अपर देहधारियोंसे विलक्षण समझ पडेगी, कि अरे ! यह श्रेष्ठ २ शब्दोंसे बड़ाई नहीं करता किंतु मुझे पहाड़पर चढ़ाकर ढकेलता है, क्योंकि हमारा स्वरूप तो ‘ अणु ’ है भगवदाश्रित तथा असमर्थ है । (यह सब पूर्व दिखा आये) ऐसा विचारकर प्रह्लादकी तरह डरते हुए नामकी ओट रहेगा तो यह चोट न व्यापेगी । उसी

तरह जो त्वगिन्द्रियविषय अर्थात् शरीरसुखद कोमलवस्त्र शय्याआदि तथा स्त्री संसर्ग आदिको हाथीसे कुचलवाने सम जानकर डरेगा तो नामप्रसादसे ही उससे भी रक्षा रहेगी । तथा—नेत्रका विषय जो सुंदररूपवालोंकी अथवा नेत्रसुखद किसी भी सुंदर प्राकृत वस्तुकी प्राप्ति होगी तो यह उन्हें जल्लादरूप देखकर डरेगा कि, इनमें मन आसक्त होगा तो तदनुसार उनके प्राप्त्यर्थ संकल्प फुरेंगे, तब उन्हींसे कोटिनवार जन्ममरणका दुःख होगा । ऐसा डरनेपर नामप्रसादसे रक्षा होगी । पुनः जैसे उसने प्रह्लादको उनकी माताद्वारा विष पिलवाया, वैसे ही कालानुसार संसारके लोगोंसे जो रसनाके सुखद भोजनादि प्राप्त होते हैं, उन्हें यद्यपि यह विषयप्रवर्द्धक जानकर हालाहलविषसम डरता रहेगा, तो भी प्रकृतिका परिणाम जो इसका शरीर है, उसकी ममता प्रह्लादकी मातासम बरबस पिलावेगी, परन्तु डर सहित ग्रहण करनेसे भी नामप्रसादसे बाधा न होगी । जैसे होलिका प्रह्लादको जलाती हुई स्वयं जल गई, वैसे ही गंध विषय (इतरादि और लोगोंसे सुखवासना तथा जगत्संबंधसे किये हुए कर्मोंसे स्वर्गादि वासनारूप नासाविषय) अर्थात् चाह रूप अविद्या जिसे ऊपर छठें संबंधमें शूर्पणखारूप कह आये, वही होलिकासम है । यह अनेकों शरीरसंबंधीनातेरूप लकडियोंको बटोरकर जीवको कामाग्निसे जलाया चाहती है । जापक वैसा विचारता हुआ डरेगा, तब नामप्रसादसे प्रह्लादकी तरह न जलेगा । जैसे कि प्रह्लादका वचन है । यथा—" **पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ।** " (नृसिंहपुराणे) इस प्रकार पाँचों विषयोंके वेगसे बचाना दिखाकर कर्मकामना निर्मूल किये तो कालके अनुसार जो गुणोंका वैषम्य होता है, उनमें तमोगुण जो कालका स्वरूप भी है उसके प्रबल होनेसे विषयकामना बढती है उन्हींका यहाँ नाश होना दिखाये । इससे भी कर्मकामना ही निर्मूल किये । कर्म व्यापार स्पर्शतन्मात्राका विषय है । (आवरणप्रसंगमें दिखा आये) उससे नामने ऐसी रक्षा दिखाई कि, स्पर्शविषयबाधा निकट ही न आने पाई । यहाँ भी काल, कर्म और गुणसे रक्षा करके नाम आधार हुए ॥

होली उत्सवका विचार ।

(४) यह होली उत्सव उपरोक्त प्रह्लादचरित्रका नित्यस्मारक है । जैसे यह जाडाके अंतमें होता है, वैसे ही जीवको अविद्यामय जगत्का ज्ञान जडतारूप जाडाके अवसानमें होता है जैसे लडके कुछ दिन पहिलेहीसे लोगोंके लकड़ी कंडे चोरीसे रातमें ले २ कर गाँवसे बाहर एक ठौरपर रखते हैं वैसे ही बालकरूप आरंभ अवस्थाके मुमुक्षु संसारी नातोंकी ममतारूप ईंधन प्रवृत्तिरूप गाँवसे अलग सत्संगमें रखते हैं । जैसे बालक गालियाँ बकते हैं वैसे मुमुक्षु भी निठुरवचन कह २ कर संबंध तोडते हैं । जैसे संसारके लोग होलिकाके ईंधनको घर लानेमें मुर्दा लानेकी समान अशुभ मानते हैं वैसे ही संसारसंबंध छोडकर जो विरक्त होता है, उसका फिर लौटना भी दोषरूप है । यथा—" **परमारथ पहिचानि मति, लसति विषय लपटानि । निकसि चिताते अधजरति, मानहुँ सती परानि ॥** " (दोहा० २९३)

इसी प्रकार जडतारूप जाडा भलीभाँति निवृत्त होजानेपर जब चैतन्यतारूप चैतका प्रारंभ आता है तो होलिकासम इन संबन्धोंकी दाहक्रिया भी होजाती है। जैसे उस होलीको बालक सुखपूर्वक तापते हैं, फिर परस्पर गाली दे २ कर धूल वर्षाते हैं वैसेही चैतन्यमुमुक्षु लोक-संबंध छूटनेपर सुखी होते हैं और संसारी संबंध जो रजोगुणव्यापार होनेसे रज (धूल) वत् है, उस पर घृणा अनुकथनरूप गालीसहित धूल वर्षाते हैं। फिर पीछे जैसे रंगोंकी वृष्टि होती हैं वैसे ही इन मुमुक्षुओंमें जो भगवत्सबंधी दिव्यनातोंकी प्रीतिका अनुरागसहित अनुकथन होता है वही शोभामय रंगवर्षा है क्योंकि अनुरागका भी रंग लाल ही है। पुनः १४ दिन पीछे जैसे चैतकी अमावस्या आती है वैसे ही मुमुक्षुके मनरूप चन्द्रमाका निजसमेत ११ इन्द्रिय और तीनों अंतःकरणका विषय प्रकाश दूर होता है, तब यह आत्माकी ध्याननिष्ठासहित श्रीरामजीकी भक्ति करते हुए आठ दिनकी भाँति अपहतपाप्मत्वादि आठों गुणोंका परिज्ञान करता है तो जैसे स्थूल ब्रह्मांडकी अयोध्याजीमें नौमीको श्रीरामावतार होता है और श्रीदशरथ कौसल्यादि गोदखेलाय ब्रह्मसुख पाते हैं वैसेही मुमुक्षुके शरीररूप ब्रह्मांडके शुद्धहृदयरूप अयोध्यामें श्रीरामजीका साक्षात्कार होता है और " **फिरत सनेह मगन सुख अपने ।** " में कहा हुआ शेषत्व प्राप्त होता है तो वैसेहीं यह भी ब्रह्म सुख लूटता है यथा-" **तुलसी तबकेसे अजहुँ जानिये रघुबरनगर बसैया ॥** " (गी० बा० ९) इस प्रकार यह प्रह्लादचरित्र उत्सवरूपसे भी भक्तिपथ प्रचारक है इसीसे तो ग्रंथकारने कहा है यथा-" **वेदविदित-प्रह्लाद कथा सुनि को न भगतिपथ पाँव धरै ॥** " (वि० १३८) यह प्रसंग लोक शिक्षात्मक कहा गया ॥

जीवकी स्वस्वरूपस्थिति ।

(९) यहाँ ऊपर टि० (३) में जापककी देहधारियोंसे विलक्षण दशा दिखाई गई, अतः इसके पूर्वोक्त छठें संबंधके सारांशकी प्रकटी हुई । ' **देहादिविलक्षणता** ' निर्विघ्नस्थित हुई और नामने अपने ' **यश** ' ऐश्वर्यसहित चाहपुराया ॥

नामांतर नवों संबंध तथा विभवईश्वरत्व ।

(तात्पर्यार्थ)

(६) इस आधार-आधेयसंबंधके साधनरूप पूर्वोक्त बा० दो० १९ चौ० ६ ' **भगति सुतिय कल ०** ' के ' **भर्तृ-भार्या** ' संबंधोद्धारमें जो स्पर्शतन्मात्रासे रक्षाका कार्य कहा गया, उसका होना नामके प्रसादसे ही है, क्योंकि यहाँ चरितार्थ हुआ और उसके साथका ' **नरसिंह अवतार** ' तो यहाँ प्रत्यक्ष ही है युक्तिसे दिखाना नहीं है ।

मूल (चौ०)

ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ । पायउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥५॥

टीका-ध्रुवजीने ग्लानिसहित हरिनाम जपा तो अचल उपमारहित स्थान पाया ॥ ५ ॥

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) ' अचल० ' का लक्ष्य यथा–' ध्रुव अविचल कबहूँ न टरै।' (वि० १३८)

ध्रुवजीकी कथा।

(२) जैसे दयानिधि प्रभुने प्रह्लादकी व्यथा मिटाया वैसेही ध्रुवजीकेलियेभी ' ध्रुववरदेन ' अवतारसे प्रकट हुए। राजा उत्तानपादकी दो रानीमेंसे एक छोटी रानी सुरुचिसे ' उत्तम ' का और दूसरी बडी रानी ' सुनीति ' से आपका जन्म था। राजाके यहाँ सुरुचिका आदर और सुनीतिका निरादर था। एक समय राजा उत्तमको गोदमें लिये बैठा था। तो ध्रुवजीने भी (जो कि चार वर्षके थे) पिताकी गोदमें बैठना चाहा तैसेही विमातासुरुचि बोल उठी कि, पहिले तप करके हमारे उदरसे जन्म ले तब इस गोदका अधिकारी होगा। सुनकर आप ग्लानिसहित रोते हुए अपनी माताके पास आये। उसकी भी आज्ञा तथा सप्रेम उपदेश पाकर तप करनेको निकले। मार्गमें श्रीनारदजी मिले तो दया करके मंत्रोपदेश किया तब आप मथुरामें जाकर यमुना तटपर मंत्राराधनरूपसे तप करने लगे। शीघ्र ही श्रीहरिने प्रकट होकर भक्ति वर दिया और कृपा करके इनके कपोलमें अपना शंख स्पर्श करा दिया तैसे ही आप संपूर्ण विद्याके निधान होगये और वेदविधिसे भगवान्‌की स्तुति किये पुनः प्रभुने कहा कि छत्तीससहस्र वर्ष इस पृथ्वीपर राज्यकरके तब अचल अनुपम लोकका राज्य करोगे। ऐसा कहकर भगवान् अंतर्द्धान हुए और आप घरको आये तब श्रीनारदजीकी प्रेरणासे इनके पिता इन्हें राज्य दे स्त्रीसमेत वनको गये और ध्रुवजी भूमंडलका नियमित राज्य करके अपनी दोनों माताओंसमेत अचल अनूपम (निज) ध्रुवलोकमें विराजमान हैं महाप्रलयमें नित्यधाममें प्राप्त होंगे॥

ध्रुवलोक वर्णन।

(३) इस ध्रुवलोकका वर्णन श्रीमद्भागवतके पंचमस्कंधके तेईसवें अध्यायमें विस्तारसे है। वहींका सारांश लिखते हैं। सुमेरुगिरिसे तेरहलाख योजन ऊँचा ध्रुवलोक है, वहाँ ध्रुवजी सप्तऋषियोंसमेत आनंदसे रहते हैं। सप्तऋषि एकरस रातोदिन आपकी परिक्रमा किया करते हैं। ध्रुवलोकके नीचे कालचक्र फिरा हुआ है आस पास अश्विनी आदि सत्ताईसों नक्षत्र वायुके सहारे चला करते हैं यह लोक ऐसा है कि, जैसे नीचे सूपर कुम्हारका चाक चलता है इसीसे इसे शिशुमारचक्र भी कहते हैं क्योंकि, चौदह नक्षत्र दाहिने और चौदह उसके बायें होकर उस चाकके घूमनेके समय उसीके आश्रयसे घूमते हैं उसकी पूँछमें प्रजापति, अग्नि, इन्द्र, धर्म तथा पूँछकी जडमें विधाता, कमरमें सप्तऋषि, उसके ऊपरके होठमें अगस्त्यजी तथा नीचेके होठमें यमराज और मंगल पुनः मूत्रस्थानमें शनैश्वर व काँधेपर बृहस्पति, आँखोंमें सूर्य, हृदयमें परमेश्वर, मनमें चन्द्रमा, नाभिमें शुक्र व दोनों छातीमें अश्विनी कुमार, स्वासमें बुध, बगलमें राहु और सर्वाङ्गमें केतु और सब तारागण रोम २ में हैं। वह शिशुमारचक्र भगवान्‌का रूप है, इससे

सब देवताओंको तथा ब्रह्मांडको भी उसी रूपमें समझना चाहिये । लक्ष्य यथा—"**अथ तस्मात् परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदंति यत्र ह महाभागवतो ध्रुव औत्तानपादिः०**" (श्रीमद्भागवते पंचमस्कंधे) यही उपरोक्त अचल अनूपम लोक है॥

(४) उपरोक्त लोक वर्णनका सारांश यह कि जितने देवता तथा ग्रहादि हैं सबोंका प्रकाश ध्रुवके आश्रित है और ध्रुवलोक स्वयंप्रकाश है वही लोकमें ध्रुवतारा करके ख्यात है।

(अनुसंधानार्थ)

ध्रुव और जापकका मिलान ।

(५) ध्रुवजीसे जापककी अवस्था मिलान करते हैं यथा—इस संबंधके साधनरूप रक्ष्य-रक्षक संबंधमें जो '**जगहित हेतु विमल विधु पूषन**' से ज्ञातृ—ज्ञेय संबंधका उद्धार हुआ, पुनः उसीका साक्षात्कार उसके आगे '**सकल—कामनाहीन जे०**' से प्रारंभ हुआ वहीं पर जापककी कामनाहीनता सहित तपकी यात्रा हुई उसके पहिले ही चौथे संबंधमें जो अनन्य भक्ति कही गई वही भक्तिरूपा सुरुचिका परुषउपदेश हुआ कि, तुम अभी जो सुनीति रूपा मायाके पुत्र बने हो उसे त्यागकर तपकर अर्थात् पश्चात्तापपूर्वक हमारे गर्भसे जन्म,लो तब पिताकी गोदरूप भगवत्पदके अधिकारी होगे। वहाँ तक जो चार संबंधका साधन हो चुका था, यही जापककी भी चार वर्षकी अवस्था थी पुनः जो '**नाम निरूपन०**' के प्रसंगमें ब्रह्मके छः विशेषणोंके लक्ष्यपर साधन हुआ, यही छः महीनेकी तप सम है जैसे ध्रुवको अनन्यभक्तिका वर मिला वैसेही वहाँ भी ब्रह्मरूप सूर्यमें चन्द्रमारूप जीवका अनन्य होकर रत होना दिखा आये जैसे ध्रुवको विद्या प्राप्त हुई वैसे ही उसी संबंधके '**नाम निरूपन०**' में जापकको संपूर्णविद्या नामसे प्राप्त हुई। पुनः जैसे ध्रुवजी ३६००० वर्ष राज्य किये वैसे ही जापककी छठें सातवें संबंधके नवोंलक्ष्योंपर प्रत्येकमें मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, चारोंकी जो झीनी वासनायें छूटीं यही नवचौके छत्तीसके कार्यमें छत्तीस हजार वर्षका राज्य करना हुआ. क्योंकि भगवान्ने जो ध्रुवसे राज्य करवाया था वह भी वासना ही छुडानेके लिये' था अब यहाँकी इस चौपाईमें जापक ध्रुवलोकके समान अपनी '**स्वयंप्रकाशकता**' (स्वरूपप्रयुक्तगुण) में इस लक्ष्यसे स्थिति पाया। ध्रुवकी दोनों माताओंकी तरह यह भी, सुरुचिरूपा भक्तियुक्त है, तथा सुनीतिकी तरह मायाके तीनों गुण जो पूर्व भोक्ता-भोग्य संबंधमें तपद्वारा शुद्ध हो चुके हैं, वे सब इस (आठवें) संबंधमें शुद्धकाल कर्म और गुणरूपसे संग हैं। अब यह अवस्था इसकी अविचल रहेगी। अर्थात् सब इन्द्रिय देवादि (प्रकाशक) इसके आश्रित रहेंगे, स्वतंत्र होकर शब्दादिविषयोंकी कामना तथा कर्म रूप बाह्य प्रकाशमें न ताकेंगे। अतएव यहाँ काल-क्षेपमें '**शब्दतन्मात्रा**' से निर्भयकर निजप्रकाशसे चाहपुराय नाम आधार हुए॥

जीवकी स्वस्वरूपस्थिति ।

(६) यहाँ पूर्वोक्त छठें संबंध सारांशकी प्रकटी हुई जीवके'**स्वयंप्रकाशकता**' की निर्विघ्नस्थिति हुई और नामका अपने '**धर्म**' ऐश्वर्यसे आधार होना स्पष्ट हुआ॥

नामान्तर नवों संबंध तथा विभवईश्वरत्व ।

(तात्पर्यार्थ)

(७) ऊपर टि० (९) के अनुसार **'ज्ञातृ-ज्ञेय'** संबंधोद्धारका नामगुण यहाँ चरितार्थ हुआ कि, वहाँ जापक ध्रुवकी तरह सबभाँति असमर्थ था, केवल नामने ही रक्षा किया है और वहाँकी तरह यहाँ भी नामका **'वामनअवतार'** जानना चाहिये, यहां यह विशेषता हुई कि, जो मनरूप बलिको कर्मकामनारूप इन्द्रवज्रका भय रहता था, जिससे वह स्थान बदला करता था । वह भय यहाँकी अचलस्थितिसे निवृत्त हुआ ॥

मूल (चौ०)

सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू ॥ ६ ॥

टीका—श्रीहनुमान्‌जीने इस पवित्र नामको सुमिरकर श्रीरामजीको अपने वशमें कर रक्खा है ॥ ६ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) यहां जो प्रथम पवनसुत कहकर पावन नामका स्मरण करना कहा है, उसका भाव यह है, कि पवन स्वतः पवित्र हैं और जगत्‌को पवित्र करते हैं यथा—**' पवनः पवतामस्मि '** (गीता. अ० १०) अर्थात् पवित्र करनेवालोंमें पवन मैं हूँ, यह भगवद्वाक्य है तो तिनके पुत्र भी परमपावन हैं, इससे पावन नामसे संबंध दिखाकर सुमिरना कहा गया है । नामकी पावनता यथा—**" यहि महँ रघुपति नाम उदारा । अतिपावन पुरानश्रुतिसारा ॥ "** (बा० दो० ९) श्रीहनुमान्‌जीकी पावनता यथा—पावन वह है जिसमें विकार न हों, विकार छः हैं तिनमें सबका मूल काम है । यथा—**" आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्य वैरिणा । कामरूपेण कौंतेय दुष्पूरेणानलेन च ॥ "** (गीता. अ० ३) पुनः कामनायें भी विविध भोग्यपदार्थोंकी होती हैं वे सब मणिमें विद्यमान रहती हैं यथा—**" असन बसन पसु वस्तु विविध विधि सब मनिमहँ रह जैसे । सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे ॥ "** (वि० १२९) ऐसी बहुमूल्य बहुत मणियोंकी मालाको आपने निष्कामताकी ही परीक्षामें तोडफोड़ डाला, उसका कारण यह था कि, लंका जीतनेपर जब श्रीरामजीने विभीषणजीसे मणिवस्त्रादि बरसवाया था, तो बहुत वानर भालुओंमें असंतोषकी झलक देखा था, क्योंकि वहाँ वे मणियोंको मुखमें डाल कर फेंकते थे, उसी कारणसे श्रीरामजीको राज्याभिषेकसमय जब विभीषणजीने वह माला पहिनाया, श्रीरामजीने किसी एकको देना चाहा तो बहुतोंको उसकी कामना हुई तब श्रीजानकीजीका रुख पाकर श्रीरामजीने इन्हें दिया । इन्होंने देखा तो उसमें रामनाम न दिखाया, फिर एक २ तोड २ कर देखने लगे तो किसीने कहा कि क्यों तोड़ते हो ? इन्होंने हेतु कहा, फिर उसने कहा कि क्या आपके देहमें भी रामनाम है ? तब इन्होंने अंग विदारकर रोम २ में दिखा दिया, देखते ही सबकी

मति लहलहा उठी। यथा—" **रतन अपार सार सागर उधार किए, लिए हित चायकै बनाय माला करी है। सब सुख साज रघुनाथ महाराज जू को, भक्तिसों विभीपन जू आनि भेंट धरी है। सभा ही की चाह अवगाह हनुमान गरे, डारि दई सुधि भई मति अरबरी है। राम बिनु काम कौन फोरि मनि दीन्हें डारि, खोलि तुचा नाम ही दिखायो बुद्धि हरी है॥** " (भक्तमाल टीका-प्रियादास क० २७) इस प्रकार इनमें निष्कामतारूप पावनता है, इसीसे श्रीरामजी इनके हृदयमें सदा रहते हैं, यथा—" **प्रनवौं पवनकुमार, खलवन पावक ज्ञानघन। जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर चाप धर॥** " (बा० दो० १७) क्योंकि श्रीरामजी निष्कामहृदयमें बसते हैं यथा—" **बंचन करम मन मोरि गति, भजन करहिं निःकाम। तिन्हके हृदय कमल महँ, सदा करौं विश्राम॥** " (आ० दो० १८) जीवोंमें कामनायें स्वाद और संतोषके लिये होती हैं इन्हें यह स्वाद और संतोष नाममें ही साक्षात्कार हो गया था जैसे छठें संबंधमें कह आये और बा० दो० १९ के ' **स्वाद तोष सम सुगति सुधाके** ' में भी कह आये। इसीसे सब कामनारहित होकर इन्होंने नाम जपा इसीपर इनका वचन भी है। यथा—" **रामनामैव नामैव सदा मज्जीवनं मुने। सत्यं वदामि सर्वस्वमिदमेकं सदा मम॥** " (हनुमन्नाटके) इस प्रकारकी निष्ठापूर्वक भजनसे श्रीरामजी इनके वश हुए, कई एक प्रसंगमें प्रकट है यथा— " **सुनु कपि तोहिं उरिन मैं नाहीं। से—पुनि २ कपिहिं चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता॥** " (सुं० दो० ३१) तक (यह श्रीजानकीजीकी सुधि लाने पर श्रीरामजीने कहा है) पुनः " **हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना॥** " (लं० दो० ६१) (यहाँ संजीवनी लानेका प्रसंग है)॥

(क) यहाँ तक पावनतासहित पावन नामके जपसे श्रीरामजीका वश करना तो हुआ, परन्तु ' **बसकारि राखे** ' का ' **राखे** ' पद उद्देश्यांशमें साकांक्ष रह गया, क्योंकि इसका अर्थ उन्हें स्थगित रखना तथा उनसे अपने रमण करानेका कार्य न लेना है, इसका प्रसंग इस प्रकार है कि, राज्यसिंहासनासीन होनेपर श्रीरामजीने एक दिन राजसभामें कहा कि, श्री सुमंतजीकी सहायतामें श्रीहनुमान्‌जी भी नियुक्त किये जायँ; तो सबका भी सम्मत हुआ. तब श्रीरामजीने अपना जगवंदननामक घोडा इन्हें दिया और कहा कि, वत्स! तुम प्रजापालन करो. सुनते ही इन्होंने प्रसन्न होकर प्रथम ही इन्द्र, वरुण, पवन, सूर्य, चन्द्रमा आदिपर शासन किया कि, देखो! आपलोगोंको श्रीरामजीने कैसी २ विपत्तिसे उद्धार किया है। अतएव हमारी आज्ञानुसार अब उनकी प्रजाकी मनवाञ्छित सेवा करो और कृतज्ञ हो २ कर कृतार्थ हो। सबोंने आह्लादपूर्वक शिरोधार्य किया और सब प्रकारसे प्रजाको सुख दिया, तब किसीको कुछ कामना न रही। यथा—" **राम राज बैठे त्रय लोका। हरषित भए गए सब सोका॥ से—बिधु महि पूरि मयूखन्हि, रबि तप जितनहिं काज। माँगे बारिद देहिं जल, रामचन्द्रके राज॥** " (उ० दो० १९ से २३ तक) तब श्रीरामजी केवल

आनन्दविलासहीमें रहने लगे, राजकाज देखना निमित्तमात्र रहा और अपने सुखके लिये इन्होंने कुछ चाहा ही नहीं, किंतु उनके ही सुखमें सुखी रहे, इस पावनतासे श्रीरामजी इनके सदाके लिये वश हुए । यही उपरोक्त ' राखे ' का अभिप्राय है ॥

(अनुसंधानार्थ)

श्री हनुमान्‌जीके जपका मिलान ॥

(२) इस संबंधके साधनरूप ' रक्ष्य-रक्षक ' संबंधके **' स्वादतोष सम ० '** से जो शरीर-शरीरी संबंधका उद्धार हुआ, उसके साक्षात्कार प्रसंग (छठें सं०) में जापक भी श्रीहनुमान्‌जीकी तरह स्वाद-संतोषरूप नामको जाना, वहाँ गीधराजके लक्ष्यमें जापकप्रति श्रीरामजीका सामान्य वश होना भी कह आये । पुनः जैसे श्रीहनुमान्‌जी राज्याभिषेक समय पार्षद हुए, वैसे जापक भी **'फिरत सनेहमगन सुख अपने '** में हुआ और श्रीहनुमान्‌जीके मणि तोडनेका प्रसंग इसे ऊपरकी चौ० के ध्रुवप्रसंगमें हुआ, क्योंकि वहाँ भी मणिरूप कामना करानेवाले इन्द्रियप्रकाशक देवतोंका ही खंडन हुआ । अतएव ऊपर चौ०से जापक भी पावनतासहित निजांतर्यामीरूप श्रीरामजीके आश्रित अपने शरीररूप ब्रह्मांडके इन्द्रियदेवोंपर शासनकरके अनुकूल किये हुए वैराग्यद्वारा सुखी करता है और श्रीरामजीसे रमण करानेकी अपेक्षा नहीं करता तो वे इसके भी सदाके लिये वश रहते हैं । पुनः जैसे श्रीहनूमान्‌जीको नित्यसेवा प्राप्त हुई, उसकी प्रशंसा शिवजीने किया है । यथा—" **हरन सकलश्रम प्रभु श्रम पाई । गए जहाँ सीतल अमराई ॥ ० मारुतसुत तब मारुत करई । पुलकं वपुष लोचन जल भरई ॥ हनूमान समान बड भागी । नहि कोउ रामचरन अनुरागी ॥ गिरजा जासु प्रीति सेवकाई । बार बार प्रभु निजमुख गाई ॥** " (उ०दो० ४९) यहाँ नित्यत्व इस प्रकार कहा गया कि, इसीपर चरित्रप्रसंग विश्राम हुआ है । तथा श्रीहनुमान्‌जीके नित्यत्वके और भी बहुत प्रमाण हैं । यथा—" **शृणुध्वमृषयो यूयमुचितः संशयोऽस्ति वः । परं किं न विजानीथ महाशंभुः स पावनिः ॥ नित्यसत्त्वविभूतिस्थो राघवस्य परं प्रियः । जानकीशोकसंहर्ता स्वामिभक्तः स्वभावतः ॥** " (पांचरात्रे श्रीमद्वाल्मीकिसंहितायाम् अ० २) ऐसे ही इस चौ० के लक्ष्यसे जापक भी निर्विघ्ननित्यत्व पाकर अखंड सेवामें तत्पर रहेगा यह अखंड नित्यत्व जैसे श्रीहनूमान्‌जीकी पुरबाहर जानेपर शीतलअमराईकी सेवामें कहा गया. यथा—" **पुनि कृपालु पुरबाहर गयऊ । ० गए जहाँ सीतल अमराई ॥** " (उ० दो० ४९) वैसे ही जापकका भी अखंडनित्यत्व शरीररूपी पुरसे पृथक् होकर नित्यधामरूप शीतल अमराईमें प्रकट होगा, क्योंकि अनित्यशरीरमें रहते हुए पूर्णनित्यत्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती यथा—" **तस्य तावदेवचिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये** " (छांदो०) इस श्रुतिमें शरीर छूटनेके पीछे ही मुक्ति कही गई है इसीसे इस विशिष्टाद्वैतसिद्धांतमें जीवन्मुक्ति दशा नहीं मानी जाती. यहाँ इस चौ० के लक्ष्यसे नित्यत्वके विरोधी कामादिबाधायें निवृत्त हुईं । अतएव यहाँ नित्यरूप पार्षदकी कालक्षेप अवस्थामें

नामके आधार रहनेमें ' अहंकार ' से अनित्यत्वका भय दूर हुआ, क्योंकि अहंकारके देवता शिवजी हैं तिनके ही द्वितीयविग्रह श्रीहनूमान्‌जीकी पावनतासहित स्मरणका लक्ष्य था ॥

जीवकी स्वस्वरूप स्थिति।

(३) ऊपर टि० (२) के अनुसार इसे यहाँ पूर्वोक्त छठें संबंधसारांशकी प्रकटी हुई अपनी ' **नित्यस्वरूपता** ' की निर्विघ्नस्थिति हुई और नामका अपने ' **ऐश्वर्य** ' (षड़ैश्वर्योंमें) सहित आधार होना स्पष्ट हुआ * ॥

नामान्तर नवों संबंध तथा विभवईश्वरत्व।

(तात्पर्यार्थ)

(४) ऊपर टि० (२) के प्रारंभमें ही ' **शरीर-शरीरी** ' संबंधकी सिद्धावस्थाकी यहाँ निर्विघ्नस्थिति दिखाई गई। अतः उसके संबंधोद्धार (स्वादतोष०) में जो ऊपरकी चौपाइयोंकी रीतिसे इस चौ० का साधनांग है, नामका यहींका पावन गुण था और उस संबंधके साथवाला नामका ' **परशुराम** ' अवतार यहाँ भी आया, क्योंकि वहाँके कार्य यहाँ सब हैं यथा-यहाँ नामने अपने शरीररूपजीवात्माको स्वयंप्रकाशकतारूप बल दे उससे इन्द्रियादिक्षेत्राधिकारी क्षत्रीरूप देवताओंसे परशुरामजीकी तरह छीनकर जापकरूप ब्राह्मणको पृथ्वीरूपा बुद्धिकी कार्यावस्था संकल्प दी। (यद्यपि यह कार्य सब छठें सं०में हो चुका है परंतु यहाँ ज्ञानीकी कालक्षेप अवस्थामें कभी २ अहंकारके संसर्गका उपाय कहा गया है)॥

मूल (चौ०)

अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥७॥

टीका—अजामिल गजेन्द्र और गणिका ऐसे पतित भी हरिनामप्रभावसे मुक्त हुए ॥ ७ ॥

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) ' **अपत** ' अर्थात् पतित, यथा—" **पावन किय रावनरिपु तुलसिहुँसे अपत।** " (वि० १३०) तथा—"**पतित-पावन रामनामसों न दूसरो।**" (वि० ७०)

अजामिलकी कथा।

(२) अजामिलजी एक विद्वान् ब्राह्मण कन्नौजके रहनेवाले थे। एक दिन यज्ञसामग्री लानेके वास्ते पिताकी आज्ञासे गये मार्गमें लोटते समय देखा कि, एक भिल्लु अपनी स्नेही वेश्यासहित मद पानकरके मतवाला होकर कल्लोल करता है, वह वेश्या इनको देखते ही मत-

---

नोट—*यहाँ तककी छः चौपाइयोंमें क्रमशः ज्ञानानंदस्वरूपतादि जीवके छवों गुण आगये इसीसे पहिली चौ० में भक्तोंमें श्रेष्ठ शिवजीसे उपक्रम है यथा—' नामप्रसाद संभु अविनासी।' पुनः मध्यमें भी उत्तम २ भक्तोंको कहकर यहाँ उन्हींके द्वितीयरूप श्रीहनूमान्‌जीके लक्ष्यपर उपसंहार हुआ है यथा—' सुमिरि पवनसुत ० ' हनूमान्‌जीका शिवरूप होनेका प्रमाण यथा— " रुद्रदेह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान। " (दोहा० १४२) ॥

वाली कामवश होकर इनसे लिपट गई, तब ये भी कामवश हुए और भोगोपरांत उसे घर लाये। यहाँ अपने माता, पिता तथा घरकी धर्मपत्नीको भी छोडकर सब धर्म कर्म छोड़ दिया और उसके साथ मांस मदिरा आदि खाने पीने लगा. थोडे ही दिनोंमें पिताका सब धन खोकर चोरी ठगी जुवा आदिका उद्यम करने लगा। उस दासीसे इसके नव बेटे हुए, जब दशवाँ गर्भमें था तब दैवयोगसे चार साधु उस गाँवमें संध्यासमय आ पहुँचे और लोगोंसे रातके विश्रामके लिये किसी भक्तका घर पूँछा तो लोगोंने ठट्ठेसे इस पापीका घर बतलादिया. संतोंके जानेसे इसकी मति सात्त्विक हो गई और संतोंकी सेवाकर अपना हाल कहा वे दया करके गर्भके बालकका नारायण नाम रखना, यह उपाय बतला कर चले गये। बालक होनेपर इन्होंने वही नाम रक्खा. इस पुत्रपर इनका बड़ा स्नेह था। जब मरणकाल आया तो यमदूतोंको देखकर डरते हुए अपने प्रियपुत्रको '**अरे नारायण !**' ऐसा चिल्लाकर कहा अंत समय नाम लेनेके प्रभावसे विष्णुभगवान्‌के चार पार्षद शंखचक्रादि धारण किये हुए प्राप्त हुए और यमदूतोंसे फाँसी छोडवाकर कहे कि, आप लोग धर्मराजके दूत होकरभी धर्म नहीं जानते तब दूतोंने धर्मका स्वरूप कहा और उसके प्रतिकूल इसके पापोंकोभी दिखाया तब पार्षदोंने कहा कि, पाप चाहे जितना हो अंतमें भगवन्नाम लेनेसे नाश होजाता है यथा—"**जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमौ सुकृत होइ श्रुति गावा ॥**" (आ० दो० ३३) तथा—"**अंतकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥**" (गीता. अ० ८) तब दूतोंने कहा कि, यह तो बेटेका नाम लिया है, सुनकर पार्षदोंने उत्तर दिया कि, जैसे अग्नि धोखेसे अथवा जानकर छूनेसे अवश्य हाथ जलाता है, वैसा ही जानो। यथा—"**बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं ॥**" (बा० दो० ११८) इसीपर तो इसका महत्त्व अप्रमेय है यथा—"**यस्य नाममहद्यशः**" (यजुर्वेद अ० ३२ मं० ३) ऐसा सुनकर दूत हार मानकर चले गये और पार्षद भी अंतर्द्धान हुए। तब इन्हें संसारसे वैराग्य हुआ और पार्षदोंके दर्शनसे एक वर्षकी आयु भी बढ गई, फिर हरिद्वारमें जाकर सच्चे मनसे नाम जपने लगे. तब आयुकी अवधिपर विमान आया, आप चढकर गाते बजाते वैकुंठ पधारे और भगवान्‌के पार्षद होकर चतुर्भुजरूपसे रहने लगे। यथा—"**नाम लिए पूतको पुनीत किए पातकीस०**" (क०उ०१८) यह कथा श्रीमद्भागवतके छठें स्कंधके प्रारंभमें है, उसीका सार यहाँ लिखा है ॥

(अनुसंधानार्थ)

अजामिल और जापकका मिलान।

(३) पूर्व मंत्रोद्धार तथा संबंध निरूपणमें रामनामके मध्यके प्रकृति वाचक अकारसे राममंत्र (षडक्षर) के मध्यके चतुर्थीसहित रामशब्दके 'जीवान् रमयति' अर्थसे 'शरीर—शरीरी' सं० और 'श्रीरमयति' से 'भोक्ता—भोग्य' सं० कहा था, पुनः चतुर्थीसे नामके लिये होनेसे

जीवकी स्थिति कहकर 'आधार–आधेय' संबंध कहे थे। छठें संबंधमें नाम शरीरीने इसे शुद्ध करके अपने शरीरयोग्य पार्षदरूप ज्ञानानंद स्वरूपतादि छवोंयुक्त गीधराजके लक्ष्यतकमें बनाया, उसकी स्थिति जो चतुर्थीके अनुसार नामके लिये होनेमें (आठवें सं० से) कहे थे। वह यहाँसे पूर्वकी छः चौपाइयोंमें हुई, क्योंकि वहाँ जीव अपने छवों दिव्यलक्षणोंसहित नामके आधारसे कालकर्मादि बांधामें निर्विघ्न स्थिति पाया। (जीवके छवों गुणोंमें सच्चिदानंद स्वरूपता ऊपर बा० दो० २२ टि० (२) में दिखा आये) और सातवें संबंधमें नामने भोक्तारूपसे 'श्रीरमयति' के अनुसार प्रकृतिके गुणोंको शुद्ध करके जापकको प्रकृतिपरिणाम शरीरसमेत पार्षदरूप किया, अब चतुर्थीके अनुसार नामके वास्ते रहनेमें इसकी कालक्षेपमें प्रकृतिके तीनों गुणोंके विकारोंकी बाधामें सच्चिदानंद स्वरूपता सहित निर्विघ्नस्थिति दिखाते हैं। यह एक ही प्रकृति तीनोंगुणमय होती है, इस लिये एक ही चौपाईमें तीनों कहे और पतितोंका ही लक्ष्य दिखाये हैं, क्योंकि यह विकार धर्मवाली है॥

अब प्रथम अजामिलके लक्ष्यसे सतोगुणकी बाधामें नामके आधारसे रहनेमें '**सच्चिदानंद**' स्वरूपांतर्गत '**सत्**' होकर निर्विघ्न रहना दिखाते हैं यथा–सत् वह है, जिसमें असत्का लेश न हो, पर यह तो अजा अर्थात् मायामें मिल अर्थात् मिलजानेसे अजामिल कहाया। पुनः इसका 'सत्' होना और असत्का नाश दिखाते हैं यथा–भोक्ता-भोग्य संबंधके उद्धारप्रसंगमें सत्त्वगुणाभिमानी जापकको अपना अजामिल होना ज्ञात हुआ, क्योंकि वहाँ (बा० दो० १९ चौ ७ में) वसुधारूपा धर्मधारक बुद्धिके आधार 'रा–म' ज्ञात हुए, तब यह जो उस बुद्धिके कार्यकारक सतोगुणका स्वयं अभिमानी था अपनी उस पूर्वावस्थाको उपरोक्त अजामिल सम मायामें मिला समझा। पुनः तीसरे संबंधमें जो अपनेको ब्रह्मका शेष जाना यही ब्राह्मणत्व ज्ञात हुआ और चौथे संबंधमें जो गीता आदिका ज्ञान हुआ यही उसे सतोगुणसे विद्या पढना हुआ। पुनः पाँचवें संबंधके '**नाम निरूपन०**' में आत्मज्ञानरूप यज्ञकी सामग्रीको चला। आत्मज्ञान भी यज्ञ है यथा–"**पाद राग याग चहौं कौसिक ज्यों कियो हौं।**" (वि० १८२) इसमें जो श्रीरामपदकी प्रीतिको यज्ञ कहा है, उसमें ज्ञानका रूपक छठे सं० के '**विश्वामित्र**' प्रसंगमें दिखा आये। वहाँ उस नामनिरूपण करनेमें सतोगुणरूप भिल्ल, बुद्धिरूपा भिल्लिनीमें कलोल करता था, क्योंकि बुद्धि रजोगुणप्रधान होती है, इसकी विद्यासे विचारादिकार्य सतोगुणसंगसे होता है वहाँ जो यह अपनेको अनुसंधाता आदि समझा, यही उस भिल्लिनीका पति हुआ, क्योंकि जो जैसी श्रद्धा करता है, तद्रूप हो जाता है यथा–"**यो यच्छ्रद्धः स एव सः**" (गीता. अ० १७) वास्तवमें गुणोंका परस्पर व्यवहार रहता है जीव तो उनसे भिन्न है यथा–"**गुणागुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥**" (गीता. अ० ३)। पुनः वहींपर जो यह नाम निरूपणमें अपनी विद्या समझा यही विद्यामद पान किया। पुनः छठें संबंधमें प्रथमके चार लक्ष्यमें जो चार तन्मात्राओंकी आठ इन्द्रियवासना छूटी तथा पंचवटी प्रसंगमें नवी श्रोत्रवासना निवृत्त हुई, तिनमें अपनेको सतोगुणसे अनुसंधाता

समझा था यही इस सत्त्वाभिमानी अजामिलके नौ पुत्र हुए। पुनः उसी शब्दतन्मात्राके सूक्ष्मांशसे ही सूक्ष्मशरीर प्रकरणमें मन, बुद्धि चित्त और अहंकारका भी होना कहा है, तिनके प्रकाशक नामको जानना जो नामहीकी कृपासे हुआ, यही चार संतोंका उपदेश हुआ, क्योंकि संत भगवत्कृपारूप ही हैं। इन चारोंकी वासनानिवृत्तिका ज्ञान बुद्धिमें गर्भरूपसे रहा। पुनः वही बुद्धिरूपा शबरी भिल्लनीके संगमें गीधवत् सतोगुणाभिमानी जीवरूप अजामिलका चतुर्भुजरूप होना 'नारायण' पुत्र हुआ क्योंकि '**पिता वै जायते पुत्रः**' यह नियम है. वहाँ उस रूपप्राप्तिमें जो गीधराजके लक्ष्यमें इसे अपने कर्मसे वह गति पानेका ज्ञान कह आये (जो '**तात करम निजते गति पाई।**' इस श्रीरामवचनपर दिखाये थे) यही इस सत्त्वाभिमानीका पिता बनना हुआ और जो उस हरिसम (चतुर्भुज) रूपकी प्राप्तिमें गुणाभिमानी यह स्वयं था, इससे अंतर्यामीरूप नारायणका उसमें नाममात्र था, यही नारायण नाम रखना हुआ पुनः सातवें संबंधके सुग्रीव विभीषणके लक्ष्यमें शरणागतके सुत हित मित्रादि भगवत्विमुख करानेवाले होनेसे यमदूतसम देख पड़े जैसे वनयात्रामें श्रीरामविमुखकारक अयोध्याके जाननेसे उसके निवासी सुत मित्रादि श्रीरामानुरागी अवधवासियोंको देख पड़े थे. यद्यपि अनुराग सबको था, पर परस्पर मर्म न जानकर ऐसा समझते थे यथा—"**सुत हित मीत मनहुं जमदूता।**" (अ० दो० ८२) वैसे यह (जापक) भी उपरोक्त यमगणोंसे डरा तब वहीं (सुग्रीवादि लक्ष्य) पर जो जीवके मन और अहंकारसे भये हुए विरागका तथा बुद्धि और चित्तसे भये हुए ज्ञानमें श्रीरामजीकी शक्तिकी दृढता हुई यही मनआदि चारोंका हरिपार्षदरूप प्रकट होना है, तिनकी प्रत्येकमें मिलित चार २ वृत्तिरूप चार २ भुजा हैं, इन चारोंसे कुटुंबादिकी वासना छूटना यमदूतोंका हारकर चला जाना है और शरण होनेपर दूसरी आयु भी बढ़ी, क्योंकि यह दूसरा दिव्यजन्म होता है। पुनः इस संबंधकी चौ० १ के शिवजीके लक्ष्यसे हनूमान्‌जीके लक्ष्यतकका नामाराधन हरिद्वारकी शुद्धज्ञानसे भजन है, क्योंकि हरिद्वार प्रधानरूपसे शिवजीका तीर्थ है, क्योंकि यहाँ गंगाजीका महत्त्व है वे शिवजीके शीशपर हैं वैसे इन छवों चौ० में उपक्रम उपसंहार शिवरूपमें ही है। इन छः चौपाइयोंमें प्रथम जो पाँचों विषयोंके कर्मोंसे रक्षा हुई, तिनसे दशेंद्रियोंका निरोध (कालक्षेपमें) हुआ और छठीं चौ० में मनके संकल्प विकल्प दो विकारोंसे रक्षा हुई। यही १२ महीनेका अंतिम भजन है। इतनेपर जैसे अजामिल नित्यधामके पार्षद हुए वैसे जीव भी नित्यत्व प्राप्त कर 'सत्' (एकरस) में स्थित हुआ यहाँ इस लक्ष्यसे जापककी प्रकृतिके '**सतोगुण**' संगमें नामाधारसे '**सत्**' रूपमें निर्विघ्न स्थिति हुई और शरणागतिकी सिद्धावस्थामें जीवको नामने '**बुद्धि**' द्वारा कर्मकामनाका भय छुड़ाया॥

नामान्तर नवों संबंध तथा विभवईश्वरत्व।

(तात्पर्यार्थ)

(४) ऊपर टि० (३) के अनुसार यहाँ '**भोक्ता-भोग्य**' संबंधके सतोगुणके

समेत भी जीवकी ' सत् ' रूपमें केवल नामके आधारसे निर्विघ्न स्थिति रही। अतः उसी संबंधका लक्ष्य है तथा उस संबंधके उद्धारमें जो कि ऊपर चौपाइयोंकी रीतिसे इसका साधनांग है, केवल नामका यही ' अपतपावन ' गुण है और उसके साथका **' रामावतार '** यहाँ भी है यथा—सातवें संबंधके विभीषणजीके लक्ष्यकी यहाँ निर्विघ्नस्थिति हुई और यह अवतार तो मुख्यकर उनके ही प्रियत्वसे होता है यथा—" **तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे ॥** " (सुं० दो० ४०) (यह श्रीमुख वचन है)

गजेन्द्रकी कथा।

(९) गजेन्द्रजी पूर्वजन्मके इन्द्रदमन नामक राजा थे, दिन रात हरि चरणोंमें चित्त लगाये हुए राजकाज करते थे। एक दिन इनके जप तथा ध्यान समयमें अगस्त्यजी आये, तब इन्होंने अज्ञानसे उनका सत्कार न किया और बैठे ही रहे, तब वे शाप दिये कि तू मतवाले हाथीकी तरह बैठा रहा, इससे मैं ईश्वरसे चाहता हूँ कि, तू हाथी तन पावे। पीछे इन्होंने लज्जित होकर उद्धारके लिये प्रार्थना किया; तब मुनिने कहा कि, जब ग्राह तेरा पैर पकड़ेगा तो भगवान् उद्धार करेंगे। कुछ काल पीछे ये हाथी हुए और सहस्र हथिनी तथा कई सहस्र बच्चोंसमेत क्षीरसागरके त्रिकूटपर्वत पर रहने लगे। वहाँ सोने चाँदी तथा लोहेके तीन शिखर थे, तिनके मध्यमें एक सुशोभित सरोवर था, उसमें एक ग्राह रहता था। उसकी कथा यों है कि, वह पूर्व जन्मका हूहू नामका गंधर्व था, एक दिन राजसी भूषणवसन पहिने विमानपर जाते हुए उपरोक्त सरोवर देखा तो उतरकर स्त्रियोंसमेत स्नान क्रीड़ा करने लगा, उसी सरोवरमें देवलऋषि भी स्नान करते थे। यह अपनी स्त्रियोंके कहनेसे ग्राहकी तरह डूबकर ऋषिका पग पकड़ा और खींचा तब वे गिर पड़े और यह अलग जाकर अपनी स्त्रियोंसमेत हँसने लगा, ऐसा देखकर ऋषिने क्रोध करके शाप दिया, कि तू ग्राह हो और जलमें पशु तथा मनुष्योंका पैर पकड़ा कर। तब यह लज्जित होकर दीनता सहित उद्धार पूँछा तो मुनिने कहा कि, कई सहस्र वर्ष ग्राह योनिमें रहकर एक दिन जब गजेन्द्रका पैर पकडेगा तब तू भगवान्के चक्रसे शरीर छोडकर फिर इस गंधर्वरूपको प्राप्त होगा. संयोगसे ग्राह होकर यह भी उपरोक्त सरमें ही रहता था, वह सरोवर कमलादिपुष्प व आसपासके सुन्दर बगीचों तथा संगमरमरके घाटोंसे अति रमणीक था। एक दिन उपरोक्त गजेन्द्र कुटुंबसमेत ज्येष्ठकी दुपहरीमें प्यासा होकर मदसे पूर्ण जो कि स्वयं दशसहस्र हाथीका बल रखता था। झूमते हुए उसी सरोवरमें जाकर जल पीने लगा, तथा सूँडसे हथिनी और बच्चोंको भी पिलाने लगा। अनेकों प्रकारकी कलोलें करता था, त्यों ही उपरोक्त ग्राहने जो उससे भी बली था, इसका पिछला पैर पकडकर खींचा; तब दोनोंमें युद्ध होने लगा। कभी गज ग्राहको खींचकर सूखेमें लाता, कभी ग्राह इसे गहिरेमें लेजाता, ऐसे ही सहस्रवर्ष बीत गये। गजके संगकी हथिनियों तथा बच्चोंने भी सहाय कर २ के हार माना

और इसे छोड़कर चले गये, तब यह हताश होकर देवतोंका स्मरण करने लगा, वे भी आ २ कर कौतुक देखने लगे । निदान यह भगवान्‌की शरण होकर दीनतासहित स्तुति करने लगा । तब दीनदयालु प्रभुको आते हुए जानकर एक कमलका फूल तोडकर सूँडसे उठाये हुए पुकारा सुनते ही आपने गरुडसे कूदकर शीघ्रही चक्रसे ग्राहका मुँह चीर डाल और हाथीको तालावसे बाहर निकाल दिया । भगवान्‌के स्पर्श करते ही ग्राहसे एक पुरुष महासुंदर राजसी भूषण वसन पहिने प्रकट हुआ और स्तुतिकरके अपनी पूर्वकी कथा कहकर वह गंधर्व भगवदाज्ञासे विमानपर बैठकर अपने लोकको गया और गजेन्द्र तन छोडकर चतुर्भुजी पार्षदरूप होगया और परिक्रमा तथा दंडवत् करके स्तुति किया पुनः अपनी उपरोक्त कथा सुनाई तव प्रसन्न होकर भगवान्‌ने कहा कि, इस संवादको पिछली रातमें ध्यान करनेसे लोगोंको अशुभ स्वप्नका फल न होगा और अंतमें ऐसी ही गति मिलेगी । पुनः उसे संग ले गरुडपर वैठाकर शंख बजाय भगवान् वैकुंठ पधारे । (यह कथा श्रीमद्भागवत आठवें स्कंधकी २ से ४ अध्यायके अनुसार है.) ॥

(अनुसंधानार्थ)

गजेन्द्र और जापकका मिलान ।

(६) पूर्व इस संबंधके साधनरूप ' रक्ष्य-रक्षक ' संबंधमें जो **'जन मन मंजु कंज मधु कर से । '** में जहाँ इस **' आधार-आधेय '** संबंधका उद्धार हुआ, वहाँ ही इन (गज-ग्राह) दोनोंका शाप प्रसंग है यथा—वहाँ उनके पूर्व प्रसंगभरमें इन्द्रियोंके दमन करनेका प्रकरण है, उनका दमन करना जो इसने अपनी बुद्धिसे समझा था यही इसका इन्द्रदमन होकर देहरूप राज्यका राजा होना है जब इस **' जन मन मंजु० '** में इन्द्रिय दमनादि कार्यमें अनुभव प्रकाश रकारका जाना, तहाँ ही अगस्त्यजीका निरादर करना हुआ, क्योंकि जैसे अगस्त्यजीने समुद्र सोखा है वैसे ही इसमें देहाभिमान-शोषक रकार है । यह जाननेपर पूर्व जो स्वयं इन्द्रियदमनकर्ता वना था, वह अब रकारका निरादर करना समझ पडा यही रकारका ज्ञानप्रकाश अगस्त्यशापसम हुआ कि, जिससे राजसबुद्धिसहित मन दशेन्द्रियाभिमानी होनेसे दश सहस्र हाथीके बलवाले गजेन्द्रसम देख पडा और इन्द्रियाँ हथिनीसम तथा तिनके गुण बच्चोंसम जान पडे । पुनः वहाँ ही जो मधुरूप मकारको मन कंजका पोषक समझा तो यह पोषण जो अपने मनके रजोगुणका समझा था, वह अब भयंकर लोभरूप ग्राहसम दिखाया यथा—मकार चन्द्रवीज होनेसे मनके गुण प्रकाशक (देवता) चन्द्रमाके भी प्रकाशक हैं । मनके स्वामित्व तथा अमृतद्वारा पोषणसे चन्द्रमा भी इन्द्रियदेवोंके आश्रय होनेपर 'देवल' ऋषि हुए और जो रजोगुण चातुरीमय है वही गंधर्वसम है, क्योंकि गंधर्व भी गुणी (चतुर) कहाते हैं । जैसे गंधर्व देवल ऋषिको डुबाकर हँसा था वैसे मकाराश्रित मनको रजोगुणाभिमानरूपी जलमें डूबना जान पडा कि, इस रजोगुणने अपनी इन्द्रियरूप स्त्रियों सहित हमें डुबाकर हँसी किया यथा—**"परवस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं"** (वि० १०६) इस मकारके

ज्ञानप्रकाशरूप कोपसे रजोगुण लोभमय ग्राहरूप देख पडा यथा–" **रजसो लोभ एव च** " (गीता अ० १४) यही देवलका शाप हुआ जैसे वे दोनों त्रिकूटाचलके सरोवरमें रहते थे वैसे नामके ' भोक्ता-भोग्य ' संबंधके तीनोंगुण अर्थात् सत, रज, तम, क्रमशः सोने, चाँदी और लोहेके शृंग हुए, तिनके मध्यका सेतुबंध प्रसंग सरोवर हुआ जिसमें देहाभिमानरूप जल भरा देख पडा और लोभका रूप भयंकर ग्राह भी जान पडा यथा–' **लोभ ग्राह दनुजेस क्रोध** ' (वि० ९४) वहाँ जो अपने (जीवके) चातुर्यगुणसे समुद्र बँधना असंभव दिखा आये यही राजसाहं मनरूप गजेन्द्रका गुणाभिमान निवृत हुआ और लोभकी भयंकरता ग्राहकी प्रबलता हुई वहाँके नामका ' **ऐश्वर्य** ' नारायणरूप और ' **वीर्य** ' (ऐश्वर्य) सुदर्शनचक्ररूप होकर लोभरूप ग्राहको मारा और वहाँ जो ' **जन मन मंजु० कंज मधु कर से** ' का अनुसंधान रहा, यही मनगजेन्द्रका कमल दिखाना है तथा जो मन बुद्ध्यादि चारोंमें रजोगुण प्रकाशक नाम ही सिद्ध हुए, तब वे चारों नामरूप अंतर्यामीके चार हाथ हुए यही मनरूप गजेन्द्रका दिव्य चतुर्भुजरूप होना है और जीव संबंधसे जो रजोगुण अलग सिद्ध हुआ तभी वह विकारावस्थासे शुद्ध हुआ फिर जैसे गंधर्व अपने लोकको गया वैसे रजोगुणका प्रकृतिमें पर्यवसान हुआ और इसका पूर्वका गजरूप मन रजोगुणरूप जडत्वरहित ' **चित्** ' रूप (उपरोक्त चतुर्भुज) हुआ, इतनी व्यवस्था सेतुबंधप्रसंगरूप तालावपर ही हुई फिर जैसे भगवान् दिव्यरूप गजेन्द्रसहित वैकुंठ गये वैसे नामने इस चिद्रूप मनको यहाँके ' गज ' लक्ष्य रूप वैकुंठ अर्थात् बाधारहितधाममें नारायणरूप अंतर्यामीका पार्षद किया अतः यहाँ इससे नित्यत्व भी हुआ अर्थात् जो मूलमें ' **भए मुकुत** ' कहा है अब फिर रजोगुण बाधा न होगी। इस रजोगुणसे भूलोक होता है वही पृथ्वी प्रकृतिका परिणामरूप कहाती है अतएव यहाँ ' **प्रकृति** ' के विकारोंसे कालक्षेप अवस्थामें रक्षाकरके नाम आधार हुए ॥

नामांतर नवों संबंध तथा विभवईश्वरत्व।

(तात्पर्यार्थ)

(७) ऊपर टि० (६) में गजके कमल दिखानेमें ' **जन मन मंजु०** ' के अनुसंधानसे ' **आधार-आधेय** ' संबंधका लक्ष्य है और ऊपर चौपाइयोंके प्रसंगसे वही इस चौ० का साधनांग भी है, अतः यहाँ जो नामका गुण प्रकट है यही वहाँ भी कार्य किया यह इस लक्ष्यसे जानकर वहाँका विषयानुराग निवृत्त हुआ और नामके आधारसे जापककी ' चिद्रूपता ' कालक्षेपमें रजोगुण संसर्गसे भी निर्विघ्न स्थित रही पुनः इस संबंधके साथका जो कृष्णावतार है, उसका साक्षात्कार तो आगे इसके अ० प्र० नं ८ में दिखावेंगे। यहाँ उसका ब्रजसंबंधी पीछेका कार्य आया, जो कि ब्रजमें भेजकर भगवान्ने उद्धवजीके ज्ञानको प्रेमसहित कराके निर्विघ्न किया है क्योंकि यहाँ भी ऊपर टि० (६) में जापकके ' चित् ' अर्थात् ज्ञानकी ही निर्विघ्नस्थिति हुई जैसे वहाँ गोपियोंने श्रीकृष्णको ही संपूर्ण आधार दिखाकर उद्धवजीमें प्रेम

दृढाया वैसे यहाँ भी नामका आधार होना है यह कार्य नित्यगोलोकवासी श्रीकृष्णका पीछेका है (यह श्रीकृष्णोपासकोंमें प्रसिद्ध है) इससे यहाँ संपूर्ण '**कृष्णावतार**' नामका आया ॥

गणिकाकी कथा ।

(८) इसकी कथा 'श्रीसीताराम नामप्रताप प्रकाश' के पृष्ठ ७८ में 'क्रियायोगसार' के श्लोकोंसहित अर्थरूपमें भी है । उसके आधारपर लिखता हूँ सतयुगमें एक रघु नामक वैश्य था, यह उसकी जीवन्ती नामकी महासुंदरी पुत्री थी, परशू नामके वैश्यसे व्याही गई, पीछे विधवा होकर व्यभिचारमें प्रवृत हुई फिर ससुरालसे माता पिताके घर आई, वहाँ भी वही नीचाचरण करने लगी तब पिताके कोपसंबंधसे किसी शहरमें जाकर गणिका हुई इसके कोई संतान न थी, इसीसे कुछ आधारके लिये किसी बहेलियेसे एक सुवा मोल लिया और किसी संतके कहनेसे 'रामनाम सर्ववेदोंसे अधिक महत्त्वशाली' को सुवासमेत पढने पढाने लगी । समस्त पापनाशक रामनामके प्रभावसे उन दोनोंके पाप नष्ट होगये, समय पाकर साथ ही पढते पढाते दोनोंका शरीर छूटा तो शीघ्र ही परमधामको गये ऐसा रामनामका प्रभाव है ॥

(अनुसंधानार्थ)

गणिका और जापकका मिलान ।

(९) इस संबंधके साधनरूप 'रक्ष्य-रक्षक' संबंधके '**जीह जसोमति॰**' में जो '**स्व-स्वामी**' संबंधका उद्धार प्रसंग है, वहाँ जो प्रथमावरणकी अवस्था सम्हालसहित उपाय कहा हुआ है, तहाँ इसकी पुर्वजीवनीका मिलान है यथा—प्रथमावरण जीवके स्वेच्छापूर्वक चंद्रमंडलमें आनेका है । चन्द्रमा वैश्[1]यवर्ण है, वहीं पर जीवका आत्मत्व विस्मरण होनेसे जीवत्व (जन्म लेनेवाली दशा) रह जानेमें रघुनाम हुआ, क्योंकि रघु संज्ञा जीवकी है । वहाँ जो इसने मायिकसुखमें अपना जीवन समझा, यही वृत्ति जीवंती कन्या हुई, यह मायिकसुख (शब्दादि) वासना 'तमोगुण' की वृत्ति है, क्योंकि आवरणप्रसंगमें तामसाहंसे शब्दविषयका होना कह आये । इस (जीवंती) के पोषणार्थ जीवरूप रघुवैश्यने इसे सतोगुणरूप परशूको व्याहा अर्थात् सुखकी उपायमें सतोगुण ग्रहण किया यथा—'**सत्त्वं सुखे संजयति**' (गीता. अ० १४) पुनः जो कर्मेच्छा करके रजोगुण ग्रहण हुआ, यही इसकी ससुराल यात्रा है । रजोगुणके ग्रहण करनेसे सतोगुणरूप पति मर गया तो चन्द्र-मंडलरूप नैहरमें स्वभाव ग्रहण करनेमें व्यभिचार प्रकट किया, क्योंकि 'स्वभाव' अर्थात् अपनी सत्ता अंतर्यामीसे भिन्न मानना जीवके लिये व्यभिचार है । कारण यह कि, अंतर्यामी ही इसका पोषक पतिरूप है तब उस स्वभावसंगसे जीवरूप रघु पिताके कोप अर्थात् पूर्वकर्मके ज्ञान-सहित संकल्पसे कोई योनि (शरीर) रूप शहरको गई तहाँ यह (तामसवृत्ति) इन्द्रियदेवोंसे कर्मव्यापाररूप व्यभिचार करती हुई भी सुखरूप संतानको न प्राप्तकरसकी (यहाँ तक

---

१ ब्राह्मणौ जीवशुक्रौ च क्षत्रियौ भौममास्करौ । सोमसौम्यौ विशौ प्रोक्तौ-इतिज्योतिषसारे ।

जापकका पूर्वोक्त नवें आवरण तक आनेका लक्ष्य कहा,) अब गणिकाका उपाय और जापकके नामाराधनका मिलान करते हैं कि, जैसे वह उदास थी तो किसी संतने उपदेशा वैसे पूर्व **'जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न'** के प्रसंगमें जापक भी प्राकृत सुखेच्छासे उदास हुआ और वहींपर पहिले संबंधमें जो संतशिरोमणि शिवजीका आदि अंतमें लक्ष्य है, तथा सर्व वेदोंके सिद्धान्तसे नामपरत्व भी अधिक कहा गया है। तहाँ ही इसे संतोपदेश हुआ और वहाँ ही इसे अपने गणिकापनेका पाप भी वोध हुआ, (अहल्याकी जीवनी मिलानमें दिखा आये) तो दूसरे संबंधमें उपरोक्त **'जीह जसोमति हरि०'** से जो केवल जीभसे नाम रटनेमें मुक्तिका भरोसा कहा गया है, यही इसे **'तोतारटन'** के नामसे मुक्तिका भरोसा हुआ, क्योंकि सुवा जीभसे ही पढता है हृदयसे पाठके अर्थको नहीं जानता यथा-**"मोहिं कहा बूझत पुनि २ जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै ।"** (गी० लं० १९) पुनः उसी (स्व-स्वामी) संबंधके लक्ष्यसहित जो सातवें संबंधका 'कारण शरीर' प्रसंग है वहाँ जो तमोगुणमय सुपुप्तिअवस्थाकी शुद्धि हुई, यही इस तामसवृत्तिकी मुक्ति हुई और उसके साथ ही जो नामका परावाणीमें आना कहा गया है, यही वैखरीवाणीकी वृत्तिरूप सुवाकी भी मुक्ति हुई क्योंकि वहाँ सुपुप्तिसे तुरीया प्राप्त हुई और परावाणी भी तुरीयावस्थाकी है, यही दोनोंकी साथ २ मुक्ति होना है। पुनः जैसे उस गणिकाने 'आनंद' रूपा हो नित्यधाममें प्राप्त होकर फिर गणिकापनेको नहीं चाहा वैसे यहाँ (इस चौ०) के इस 'गणिका' के लक्ष्यसे जो कालक्षेपमें जीवको **'तमोगुण'** वृत्ति प्राप्त होगी तो यह उसकी ओर न ताकेगा और संयोगतः बाधा होनेपर भी नामके आधारसे उसे नाशकर 'आनंद' रूपा तुरीयाकी अवस्थामें स्थित रहेगा। इस लक्ष्यसे यह भी ज्ञात हुआ कि, सम्पूर्ण विकार शुद्धि केवल जीभके नामरटनमात्रसे हुई, तो जीवके विचारादि पुरुषार्थकी आसक्ति दूर हुई + ॥

नामांतर नवों संबंध तथा विभवईश्वरत्व ।

(तात्पर्यार्थ)

(१०) ऊपर टि० (९) के अनुसार यहाँ **'स्व-स्वामी'** संबंधका लक्ष्य तथा नाम गुण है यहाँ जीवकी 'आनंदस्वरूपता' के तमोगुणसंसर्गमें भी निर्विघ्न रहनेसे नामका स्वामित्व ज्ञात हुआ इस संबंधके साथ २ जो **'बुद्धअवतार'** * कहे थे उसका प्रयोजन तमोगुणी असुरोंके तामसधर्म निवारण करनेका वहाँ दिखा आये वही यहाँ भी तमोगुणीवृत्तिकी निवृत्तिमें हुआ ॥

नोट—+इस चौ० के तीन लक्ष्योंमें जीवकी तुरीयावस्थासहित कालक्षेपमें प्रकृतिके तीनों गुणोंके संसर्गमें सच्चिदानंदस्वरूपताकी रक्षा दिखाई गई। तथा तीनोंगुणोंके शुद्ध करनेवाले केवल नाम ज्ञात हुए और छठें सं० से यहाँ तकमें मंत्रोद्धार तथा संबंध निरूपणके रामनामके अकार तथा मंत्रराजके चतुर्थीसहित मध्यके राम शब्दसे भये हुए तीनों संबंधोंका साक्षात्कार हुआ और नवोंसंबंधोंकी चतुर्थीवृत्ति भी पूरी हुई ॥ * दशवांअवतार आगेके दोहेमें दिखावेंगे ॥

मूल (चौ०)

कहौं कहाँलगि नाम बड़ाई । राम न सकहिं नाम गुन गाई ॥८॥

टीका—मैं नामकी बड़ाई कहाँ तक कहूँ, श्रीरामजी भी नामके गुण नहीं गा सकते ॥ ८ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) यहाँ ग्रंथकारको नामकी बडाई असीम देख पड़ी कि, अजामिल, गज, गणिका आदि अपत भी ज्यों हीं त्यो हीं रसनासे उच्चारणमात्रमें गति पाये तो कहते हैं कि, ऐसा महत्त्व मैं कहाँ तक कहूँ, श्रीरामजी भी (जिनका यह नाम है) इसके पूर्ण गुण नहीं गा सकते, यथा—"**वेदाः सर्वे तथा शास्त्राः मुनयो निर्जरर्षभाः । नाम्नः प्रभावमत्युग्रं ते न जानंति सुव्रते ॥ राम एवाभिजानाति कृत्स्नं नामार्थमद्भुतम् । ईषद्वदामि नामार्थं देवि तस्यानुकंपया ॥** " (महारामायणे) तथा—" **राम एवाभिजानाति रामनामफलं हृदि । प्रवक्तुं नैव शक्नोति ब्रह्मादीनां तु का कथा ॥**" (वसिष्ठतंत्रे) इसका तात्पर्य यह है कि, श्रीरामजी यद्यपि जानते हैं, परंतु अपने नामका गुण स्वयं नहीं कह सकते, क्योंकि सत्पुरुषोंकी निजगुणकथनकी मर्यादा नहीं है यथा—श्रीमुख वचन है कि, " **निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं ।**" (उ० दो० ४८) तथा कहा भी चाहें तो इसके योग्य श्रोता भी चाहिये सो भी नहीं है यथा—" **राम समान राम निगम कहै ।** " (उ० दो० ९१) तथा नामकी महिमा अनंत है, यथा—"**महिमा नाम रूप गुनगाथा । सकल अमित अनंत रघुनाथा ॥**" (उ० दो० ९०) यह वेद पुराणकी मर्यादा है । अतः यदि कहें तो मर्यादा भंग होगी, इस लिये भी नहीं कह सकते अथवा श्रीरामजी जीवोंको रमण करानेसे श्रीराम संज्ञासे सुशोभित हैं, उस कार्यमें रूपकी अपेक्षा नाम अनंत जीवोंको सुलभमें रमण कराते हैं अतएव परम सहायक जानकर कृतज्ञतासे नामकी अनंतमहिमा सिद्ध्यर्थ नहीं कह सकते । **प्रश्न**—ऊपर कहीं २ नारायणादि नामोंके प्रसंग हैं, वे रामनाममें कैसे आये । **उत्तर**—इस प्रकार कि सब नामोंके प्रकाशक (आत्मरूप) रामनाम ही हैं यथा—" **नारायणादि नामानि कीर्तितानि बहून्यपि । सम्यग्भगवतस्तेषु रामनामप्रकाशकम् ॥** " (शिव सं०) " **विष्णुर्नारायणः कृष्णो वासुदेवो हरिः स्मृतः । ब्रह्मविश्वम्भरोऽनन्तो-विश्वरूपकलानिधिः ॥ कल्मषघ्नो दयामूर्तिः सर्वज्ञः सर्वसेवितः । परमेश्वरनामानि सन्त्यनेकानि पार्वति ॥ एकादेकं महास्वच्छमुच्चारान्मोक्षदायकम् । नाम्नामेव च सर्वेषां रामनाम प्रकाशकः ॥** " (महारामायणे) तथा " **विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि । तानि सर्वाणि देवर्षे जातानि रामनामतः ॥**" (पद्मपुराणे) इस भाँति सबोंमें रामनाम हीकी शक्ति है ॥

संबंध सारांश ।

इसका कुछ विषय मूलकी चौ० १ के नोटमें और चौ० ७ की टि० (२) के प्रारंभमें भी कह आये पुनः और भी कहते हैं कि, इस संबंधमें जो जीवके छः गुणोंकी निर्विघ्नस्थिति

कही गई उसके साथ २ बा० दो० २२ चौ० ८ टि० (२) के अनुसार षड्विकारोंकी भी बाधासे रक्षा विचारना चाहिये और नवों संबंधोंके लक्ष्यमें रक्ष्य-रक्षक संबंधके अनुसार 'एक अनीहादि' गुणोंकी भी निर्विघ्नस्थिति जानना चाहिये और सातवीं चौ० के अजामिलादि लक्ष्योंमें क्रमशः 'जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति' अवस्थासे भी कालक्षेपमें रक्षा होना सातवें संबंधके अनुसार विचारणीय है जो आयुपर्यंत जब तब बाधा किया करती हैं, इससे इस (आधार-आधेय) संबंधके कारणरूप मंत्रराजके (आय) चतुर्थ्यर्थकी पूर्ति हुई, क्योंकि यहाँ विषयान्तरसेवन त्यागकर शुद्धस्वरूपसे निर्विघ्न सेवा प्राप्त रही इस प्रकार यहाँ जापक पूर्वोक्त '**प्रकृति नामक दूसरेआवरण**' से मुक्त हुआ और इस (आव०) के साथसे नाश हुए, जीवके '**सत्यकाम**' गुणकी प्राप्तिका भरोसा हुआ, क्योंकि यहाँके सब लक्ष्योंसे संपूर्ण असत्कामनायें नाश हुईं ॥

अथ अखिल प्रकरण नं० ८।

टिप्पणी (तात्पर्यार्थ)

अथ जापकके हृदयरूप गर्भमें नामकी अवस्था और अवतारका प्रसंग।

(१) इसके पूर्व अ० प्र० नं० ७ टि० (१) में इनका सातवें आवरणमें आना हुआ। अब यहाँ आठवेंका दिखाते हैं कि, जैसे जीव इसमें '**रस विषय**' के वश होकर इन्द्रियोंसे कर्मचेष्टा करता है वैसे यहाँ इन्होंने अपने शरीररूप जीवात्मासे उसके स्वरूपानुरूप कैंकर्य्यरूप कर्मकी चेष्टा किया जीवको इसमें कामसे चंचलता होती है, पर इनके शरीररूप जीवात्माकी एकरस स्थिति हुई तथा जीवोंका इसमें '**विजरत्व**' नाश होता है पर इनका जीवकी एकरस स्थितिकारकतामें प्रकाश हुआ, क्योंकि इनके जन्म कर्म दिव्य हैं।

अथ नामरूप ईश्वरकी द्वितीय भावानुसार पंचधास्थिति।

(२) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (घे) के क्रमसे यहाँ '**विभव**' स्वरूपका प्रसंग है यह मूलमें नवों अवतार पूर्वके दिखा आये, भविष्यका आगे तटस्थ दोहेमें कहेंगे ॥

अथ नामांतर दश अवतारोंके साक्षात्का प्रसंग।

(३) संबंधोद्धारके क्रमसे यहाँ '**श्रीकृष्णावतार**' के साक्षात्कारका प्रसंग है, वहाँ (बा० दो० १९ चौ० ८ में) जो २ लक्ष्य कहे गये उनका यहाँ साक्षात्कार हुआ यथा—यहाँ मूलके प्रथमसे पाँचवें लक्ष्य तकमें पंचाध्याईका रास समझना चातिये, क्योंकि यहाँ भी गोपीरूप इन्द्रियाँ तृप्त हुईं तथा आत्मसुखसे रमण करके जीव सुखी हुआ पुनः वहाँ जैसे नंदजीको अजगरके लीलनेसे रक्षा श्रीकृष्णने किया, शंखचूड़को मारकर मणि जीवरूप बलरामजीको दिया और अनेकों प्रकारका सुख दिया ॥ यह सब इस संबंधके श्रीहनूमान्‌जीके

लक्ष्यमें हुआ, क्योंकि कामनाराहित्यमें लोभरूप अजगर नाश हुआ और मणिसम भक्तिचिंतामणि जीवको प्राप्त हुई, तथा प्रजापालनके लक्ष्यमें सब प्रकारका सुख मिला फिर वहाँ जैसे वृषासुरका वध हुआ वैसे यहाँ अजामिल प्रसंगका सतोगुणबाधा रक्षण है क्योंकि, सत्त्वादि गुणोंसे धर्म होता है वही वृषभ वाच्य भी है, जो प्राकृत होनेसे तुरीयावस्थावालेके लिये असुररूप है फिर वहाँ जैसे अश्वरूपसे केशीदैत्य आया और मारा गया वैसे यहाँ 'गज' का लक्ष्य है, क्योंकि अश्वाकार केशीरूप रजोगुण है, जो अपने कार्य रूप इन्द्रियोंसहित शरीरसे जीवका घोडा है, इसकी प्राकृतचेष्टा असुरपना है, उससे रक्षा करना कह आये पुनः जैसे वहाँ 'व्योमासुर' से रक्षा हुई वैसे यहाँ गणिकाके लक्ष्यकी तमोगुणसे रक्षा है, क्योंकि तमोगुणाश्रित काल होता है, जिसका व्योमसम विस्तारस्वरूप है, अर्थात् सब उसमें समाजाते हैं। जैसे व्योमासुर ग्वालबालोंको ले २ कर कंदरामें रख आता था वैसे ही काल भी ले जाता है और उद्धव तथा गोपियोंके संवादका प्रसंग मूलके गणिका प्रसंगमें दिखा आये और वहाँके मध्य २ के कई प्रसंग यथा कंसवध आदि अगले संबंधके मूलमें इसी संबंधकी अवस्थारक्षणमें दिखावेंगे। श्रीकृष्णचरित्रका इतनाही प्रायः उपासकोंका सर्वस्व है, अतएव पूर्णरूपसे आया। यह अवतार तो मुख्यतः नामका ही है, पूर्व '**जीह जसोमति०**' में दिखा आये॥

अथ नामान्तर भक्तिरस प्रकरण।

(४) पूर्व० अ० प्र० नं० १ टि० (४) के क्रमसे यहाँ '**शृंगाररस**' की सिद्धावस्थाका प्रसंग है, पूर्वोक्त दूसरे संबंधसे इस रसका साधनांग दिखा आये थे उस संबंधकी सिद्धावस्था यहाँके मूलमें विधिवत् आई तो रसकी भी जानना चाहिये तथा और भी दिखाते हैं कि, इस रसमें जैसे जीव सखीस्वरूपसे श्रीसीतारामजीकी अहर्निशि सेवामें रहता हुआ इनके प्रसादसे आनंदपूर्ण रहता है वैसे ही जापक यहाँ नामप्रसादसे निर्विघ्न रहा तथा ऊपर टि० (३) में भी इस प्रसंगका रासादिप्रसंग विचारना चाहिये क्योंकि इस रसके वे (श्रीकृष्ण) ही देवता हैं पुनः इस संबंधका निचोड आगे तटस्थ दोहेके 'तुलसी' होनेमें है, वहीं पर इस रसकी भी पूर्ण अवस्था है क्योंकि तुलसीमें श्रृंगारका पूर्णाङ्ग है। इसी तरह छठें संबंधके दास्यरसकी अवस्था उसके निचोडरूप 'गीधराज' के लक्ष्यमें कहा था॥ *

अथ नामांतर पंचसंस्कारप्रकरण।

(५) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (५) के क्रमसे यहाँ '**माला**' (कंठी)

नोट*नाममें यह अद्भुत चमत्कार है कि, दास्यरसकी सिद्धावस्था जहाँ गीधराजके लक्ष्यमें दिखाये थे, वहाँ बुद्धिरूपा शबरीजीका प्रसंग सहायक था। इससे श्रृंगारका भी संग रहा और यहाँ 'तुलसी' होनेकी पावनतामें इस संबंधका मुख्य लक्ष्य श्रीहनुमान्जीका पावनता प्रापकरूपसे सहायक है श्रीहनुमान्जी दास्यरसके आचार्य हैं इस प्रकार नामांतर्गत दोनोंरसोंकी प्रीति है और अन्यत्र विरोध माना जाता है यह नामकी अगाध महिमा है॥

संस्कार धारणकी सिद्धावस्थाका प्रसंग है । पूर्वके अ० प्र० नं० २ टि० (९) में इसका साधनांग था वहाँके अनुसार ही यहां आगे इसका ' तुलसी ' रूप होना हुआ, क्योंकि तुलसीकी पावनता आदि इस संबंधके श्रीहनुमानूजीके ही लक्ष्यमें आगई थी जो जीवकी पूर्णवस्था है आगेका तुलसी होना इस संबंधमें यों भी लिया गया कि यहाँके ' विभव ' प्रकरणका दशवाँ अवतार उसमें ही आवेगा और श्रीहनुमानूजीके पावनताकी तरह श्रीरामजीको वश करनेवाली तुलसीकी भी पावनता है यथा-" **रामहिं प्रिय पावनि तुलसीसी** । " (बा० दो० ३०) और इसके साधनांगमें जो ' **स जीवन्मुक्तो भवति** ' इस श्रुतिप्रमाणसे जीवन्मुक्त अर्थात् जीते हुए भी तीनोंअवस्थाओंकी बाधासे बचे रहना, इस संस्कारका फल कहा गया, वह भी मूलकी चौ० ७ में आया और वही तुलसी होनेके लक्ष्यमें भी विद्यमान है क्योंकि इस लक्ष्यसे जीव तुलसीसम तीनोंलोकोंसे पूज्य हुआ यही आत्मज्ञानरूप मुक्ति है पूर्व बा० दो० १८ चौ० ४ में दिखा आये ॥

अथ नामान्तरभक्तिप्रकरण ।

(६) इसके पूर्व अ० प्र० नं० ७ टि० (६) में प्रेमाभक्तिकी पूर्णावस्था पूर्णप्रीतिमें दिखा आये । यहाँ उससे भी श्रेष्ठ तथा उस प्रीतिके अनुरागस्वरूपकी स्थिरता जो ' परा भक्ति ' नामसे ख्यात है, वह दिखाते हैं यथा-' **सा परानुरक्तिरीश्वरे** । ' (शांडिल्यसूत्रे) अर्थात् ईश्वरमें पूर्ण अनुराग पराभक्ति है अनुराग यथा-"**व्यापकता जो प्रीतिकी, ज्यों सुठि वसन सुरंग । दृगनद्वार दरसै चटक, सो अनुराग अभंग ॥** " यह एकरस अनुरागका निर्वाह इस संबंधमें भली भाँति हुआ श्रीहनूमानूजीके लक्ष्यमें प्रकट है तथा " **ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥** " (गीता. अ० १८) इसमें की ब्रह्मसमानरूपता होना प्रसन्नता और शोचराहित्य तो पूर्व ' **फिरत सनेह मगन०** ' में ही दिखा आये थे । यहाँ सब चाहपुरानेवाले नामसे ' **न कांक्षति** ' भी आया और समत्व जो आत्मज्ञानकी दशा है यथा-" **आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन** । " (गीता. अ० ६) वह यहाँकी तुरीयावस्थाकी निर्विघ्नस्थितिमें है तथा इस पराका यहाँ प्रकटमें भी लक्ष्य है यथा-पराभक्तिप्रकाशक शाण्डिल्यसूत्रका अंतिमसिद्धान्त भूत सूत्र है यथा-" **त्रीण्येषां नेत्राणि शब्दलिङ्गाक्षभेदाद्रुद्रवत्** । " (सूत्र ९९) अर्थात् ऊपर यहाँ जो इस ग्रंथका एक सूत्र लिख आये, वह उपक्रम था और यह अंतका होनेसे उपसंहाररूप है इसमें पराभक्तिवालेको शिवजीकी नाईं शब्द लिंग और अक्ष इन नेत्रोंद्वारा जानना कहा है वही शिवजीका जीमें जानकर लेना इस संबंधके ' **लिय महेस जिय जानि** ' में कह आये, उसी भक्तिका संबंध भरमें निर्वाह दिखाया गया तथा- " **रघुपति भगति करत कठिनाई** ।" इस विनयके पदके प्रथम चरणसे नवधा और दूसरेमे प्रेमाभक्तिका स्वरूप अ० प्र० नं० १ से ७ तककी टि० (६) में सब अंग मिलानसहित

दिखाते आये, अब यहाँ उसीके तीसरे चरणसे ' परा ' भक्ति भी दिखाते हैं यथा—" **सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी । सोइ हरि पद अनुभवे परमसुख अतिसय द्वैत बियोगी ॥** " (वि० १६८) अर्थात् संपूर्ण दृश्य अर्थात् लोकव्यवहारसे चित्तवृत्ति खैंचकर अंतःकरणस्थिर करके योगी होकर अर्थात् जैसे योगी लोग क्रिया करके चित्त लगाते हैं तैसे ही स्नेहरूपी क्रियाकरके मोहरूपी निद्रा त्यागकर अनुरागरूपी निद्रामें सोवे अर्थात् निमग्न रहे और द्वैत जो मायिक तीनों शरीरोंका संबंध है उसे छोड़े रहे तो वही हरिपदप्राप्तिका परमसुख अनुभव करता है यह सब (तीनोंशरीरोंसे भिन्नता, एकरस अनुराग और परमसुख) इस संबंधमें विस्तारसे दिखा आये ॥

अथ नामान्तर ज्ञानप्रकरण ।

(७) इसके पूर्व अ० प्र० नं ७ टि० (७) में 'पदार्थअभावनी' नामक ज्ञानकी भूमिका दिखा आये अब यहाँ '**तुरीया**' नामक सातवीं दिखाते हैं यथा—"**सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा ।**" (उ०दो०११७) अर्थात् सः अहं अस्मि अर्थात् वह मैं हूँ, भाव वह जो ब्रह्म है सो मैं ही हूँ, यह वृत्ति सिद्धावस्थामें अंतअवस्था तक बनी रहे अर्थात् कालक्षेपमें शब्दादिविषय तथा काल, कर्म, गुणादिकी विषमतासे कभी खंड न हो, यही तुरीया नामक भूमिका है जीवका ब्रह्म होना संभव नहीं है इसीसे ग्रंथकारने अनेकों विघ्न दिखाकर घुनाक्षरन्यायसे उसकी प्राप्ति कहा है वास्तविक तात्पर्य यह है कि, ब्रह्मका साधर्म्य प्राप्त हो जो कि इस संबंधके सारांशमें ' एक अनीहादि ' की सिद्धावस्था आनेमें हुआ इससे ब्रह्मके समान सच्चिदानंदस्वरूप तथा नित्यत्वादि सभी लक्षणमे समानता होती है । यह भी पार्षदरूप होनेमें और निर्विघ्नस्थितिसे इस संबंधमें विद्यमान है और तुरीयावस्थाकी जो इस संबंधमें निर्विघ्नता दिखा आये, यही अखंडवृत्तिका निर्वाह हुआ और वहाँ जो एकता है, वह भी नामके इस संबंधके निर्णयप्रसंगमें दिखा आये हैं यथा—वहाँ जापकका नामके साथ तादात्म्य संबंध कहा गया है उसके अर्थसे जापक नामसे अपृथक् सिद्ध हुआ है, और नाम ब्रह्म हैं हीं यह सर्वत्र दिखा आये तथा—प्रमाण" **श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम् ।** " (सनत्कुमार सं०) इस प्रकार इस संबंधमें जीव और ब्रह्मकी एकताप्रापक तुरीया नामक सातवीं भूमिका सुलभमें आई । यथा—"**भावाभाव जहाँ न कछु, सप्तम तुरिया माहिं । मैं तू तहाँ न संभवै, कहाँ आहि कहँ नाहिं ॥** " (टीका बैजनाथजी)

(८) पुनः इसके आगे ज्ञानप्रकरणमें जो इस भूमिकाके गुण और विघ्न दिखाये हैं, वह भी दिखाते हैं यथा—" **दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा ॥ आतम अनुभव सुख सुप्रकासा ॥ तब भवमूल भेद भ्रम नासा ॥ प्रबल अविद्या कर परिवारा । मोह आदि तम मिटै अपारा ॥ तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा । उरगृह बैठि ग्रंथि निरुवारा ॥ छोरन ग्रंथि पाव जौं कोई । तौ यह जीव कृतारथ होई ॥** " (उ० दो०

११७) **अर्थ**–वही वृत्ति दीपकी प्रचंडशिखासम है, आत्मअनुभवसुख उसका प्रकाशवत् होता है तब देहाभिमानरूप भेद और संसारसचाईका भ्रम नाश होजाता है जो जन्ममरणका हेतु है और प्रबलअविद्या जो कारण माया है (जिसे कारणशरीर प्रकरणमें कह आये) उसके परिवार मोह आदि तमकी तरह नाश होजाते हैं तब वही आत्मबुद्धि उपरोक्त प्रकाश पाकर हृदयरूपी घरमें बैठकर ग्रंथि छोरती है ग्रंथि यथा–"**अनादिकालकर्मवासनाग्रथितमविद्यामयं हृदयग्रंथिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गतः ॥**" (श्रीमद्भागवते पंचमस्कंधे) अर्थात् अनादिकालसे जो जड़प्रकृतिसे भये हुए कर्मोंकी वासनारूप डोरीमें कर्तृत्वाभिमान कर २ के जीव बँध गया था उन गुणोंका स्वरूप अपनेसे पृथक् समझना ग्रंथि छोरना है यथा–" **तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं । अपने करन गाँठि गहि दीन्हीं ॥**" (वि० १३७) इस ग्रंथिके छूटनेपर जीव कृतार्थ होता है **शंका**–ग्रंथि क्या प्रथम नहीं छूटी थी ? **समाधान**–यह छठवीं भूमिकाके '**तीनिअवस्था तीनिगुन, ते कपासते काढ़ि।**' प्रसंगमें एकबार छूटी, पर कालक्षेप अवस्थामें शरीरसंबंधसे कर्मसंबंध रहता ही है तो कभी असावधानतासे गुणोंका संसर्ग होजाता है, तब २ को छोडते रहना कहा है।

(मँ) इसका भी मिलान नाममें करते हैं यथा–आत्मसुख अनुभवरूप प्रकाश संबंधभरमें एकरस रहा और जीवकी ज्ञानस्वरूपता, ज्ञानगुणकता और अणुस्वरूपताका एकरस रहना, जो चौ० १ से ३ तकमें कहा गया, उसमें देहाभिमानरूप भेद नाश हुआ और देहादिविलक्षणता स्वयंप्रकाशकता तथा नित्यत्वकी स्थिति चौ० ४ से ६ तकमें रही, उसमें संसारसचाईका फिर भ्रम न हुआ और कारणमायाके अंगभूत काल, कर्म, गुणादिके संसर्गकी रक्षा तथा तिन्हें अनुकूल रखना जो छवों चौपाइयोंमें दिखाते आये हैं यही अविद्याजन्य मोहादिका निवारण होना है और सातवीं चौ० के अजामिलादि तीनों लक्ष्यमें उपरोक्त ग्रंथि निरुवार भी दिखा आये। यहाँ ग्रंथि छोडनेका सामान्य अवलंब लक्ष्यसमेत है, परंतु जब जीव कभी २ असावधान हो जाता है, क्योंकि जीवका ज्ञान सदा एकरस नहीं रहता यथा–" **जौं सबके रह ज्ञान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥** " (उ० दो० ७७) तबके लिये इसे अगले संबंधमें श्रीरामस्नेहमें लीन रहना दिखाकर नामद्वारा सम्हाल होना विस्तारसें दिखावेंगे और ज्ञानप्रसंगमें तो ज्ञानीका स्वयं सम्हाल करना है इस लिये इसके विघ्नोंका प्रबलस्वरूप आगेके अ० प्र० नं० ९ टि० (७) में कहेंगे और वहीं जापककी तरफ नामका सम्हाल करना भी दिखावेंगे ॥

अथ नामांतर भगवत्साधर्म्य प्राप्ति।

(८) संबंधोद्धारके क्रमसे इसके ' एक अनीहादि ' में यहाँ '**आनंद**' गुणका साक्षात्कार हुआ, क्योंकि इस संबंधभरमें आनंदमयी तुरीयावस्था निर्विघ्न रही ॥

अथ नामांतर पंचकोशोत्क्रमणक्रम।

(९) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० ३ टि० (९) के अनुसार यहाँ चौथे '**विज्ञानमय**' कोशका प्रसंग है। इसका तात्पर्य प्रकृतिवियुक्त जीवात्माके साक्षात्कारका है यह मूलके छवोंगुणसहित जीवस्वरूपकी स्थिति और चौ० ७ के प्रकृतिके गुणोंसे निर्लेप स्थितिमें हुआ ॥

इति श्रीरामवल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्तशरणकृत श्रीमन्मानसनामवंदनायाः

तत्त्वार्थसुमिरनीटीकायां अष्टममणिकार्थवर्णने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इति अष्टममणिकार्थ समाप्त।

दशमोऽध्यायः।

अथ श्रीमन्मानसनामवंदनाका नवाँ दोहा।

मूल।

नाम रामको कल्पतरु, कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भए भाँग ते, तुलसी तुलसीदास ॥ २६ ॥

टीका—कलियुगमें श्रीरामजीका नाम कल्पवृक्ष है, जिसमें कल्याणका निवास है। जिसके सुमिरनेसे तुलसीदास भाँगसे तुलसी हुए ॥ २६ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "**नाम रामको कल्पतरु**" का भाव यह कि कल्पवृक्ष जैसे अर्थ, धर्म, काम, तीन फल देता है और छायामें घामसे भी बचाता है यथा—"**देव देवतरु सरिस स्वभाऊ। सन्मुख बिमुख न काहुहिं काऊ॥** दो०—**जाय निकट पहिचानि तरु, छाँह समन सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग, राव रंक भल पोच॥**" (अ० दो० २६७) वैसे नाम भी जापकोंकी इच्छामात्र पूरी करते हैं अर्थात् चारों फल देते हैं और तीनों तापरूपी घाम हरते हैं यथा—"**तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि।**" (वरवा रा०) "**रामनाम कामतरु देत फल चारि रे।**" (वि० ६९) "**सुमिरे त्रिविध घाम हरत०**" (वि० २९६) "**जासु नाम त्रयताप नसावन।**" (सुं० दो० ३८)

(२) "**कलि कल्याननिवास**" का भाव यह कि, यहाँ कल्याण नाम ज्ञान विरागादिका है वे सब और वृक्षोंसे भागकर कलिमें नाममें ही आ वसे हैं यथा—"**यहि कलिकाल सकल साधन तरु हैं श्रम फलनि फरो सो। ० सुख सपनेहुँ न जोग सिधि साधन रोग बियोग धरो सो। काम क्रोध मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो।**" (वि० १७४) ॥

(अनुसंधानार्थ)

(कें) यहाँ नामको कल्पवृक्ष कहकर अन्यसाधनोंको अन्य २ वृक्षोंका लक्ष्य कराये हैं। जैसे कागभुशुंडजी चारयुगोंकी अवस्था आनेपर तिन युगोंके वृक्षोंके नीचे जा २ कर कालक्षेपमें अपनी तुरीयावस्थाकी रक्षा करते थे वैसे जापककी अवस्थाका मिलान करते हैं, विस्तारभयसे कागजीकी पूर्ण जीवनी नहीं दिखावेंगे यहाँ आवश्यकीय उनकी स्थाईदशाको दिखाते हैं कि, जैसे कागजी नीलाचल पर्वतपर आये वैसे ही जापक ऊपरके आधार-आधेय सं० में अपने हृदयरूपी आकाशमें आया जो कर्मकामनारूप मेघोंसे शून्य नीलाचलसम था. वहाँ यह अपनेको कर्मोंका अनधिकारी दृढ़ किया था, क्योंकि स्वस्वरूप प्राप्त हो चुका था यही इसका चांडालपक्षी (काग) रूप था पुनः वहाँ इसने नामके आधारमें अपनी और प्रकृतिके गुणोंकी स्थिति समझा था, यही (जीवपक्ष—प्रकृतिपक्ष) दोनों पक्ष दो पंख थे और आधाररूप नाम उडनेवाले थे जैसे कागजी सतयुगकी चेष्टामें पीपरके नीचे ध्यान करते थे, त्रेताकी चेष्टामें पाकरिके नीचे यज्ञ और द्वापरकी चेष्टामें आमके नीचे मानसपूजा तथा कलिकी चेष्टामें वटके नीचे कथासहित कालक्षेप करते थे वैसे वहाँ जापकका चित्त पीपरसम, बुद्धि पाकरिसम, अहंकार आमसम और मन कलियुगके वटसम था. जो श्रीहनुमान्जीके लक्ष्यमें नित्यत्वसहित रामराज्यका ध्यान करता था, तहाँ सतयुगकी अवस्था थी यथा—" **त्रेता भइ कृतयुगकी करनी।** " (उ० दो० २१) वहाँ चित्तशोधक संबंधका लक्ष्य भी रहा पुनः अजामिलके लक्ष्यमें सतोगुणप्रधान कुछ राजसयुक्त त्रेताकी अवस्था थी वहाँ यज्ञ करते हुए अजामिलका पतित होना दिखाके फिर उस अवस्थाके आधार नामको दिखाकर रक्षा दिखाये वहाँ भी बुद्धि शोधक संबंधका लक्ष्य था तथा— गजके लक्ष्यमें रजोगुणप्रधान द्वापरकी अवस्थासे रक्षा हुई, वहाँ पार्षद स्वरूप मिलनेमें दिव्यरूपके संकल्पोंसहित मानसपूजा भी हुई उसमें राजसाहंशोधक लक्ष्य भी था और गणिकाके लक्ष्यमें कलि अवस्थायुक्त तमोगुणप्रधान मनसे रक्षा हुई वहाँ केवल नामकीर्तन (तोतारटन) आधार रहा (कलिमें कथा और नाम दोनोंका माहात्म्य है, इसीसे कथाकी जगह नाम ही है) और इसमें मनशोधक संबंधका लक्ष्य भी था। यही इसका चारों वृक्षोंके अवलंबसे रहना हुआ उपरोक्त चारों युगोंकी अवस्था यथा—" **नित जुगधर्म होहिं सब केरे। हृदय राममायाके प्रेरे ॥ सिद्ध सत्त्व समता विज्ञाना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना ॥ सत्त्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब विधि सुख त्रेताकर धर्मा ॥ बहु रज स्वल्प सत्त्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भव मानस ॥ तामस बहुत रजोगुण थोरा। कलिप्रभाउ विरोध चहुँ ओरा ॥** " (उ० दो० १०३) जैसे वहाँ कागजीका २७ कल्प नाश न हुआ वैसे जापक भी नवों संबंधोंका अनुसंधान करते हुए प्रत्येकमें काल, कर्म और गुण तीनोंकी विषमतासे सुरक्षित रहा जिन एक २ की बाधा होनेसे जीव एक २ कल्पके लिये चौरासीको जाते हैं। यही नव तिगुने (९ × ३= २७) सत्ताईस कल्पकी रक्षा हुई ॥

(ख) ऊपर टि० (क) में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारके शुद्धस्वरूपको चार वृक्षरूपसे निमित्तसहित नामने चाह पुराया। वृक्ष जड़ होते हैं वैसे वे चारों जड़ हैं, उनमें कर्तृत्व नामका ही था, ऐसा विचारकर यहाँ ग्रंथकारने अपनेको तुलसीकी तरह अनन्य होना कहा और जगत्को कलिरूप समझा, क्योंकि इस शुद्धअवस्थामें जगत् कलिमय देख पड़ता है, तब चारों युगोंकी अवस्था रक्षणार्थ भी नामको ही निश्चय किया अंतःकरणका संग छोड़नेसे अपना रक्षणभार अंतर्यामीरूप नामपर देकर स्वयं तुलसीकी तरह अनन्यभावसे निमग्न होना दिखाया, इससे सबके लिये उपदेश किया कि, जब जीवको अंतःकरणसे जगत् कलिरूप देख पड़े और सब युगोंकी अवस्था हृदयसे उठ जायँ तो अनन्यभावसे नाम कल्पतरुकी ओटमें ही उसे चारों युगोंके धर्म तथा चारों फल केवल नामसे ही प्राप्त होते हैं इस लिये यहाँ नामको अपनी अवस्थानुसार कल्याणनिवास विचारकर कहा है ॥

(३) ' **भाँगते तुलसी** ' यथा--" **केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास। राम जपत भए तुलसी तुलसीदास॥** " (बरवा रा०). अर्थात् इस तुलसी होनेका प्रसंग पूर्वके रक्ष्य-रक्षक संबंध ' **बरषारितु रघुपति०** ' से है वहाँ ग्रंथकार प्रथम धानकी बेरनि अर्थात् घाससम थे फिर शरण होनेमें ' **तुलसीदास** ' यह नाममात्र तुलसीका पाये थे फिर वहीं पर जो नवों संबंधोद्धारसे नामके गुण जानकर ' **एक छत्र एक मुकुट०** ' के प्रसंगमें ' अणु ' रूपके शुद्धजीवोंकी शेषत्वयोग्यता देखा कि, इनको तो श्रीसीतारामजी अतिप्यारकर क्रीट चन्द्रिकादिरूपसे शिरपर भी धारण करते हैं ऐसे ही लोकमें अर्चारूपसे तुलसीको भी धारण करते हैं अतः तुलसीसम पावन होनेसे यह सौभाग्य प्राप्त हो सकता है फिर जब अपनी ओर देखा तो षड्विकारोंसमेत जानकर भाँगसम अपावन समझा तब वहाँके शेष-शेषी संबंधमें नामके षडैश्वर्य देख पडे तो उन विकारोंकी शुद्धिका प्रसंग चला फिर आधा-राधेय संबंधके श्रीहनुमान्जीके लक्ष्य तकमें पूर्णपावनता प्राप्त हुई और अजामिलादि लक्ष्यसे तीनोंशरीरोंकी शुद्धिमें तीनों लोकोंसे पूज्य भी हुए, तब पूर्वका अभीष्ट सिद्ध हुआ तो उसी संबंधके निचोडरूप इस दोहेमें प्राप्त हुई अवस्थाको दिखाकर नामको धन्यवाद देते हुए कहते हैं, कि हम इन्हीं कल्पतरुकी छायामें भाँगसे तुलसी हुए यह अवस्था ज्ञानादिका सर्वस्व है अतः नाम कल्याणनिवास हैं। तुलसी बनानेमें कल्पतरुसे नामकी बहुत विशेषता है, क्योंकि वह पहिचाननेवालोंकी कामना पूरी करता है ऊपर टि० (१) में प्रमाण है परन्तु नामने तो जैसे विष्णुभगवान्ने वृन्दाको धोखेमें तुलसी बनाया, (यह प्रसंग अ० प्र० नं० २ टि० (९) में विस्तारसे है) वैसे जापकको विना प्रभाव जाने ही तुलसी सम किया।

नामांतर नवों संबंध तथा विभवईश्वरत्व।

(४) ऊपरके आठवें संबंधमें जो गणिकाके लक्ष्यमें ' स्व-स्वामी ' संबंधका लक्ष्य काल, कर्म, और गुणकी रक्षामें दिखा आये, उसी संबंधका यहाँ भी लक्ष्य है क्योंकि यहाँके ' **कलि-कल्यानिवास** ' में भी वही अभिप्राय है यथा--कल्याणके अर्थसे वैराग्य, ज्ञान, तथा भक्ति

आदिके निवास नाम हुए तो इनके वैराग्यद्वारा ' गुणों ' से रक्षा होती है यथा-" **कहिय तात सो परम विरागी । तृनसम सिद्धि तीन गुन त्यागी ॥** " (आ० दो० ११) तथा ज्ञानद्वारा ' कर्म ' से रक्षा होती है यथा-" **कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें ।** " (उ० दो० १११) और भक्तिद्वारा ' काल ' से रक्षा होती है यथा-" **कबहूँ काल न ब्यापिहिं तोहीं । सुमिरि स्वरूप निरंतर मोहीं ॥** " (उ० दो० ८७) पुनः पूर्वके दूसरे संबंधके ' जीह जसोमति ० ' में ' स्व-स्वामी '-संबंधके साथ ' बुद्ध ' अवतार कहकर उसके नीचेके दोहेमें उसी संबंधके साथ कल्कीअवतार भी दिखाये थे वैसे यहाँ भी ऊपर ' गणिका ' के लक्ष्यमें बुद्धअवतार प्रकटा, यहाँ कल्कीका प्रसंग है यथा- वह अवतार घोर कलिकालमें होता है वैसे यहाँ नामभी कलिमें कल्याणके निवास प्रकट हुए अतः यहाँ नामका ' **कल्की** ' अवतार आया । यहाँ ऊपरके ' विभव ' प्रसंगकी संख्यापूरकत्व है ॥

संबंध निर्णय ।

(९) पूर्व मंत्रोद्धार तथा संबंधनिरूपण प्रसंगमें रामनामसे षडक्षरमंत्रका होना और उसके ' **नमः** ' शब्दसे उपायस्वरूपतापर ' **स्व-स्वामी** ' संबंध कह आये उसीका दूसरे संबंधके ' **जीह जसोमति ०** ' प्रसंगमें उद्धार भी दिखा आये उसीका प्रसंग इस दोहेसे प्रारंभ हुआ । ऊपर टि० (४) में सप्रमाण दिखा आये, उसीपर कुछ और प्रमाण दिखाते हैं । यथा-श्रुतिः " **जगत्प्राणायात्मनेऽस्मै नमः स्यात् । नमस्त्वैक्यं प्रवदेत् प्राक् गुणेनेति ।** " (रामतापनीये); अर्थात् जगत्के आधाररूप अंतर्यामी श्रीरामजीकी शरणागति करना चाहिये और गुणेनप्राक् अर्थात् प्रकृतिसे परे श्रीरामजीको एक नमस्कार करे, इसीपर श्रीमुखवाक्य है यथा-" **सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥** " (श्रीमद्वाल्मीकीये युद्ध कां०) इससे उपरोक्त नमःशब्दकी उपायस्वरूपता स्पष्ट हुई कि, केवल प्रणाममात्रसे श्रीरामजी सबसे अभय करते हैं, इसीसे यह भी जाना गया कि, आप सबके स्वामी हैं यथा-श्रुतिः ' **सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः** ' अर्थात् सबके वश करनेवाले ईश्वर प्रेरक तथा अंतर्यामी हैं, तब तो सबसे अभय करना कहते हैं यही स्वामित्व है यथा-"**स्वत्वमात्मनि संजातं स्वामित्वं ब्रह्मणि स्थितम् ॥** " अर्थात् संतोंका भगवान्में ममत्व है और भगवान्में स्वामीपना है । स्वामित्व अर्थात् सर्व ऐश्वर्यसहित सबके माननीय होना. जैसे कि, इस दोहेके ' **कलि कल्याननिवास ।** ' पर टि० (४) में नामका स्वामित्व दिखा आये यहाँसे लेकर आठों चोपाइयोंमें अंतर्यामीरूपसे नामका स्वामित्व कहेंगे । अंतर्यामीमें स्वामित्व प्रधानरूपसे है यथा-" **सो तुम जानहु अंतर्यामी । पुरवहु मोर मनोरथ स्वामी ॥** " (बा० दो० १४८) ॥

मूल (चौ०)

चहुँजुग तीनिकाल तिहुँलोका । भये नाम जपि जीव बिसोका ॥ १ ॥

टीका-चारों युग, तीनों काल तथा तीनों लोकमें जीव नाम जपकर शोक रहित हुए ॥ १ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) यहाँपर '**भये**' क्रिया भूतकाल सूचन करती हुई, '**तीनिकाल**' से वर्तमान और भविष्यका अर्थ लेनेमें बाधा करती है अतएव इस (तीनि काल) से तीनों (संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण) कर्मका अर्थ होगा, यही प्रसंगपोषक भी है आगे सप्रमाण दिखावेंगे ॥

(कं) '**चहुँजुग**' अर्थात् चारोंयुगोंमें नामके रक्षकत्वका प्रमाण पूर्वोक्त बा० दो० २१ चौ० ८ में दिखा आये चारों युगोंके रक्षकत्वसे कालसे रक्षा करना हुआ क्योंकि जीवोंके हृदयमें नित्य चारो युगोंके धर्म वर्तते हैं । तदनुसार सदसत्कर्मोंकी चेष्टा होती हैं । (युगोंके धर्म ऊपर दोहेकी टि० (कं) में दिखा आये) अतएव चारों युगोंकी कालविषमतासे नामद्वारा जीव विशोक हुए, यह अर्थ हुआ ॥

(खं) पुनः '**तीनिकाल**' से ऊपर तीनों कर्मका अर्थ कह आये । वह यों है कि, संचितकर्म भूतकालबाधा है, प्रारब्धानुसार वर्तमानकाल होता है और क्रियमाणकर्मसे भविष्यके कालकी भयंकरता होती है कालसे कर्मके अर्थका और भी प्रमाण है । यथा—"**यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । प्रयाता यांति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥**" (गीता. अ० ८) इसमें कालका अर्थ अर्चिरादिमार्गका है क्योंकि आगे '**शुक्लकृष्णे गती ह्येते** ०' में उसी कालका गति अर्थात् मार्ग अर्थ स्पष्ट है और यह दोनों मार्ग योगियोंके निष्काम और सकामकर्मके फलको कहा है ॥

(गं) '**तिहुँलोका**' से गुणरक्षा जनाये क्योंकि तीनों गुणोंसे ही तीनोंलोक होते हैं, इसीसे वे गुण तीनों लोकोंकी बाधा पहुँचाते हैं यथा—"**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥**" (गीता.अ० १४)

(घं) '**जीवबिसोका**' की अंतर्ध्वनिसे स्वभावबाधासे रक्षा सिद्ध होती है क्योंकि 'जीवत्व' अर्थात् जन्म लेनेका शोक स्वभावद्वारा होता है । यथा—"**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप । कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥**" (गीता. अ० १८) अर्थात् स्वभावभेदसे कर्म भिन्न २ हैं, तदनुसार ही ब्राह्मणादिमें जन्म होता है । तथाच "**कालाद्गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः । कर्मणो जन्ममहतः पुरुषाधिष्ठितादभूत ॥**" (भागवत २ स्कंध अ० ५) और जन्म होनेसे मृत्युबाधा भी शोक कारक होती है, वह भी स्वभावबाधामें हैं + ॥

मूल (चौ०)

वेद पुरान संतमत एहू । सकल सुकृत-फल राम-सनेहू ॥ २ ॥

टीका—वेद पुराण और संतोंका यही मत है कि, सब पुण्योंका फल श्रीरामस्नेह है ॥ २ ॥

नोट—+ऊपर जो 'भए' से भूतकाल कहे थे, वहीं इन चारों बाधाओंसे नामद्वारा रक्षा पाये हुए व्यक्तियोंके लक्ष्यसे आगे चौ० ४ से ८ तकमें तथा दोहेमें भी उपरोक्त बाधाओंसे रक्षा दिखावेंगे ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) "**सनेहू**" यथा—"**चलनि मिलनि बोलनि भली, ललित दृष्टि सो नेह**" अर्थात् अपने इष्टका चलना मिलना आदि अच्छा लगे और ललित दृष्टिसे उसीमें प्रीतिपूर्णता रहे, तथा उसके प्रतिकूल कारक धर्मोंको भी छोड दे. इसके उत्तमोत्तम दृष्टान्तमें श्रीभरतजी हैं यथा—इन्होंने श्रीरामजीसे प्रतिकूलकारक जानकर माता पिताकी आज्ञाको त्यागकर श्रीरामस्नेहकी रक्षा किया है और श्रीरामजीका आचरण तो ऐसा प्रिय था कि, उनका समीपी जानकर निषादको भी अंकभरकर भेंटा और उनके वासस्थानके वृक्षोंकी परिक्रमा करते हुए गुण-गणस्मरणमें देह दशाभूल जाते थे इनकी स्नेहपूर्णताके बहुत प्रमाण हैं यथा—"**साधनसिद्धि रामपद नेहू। मोहिं लखि परत भरत मत एहू॥**" (अ० दो० २८८) "**अब अति कीन्हेउँ भरत भल, तुम्हहिं उचित मत एहु। सकल सुमंगल मूल जग, रघुवर चरन सनेहु॥ सो तुम्हार धन जीवन प्राना।**" (अ० दो० २०७) इसी स्नेहसे ये श्रीरामस्नेहरूप कहाये, यथा—वहीं पर श्रीभरद्वाज वचन है कि, "**तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥**" (अ० दो० २०७)

(अनुसंधानार्थ)

(२) यहाँ पर 'श्रीरामस्नेह' की आवश्यकताका कारण यह है कि, ऊपर जो काल, कर्म, गुण आदिसे नामका रक्षकत्व कह आये, उसके लिये श्रीरामस्नेहसहित नामजप होना चाहिये। ऐसे ही श्रीभरतजी भी जपते थे यथा—"**जबहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमँगत प्रेम मनहुँ चहुँ पासा॥**" (अ० दो २१९) तब उनके स्नेहकी रक्षा श्रीरामजीने खड़ाऊँ द्वारा की, यथा—"**संपुट भरत सनेह रतन के।**" (अ० दो० ३१६) वैसे जापकके स्नेहकी रक्षा काल कर्मादिसे नाम भी करते हैं, क्योंकि उस खड़ाऊँके गुणवाले भी हैं यथा—"**आखर जुग जनु जीव जतनके।**" (अ० दो० ३१६) (इसमें उसी खंडाऊँका दृष्टान्त है) ऐसे स्नेहकी महिमा भी नामहीसे ज्ञात होती है यथा—"**जानहिं सियरघुनाथ भरतको सील सनेह महा है। कै तुलसी जाको रामनामसों प्रेम नेम निबहा है॥**" (गी० अ० ६४)

(३) ऊपर दोहेमें 'तुलसी' के लक्ष्यमें जो श्रीहनूमान्‌जीके लक्ष्यकी अवस्था आना कहे थे और वहाँ (श्रीहनूमान्‌जी आदिमें) अंतःकरणसे जीवको जपनेमें लक्ष्य रखना भी कहे थे, कि बाधाके अनुसार लक्ष्य रहे, तब नाम आधार होकर रक्षा करते हैं परंतु तुलसीकी भाँति होनेपर वह भी न रक्खे, केवल नाम हीसे वहाँके सब कल्याणकी प्राप्ति दिखाये इसका कारण यह है कि, जीवका ज्ञान सदा एकरस नहीं रहता, इस लिये यह नामके अर्थभूत श्रीरामरूपमें अथवा उनके सूक्ष्मरूप अंतर्यामीमें स्नेह किये हुए नाम जपे तो उनका ज्ञान तो अक्षय है, अतएव इसका सदा एक रस सम्हाल रक्खेंगे यही विषय आगे प्रसंग भरमें दिखावेंगे॥

मूल (चौ०)

ध्यान प्रथम जुग मख विधि दूजे । द्वापर परितोषन प्रभु पूजे ॥ ३ ॥
कलि केवल मल मूल मलीना । पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥ ४ ॥

टीका–सतयुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञकी विधिसे, द्वापरमें पूजासे प्रभु प्रसन्न होते है ॥ ३ ॥ कलियुगमें केवल. क्योंकि, यह पापका मूल है और मलीन है, पापरूप समुद्रमें लोगोंके मन मछली हो रहे हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) यथा--"**ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन् । यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ श्रीनामकीर्तनात् ॥** " (विष्णुपुराणे)

(अनुसंधानार्थ)

(२) जैसे छठाँ संबंध चौथेका, सातवाँ तीसरेका और आठवाँ दूसरे संबंधका नाम गुणप्रकाशक और फलरूप था वैसे यह (नवाँ) संबंध भी पहले संबंध (पिता-पुत्र) का गुणप्रकाशक और फलरूप है, वही दिखाते हैं कि, ऊपर दोहेमें जीवोंके हृदयमें चारों युगोंकी अवस्था नित्य होना और बा० दो० २१ चौ० ८ में चारों युगोंमें नाम प्रभाव दिखा आये वैसे इसके ऊपरकी चौपाईमें सब सुकृतियोंके फलरूप श्रीरामस्नेहसहित जापकको रहना आवश्यकीय हुआ ॥

(क) जिस प्रकार वहाँ (पिता-पुत्र सं० में) चौ० (१–२) से नामहींको माता, पिता, गुरु, स्वामी दिखाकर तिनसे क्रमशः काल, कर्म, गुण, स्वभावसे रक्षा होना दिखाये, वैसे यहाँ भी इन दो चौपाइओंसे नामहींको वहाँके चारों नातोंकी तरह चारों युगोंके धर्मद्वारा सनेह कराकर पालन करना और तिनके बाधक काल कर्मादिसे रक्षा करनेका लक्ष्य दिखाते हैं. यथा–मूलमें कलिके साथ '**केवल**' कहकर उसे उद्देश्यांशमें साकांक्ष ही छोडकर कलिकरालता कहने लगे, उसे फिर अगली चौपाईमें '**नामकामतरु कालकराला**' से खोलेंगे. क्योंकि वहाँ फिर कलिका नाम नहीं है । अतः वह करालता यहींके कलिप्रसंगकी है क्योंकि, उससे आगे फिर सब चौपाइयोंमें वार २ '**कलि**' नाम कहेंगे ।

(ख) इससे स्पष्ट हुआ कि, जब कलिमें केवल नामहींको अभीष्टसाधक कहा है तो ऊपरके तीनों युगोंमें दो २ उपाय रहें, इसी लिये प्रथमकी चौपाईमें मख आदिको विधि कहा है. उसका भाव यह कि, जैसे प्रजा खेती वाणिज्य आदि विधि करती है तो राजा उसकी विधिका निर्वाह करता है, नहीं तो चोर ठग आदिसे निर्वाह न हो, वैसे ही नाम सब युगोंमें सब सुकृत और साधनोंके राजा (स्वामी) हैं, पुनः जब कोई करालकाल (अकाल) पडता है तब वही राजा जैसे अपने कोषसे प्रजाके अभीष्ट सिद्ध करता है वैसे कलि करालमें नाम

हैं। अब जापक रूप प्रजाके चारों युगोंके कार्य नामके स्वामित्वसे होना दिखाते हैं॥

(गं) यथा ' **सतयुग** ' के स्नेहरक्षामें जो ध्यान विधिरूपसे रहा उसका नामने अपने ' **हेतु कृसानु भानु हिमकर** से ' रूपसे निर्वाह किया है यथा–'**नाम जीह जपि जागहि जोगी०** ' । में योगीके ध्यानका प्रसंग था वहाँके नामका गुण छठें संबंधके अहल्याप्रसंगसे स्पष्ट हुआ । तहाँ नामने ही अपनी उदारतासे अपने ' **हेतुकृसानु** ' रूपद्वारा योगीको ध्यानमें जगाया अर्थात् वैराग्य कराया और ' **हेतुभानु** ' रूपसे प्रपंचवियोगी अर्थात् ज्ञान देकर जगत्से निर्लेप कराया, तथा–' **हेतुहिमकर** ' रूपसे आत्माकी ध्याननिष्ठा कराके ब्रह्मसुख (आत्मसुख) अनुभव कराया क्योंकि, इसमें आत्मस्वरूपप्रकाशकता है । प्रमाण यथा–" **रकार हेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते । अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम् ॥** " (महारामायणे) उपरोक्त कृशानु आदि इन्हीं तीनों अक्षरोंके कार्यरूप हैं । अतएव ध्यानकी विधि निमित्तमात्र थी, पुरुषार्थ सब नाम हीका है इसमें नामने कालसे बचाया ऊपर टि० (कं) में देखो । इसी तरह ' **त्रेताकी** ' यज्ञविधिमें भी नामहीने अपने ' **विधि हरि हरमय** ' रूपसे किया, क्योंकि यज्ञ कर्मकरके होती है यथा–' **यज्ञः कर्मसमुद्भवः** ' (गीता. अ० ३) और कर्मोंके तीनों अंशों (ज्ञान-ज्ञेय-परिज्ञाता) के प्रकाशक ' विधिहरिहरमय ' रूपसे नामका होना पूर्व बा० दो० १८ चौ० ४ टि० (९) में दिखा आये और वही बा० दो० २१ चौ० ३ के गुणप्रकाशक छठें संबंधके विश्वामित्रके लक्ष्यमें प्रत्यक्ष भी हुआ तथा ' **द्वापर** ' के पूजाविधिमें भी नाम ही अपने ' **वेदप्रान सो** ' रूपसे रहते हैं क्योंकि, इस रूपसे आपकी गुणनियामकता कह आये, उसीका कार्य (गुणप्रकाशकता) चौथे संबंधकी ' **साधक नाम जपहिं०** ' में सतोगुणकी अणिमादिक सिद्धियोंद्वारा मानसपूजाको कहा. पुनः उसीके गुणप्रकाशक छठें संबंधमें श्रीजनकजीकी पूजा (कन्यादान) से प्रभुका ' **परितोषन** ' भी हुआ, क्योंकि पूजाके पीछे स्तुतिपर उसकी पूर्ति होती है वैसे श्रीजनकजीने जब विदाईसमय स्तुति किया तबका वचन है यथा–" **सुनि वर वचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकाम राम परितोषे ॥** ' (बा० दो० ३४१) तथा ' **कलि** ' में केवल अर्थात् निमित्त विना नामने अपने ' **अगुन अनूपम गुननिधान सो ।** ' रूपसे जापककी स्नेह-रक्षा किया, क्योंकि इसमें इनकी कर्म, ज्ञान और भक्तिकी प्रकाशकतासे स्वभावरक्षा कह आये, उसीका कार्य अर्थात् तीनों कांडकी फलरूपा शुद्धशरणागतिद्वारा चौथे संबंधकी चौ० ' **जपहिं नाम जन आरत भारी ।** ० ' तथा उसके नामगुणप्रकाशक छठें संबंधके दंडकवन प्रसंगमें कलिकी दशासे स्नेहकी रक्षा होना दिखा आये अतएव चारों युगोंके धर्मोंसे प्रभुको परितोषन (प्रसन्न) करनेवाले नाम ही हैं, इसमें प्रभुको परितोषन (संतुष्ट) कहनेका भाव यह है कि, जब प्रभु जीवोंके कर्मानुसार कालमें प्रेरणा करके उत्पन्न करते हैं, क्योंकि काल आपकी इच्छा है यथा–' **भृकुटिबिलास भयंकर काला ।** ' (लं० दो० १४) तब जीव अपने नियत कर्मोंको उनकी आज्ञा समझकर करता है, जब प्रभुमें विशेषस्नेह होगया और

कर्मोंसे रुचि हट गई, तभी प्रेरक प्रभुका संतोष होना हुआ इस शुद्धअवस्थामें कर्ममय संसार उसे जैसे कलिरूप देख पडता है, वही ग्रंथकार दिखाते हैं कि–' **मलमूल मलीना।** ० ' अर्थात् यह कलिरूप संसार मल अर्थात् पापका कारण है भाव पापको पैदा करता है, स्वयं मलीन है और संग करनेवालोंको भी मलीन करता है। पुनः इसके प्रभावसे ही संसार भरके जनों (लोगों) के मन पापरूपी समुद्रमें मीनवत् निमग्न होरहे हैं यथा–' **विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक॥** ' (वि० १०२) इस अवस्थामें तीनों युगोंके धर्मोंकी सामग्रीका अभाव होजाता है. क्योंकि, वे विना संसारसंगके नहीं होते तो जापकके हृदयमें चाहे जिस युगकी अवस्था रहे, केवल नाम हीसे स्नेहरक्षा करना चाहिये. क्योंकि, नाम सब युगोंके धर्ममय हैं, वही चारोंका कार्य क्रमशः अगली चौपाइयोंसे दिखाते हैं॥

मूल (चौ०)

नाम कामतरु कालकराला। सुमिरत समन सकल जगजाला॥९॥

टीका–उपरोक्त कठिन कलिकालमें नाम कल्पवृक्ष हैं, जिनके स्मरणसे सब जगजाल नाश हो जाता है॥ ९ ॥

टिप्पणी (अनुसंधानार्थ)

(१) ऊपर जो संसारको कलिरूप जाननेवाले जापककी सतयुगवृत्तिमें उसके स्नेहकी कालबाधा निवारण करना केवल नामका कह आये, उसीका यहाँ साक्षात्कार दिखाते हैं कि, इस वृत्तिका आधार इस अवस्थाका शुद्धसत्त्वमय चित्त है, इसीकी पावनता ऊपर दोहेके ' तुलसी ' के लक्ष्यमें कही गई है, क्योंकि वहाँ भी वह अवस्था आठवें संबंधके श्रीहनूमान्जीके लक्ष्यसे आई थी जो चित्तका ही लक्ष्य था वह पावनता कामनाहीनताको कहा है, ऐसी दशामें जापकका मन शुद्धचित्तसहित मीनवत् रूप और नामके प्रेमामृतकुंडमें लीन रहता है। यथा–"**सकलकामनाहीन जे, रामभगतिरसलीन। नाम सुप्रेम पियूषह्रदतिनहुँ किये मन मीन॥** " (बा० दो० २२) तब उपरोक्त कलि जो अतिकराल काल है, यथा–" **सो कलिकाल कठिन उरगारी। पापपरायन सब नर नारी॥ से–सुनु व्यालारि कराल कलि, मल अवगुन आगार।** " तक (उ० दो० ९८ से १०२ तक) वह धीमरकी तरह अपनी कार्यावस्थारूप जगजाल फैलाकर उसे (चित्तको) स्नेहरूप अमृतकुंडसे बझाकर निकालना चाहता है। 'जगजाल' यथा–" **जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित-मध्यम भ्रम फंदा॥ जनम मरन जहँ लागि जग जालू।** " (अ० दो० ९१) अर्थात् योग जो प्रियमिलन और वियोग उनका बिछुडना तथा कभी भले भोगकी प्राप्ति कभी मंदकी और लोगोंमें मित्र शत्रु और मध्यस्थ आदि भाव पैदा करके चित्तको भ्रमाके फंदा डालता है और इनमें पडनेसे जन्म-मरणरूप जगजालमें डाल देता है यथा–" **जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभ प्रिय मिलन वियोगा॥ काल करमबस होहिं गुसाईं। बरबस राति दिवसकी नाईं॥** " (अ० दो० १४९) अर्थात् जैसे कालका स्थूलरूप दिन

रातका होना अकाट्य है वैसे ही उसके इन संयोग वियोगादि कार्योंको भी जानना चाहिये, ऐसे फंदासे स्नेही जापकके चित्तरूप मीनकी जैसे नामद्वारा रक्षा होती है वह यहँके 'स्व-स्वामी' संबंधके उद्धार प्रसंग **'जीह जसोमति हरि हलधरसे'** के लक्ष्यसे दिखाते हैं—क्योंकि, यह दोहा भर उसीका साक्षात्कार है यथा—वहाँ नामको श्रीकृष्ण बलरामरूप दिखा आये तथा जिह्वाको यशोदाकी तरह स्नेहसहित लालनपालन करते हुए यदि चित्तरूप गोकुलमें पूतनाकी तरह कालकी कार्यावस्थासे बाधा होगी उसे नामरूप श्रीकृष्ण अपने अंतर्यामीरूपसे स्वयं जान २ कर नाश करेंगे, यह भी कह आये वही कार्य यहाँ दिखाते हैं कि, जैसे श्रीकृष्ण भगवान्‌ने बहुत प्रसंगोंमें अपना चतुर्भुजरूप दिखाया है वही अंतर्यामी स्वरूपका लक्ष्य है, क्योंकि वह भी अपने शरीररूप जीवके मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चारोंद्वारा सद्गुणप्रेरणाकर रक्षा करता है, इससे यही चारों उसके हस्त हैं वैसे ही स्वरूप नामका भी इस संबंधके मूल दोहेकी टि० (खें) में दिखा आये अर्थात् वहाँ नामने भी जापकके मन तथा तीन अंतःकरणरूप वृक्षोंका कार्य अपने हाथमें लिया अतएव यहाँ नामका भी अंतर्यामीस्वरूप है जैसे वहाँ यशोदाजी अत्यंत स्नेहमें निमग्नपलनापर श्रीकृष्णका लालन करती थीं वैसे यहाँ जापक भी उपरोक्त 'तुलसी' कीसी पावन शुद्धसत्वमय सतयुगी तुरीयावस्थासहित नामस्नेहमें निमग्न है इसीसे उपरोक्त कलि कराल दिखाता है ऐसे सुखमें जैसे वहाँ पूतना कुचमें कालकूट लगाकर आई यथा— **"गई मारन पूतना कुच कालकूट लगाय। मातुकी गति दई ताहि कृपालु यादवराय॥"** (वि० २१९) वैसे ही जापककी उपरोक्त ध्यानमय वृत्तिमें संयोगवियोगादि द्वारा विषयसंबंधी हर्षविषादादि कालकूटसम आत्मवृत्तिके नाशक पूतनासम आते (होते) हैं। जैसे पूतनाने यशोदाजीसे श्रीकृष्णको दूध पिलानेके वास्ते लिया और विष पिलाना चाहा, वैसे जापकके हितूमित्रादि उत्तम २ भोग सामग्री ले २ कर भजनके सहायक बन २ कर रसनासे नामको लेते हैं अर्थात् अपनी बातोंमें लगाकर नामरटन छुडा देते हैं पुनः अपनी सेवा प्रकट करके जापकको शरीरव्यवहारसे सावकाश दिखाकर इसे भजनके लिये विशेष समयका लाभ दिखाते हैं कि, जिससे नामरूप शिशुका विशेष लालन पालन हो तो यह दूध पीनेसम अधिक पीनताको प्राप्त होगा किंतु यह देखनेमात्र है, इसके भीतर कालकूट भरा है क्योंकि, वे इसे जितना सावकाश देंगे उससे चौगुनी इसकी चित्तवृत्ति उनकी ओर जायगी पुनः उनके हर्षशोकादिमें भी इसे भागी होना होगा. जैसे उसकी करालताको श्रीकृष्ण ही जाने और ऐसा खींचे कि उसका प्राण निकलने लगा वैसे नाम भी अंतर्यामीरूपसे इन्हें शत्रु जनाकर जपकी श्रद्धा बढावेंगे कि, जिससे इनसे रक्षा हो फिर जैसे वह श्रीकृष्णको लेकर आकाशको उडी और शरीर बढाकर गोकुलसे बाहर छः कोसके वृक्ष चूर्ण करती हुई गिरकर मरी, तब यशोदा नंदादिको ज्ञात हुआ कि, यदि यह गोकुलपर गिरती तो सब दब जाते और मेरा बालक बड़ी भाग्यसे बचा वैसे जापकको उपरोक्त विक्षेपमें संसारी व्यवहाररूप शून्यआकाशका उड़ना समझ पडेगा और इस वृत्तिके भयंकर स्वरूपसे अपने चित्तकी छहों वृत्ति (जिन्हें छठें सं०

सारांशमें कह आये) का दबना समझ पडेगा पुनः इन फंदोंसे चित्त हट जायगा यही पूतनाकी मृत्यु है। रक्षा होनेपर जैसे वहाँ यशोदाजीने छः हजार गौ ब्राह्मणोंको दान दिया वैसे जापक शुद्धचित्तकी छहोंवृत्तिसहित रसनाद्वारा सहस्र २ भाँति प्रेमपूर्वक नाम जप २ कर इन्द्रिय देवरूप ब्राह्मणोंका आत्मअनुभवयुक्त बुद्धिरूपा गऊ दान देगा पुनः जैसे नंदादिने उसे पृथ्वीमें गाड दिया वैसे यह भी इस वृत्तिको जो पूर्व उन फंदोंमें बझना चाहती थी, अपनी बुद्धिरूपा पृथ्वीमें दाब देगा अर्थात् फिर नाम छोडकर उनकी ओर न ताकेगा जैसे श्रीकृष्णने उसे माताकी गति दी, वैसे जापक भी इन फंदोंसे डरकर विशेष नामस्नेह करेगा तो वह वृत्ति नामकी पालनेवाली मातारूप होगी ॥

(२) इस चौ० की साधनरूपा पिता-पुत्र संबंधकी चौ० **'महामंत्र जोइ०'** है और यह उसकी फलरूपा तथा नामगुण प्रकाश करनेवाली है क्योंकि, जैसे वहां कालसे रक्षा और माताका प्रकरण था, वेसे यहाँ भी है जैसे वहाँ काशीके जीवोंकी मुक्ति कहा है. वैसे यहाँ तुरीयावस्थारूप काशीमें आई हुई वासनारूप जंतुओंका दूधरूपसे नामरूप अंतर्यामीका पोपक होना मुक्त होना है जैसे वहाँ नामकी महामंत्र संज्ञा थी वैसे जगजालरक्षणसे यहाँ भी हुई यथा– **"रामनाम महामनि फनि जगजाल रे। मनि लिए फनि जिए व्याकुल विहाल रे ॥"** (वि० ६८) यहाँके महामणिविशेषणकी महामंत्रसे समानता है यथा–**"मंत्र महा मनि विषय व्यालके।"** (बा० दो० ३१) इसमें **'महा'** शब्द देहलीदीप है और विषय व्यालके नाश करनेमें चरित्रका मंत्ररूपसे तथा मणिरूपसे समान बल है यहाँ कालका फंदा नाश हुआ, आगे कालनेमिप्रसंगमें जन्मदायक कालके कपटका और कनककशिपुके लक्ष्यमें मृत्युरूप कालका नाश दिखावेंगे। (उपरोक्त श्रीकृष्णचरित्र श्रीमद्भागवत दशमस्कंधकी छठी सातवीं अध्यायके अनुसार है)॥

मूल (चौ०)

रामनाम कलि अभिमत दाता। हित परलोकलोक पितु माता॥६॥

टीका–कलियुगमें नाम मनोरथ देनेवाले हैं, परलोकके हितू तथा इस लोकमें माता पिता सम हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) **'हितपरलोक ०'** का लक्ष्य कुछ ऊपर बा० दो० १९ चौ० २ में भी कह आये तथा–**" साधत साधु लोक परलोकहुँ सुनि गुनि जतन घनेरे। तुलसीको अवलंब नामको एक गाँठि कइ फेरे ॥ "** (वि० २२८) **" भलो लोक परलोक ताहि जाके बल ललित ललामको। तुलसी जग मानियत नामते सोच न कूँच मुकामको ॥ "** (वि० १९७) **" माय बाप भूखेको अधार निराधारको। "** (वि० ७०) **" मेरे तो माय बाप दोउ आखर० "** (वि० २२७) ॥

(भावार्थ)

(२) ऊपर नामको कामतरु कहे थे, उसकी पुनरुक्तिबचावके लिये यहाँ उसे गुणसे सूचित किये और '**हितपरलोक**' से इन्हें मोक्षदाता भी दिखाकर कामतरुसे विशेष कहे, क्योंकि, वह तीन ही फल देता है पुनः '**पितु माता**' कहकर इनका प्यारसहित स्वइच्छित हितदातृत्व दिखाये । कल्पवृक्षसे तो माँगना पडता है और वह निर्दयी भी है, क्योंकि अनहितकी भी कामना देता है परंतु नाम जब माता-पितारूप हैं तो अनहित माँगनेसे भी न देंगे, इससे दयालु हैं ॥

(अनुसंधानार्थ)

(३) यहाँ उपरोक्त चौ० २ के '**मन्त्रविधि दूजे**' में कही हुई त्रेतायुगकी अवस्थानुसार जीवात्माकी आत्मयज्ञमें कर्मबाधासे नामके रक्षा करनेका प्रसंग है यहाँ प्रधानतया तुरीयावस्था है किंतु कालक्षेपमें जो प्रारब्धकर्मानुसार इसे त्रेतायुगकी अवस्था (ऊपर दोहामें कही हुई) आती है तदनुसार अंतर्यामीकी यज्ञद्वारा स्नेहरक्षा किया चाहता है तो प्राकृतकर्मका तो अभाव पूर्व ही होचुका है, इस लिये अपने सत्यकामगुणसे आत्मयज्ञकी नाना सामग्रीरूप यह स्वयं होता है और सत्यसंकल्प गुणसे अनेकोंरूपसे कर्ता भी यह स्वयं रहता है इसकी कामनाओंके देनेके लिये यहाँ नामको '**अभिमतदाता**' कहा है । इसके पूर्व ही '**कलि**' कहनेका हेतु यह कि, जब जापक जगत्को कलिरूप जानकर त्याग देता है तब दिव्य अभिमतकी प्राप्ति होती है और यह यज्ञ (कर्म) प्राकृत यज्ञोंसे विलक्षण है क्योंकि वे प्रायः लोकऐश्वर्यही देती हैं और यह परमात्मामें स्नेह पीन करती है, इसीसे इसके प्रकाशक नामको '**हितपर लोक**' कहा है । पुनः साथही '**लोक पितुमाता**' इस लिये कहा है कि, जैसे लोकके मातापिता जीवको जन्माकर संस्कारादि संपन्न करके विद्या पढाकर कुछ पूँजी भी देते हैं तब वह यज्ञोंसे नानाभाँतिके अभीष्ट सुखोंको भोगता है, वैसे नाम भी इसके सत्यसंकल्पका साक्षात् कराके उससे इसे अनेकों रूपसे पैदा करते हैं और सत्यकाम करके विद्या और सामग्रीरूप भी कर देते हैं, तब यह भी इस दिव्य यज्ञका सुख लूटता है जैसे वे स्वयं बालककी रक्षा करते हैं वैसे नाम भी इस दिव्य यज्ञमें प्राकृत भान होनेकी बाधासे स्वयं रक्षा करते हैं ऐसे ये माता पिता हैं कि लोकमें ही परलोककी भी उत्पत्ति करते हैं ऊपरकी चौ० की कालबाधारक्षाकी भाँति यहाँकी कर्म बाधासे रक्षा होना, संबंधोद्धारके '**जीह जसोमति**०' प्रसंगकी टि० (९) के ब्रह्मामोह प्रसंगके लक्ष्यसे दिखाते हैं ॥

(४) जैसे समयानुसार नंदादि गोप श्रीकृष्णसहित वृन्दावन आये वैसे जापक भी प्रारब्धानुसार त्रेताकी अवस्थासे आत्मबुद्धिमें आया क्योंकि इसके यज्ञादि कार्य बुद्धिद्वारा होते हैं । यथा—"**जपं यज्ञस्तपस्त्यागः आचारोऽध्ययनं तथा । बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः ॥**" (जिज्ञासापंचके) वृन्दावनमें आकर श्रीकृष्ण बलराम जैसे बछडे चराने लगे, वैसे नाम भी आत्मबुद्धिके अनुभवसे मन और तीनों अंतःकरणरूप चौपाये बछड़ोंको

दिव्यगुणरूप चारा चराने लगे. इन बछड़ोंके चरानेमें जैसे श्रीकृष्णभगवान्ने ग्वालवालोंके साथ २ कलेऊ पानेमें परस्पर जूंठा पाया, उसे देखकर उनके ईश्वरपनेमें ब्रह्माजीको संदेह हुआ, कि ईश्वर मनुष्योंका जूँठा कैसे पा सकता है? ऐसे मोहसे वे बछडों और ग्वालवालोंको हर लेगये और कंदरामें उन्हें सैन कराके आप ब्रह्मलोकको चले गये, वैसे ही जापककी भी बुद्धिमें त्रेताका धर्म आनेसे ऊपर टि० (३) की भाँति आत्मयज्ञमें उसके देवता ब्रह्माको मोह होता है कि, इसमेंके अनेकोंरूप व सब वस्तु तो हमारे संकल्प तथा कामनाओंसे हुए हैं, यथा श्रुतिः- **"स एकधा भवति त्रिधा भवति पंचधा सप्तधा नवधाचैव पुनश्चैकादशस्मृतः।शतं च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः"** (छांदो० ७खं० २६) अतःजो ग्वालवालोंकी तरह मानसिक यज्ञमें ब्रह्मके साथ समानरूपसे भोग पवाते और प्रसाद पाते हैं, यथा-श्रुतिः**" सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सहब्रह्मणा विपश्चिता ॥ "** (तैत्तरीये) यह अयोग्य है यही बुद्धिके मोहसे कर्म बाधा होती है क्योंकि, ऐसे ही ब्रह्माने भी अपने रचे हुए उन सबोंको समझा था, तभी तो प्राकृतोंके साथ यह व्यवहार ईश्वरत्वसे भिन्न समझा था। पुनः इसी लिये हरण किया कि, जब इसी प्रकारके और रच लें तो जाने कि ईश्वर हैं और ग्वालवाल तथा बछडे भी इनके स्वनिर्मित होनेसे सच्चिदानंदरूप हैं, तब जैसे श्रीकृष्णने ब्रह्माका मोह जानकर सबोंको वैसे ही नवीन २ रचकर उनके साथ एक वर्षभर पूर्ववत् आनंद किया, तब ब्रह्माने अपने एक पल और मृत्युलोकके एक वर्ष पीछे आकर यहाँ पूर्ववत् देखा, फिर कंदरामें गये तो अपने रक्खे हुए सबोंको ज्योंके त्यों सोते ही पाया फिर लौटकर आये तो इस नवीन समाजको चतुर्भुज देखा कि, जिन एक २ के आगे ब्रह्मादिक हाथ जोडे खडे हैं, वैसे जापकका जो उपरोक्त मोह है वही सुपुप्ति अवस्थाकी बाधा है क्योंकि, वह मोहमय है उसमें नामकृपासे यह विचार आता है कि, इस अवस्थाका स्थूलरूप जो घोरनिद्रा है, उसमें इन्द्रिय अंतःकरण सब अचेत रहते हैं जैसे वहाँ ग्वालवाल और बछड़े कंदरामें अचेत रहे। पुनः संकल्पकारक बुद्धिका भी लय होजाता है, जैसे ब्रह्मा अपने लोकमें चले गये थे तो उस अवस्थामें आत्माद्वारा जो सुखदुःखादिका अनुभव होता है कि, मैं सुखसे सोया था, यह प्रकाश अंतरात्माके भिन्न दूसरेका नहीं है वह तो चिदानंदमय है ही अतः उपरोक्त कार्य जो सुषुप्तिसे परे तुरीयाअवस्थामें हुआ, वह निस्संदेह अंतरात्माके शुद्धसंकल्पोंसे भया हुआ चिदानंदमय है, यही ब्रह्माका सबोंको चतुर्भुज देखना है और जैसे ब्रह्माको अपने एकपलमें यहाँका वर्ष समझ पड़ा था, वैसे जापकको भी विचार होता है कि, जो हमने उस दिव्यकर्ममें क्षण भर प्राकृत कल्पना की थी, उतने क्षण हम मृत्युलोकमें स्थित हुए, वह समय एकवर्षसम व्यर्थ गया, अब पलभरकी ऐसी अवस्थाको वर्ष भरकी हानि जानकर फिर ऐसी मोहनिशामें न डसाऊँगा यथा-**'न करु बिलंब बिचारु चारुमति, बरष पाछिलो सम अगिलो पल।'** (वि० २४) पुनः जैसे ब्रह्मा सचेत होकर श्रीकृष्णको स्तुतिमें कर्ता कारयिता कहकर चिदानंदमय ब्रजकी परिक्रमा करके अपने धाम गये यथा-**' काममाहेत गोपकिनपर कृपा अतुलित कीन्ह। जगत पिताबिरंचि जिनके**

चरनकी रज लीन्ह ॥ ' (वि० २१९) वैसे जापक भी उपरोक्त यज्ञका कर्ता कारयिता अंतर्यामी रूप नामको जानकर भविष्यके लिये सचेत रहेगा इस प्रकार नाम त्रेताकी अवस्थामें कर्मवाधासे बचानेवाले और आत्मबुद्धिके अभिमतदाता हैं । (यहाँका श्रीकृष्णचरित्रश्रीमद्भागवत दशमस्कंधकी १३–१४ वीं अध्यायके अनुसार है) ॥

(५) ऊपरकी चौ०की टि० (२) के अनुसार यह चौ० भी पिता-पुत्रसंबंधके गणेशजीके लक्ष्यवाली चौ० ४ की सिद्धावस्था तथा नामगुणप्रकाशक है, क्योंकि जैसे वहाँ गणेशजीने रामनाममें संपूर्ण पृथ्वी जानकर परिक्रमा करके अभिमत पाया वैसे यहाँ भी वृन्दावनरूपा आत्मबुद्धिके प्रकाशक चिदानंदमय नामको जानकर जापकने अपने बुद्धिके देवता ब्रह्मासहित परिक्रमा किया बुद्धि और पृथ्वी कार्यकारण होनेसे अभेद है. यथा–' **बुद्धिर्जाता क्षितेरपि** ' (जिज्ञासापंचके) और अभिमतदाता नामको अपना अंतरात्मा साक्षात्कार किया. यथा–'**अपनेहिं धाम नाम सुरतरु तजि विषय बबूर बाग मन लायो ।** ' (वि०२४९) और वहाँ जो कर्मवाधारक्षण प्रसंग था, उसका नाम-गुण यहां चरितार्थरूपसे प्रकट हुआ जैसे वहाँ नामका पितृत्व कहा गया था, वैसे यहाँ भी नामने ' **पितु-माता** ' रूपका गुण दिखाया । अतः वहाँका बुद्धिके निमित्तपनेका भ्रम दूर हुआ ॥

मूल (चौ०)

नाहिं कलि करम न भगति विवेकू । रामनाम अवलंबन एकू ॥ ७॥

टीका–कलियुगमें कर्म, भक्ति और विवेक नहीं है, एक रामनामहीका सहारा है ॥ ७ ॥

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) ' **नाहिं कलि०** ' यथा–" **कर्मजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दामको । ज्ञान विराग जोग जपको डर लोभ मोह कोह कामको ॥** " (वि०१५६) ' **कलि न विराग जोग याग तप त्याग रे** ' (वि० ६८)

(क) ' **रामनाम अव०** ' यथा–" **करम उपासना कुबासना विनास्यो ज्ञान वचन विराग वेष जगत हरो सो है । ० जाहि रामनामको भरोसो ताहिको भरोसो है ॥** " (क० उ० ८४) " **यह कलिकाल मलायतन, मन करि देखु विचार । श्रीरघुनाथनाम तजि, नाहिं कछु आन अधार ॥** " (लं० दो० १२१) "**रामेतिवर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः । कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः ॥** " (ब्रह्मसंहितायाम्) ॥

(अनुसंधानार्थ)

(२) यहाँ उपरोक्त ' **द्वापर परितोषनप्रभुपूजे** ' में कही हुई द्वापरकी अवस्थानुसार जापककी मानसपूजामें ' **गुणवाधा** ' से नामके रक्षा करनेका प्रसंग है, इस अवस्थाका प्रमाण ऊपर दोहेमें है, तदनुसार दो भाग रजोगुण, एक भाग सतोगुण और एक भाग तमो-

गुणके अंशसहित यह (द्वापर) अवस्था होती है, उनमें सतोगुणकी वृद्धिमें सुकर्मकी इच्छा, रजोगुण वृद्धिमें इन्द्रियचपलता होनेपर नवधा आदि भक्तिकी अपेक्षा और तमोगुणकी वृद्धिसे जब अज्ञानकी शंका होती है, तब इसे विवेककी भी आवश्यकता होती है, उन्हें ग्रंथकार कहते हैं कि, यह तीनों इस कलिमें नहीं हो सकते, केवल नामहींका प्रधान अवलंब है क्योंकि, जापककी दृष्टिमें उन तीनोंकी सामग्रीका अभाव है, ऊपर दोहामें ही दिखा आये ॥

(३) अब केवल नामके अवलंबसे उन कर्म आदि तीनोंके फलकी प्राप्तिसहित गुणोंकी बाधासे रक्षा ऊपर चौ० के प्रसंगानुसार '**जाँहि जसोमति०**' की टि० (९) के कालीनाग नाथनेके प्रसंग तथा गोवर्द्धनपूजा और नंदजीके वरुणलोक हरेजानेके प्रसंगसे दिखावेंगे, तिनमेंसे प्रथम सतोगुणकी कर्मद्वारा बाधा होनेकी रक्षा कालीनागके प्रसंगसे दिखाते हैं कि, जैसे श्रीनारदजीके कहनेसे कंसने व्रजवासियोंसे कमलका फूल मंगाया, वैसे यहाँ आठवें संबंधमें श्रीनारदजीका लक्ष्य जीवकी 'अणु' स्वरूपतापर है जिसका साक्षात्कार निष्काम कर्मसे होता है, उसीको आत्माकी ध्याननिष्ठा भी कहते हैं, यह कमलवत् निर्लेपअवस्था है और बुद्धि वृन्दावन, सतोगुण जमुना, सुकर्म कालीदह तथा पूर्वोक्त '**नाम निरूपन०**' में कही हुई एक सौ कामनावृत्तिसहित कामविकार एक सौ फणवाला कालीनाग है। इनमें प्रारब्धकर्मरूप कंस उपरोक्त द्वापरावस्थासहित सतोगुणकी वृद्धि होनेपर जब कर्मचेष्टा होती है, तब धमकी देता है कि, अपनी अणुस्वरूपताकी स्थिति रखनेके लिये कर्मद्वारा आत्माकी ध्याननिष्ठा करना चाहिये। नहीं तो प्राकृतकर्मोंमें लगकर अंतर्यामीसहित जीवात्मा, श्रीकृष्ण बलरामकी तरह स्थूलशरीरमें आसक्तरूप कैद होगा। वहाँ जैसे वृन्दावनवासी कालीदहकी भयंकरतासे डरे, वैसे इसकी तुरीयावस्थाकी बुद्धि कर्मसे डरती है कि, इसमें जाते ही कालीनागसम काम डस लेगा। यथा-"**काम भुअंग डसत जब जाही०।**" (वि० १२८) तो वहाँ जैसे श्रीकृष्णने कमल लाकर कंसको संतुष्टकर दिया और कालीनागको नाथकर अलग भेज दिया, वैसे नाम भी अपने जपसे आत्मविवेकरूप कमल प्राप्त कराकर कामना दूर करके बढ़े हुए सतोगुणको संतुष्ट कर देते हैं। पुनः इस लक्ष्यसे इस अवस्थाका भय सदाके लिये नहीं रह जाता। फिर इस चेष्टापर नाम छोड़कर कर्मकी रुचि नहीं होती क्योंकि, नाम हीं सब धर्ममय है। यथा-"**यथा भूमि सब बीज मै। नखत निवास अकास। रामनाम सब धर्म मै, जानत तुलसीदास॥**" (दोहा० २९)

(४) अब उपरोक्त गोवर्द्धनपूजाके लक्ष्यसे रजोगुणबाधा निवारण और नवधाभक्तिकी परिपक्व अवस्थासहित स्नेहरक्षा करना नामका दिखाते हैं। इस गुणसे इन्द्रियां चपल होती हैं, तो उन्हें पूजा आदि कार्यमें लगानेकी रुचि होती है, जैसे वृन्दावनवालोंको इन्द्रपूजाकी चाह हुई वहाँके इन्द्रकी तरह यहाँ इन्द्रियदेवोंको संतुष्ट करनेकी रुचि होती है तो जैसे वहाँ भगवान्ने कुलोचित धर्मानुसार गौओंको चारा देनेवाले गोवर्द्धनकी पूजा दृढ़ाया, वैसे नाम भी इन्द्रियरूप गौओंके पोषक अंतर्यामीकी पूजा दृढ़ाते हैं, यही भक्ति है यथा-"**हृषीकेश्व**

हृषीकेश सेवनं भक्तिरुच्यते ॥ " (पांचरात्रे) अर्थात् इन्द्रियधारीका उनके प्रकाशक अंतर्यामीकी सेवा करना भक्ति है, क्योंकि देहधारियोंका पूज्य वही है यथा-"**अधियज्ञो-हमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥**" (गीता. अ० ८) जैसे वहाँ इन्द्रपूजाकी वस्तु गोवर्द्धनपूजामें लगी, वैसे जापककी भी इन्द्रियसहित मनश्चेष्टा सब अंतर्यामी प्रभुकी मानसिकपूजामें लगती है। इसका कुछ रूपक ऊपर चौ० के आत्मयज्ञमें कह आये, तदनुसार यह अपने सत्यसंकल्पोंसे कोटिन परिकररूपसे नानाप्रकार महलोंसहित दिव्यलोकमें नाना पदार्थोंसे अपने इष्ट पररूपमें इस अंतर्यामीका ही लाड़ लड़ाता है. जैसे गोवर्द्धनरूपमें भी चतुर्भुजरूपसे श्रीकृष्णही भोजन किये, वैसे इस प्रसंगमें नाम अंतर्यामीरूप हैं, ऊपर दोहार्थमें दिखा आये। पुनः जैसे इन्द्रके कोप करके वर्षा करनेपर उसी गोवर्द्धनको उठाकर श्रीकृष्णने बचाया वैसे नाम भी जापककी मानसिकपूजाको श्रद्धारूप बलसे उठाये रहते हैं। यथा-"**यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥** " (गीता. अ० ७) और इंद्रिय मनआदिकी कर्मसंकल्पोंको अपने तेजरूप सुदर्शनचक्रसे सोख लेते हैं, जैसे छठें संबंधके पंचवटी प्रसंगमें दिखा आये। जैसे वहाँ जल चुक जानेपर इन्द्र शरण हुआ, वैसे जापकके प्रारब्धकर्मजन्य संकल्पें इस पूजनमें चिदानंदरूप हो २ कर समाप्त होंगे। तो इन्द्रिय देवता चपलता छोड़कर आधीन हो जायँगे इस प्रकार यहाँ रजोगुणबाधा निवारण और कलिरूप संसारमें भी दिव्यभक्तिकी निर्विघ्नता नामावलंबसे दिखाई गई जैसे वहाँ उसी २ समयपर उस पूजाका नियम होगया, वैसे जापकको भी जब २ वैसी अवस्था आवे, इसी नामाश्रितपूजासे स्नेहरक्षा करना चाहिये ॥

(९) पुनः उपरोक्त नन्दजीके वरुणलोक हरे जानेके लक्ष्यसे द्वापरावस्थाके एक भाग तमोगुणसे नामका रक्षकत्व दिखाते हैं। यथा-इसके तामसाहंसे शब्दादिविषयोंमें प्रवृत्ति होनेके भयसे जापक विवेक साधनकी रुचि करता है तो जैसे नन्दादि गोपोंने एकादशीव्रत किया था। इस व्रतका आशय यह कि, जिससे ग्यारहवीं इन्द्रिय जो मन है, उसकी विषय कामनाका त्याग हो क्योंकि इसमें प्रधानरूपसे अन्नका त्याग है जिसके रसनाद्वारा आस्वा-दन करनेसे रस पा २ कर इंद्रियाँ अपने २ विषयोंमें प्रबल होती हैं। पुनः अन्नसे ही जीवोंका शरीर निर्माण होता है यथा-"**अन्नाद्भवन्ति भूतानि** ० " (गीता. अ० ३) शरीरोंके लिये संकल्प मनहीसे होते हैं यथा-" **बिटप मध्य पुत्रिका सूत्र महँ कंचुकि बिनहिं बनाए। मन महँ तथा लीन नाना तन प्रकटत अवसर पाए।** " (वि० १२९) पुनः मन अन्नका ही कार्य है, ऐसा छान्दोग्योपनिषद् छठवीं अध्यायमें कहा है यथा-श्रुतिः "**अन्नमय हि सौम्य मनः आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति**" अतः ग्यारहवीं तिथिके अन्नत्यागनेसे मनका अंतर्यामीके प्रति अन्य शरीरोंकी अनिच्छा प्रकट करना होता है, और इसके साथ २ इससे ही होनेवाली विषयकामनाओंकी अनिच्छा भी सिद्ध होती है, जो रसनाद्वारा होना कह आये यथा-" **एकादशी यक मन करि सेवहु जाय। सोइ**

व्रतकर फल पावै आवागमन नसाय। " (विं० २०४) अर्थात् इस व्रतसे मन स्थिर होकर आत्मविवेक होता है यथा–" **निजसुखबिनु मन होइ कि थीरा** " (उ० दो० ८९) इसमें निजसुखका अर्थ आत्मविवेकका सुख है जैसे ऐसी विवेक-साधनरूपा एकादशीका व्रत करके नंदजी रातके असमयमें यमुनास्नानको गये, क्योंकि बड़े भोर पारण नियत था तो जलके देवता वरुणके गण उन्हें पकड़ ले गये। जब वरुणने इन्हें श्रीकृष्णका पिता जाना तो बहुत सत्कार किया। पुनः जब श्रीकृष्ण लाने गये, तो उन्होंने अपना सर्वस्व इनपर वारणकर भाग्य सराहा और विदा किया, तब श्रीकृष्णजी पितासमेत वृंदावन आये, वैसे जापक भी व्रतकी तरह मननिग्रहार्थ विवेक साधनमें रत होकर यमुनारूप सतोगुणविस्तार जो शास्त्र हैं, उनमें मननरूप स्नान करने लगा, तब इसे भी उपरोक्त तमोगुणवृत्तिके जो विषयादि हैं तिनकी चाहमें रसनाके देवता वरुणका बाँधना ज्ञात हुआ. क्योंकि, शास्त्रके उपाय जीवोंके पाप छुड़ानेके लिये हैं वे पाप इन्द्रियोंसे होते हैं. तिन्हें प्रबल कारक रसना है पुनः रसनाके देवता वरुणकी श्रीकृष्णरूप नामके जपरूप दर्शनसे वे विषयकामनायें निवृत्त होजाती हैं यही बंधन छूटना है. जैसे वहाँ परम ऐश्वर्यवान् वरुणके सत्कारसे नंदजीने श्रीकृष्णका ऐश्वर्य जाना उनसे सुनकर और व्रजवासियोंने वह ऐश्वर्य देखना चाहा तो भगवान्ने स्वप्नमें सबको अपना वैकुंठ दिखाया. तब सौलभ्यता होनेसे वृन्दावनका सुख उन्हें सरस दिखाया वैसे नाम भी अपने जपके सुखको वैकुण्ठसे भी सरस दिखाते हैं तब इसे फिर तुच्छ विषयोंकी चाह नहीं होती तथा होनेपर भी विवेकमय नाम ही शमन करते हैं। इस लक्ष्यसे नामका विवेकमय स्वरूप ज्ञात हुआ यथा–" **रामनाम प्रेम परमारथको सार रे।** " (वि० ६८)॥

(६) इस चौपाईकी गुणबाधा-रक्षणसे ' **त्रिधाऽहंकार** ' सहित श्रीरामस्नेह सुरक्षित रहा इस द्वापरकी अवस्थामें ऊपर जो पूजामात्रकी प्रतिज्ञा थीं. परंतु यहाँ तीन प्रसंग दिखाये गये. उसका हेतु यह है कि, तीनों अन्योन्य सापेक्ष्य हैं तिनमें मध्यका पूजा प्रसंग ही प्रधान (अंगी) है और शेष दोनों अंगभूत हैं यहाँके त्रिधाऽहंकारका कार्य बुद्धिरूप वृन्दावन हीसे इस लिये हुआ. कि, अहंकार बुद्धिका ही कार्यरूप है (आवरण प्रसंगमें दिखा आये) इस चौपाईका श्रीकृष्णचरित्र श्रीमद्भागवतके दशमस्कंधकी १६ से २८ वीं अध्याय तकके अनुसार है और कुछ अंश सुखसागरके भी हैं॥

(७) ऊपर चौ० की टि० (९) के अनुसार यह चौ० भी ' **पिता-पुत्र** ' संबंधकी चौ० ९ के श्रीवाल्मीकिजीके लक्ष्यकी सिद्धावस्थाप्रापक है क्योंकि वहाँ जो गुणबाधारक्षण नामका कह आये उसका नाम-गुण यहाँ चरितार्थ होकर प्रकट हुआ और वहाँ जो अर्थफल दातृत्व दिखाये थे वह यहाँके मानसपूजाप्रसंगमें विशेषरूपसे आया. इन्हीं कार्योंमें वहाँ नामका गुरुत्व कहे थे, वह यहाँ भी जानना चाहिये॥

मूल (चौ०)

कालनेमि कलि कपट निधानू । नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥८॥

टीका—कपटका स्थान कलियुग कालनेमि सम हैं। (उसके नाशक) रामनाम सुंदरमति-मान्, वलवान् श्रीहनुमान्जी हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) " **कालनेमि०निधानू** " का भाव यथा—इसने राजा नल तथा परीक्षितसे भी छल ही किया. यथा—" **राम राज न चले मानस मलिनके छल छाय । कोपि तेहि कलिकाल कायर मुयहिं घालत घाय ॥** " (वि० २२१) और कर्मज्ञानादिकी तरह नामपर इसका वश नहीं है. इसीसे कपट करके मारा चाहता है जैसे कालनेमि श्रीहनूमान्जीका प्रभाव जानकर प्रवल समझा तो छलसे मारना चाहा था ।

(अनुसंधानार्थ)

(२) उपरोक्त चौ० ' **कलि केवल०** ' के अनुसार, कलिकी अवस्थाकी स्वभावबाधासे रक्षा ' केवलनाम ' से दिखाते हैं। कलिअवस्था यथा—" **तामस बहुत रजोगुन थोरा । कलिप्रभाव विरोध चहुँ ओरा ॥** " (उ० दो० १०३) अर्थात् तीन भाग तामस और एक भाग राजस सहित कलियुग वर्तता है और जीवके चहुँओर अर्थात् तीन अंतःकरण और मन इन चारोंसे प्रतिकूलवासनायें फुरती हैं ऐसी दशामें जीवका स्वस्वरूप ही विस्मरण हो जाता है तव इसे सत्संगकी आवश्यकता पडती है कि, जिससे ' **सुमति** ' पाकर कलिमय-जगत्का जाल समझ पडे और ' **सामर्थ्य** ' रूप वैराग्यसे प्रारब्धकर्मजन्यवासना त्याग हो तथा—' **हनुमानू** ' अर्थात् मान हननका उपदेश पानेसे गुणाभिमान छूटे, तव पूर्ववत् स्वरूप-सम्हाल हो यही (उपरोक्त) स्वभावबाधानिवृत्ति है। ' स्वभाव ' यथा स्व-भाव. अर्थात् स्व—अपनी, भाव—सत्ता (**भू-सत्तायाम् धातोः**) अर्थात् अपनी सत्ता निजांतर्यामीसे पृथक् शरीर रूप प्रकृतिके काल, कर्म और गुणमें होजाना यही मनपर स्वभावबाधा है इन्हीं तीनोंको शुद्धि ऊपर सत्संगसे दिखा आये, इन तीन बाधायुक्त स्वभावसहित होनेसे यहाँ कलिको कपट निधान कहा है ॥

(३) इस प्रसंगके श्रीहनूमान्जी तथा कालनेमिका संयोग लं० दो० ५२ से ६१ तकमें है। वहाँके अनुसार दिखाते हैं यथा—इस अवस्थामें चारों ओरका विरोध कह आये वैसे लंकाके समरमें कामरूप मेघनादने बहुत उपद्रव किया। यहाँ तक कि धूल वर्षाकर अँधेरा कर दिया, जिससे अपना हाथ पसारनेसे भी न सूझता था उस मायाको श्रीरामजीने एक ही वाणमें नाश किया तब उस (मेघनाद) के मारनेके लिये श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीसे आज्ञा माँगा और धनुषवाण लेकर अंगदादिसहित चले। वहाँ श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीको प्रणाम नहीं किया, अर्थात् अपनेको स्वतंत्र वली समझे यही उपरोक्त ' स्वभाव ' बाधा हुई। इसी

तरह जापकके हृदयमें भी मन आदि चारोंसे राजसीसंकल्परूप रजकी वर्षा बहुत होती है. तब आत्मज्ञानरूप रामबाणके स्मरणरूप प्रहारसे निवृत्ति होती है आत्माका बाणरूप "**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ०**" इस श्रुतिसे अ० प्र० नं० ४ टि० (९) में दिखा आये । तब कलि अवस्थाप्रभावसे जो कि, तीन भाग तामस सहित है, अज्ञान होनेसे जीव वह प्रभाव अपना मान बैठता है और श्रीलक्ष्मणजीकी तरह अपने ब्रह्मविचाररूप बलसे बाधक कामको मारना चाहता है, तब काम इसे असत्वासनारूप शक्ति चलाकर श्रीलक्ष्मणजीकी तरह मूर्छित (मोहित) करता है तब जैसे करुणाकरके श्रीरामजीने हनुमान्‌जीसे वैद्य बुलवाया और फिर द्रोणगिरिसे औषधि लाना कहा, वैसे नामभी करुणा करके अपनी वैराग्यशक्ति देते हैं, तब वैद्यरूपी सद्गुरुकी बतलाई हुई सत्संगरूपी द्रोणगिरिकी चैतन्यतारूप औषधिकी चाह होती है । पुनः जैसे श्रीहनूमान्‌जी अपना बल बखानकरके चले, वैसेही कलिप्रभावसे जापक उस वैराग्यबलकाभी स्वयं अभिमानी होजाता है (यहभी स्वभावबाधाका ही गुणांश है) इस गुणाभिमानसहित यह भी सत्संगको चलता है तो जैसे श्रीहनूमान्‌जीको प्यास लगी वैसे इसे भी संसारसंगसे कर्मकी चाह होती है क्योंकि संसारासक्त लोगोंके लिये उपरोक्त मूर्छाका उपाय निष्कामकर्म ही है यथा—"**असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः । नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥**" (गीता. अ० १८) इसमें निष्कामकर्मसे ही आप्तकाम आत्माकी ध्यानसिद्धि कहा है इसको यह '**ध्यानसिद्धि**' के ज्ञानकी प्राप्ति श्रीहनूमान्‌जीको ध्यानावस्थित कालनेमि मिलनेके समान है । पुनः जैसे कालनेमिने श्रीहनूमान्‌जीको कमंडलभर जल प्यास बुझानेको दिया तो श्रीहनूमान्‌जीने बहुत थोडा कहकर नहीं पान किया, वैसे जापककी भी उपरोक्त 'तुलसी' होनेके प्रसंगकी जो नित्यत्वसहित पूर्णावस्था विस्मरण हुई है उसकी चाहरूप प्यास है और इस ध्यानसिद्धिमें तो केवल अणुस्वरूपतामात्रका दर्शन होता है (पाँचवें सं० के वामनअवतार प्रसंगमें दिखा आये) इस अल्पसुखसे उस प्यास बुझनेकी प्रतीति नहीं होती तब जैसे उसने जो 'सर मंदिर वरबाग' बनाया था । वहाँके सरमें स्नानकरके आनेपर ज्ञानोपदेश करना कहा, वैसे जापकको भी उपरोक्त '**असक्तबुद्धिः०**' श्लोकसे जो उस ध्यानसिद्धिरूप कालनेमिका अर्थप्रकाशक है, अर्थरूप आज्ञा मिलती है कि, यथा—'असक्तबुद्धिः' अर्थात् कर्तृत्वाभिमानराहित्य अर्थात् जिससे संसाररूपी बागके फलोंकी कामना न हो तथा—'जितात्मा' अर्थात् शरीररूप मंदिरमें न भूले और 'विगतस्पृहः' अर्थात् इन्द्रियसुखरूप तडागका जल न पीवे तथा 'संन्यासेन' अर्थात् निष्काम होकर कर्म करे अर्थात् वासनारूप मैल छुडानेके लिये स्नानमात्र करे, इसमें सुखचाहरूप जल न पीवे, तब इसके आगेके '**सिद्धिं प्राप्तो०**' श्लोकसे गीतामें ज्ञानका जो स्वरूप कहा है, उसका अधिकारी होता है पुनः जैसे श्रीहनूमान्‌जी जब सरमें पैठने लगे तो श्रीरामजीसे प्राप्त हुई सुमतिसे उन्हें मकरीका पकडना ज्ञात हुआ तो उसे दबाकर मार डाले और दिव्यरूपसे मकरीने ही उस मुनिको निशिचर बतलाया, वैसे ही जापकको नामद्वारा प्राप्त हुई सुमतिसे जान पडता है कि, संसाररूप बागमें कर्म-

साधनीभूत द्रव्यादि संचय करनेमें काल अपने कपट (मकररूप) से लील जायगा. अर्थात् द्रव्यादिकी चाहरूप मृगतृष्णा वढने लगेगी इसीमें आयु वीत गई तो चौरासीको जायँगे। यथा--"**रविकर नीर वसे अति दारुन मकररूप तेहि माहीं। वदनहीन सो ग्रसै चराचर पान करन जे जाहीं॥**" (वि० ११२) ऐसी सुमतिसे यह भी उस द्रव्यादि वासनाको दावकर मार डालता है और उपरोक्त 'ध्यानसिद्धि' के कपट साजको जान जाता है कि, यह 'निशिचर' अर्थात् अज्ञानावस्थाका कार्य है, हमारा तो शत्रु है पुनः जैसे श्रीहनूमान्जीने उसे '**समरथ**' गुणसे मारा, वैसे ही नामद्वारा इसका वैराग्य प्रवल होकर उस 'ध्यानसिद्धि' साधक कर्मकी इच्छाको त्याग देता है जैसे वह राम राम कहकर प्राण छोडा. इससे अपना आधार नामको दिखाया वैसे जापकको भी स्मरण हो जाता है कि, यही ध्यानसिद्धिकी अवस्था तो हमने 'राम राम' कहनेसे पाँचवें संवंधके '**नाम निरूपन०**' के प्रसंगमें साक्षात्कार किया है अतः इसके आधार तो नाम ही हैं ऐसा जाननेसे उपरोक्त कर्मचाह रूपी प्यास वुझ जाती है तो श्रीहनूमान्जीकी तरह यह भी हर्षित होता है॥

(४) ऊपर नामकी '**सुमति**' और '**सामर्थ्य**' गुणका कार्य ज्ञात हुआ। अव '**हनुमान्**' विशेषणकी अंतर्ध्वनिसे मानहनन करनेमें गुणवाधा निवारण दिखाते हैं कि, जैसे श्रीहनूमान्जी द्रोणगिरिपर गये तो वहाँ औषधि न चीन्ह पड़ी तो पहाडही उठाकर आकाशमार्गसे चले, वैसे जापक भी विचारता है कि, जैसे शिवजीपर चढाई किये हुए कामके प्रभावसे विवेक अपने अंगभूत गुणोंसहित सद्ग्रंथरूप कंदरामें जा छिपे थे यथा--"**भागेउ विवेक सहायसहित सो सुभट संजुग महि मुरे। सद्ग्रंथ पर्वत कंदरन्हि महँ जाय तेहि अवसर दुरे॥**" (वा० दो० ८३) वैसे चारों ओरसे कामका प्रकोप हमारे हृदयमें भी है और संसार कलिरूप है (ऊपर दोहार्थमें ही निश्चय हो चुका है) इस लिये यह जगतका सत्संग छोडकर सद्ग्रंथरूप पर्वतोंको ही असंगहृदयरूपी आकाशमें विचाररूप उडनक्रियासे लेकर चलता है अर्थात् विचारता है। पुनः जैसे श्रीहनूमान्जी श्रीभरतजीके एक ही वाणसे, गिरे वैसे जापकको आत्मविवेककी वह अवस्था स्मरण होती है जो '**फिरत सनेहमगन सुख अपने**' में कह आये, उस संवंध (सातवें) की उस अवस्थाके प्रकाशक भी भरतजी ही थे और वाणसे आत्मविवेक, ऊपर टि० में प्रकट है, तव यह भी विचाररूप उडनेसे गिर पडता है क्योंकि, वहाँ सातवें संवंधमें गुणव्यापार अपनेसे भिन्न नामका समझा था, वही दशा आनेसे गुणसंग भी निव्रत हो जाता है। पुनः जैसे श्रीभरतजीने श्रीरामस्नेहकी पराकाष्ठा अपनेमें दिखा कर, अपने वाणपर उन्हें पहाडसमेत चढाकर दिखा दिया, तव उनका अभिमान नाश हुआ वैसे नामद्वारा जापकको भी श्रीरामस्नेहसहित रहनेमें विवेककी सामर्थ्यपूर्णता रहना ज्ञात होता है और इसका अपना गुणाभिमान नाश होता है यहाँ गुणविषमता भी मिटी॥

(५) यहाँ तक स्वभाववाधाके काल, कर्म, गुण तीनों अंश शुद्ध हुए। पुनः वहाँ जैसे श्रीभरतजी श्रीरामलक्ष्मणजीके इस संकटका हेतु माता समेत अपनेको विचारते हुए ग्लानि करते थे

वैसे यह भी जो स्वभाववश हुआ, (जो प्रकृतिरूप माताके तीनों गुणोंका विकार है) और उससे उपरोक्त मूर्छा (मोह) वश होनेमें जो नामरूप अंतर्यामीको कष्ट उठाना पडा, उसपर ग्लानि करता है जैसे हनूमान्जी भरतजीकी दशा सराहते हुए गये और तुरंत औषधि पाकर श्रीलक्ष्मणजी चैतन्य हुए वैसे जापक भी इस लक्ष्यसहित नाम जपते हुए चैतन्य होकर अपनी पूर्वावस्थामें (जो इसकी तुलसी होनेमें अनन्यतासहित स्नेह करनेकी थी) प्राप्त होजाता है और श्रीभरतजीकी तरह परतंत्र दशा सहित स्नेहपूर्वक नाममें रत होता है तो फिर कभी स्वभावबाधा (जो पूर्व स्वतंत्रतासे हुई) नहीं होती ऊपर दूसरी चौ० में श्रीभरतजीके ही स्नेह पूर्णताके लक्ष्यकी पूर्णावस्थासे इस संबंधके साधनका उपक्रम था, पुनः उसीपर उपसंहार भी हुआ इससे यह स्पष्ट हुआ कि, नाम ऐसे समर्थ स्वामी हैं कि, निजाश्रित जापकपर कैसी २ करालता कपटनिधान कलिने किया अर्थात् अपने 'काल कर्म, गुण' स्वभाव * चारोंसहित कुछ शेष नहीं रक्खा पर जापकका बाल भी बाँका न हुआ ॥

(६) **शंका**–ऊपरकी तीनों चौपाइयोंमें नामको श्रीकृष्ण-बलराम रूपसे रक्षक दिखाया गया, जो संबंधोद्धारके तीनों लक्ष्योंके साक्षात्कार प्रसंग थे और यहाँ भी संबंध वही (स्व· स्वामीका) है तो श्रीहनूमान्जीका लक्ष्य क्यों कहा गया ? जहाँ युद्धदशामें आनंदका अभाव है और ऊपरके तीन लक्ष्योंमें तो आनंदके बीच २ में बाधा हुआ करती थीं। **समाधान**–(१) इस संबंधका उपक्रम दोहाके 'तुलसी' होनेके लक्ष्यसे है, वहाँ आठवें संबंधके '**सुमिरि पवनसुत**० ' के लक्ष्यकी ही दशा थी, विशेषता यही थी कि, अनन्य होकर शरण होनेसे अंतर्यामीरूप नामने बाधारक्षण अपने हाथमें ले लिया तो यहाँ तक चारों युगोंकी बाधासे रक्षाकी पूर्ति होनेपर उन्हीं (श्रीहनूमान्जी) के लक्ष्यपर उपसंहार भी किये और उन्हींके लक्ष्यसे बाधा और रक्षा भी दिखाये। (२) संबंधोद्धारमें कहा हुआ स्वभावबाधारक्षणका लक्ष्य विस्तार है और जापक कलिअवस्थाके वश है तो समझनेमें कष्टविचारकर यह सूक्ष्म और उससे अभिन्न लक्ष्य दिये। पुनः इस बाधामें जब स्वरूप ही विस्मरण होजाता है और मनआदि चारोंसे प्रतिकूल ही वासनायें होती रहती हैं तो आनंदका सर्वथा अभाव ही रहता है, ऐसे ही इस बाधासे रक्षाके लक्ष्यरूप श्रीकृष्णचरित्रमें भी आनंदका अभाव ही है. वहभी दिखाते हैं:–

(७) यथा–उपरोक्त दोनों लक्ष्योंका मिलान यों हैं कि, संबंधोद्धारकी चौ० '**जीह जसो**० ' की टि० (के) में मकरीमें अक्रूरकी, कालनेमिमें कंसकी और श्रीहनूमान्जी और भरतजीके संवादमें श्रीकृष्णके अभिन्नसखा उद्धव और गोपियोंके संवादकी समानता कह आये, वही दिखाते हैं यथा–कालनेमिने मकरीद्वारा फँसाना चाहा, परंतु उसने श्रीहनूमान्जीका

नोट–* पूर्व छठें संबंधके पंचवटी प्रसंगमें यही स्वभावबाधा आत्मारूप श्रीलक्ष्मणपर आई परंतु वे प्रभुकृपाकी ओट थे तो प्रभुने उस बाधाको क्षणभरमें नाश किया और यहाँ किंचित् स्वतंत्र होनेपर कैसा कष्ट हुआ। अतएव स्वतंत्रतासे बहुत डरना चाहिये ॥

प्रभाव देखकर सुमतिका कार्य किया, वैसे कंसने भी अक्रूरको कुमति सिखाकर श्रीकृष्णको फंदा डालकर लानेको भेजा, पर इन्होंने भी श्रीकृष्णका प्रभाव देखकर यही कहा कि, वह घोर निशाचर है, जल्दी मारिये। यही सुमतिका कार्य किया कंस कालनेमिका दूसरा रूप ही था, क्योंकि कंसकी माताके प्रति द्रुमलिक राक्षसका वचन है कि, मैं पूर्व जन्मका कालनेमि हूँ, अपना अंशभूत पुत्र तुझे दिये जाता हूँ तो 'पिता वै जायते पुत्रः' इस नियमसे एकता है और श्रीभरतजीके संवादमें श्रीहनूमानूजीका गुणाभिमान छूटा, वैसे उद्धवका गोपियोंके संवादमें ज्ञान, विरागादिगुणोंका अभिमान निवृत्त हुआ। इस प्रकार दोनों प्रसंगोंमें भेद नहीं है।

(८) पुनः कंसादिकोंके वध होनेपर जैसे मथुरा सुखरूप हुई, वैसे स्वभाव बाधासे मुक्त होनेपर मन सुखी हुआ यहाँ तक कार्य करते हुए जैसे श्रीकृष्ण बलराम आकर अपने पूर्वकी माता देवकीके पुत्र कहाये, पुनः लौटकर श्रीकृष्णजी यशोदाके पास न गये वैसे ही नाम भी आकर परावाणीमें प्राप्त होते हैं और फिर युगावस्थासंबंधी अन्य तीनों वाणीके व्यवहारोंमें नहीं आते, क्योंकि उपरोक्त लक्ष्योंसे जापकको सावधान रखते है (वाणीका मिलान इसके संबंधोद्धारमें लिख आये) यहाँ तक कलिकी बाधाके स्वभावसे मनकी रक्षा हुई इस चौ० में श्रीकृष्णचरित्र श्रीमद्भागवतदशमस्कंधकी ३८ वीं से ४७ वीं अध्यायके प्रसंगका लक्ष्य है॥

(९) ऊपरकी चौ०की टि० (७) के अनुसार यह चौ० भी पिता-पुत्र संबंधकी चौ० ६—७ के श्रीपार्वतीजीके लक्ष्यकी सिद्धावस्था तथा नाम गुणप्रकाशक है क्योंकि, वहाँकी तरह यहाँ भी स्वभावबाधा रक्षणादिकार्य हैं, अतएव यहाँकी तरह वहाँका भी कार्य केवल नामके पुरुषार्थसे था, ऐसा जाननेसे जीवका निमित्तपनेका भ्रम दूर हुआ॥

संबंध सारांश।

इस संबंधके मूलमें हरिआश्रित तुलसीसम जापककी स्थिति और कल्पवृक्षसे भी विशेष नामका स्वामित्व दिखाया गया पुनः चौ० १ में उसका काल आदि चारोंसे रक्षकत्व कहा गया। चौ० २ में स्नेहसहित जपना कहा और चौ० ३—४ में उस स्नेहकी युगावस्थानुसार स्थिति भी नामाश्रित कही गई फिर उनहींको क्रमशः चौ० ५-६-७-८ में चरितार्थ दिखाया गया। तहाँ उसी क्रमसे चित्त, बुद्धि, अहंकार और मनको सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुगकी काल, कर्म, गुण और स्वभावबाधासे नामका रक्षकत्व साक्षात्कार हुआ इस संबंधमें भी नामने अपने अंतर्यामीरूपके षडैश्वर्योंसे पाँचवें संबंधकी तरह रक्षा किया। (वहाँ साधनप्रसंगमें था और यहाँ सिद्धावस्थाके कालक्षेपका प्रसंग है) यथा—पूतनाप्रसंगमें उस फंदारूपाको '**ज्ञान**' से जानकर '**बल**' से मारे, क्योंकि शिशुरूपमें ऐसा ज्ञान और बल ब्रह्ममें ही कहा गया है यथा—श्रुतिः "**परास्य-शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**" (श्वे०) पुनः ब्रह्माके मोहप्रसंगमें '**ऐश्वर्य**' दिखाये कि, अखिल ब्रह्मांडके रचयिता हम ही हैं और दिव्यरूपके ग्वालबाल तथा बछड़ोंके पैदा करनेमें '**वीर्य**' भी प्रकट है और गुणबाधारक्षणमें गोवर्द्धनसे

जल सोखनेमें '**तेज**' तथा स्वभावबाधारक्षणमें श्रीहनूमान्जीके लक्ष्यमें '**शक्ति**' का कार्य प्रकट हुआ यहाँ जापक पूर्वोक्त '**निजइच्छा**' नामके प्रथमावरणसे मुक्त होनेकी परिपक्व अवस्थाका लाभ किया क्योंकि जैसे यह इसमें पड़कर काल, कर्म, गुण और स्वभावादिकी इच्छा किया था, वैसे ही अब नित्यके लिये उनसे अनिच्छा हुई और इसमें ही नाश भये हुए '**सत्यसंकल्प**' गुणका भरोसा हुआ अब साधन शेष नहीं है, किंतु आगे जो कलिकालका नाश करना कहेंगे उसका हेतु यह है कि, ऊपरसे संसारको कलिमय कह आये, उसका संबंधी यह प्रारब्धकर्म परिणाम शरीर है, यद्यपि इससे अब बाधा न होगी परंतु आयुपर्यंत कर्मसंबंध रहेगा तो अंतिम बाधा मृत्युकालकी अभी शेष है, उसीकी रक्षा आगे तटस्थ दोहेंमें दिखाकर तब कलिका पूर्णतया नाश होना कहेंगे और तभी दिव्यधामकी प्राप्ति होनेपर इसके 'सत्यसंकल्पादि' आठों गुण भी साक्षात्कार होंगे ॥

इस संबंधका संपूर्णसिद्धांत सूक्ष्म रीतिसे ग्रंथकारने और ठौर भी कहा है। यथा—"**पावनप्रेम रामचरनकमल जनमलाभ परम। रामनाम लेत होत सुलभ सकल धरम ॥ जोग मख विवेक बिरति वेदबिहित करम। करिबे कहँ कटु कठोर सुनत मधुर नरम॥ तुलसी सुनि जानि बूझि भूलहि जनि भरम। तेहि प्रभुको होहि जाहि सबही की सरम॥**" (वि० १३२) मिलान—यथा इस पदमें जो पावनप्रेम श्रीरामपदमें होना परमलाभ कहा गया है। उसीका इस संबंधके तुलसी होनेमें पावनता अंश कहा गया, तथा चौ० २ में स्नेहसहित कहकर उसी (पावनप्रेमको) सर्वसिद्धान्त कहनेसे जन्मलाभ दिखाया गया जैसे इस संबंधकी चौ० ३—४ में नामसे सब युगोंके धर्मोंकी सुलभता कही गई, वैसे पदमें भी '**रामनाम० धरम**' कहा है जैसे इस संबंधकी चौ० (५ से ८ तक) में क्रमशः योग, मख, तीनों गुणोंका विवेक और श्रीहनूमान्जीके लक्ष्यमें 'वैराग्य' आदि कहे, और इनके विघ्नोंको दिखाकर कटु कठोरता भी दिखाये, वैसे ही पदके भी मध्यचरणमें है पुनः पदमें जो ऊपर नाम ही को उपाय कहकर नीचे प्रभुके शरण होना कहे हैं, उसका भी भाव इसी संबंधके अनुसार है, क्योंकि यह स्व-स्वामी संबंधभी सर्वोपायरूप नामकी शरणागतिसे हुआ है इस लिये नामहीकी शरण होना सर्वोपरिसिद्धान्त है ॥

अथ अखिल प्रकरण नं० ९ ।

टिप्पणी (तात्पर्यार्थ)

अथ जापकके हृदयरूप गर्भमें नामकी अवस्था और अवतारका प्रसंग ॥

(१) इसके पूव अ० प्र० नं० ८ टि० (१) में इनका आठवें आवरणमें आना हुआ। अब नवेंका दिखाते हैं, कि जैसे परवशजीव इस आवरणमें गंधतन्मात्रा ग्रहणकरके गर्भके भारी दुःखोंसे विसर्ग (छूटना निकलना) चाहता है और संसारसंबंधकी गंध (वासना)

करता है वैसे ही नामने स्वेच्छापूर्वक आकर अपने शरीररूप जीवसे इसके स्वरूपानुरूप सुख (श्रीरामस्नेहसुख) की वासना नित्यके लिये मनआदि चारोंसे प्रकट कराया और काल कर्मादि दुःखोंसे विसर्ग (निकलने) की वासना भी कराया इनसे इनका ' अपहतपाप्मत्व ' गुण प्रकाश हुआ जैसे कि परतंत्रजीवका यहाँ इस विषयके संगसे नाश होता है पुनः जैसे जीव आतुर होकर जन्मकालको प्रतीक्षा करता है, वैसे ही जापकरूप शरीरसमेत आप (नाम) स्वतंत्रता सहित इस पांचभौतिक शरीररूप गर्भसे निकला चाहते हैं आयुकी प्रतीक्षा कर रहे हैं इनका दिव्य जन्म आगे तटस्थ दोहेमें दिखावेंगे। आगेके अ० प्र० नं० १० टि० (१) में जन्मोत्सव कहेंगे ॥

अथ नामरूप ईश्वरकी द्वितीय भावानुसार पंचधा स्थिति ।

(२) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (ग) के अनुसार यहाँ ' **अंतर्यामी** ' स्वरूपका प्रसंग हैं यह मूलमें सर्वत्र दिखाते आये हैं ॥

अथ नामान्तर दश अवतारोंके साक्षात्का प्रसंग ।

(३) इस संबंधके उद्धार प्रसंग बा० दो० १९ चौ० ८ टि० (७) में जो ' **बुद्ध-अवतार** ' के लक्ष्य कह आये वही यहाँ साक्षात्कार हुए, मिलाकर जानना चाहिये ॥

अथ नामांतर भक्तिरसप्रकरण ।

(४) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (४) के अनुसार यहाँ ' **वात्सल्यरस** ' की सिद्धावस्थाका प्रसंग है वहाँ अ० प्र० नं० १ टि० (४) से इसके साधनाङ्गमें इस रसका एक प्रकारका दैन्यवात्सल्य कहा है जिसमें जीव पुत्र और नाम पिता थे पर यहाँ उसकी सिद्धावस्थामें दूसरी भाँतिका है। जिसमें जापक नामको पुत्रभावसे लालन पालन किया है क्योंकि, इस संबंध भरमें इसको जिह्वासमेत नंदयशोदासम कह आये, तथा नामको पुत्रवत् श्रीकृष्ण बलरामसम दिखा आये। इस रसके देवता नरसिंह हैं, वह रूप भी नाम ही धारण करके इस संबंधके फलरूप नीचेके दोहामें प्रकट होंगे और वहांके पिता-पुत्र सं०का सब विषय यहाँ सिद्धरूपमें प्राप्त हुआ तो रस भी वही उन्हीं लक्षणोंसे जानना चाहिये * ॥

अथ नामांतर पंचसंस्कारप्रसंग ।

(५) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (५) के अनुसार यहाँ ' **नाम** ' संस्कार धारणकी सिद्धावस्थाका प्रसंग है इसके साधनरूप अ० प्र० नं० १ टि० (५) में श्रुतिसे जो इष्टके समान रूपसे तदाश्रित अपनेको स्मरण करना और तीनों लोकोंसे पूज्य होना कहा गयाथा

नोट—* पूर्व छठें सातवें संबंधमें ही जिन रसोंकी सिद्धावस्था कही गई। उनका आगेका साधन उसीरूपसे होता है, इससे प्राप्तिमें किसी रसमें न्यूनाधिक्य नहीं है, पुनः शृंगाररस जो राजा कहा जाता है, उसका भी आदर पाँचोंके मध्यमें पूर्णावस्थासहित रहनेसे होगया क्योंकि, शांतरस अभी आगेके अ० प्र० नं० १० टि० (४) में दिखाया जायगा ॥

वेह यहाँ साक्षात्कार हुआ, क्योंकि जीव भी सच्चिदानंद रूपमें तदाश्रित एकरस रहा और तुरीयावस्थामें रहनेसे तीनों अवस्थाके तीनों शरीररूप लोकोंसे पूज्य भी रहा । पुनः वहाँ जैसे नीचेके दोहामें ' तुलसी (सालिसु) दास ' साधनावस्थाका नाम करण हुआ था, वैसे यहाँ भी नीचे तटस्थ दोहेमें **' जापकजन प्रह्लादजिमि '** के अर्थसे आत्माकी सिद्धावस्थाका सूचक प्रकर्ष आनंदमय प्रह्लाद नाम होना भी दिखावेंगे ॥

अथ नामान्तरभक्तिप्रकरण ।

(६) इसके पूर्व अ० प्र० नं० ८ टि० (६) में पराभक्तिकी साधनावस्था दिखा आये । यहाँ उसीकी सिद्धावस्था दिखाते हैं जिसे प्रौढा भी कहते हैं, यथा–" **प्रौढाभक्तिस्तु भावपंचके स्वस्वरूपविधानानन्तरं स्वरूपावेशतया साक्षात्कारत्वं प्रौढाशब्देनोच्यते सा एव पुरुषस्य अर्थरूपापुरुषार्थाः तल्लब्धवान्पुरुषः ब्रह्मशब्देनोच्यते** " (जिज्ञासापंचके) यथा–श्रुतिः **'ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति'** यह सब जापकको यहाँ प्राप्त है यथा–यहाँ जापकने स्वस्वरूपकी निर्विघ्नस्थितिसहित अंतर्यामीका साक्षात्कार किया, इससे ब्रह्मसंज्ञाकी योग्यता हुई इत्यादि, इसकी प्रौढा संज्ञाका यह भी कारण है कि, इसके स्नेहपर प्रसन्न होकर जो अंतर्यामी प्रभुने इसका बाधानिवारण स्वयं किया तो यह भक्ति मायासे अकाट्य होनेपर प्रौढा हुई । पुनः इसके साधनांग (परा) में जो **' रघुपति भगति करत कठिनाई ।'** का तीसरा चरण दिखाया गया था । उसका चौथा पाद यहाँ साक्षात्कार हुआ. वह यह है यथा–" **सोक मोह भय हर्ष दिवस निसि देस काल तहँ नाहीं । तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निर्मूल न जाहीं ॥** " (वि० १६८) इसके शोक मोहादि काल कर्मादिके दोषसे होते हैं वे सब निर्मूल ही हुए ॥

अथ नामांतर ज्ञानप्रकरण ।

(७) इसके पूर्व अ० प्र० नं० ८ टि० (७) में ज्ञानीका ग्रंथि छोरनेमें लगना कहा गया । यहाँ उसमें बाधक अविद्यासे सुरक्षित रहनेका प्रसंग मिलाते हैं यथा–वहाँ (ज्ञानप्रसंगमें) जितनी बाधा दिखाई गई हैं, वे सब काल, कर्म, गुण, स्वभावके अंतर्गत हैं, तिनसे यहाँ भलीभाँति नामने रक्षा किया, जापकको कुछ भी प्रयास न पड़ा और वहाँ तो अत्यंत कठिनाई है, पुनः ज्ञानीको स्वयं सम्हाल करना है यहाँ आदि अंत एकरस निर्विघ्न रहना दिखा आये और वहाँकी आशा घुणाक्षरन्याय है अतएव नामाराधन बहुत ही प्रशस्त है ॥

अथ नामांतर भगवत्साधर्म्यप्राप्ति ।

(८) संबंधोद्धारके क्रमसे यहाँ इन ' एक अनीहादि ' नवमें **' परधामा '** का साक्षात्कार हुआ ' पर-धामा ' अर्थात् जिसका धाम पर हो वा परे हो, यह अवस्था जीवकी अंतर्यामीके साक्षात्कार होनेपर होती है. क्योंकि, वह सबसे पर है, वही जीवका आश्रय होजाता है जैसे इस संबंधमें रहा कि, जीवकी अतर्यामीनें सम्यक्प्रकारकी रक्षा किया पुनः इसी अवस्था-

सहित जीव जैसे ' परधाम ' अर्थात् निजधाम (श्रीसाकेत) में [illegible] प्राप्त होगा। वह आगे अ० प्र० नं० १० टि० (८) में कहेंगे ॥

अथ नामांतर पंचकोशोत्क्रमणक्रम ।

(९) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० ३ टि० (९) के अनुसार यहाँ ' **आनंदमय** ' कोशकी स्थिति है. यह कोश अंतर्यामीके साक्षात्कारपूर्वक आनंदमय अवस्थाको कहते हैं,वह विधिवत् प्राप्त हुई ऊपर टि० (२) में देखो ॥

इति श्रीरामवल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्तशरणकृत श्रीमन्मानसनामवंदनायाः तत्त्वार्थसुमिरनीटीकायां नवममणिकार्थवर्णने दशमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इति नवममणिकार्थ समाप्त ।

एकादशोऽध्यायः ।

अथ श्रीमन्मानसनामवंदनाका अंतिम दोहा ।

मूल ।

रामनाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल ।
जापकजन प्रह्लाद जिमि, पालिहिं दलि सुरसाल ॥ २७ ॥

टीका—जैसे नरसिंह (भगवान्) ने देवताओंको दुखानेवाले हिरण्यकश्यपको मारकर प्रह्लादकी रक्षा की. वैसे ही श्रीरामनाम जापककी कलिकालसे रक्षा करते हैं ॥ २७ ॥

टिप्पणी (भावार्थ)

(१) **'रामनाम नरकेसरी'** का भाव यह कि, जैसे सबसे अवध्य हिरण्यकश्यपको नृसिंहजीने ही मारा, वैसे यह कलि भी अन्य साधनोंसे अवध्यसा ही है इसका नाम ही नाश करते हैं तथा अपने जापकके द्रोहीको अत्यन्त क्रोधसे नाश करते हैं क्योंकि, ऐसा क्रोध दूसरे किसी अवतारमें नहीं हुआ ॥

(क) ' **सुरसाल** ' अर्थात् देवताओंका दुखानेवाला, यहाँ उपमेयवाचक लुप्तालंकार है अर्थात् जैसे हिरण्यकश्यपसे देवताओंको दुःख पहुँचा वैसे कलिसे सद्धर्मोंपर हानि पहुँची. क्योंकि, देवताओंको सद्गुणरूप भी कहा है और उन्हीं सद्गुणोंसे धर्म होते हैं यथा–' **सद्गुन सुरगन अंब अदिति सी ।** ' (बा० दो० २०) '**कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सद्ग्रंथ ।** (उ० दो० ९७) तथा यह भी भाव है कि, हिरण्यकश्यप देवताओंको दुःख देता ही रहा, परंतु भगवान् नहीं प्रकटे और जापकप्रह्लादके दुखाते ही तुरंत प्रकट हुए और शत्रुको मारकर इनका पालन किये ऐसे ही अन्य धर्मोंकी ग्लानिपर भगवान् इतना कोप नहीं करते, पर नामके

द्रोहीका तुरंत नाश करते हैं अपने दुःखपर ध्यान नहीं देते जैसे प्रह्लादके लिये पत्थर फोड़-कर प्रकट हुए ॥

(खं) '**कनककशिपु कलिकाल**' का भाव यह कि ऊपर सर्वत्र कलि २ कहते आये, उसका अर्थ पापमयजगत्-और तत्संबंधी कर्मपरिणाम शरीरका होता आया, अब यहाँ उसके आगे काल कहकर उस शरीरका काल जो मृत्यु (काल) है उसे हिरण्यकश्यपसम कहते हैं, अर्थात् मृत्यु समय शरीर स्वर्णसम बहुमूल्य और संसार रमणीक समझ पडता है. क्योंकि, स्वर्णकी तरह इनमें भी जीवकी सहज प्रीति होती है । यथा— '**सत्रुमित्र मध्यस्थ तीनि ए मन कीन्हें बरिआईं । त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृनकी नाईं ॥**' (वि० १२९) इसमें क्रमानुसार स्वर्णमें सहज मित्रता जीवोंकी कही गई है इस प्रकार शरीरका और जगत्का प्रियत्व रहता है तब जो मृत्युसमय इनके त्यागनेमें जीवोंको दुःख होता है वही हिरण्यकश्यपके दुःखदेनेकी भाँति समझना चाहिये ॥

(गं) '**जापकजन प्रह्लाद जिमि**' का भाव यह कि 'प्रह्लाद' अर्थात् जो प्रकर्ष आनंद-पूर्ण रहे वैसे नामप्रभावसे प्रह्लादजी रहे क्योंकि, उस दुष्टकी बाधासे भी इनका आनंद निर्विघ्न बना रहा, तैसे ही जापकको भी मृत्युसमय विघ्न न व्यापेगा, इसी लिये आगे '**पालिहिं**' क्रियासे भविष्यकी रक्षा दिखाते हैं क्योंकि, कर्मसंबंध शरीरतक रहता है, उससे ममत्वरहित मृत्यु होने-पर कलिमय जगत्का संबंध छूट जाता है, अतः यहाँ कलिका अंतिम पुरुषार्थ भी नाश करना दिखाये । ऊपर चौ० तक उसके कपट नाश हुए थे ॥

(२) **शंका**—ऊपर चौ० में कलिको प्रथम कहकर नामको कहा गया और यहाँ प्रथम नाम क्यों ? **समाधान**—ऊपर जापकपर प्रथम कलिकृत स्वभावबाधा हो चुकी, तब पीछे नामने करुणा करके सहायता किया, क्योंकि वहाँ श्रीलक्ष्मणजी स्वतंत्र होनेसे मूर्च्छित हुए थे । पुनः श्रीहनूमान्रूपमें नामपर ही बाधा थी, अतः इन्होंने अपनी प्रबलतासे शत्रुकी चिन्ता नहीं किया परन्तु जो दासको दुखाता है, उसपर पहिले ही से उद्यत रहते हैं । यथा—"**सुनु सुरेस रघुनाथ स्वभाऊ । निज अपराध रिसाहिं न काऊ ॥ जो अपराध भगत-कर करई । राम रोष पावक सो जरई ॥**" (अ० दो० २१७) ॥

(अनुसंधानार्थ)

प्रह्लाद तथा जापकका मिलान ।

(३) प्रह्लादजीकी जीवनी पूर्वोक्त बा० दो० २९ चौ० ४ में लिख आये और वहीं पर इनके लक्ष्यसे शब्दादि विषयोंमें अनासक्ति देखकर जापककी 'देहादिविलक्षणता' भी निर्विघ्न स्थित हुई. अब यहाँ नरसिंहअवतारके समयका मिलान करेंगे । नाममें सिंहकी उत्पत्तिका रूपक पूर्वोक्त अ० प्र० नं १ टि० (१) से ही प्रारंभ हुआ, वहाँही इसका मूल प्रकरण भी देखना चाहिये । वहाँसे प्रत्येक अ० प्र०की टि० (१) में कहते हुए, नवों अ० प्र० में सिंहके नव मास गर्भनिवासकी व्यवस्था भी नाममें मिलाते आये पुनः जैसे सिंह माताका उदर

विदारकर जोडा प्रकट होता है, वैसे प्रह्लाद और नरसिंहभगवान्को दिखाकर फिर जापक और नामको दिखावेंगे जैसे गर्भमें रहनेवाले जोडा सिंहकी मातापर ममता नहीं रहती, वैसेही प्रह्लाद और नरसिंहजीको खंभेपर (जिसमें प्रह्लाद बंधे थे) नहीं थी तैसे ही जापक भी भगवत्प्राप्तिकी प्रत्याशामें मृत्युकी चाह किये हुए शरीरको जट खंभा और उसके संबंधवाली आयुको बंधन समझकर उसपर ममता न करेगा और मृत्युकालरूप × हिरण्यकश्यपको बाँध रखनेवाला शत्रु समझेगा क्योंकि जब तक मृत्यु नहीं आती तब तक यह बंधन रहता ही है। बँधे हुए प्रह्लादको जैसे हिरण्यकश्यप तलवार लेकर भय दिखाता था वैसेही शुद्धजापकको मृत्युसमयके देहसंबंधी शब्दादि विषयोंका सुख भयकारक होता है तब जैसे खंभेमें ही नरसिंहभगवान् रक्षक देख पडे थे, वैसे इसे भी शरीरांकित संस्काररूपसे नामही पंचाननरूप नरसिंहसम देख पड़ेंगे। जैसे प्रह्लाद प्रथम भगवान्को व्यापकरूपसे रक्षक कहते थे, परन्तु उन्होंने रक्षा समय सगुणरूपसे कार्य किया वैसे यहाँ भी ऊपर आठों चौपाइयोंमें नामके अंतर्यामीरूपका प्रसंग था, यहाँ वे ही पंचसंस्काररूपसे सगुण देख पड़े. यथा—यद्यपि नामका अवतार स्वरूप ही मंत्र है पूर्व ही बा० दो० १८ चौ० १ में दिखा आये, परंतु मंत्रसंस्कार अपने चार संस्कार रूप अंगोंसहित ही कार्य करता है उन संस्कारोंके स्वरूप मंत्रोद्भवसंबंधोंके साथ २ अ० प्र० नं० १ टि० (९) से अ० प्र० नं ९ टि० (९) तकमें क्रमशः नाम, माला, तिलक, मुद्रा और मंत्रके साधनांग हैं और अ० प्र० नं० ६ टि० (९) से अ० प्र० नं ९ टि० (९) तकमें क्रमशः मुद्रा, ऊर्ध्वपुंड्र, माला, नामका सिद्धस्वरूप साक्षात्कार दिखा आये, अब उनमेंसे शेष मंत्रसंस्कारके सिद्धस्वरूपका साक्षात्कार यहाँ दिखा रहे हैं कि, जैसे सिंहके शिकाररूप कार्यमें मुख प्रधान है परन्तु उस कार्यमें चीर फाड करनेसे चार पंजे भी मुखरूप ही हैं इससे वह पंचानन कहाता है और पाँचों अंग संपन्न रहता है वैसे मंत्ररूप मुख और पंजारूप चारों संस्काररूपसे नाम पंचानन (नरसिंहरूप) हुए और जापकको मृत्युसमय अपने पंच विषय नाशक महत्त्व (जो अ० प्र० के संस्कारप्रकरणमें कहे गये हैं) सहित रक्षार्थ चिह्नरूपसे शरीरमें ही देख पडते हैं। पुनः वह खंभेका आकार जैसे हिरण्यकश्यपको भी देख पडा तब शत्रु जानकर उस आकारपर ही मुष्टिका प्रहार किया वैसे ही मृत्युकाल जापककी संस्कारार्थविचारशक्ति व्याकुल करके हरण करता है संस्कारार्थका सूक्ष्मरूप यहाँके रूपकमें दिखाते हैं। यथा—नामको नरसिंहरूप इससे देखता है कि, माया जो अजा नामसे ख्यात है उसका अजानामक बकरीमें भी लक्ष्य होता है जैसे बकरी में, में, बोलती है तो सुनकर सिंह मारता है, वैसे मायाके भी पाँच अंगो (विषयों) में कारण शब्द है यही उसका मुखरूप और शेष

नोट—×अर्थात् मृत्युकालमें शरीर और तत्संबंधीसुख स्वर्णसम प्रिय दिखाता है (यथा—हिरण्य-सोना, कश्यप-देखनेवाला, यथा—" कश्यपः कस्मात् पश्यका भवतीति " ऐसा निरुक्तमें लिखा है) वियोगमें उसके दुःख देनेसम दुःख होता है क्योंकि सोनेमें सहज मैत्री होती है यथा—" त्यागव गहव उपेक्षनीय अहि हाटक तृनकी नाईं। (वि० १२९) ॥

चार विषय चार पग रूप हैं और इसका भी पहिचान शब्द विषयका मैं, मैं, ही है। यथा- "**मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि वस कीन्हें जीवनिकाया॥**" (आ० दो० १६) इसमें मैंसे मोर तोर तैंका होना जानना चाहिये। जैसे बकरीके चारों खुरभी दो २ फाँक और तल ऊपर भाग सहित मुख भी दो फाँक होता है, वैसे मायाके पाँचोंविषय शुभ और अशुभ दो २ प्रकारके होते हैं जैसे बकरी विशेष तो श्याम रंगकी होती है पर कुछ २ लाल तथा स्वेतादि मिश्रित रंगकी भी रहती हैं वैसे माया भी विशेषतः तमरूपा श्याम ही है और इसके रजोगुण तथा सतोगुण लाल और श्वेत भी होते हैं इत्यादि, ऐसी मायाके पाँचों अंगोंको नाम सिंहकी तरह अपने मुखरूप मंत्रसे उसके मुखरूप शब्दको और चार संस्काररूप चार पंजोंसे उसके शेष चारों विषयरूप पगोंको वेप्रयास ही नाश करते हैं जैसे सिंहके एक २ पंजेमें भी संपूर्ण बकरीके मारनेका सामर्थ्य रहता है, वैसे एक २ संस्कार भी पाँचों विषयोंको नाश कर सकते हैं, यह भी संस्कारके प्रसंगोंमें दिखा आये हैं। ऐसा विचारते हुए जापक मृत्युसमय संसारकी रमणीकतापर नहीं मोहता जैसे मुष्टिका लगते ही खंभेके आकारवाले रूपसे उसे फाडकर भगवान् नरसिंहरूपसे प्रकट हो गये, वैसे ही जापकके संस्कारयुक्त शरीररूप आकारयुक्त खंभेपर मृत्युकालकी व्याकुलतारूप मुष्टिका लगते ही नाम अपने शरीररूप जापकसहित शरीरसे ममतारहित निकल आते हैं, तब जापकका बंधन छूट जाता है। जैसे प्रह्लादके देखते हुए मुष्टिका खंभेपर भगवान्‌के आकारपर ही लगी, और उससे फाडकर निकलनेका प्रयास भी भगवान्‌हीको हुआ। वैसे जापककी दृष्टिमें भी मृत्युरूप मुष्टिका शरीररूप खंभेपर लगती है और उससे निकलनेका प्रयास उसके शरीरी अंतर्यामीको रहता है। पुनः जैसे प्रकट होनेपर भी भगवान्‌ने कुछ काल दैत्यसे लडकर उसे मारा, वैसे मृत्यु होनेके पीछे भी धनंजयप्राण शरीरमें रहता है यथा-"**मृत्युदेहे वसत्येवं पंचमो वै धनञ्जयः।**" (जिज्ञासापंचके)। जैसे जोडा सिंह माताका पेट फाड कर निकलते हैं तब दोनों बड़े भारी वनमें परस्पर प्यारसहित विचरते हैं वैसे पुरुषार्थाकार नरसम नरसिंह भगवान्, असमर्थ भार्यावत् भोग्य प्रह्लादको गोदमें लेकर प्यारसहित लालने लगे थे, तैसे ही जापक भी जो चौथेसंबंधके अनुसार असमर्थ भार्यारूप है, पुरुषरूप नामके नामी श्रीरामजीके संग उनका भोग्य होकर पार्षदरूपसे सिंहवत् निर्भय होकर सांतानिकवन (जिसे साकेतधाम तथा नित्यअवध कहते हैं,) में विचरेगा। यहाँ तक शरीरसंबंध छूटनेसे यद्यपि प्रकृतिसंबंध निवृत्त होगया. परंतु साकेत धाम पहुँचनेमें जीवका अभी कुछ मार्ग शेष है, उसमें जीवको अब कुछ करना नहीं है, वह अगली चौ० के अर्चिरादिमार्ग प्रसंगमें पूरा होगा और यहाँ तकका अर्चिरादिमार्ग भी आगे टि० (६) में दिखावेंगे।

सिंहावलोकन।

(४) दोहा (मूल) में नरसिंह नाम न कहकर **'नरकेसरी'** का भाव दिखाते हैं कि, ऊपर टि० (३) में जापकके स्थूलशरीरके साथ पंचसंस्काररूप चिह्नोंमें नरसिंहका आकार

कह आये। इससे शरीरमें समानता हुई, शेष नामकी समानता इस 'नरकेसरी' संज्ञासे है क्योंकि जापक (वैष्णव) भी तिलककी संज्ञासे प्रसिद्ध होते हैं, यथा—श्रीवाले, बेंदीवाले, लश्करी, चतुर्भुजी आदि संज्ञा प्रसिद्ध है, ये तिलक गोपीचन्दन अथवा श्रीरामरज (जो गोपीचंदन ही है) को धारण की जाती है, जो श्रीसीतारामजीके अंगमें लेपन होनेवाली केसरि आदिकी अंगरागोंकी होती है, क्योंकि, गोलोकके सामीप्यमें साकेतलोक है, इसीसे वहाँकी स्त्रियोंकी भी गोपी संज्ञा है। तहाँ श्रीसीतारामजीका अंगराग झडकर पडनेसे मृत्तिकाके साथ मिला, उसे वहाँकी गोपियोंने प्रीतिपूर्वक तिलकरूपसे धारण किया, इसीसे गोपीचन्दन कहाया। अवतारकालमें भी इसकी उत्पत्ति इसी प्रकार है। यथा—"**अंगरागेण दिव्येन लिप्ताङ्गी जनकात्मजे। शोभयिष्यासि भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम्॥**" (श्रीमद्वाल्मी० अ० सर्ग ११८) अर्थात् श्रीअनसूयाजीने श्रीजानकीजीको आशीषपूर्वक अंगराग दिया और कहा कि इसके धारण करनेसे तुम पतिकी शोभा बढावोगी, जैसे लक्ष्मीजी विष्णुभगवान्की शोभा बढाती है, वही अंगराग श्रीरामजीने श्रीजानकीजीको धारण कराया। यथा—"**सियअँगालिखें धातुराग सुमननि भूषन विभाग तिलक करनि क्यों कहौं कलानिधान की॥**" (गी० अ० ४४) वही झडकर श्रीचित्रकूटमें श्रीरामरज हुआ। यह भी गोपीचन्दन इस प्रकारसे हुआ कि, बृहद्रामयणोक्त श्रीचित्रकूटमाहात्म्यके अनुसार श्रीकामदगिरिके अंतर्गत दिव्यमहल है तहाँ श्रीसीतारामजी सपरिकर निवास करते है। अतएव उपरोक्त गोपियोंने यहाँ पर यही रज चंदनरूपसे धारण किया तो यह भी गोपीचन्दन कहाया। तथा और भी जो गोपीचंदन प्रसिद्ध है वह भी इसी प्रकारका है। यथा—श्रुतिः"**विष्णुचन्दनं ममांगे प्रतिदिनमालिप्तं गोपीभिः प्रक्षालनाद्गोपीचन्दनमाख्यातं मदंगं लेपनं पुण्यं चक्रतीर्थान्तःस्थं चक्रसमायुक्तं पीतवर्णं मुक्तिसाधनं भवति॥**" (वासुदेवीउपनिषद्) इस प्रकार यह चन्दन भगवान्के अंगसंगसे पुनीत भया हुआ केसरि ही है। उसकी तिलकवाले भी केसरी नर अर्थात् नरकेसरी नामके हुए॥

(५) ऊपर स्व-स्वामी संबंधके सब विषयोंको '**पिता-पुत्र**' संबंधके विषयोंके नाम-गुणप्रकाशक तथा उनकी सिद्धावस्थारूप दिखाते आये हैं, तो यह दोहा भी सो उसी (स्व-स्वामीसं०)का फलरूप होनेसे उसमें ही है। इससे इसमें वहाँकी चौ० ८ के "**कालकूट फल दीन्ह अमीके**" की सिद्धावस्था जानना चाहिये क्योंकि, वहाँ जो मृत्युरूप कालका अमृत होना कहा गया था, वह यहाँ साक्षात्कार हुआ। वहाँ शिवमुख चंद्रमामें नामका निवास कहा था और यहाँ प्रह्लादमें. इनमें भी चन्द्रमासे प्रकर्ष अवस्था विद्यमान है। पूर्व बा० दो० १९ चौ० ६ टि० (खं) में दिखा आये, अतएव जैसे नामने यहाँ सब कार्य जीवका स्वयं किया, वैसे ही वहाँ भी जीव का निमित्तमात्र ही है॥

अथ अर्चिरादि मार्गक्रम।

(६) यथा—"**अग्निर्ज्योतिरहःशुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्। तत्र प्रयाता**

गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ " (गीता, अ० ८) अर्थात् जो ब्रह्मज्ञानी भक्तलोग इस अर्चिरादिमार्गसे देह त्यागकर जाते हैं वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं । इस मार्गका क्रम यथा–" **अग्निलोक, अहर्लोक, शुक्लपक्षलोक, उत्तरायणलोक, संवत्सरलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युत्लोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक, चतुर्मुख (ब्रह्मा) लोक** यह बारह हैं । इस मार्गका नाममें मिलान–जैसे वह ज्ञानीभक्त मायिकशरीर त्यागकर अग्निलोकको प्राप्त होता है । वहाँ तकका साधन जापकको सातवें संबंधके तीनों शरीरोंसे मुक्त होकर जहाँ प्रतिबिंबरूपा मायासीताका अग्निमें प्रवेश कहा गया है, उसके लक्ष्यमें जो अवस्था प्राप्त हुई * तहाँ जानना चाहिये । पुनः जैसे उस ज्ञानीभक्तको अग्निलोकका देवता ' अहर्लोक ' तक पहुँचाकर जब अहर्लोकका देवता सत्कारसहित लेता है, तो लौट आता है, वैसे जो अग्निदेवने सत्यश्रीजी (जानकीजी) को श्रीरामजीको समर्पण किया । तब श्रीरामजी अत्यन्त शोभारूप प्रकाशसहित विराजे । यथा–" **श्रीजानकी समेत प्रभु सोभा अमित अपार ।** " (उ० दो० १०९) वहाँ श्रीविभीषणजीके लक्ष्यमें जापकको जो अवस्था प्राप्त हुई वही अहर्लोक तकके मार्गका साधन हुआ, क्योंकि, अहः नाम दिनका है वह प्रकाशमय होता है । वैसे उस लक्ष्य तकमें जापक भी तमरहित प्रकाश (ज्ञान) मय अवस्था पाया । पुनः जैसे उस ज्ञानीभक्तको अहर्लोकका देवता शुक्लपक्षलोकतक पहुँचाकर लौट आता है, वैसे जीवरूप विभीषण श्रीसीतारामजीके साथ पुष्पकारूढ़ हुए । उस लक्ष्यकी अवस्थामें जापकके शुक्लपक्षलोक तककी प्राप्तिका साधन हुआ, क्योंकि वह विमान शुक्लपक्षकी तरह अपने ऐश्वर्यकी वृद्धि करता था । अर्थात् जितने लोग चढ़ते थे उतना ही बढ़ता हुआ एक तिहाई खाली रहता था । पुनः जैसे शुक्लपक्षलोकका देवता उस ज्ञानी भक्तको ' उत्तरायणलोक ' तक पहुँचा कर लौटता है, वैसे ही उस विमानकी भी यात्रा उत्तरदिशाको हुई । यथा– " **उत्तर दिसिहिं बिमान चलावा ।** " (लं० दो० ११८) फिर दंडकवन तक आकर उतरा । यथा–" **सपदि बिमान तहाँ चलि आवा । दंडकबन जहँ परम सुहावा ॥** " (लं० दो० ११९) यहाँ तकके लक्ष्यमें जापकका उत्तरायणलोक तकका साधन हुआ । पुनः जैसे उस लोकका देवता उस ज्ञानी भक्तको ' संवत्सरलोक ' तक पहुँचाकर लौटता है, वैसे ही विमान चित्रकूटमें उतरा; वहाँ तकके लक्ष्यमें जापकका भी संवत्सरलोक तकका साधन हुआ क्योंकि संवत् बारह महीनेका होता है, तदनुसार श्रीरामजी यहाँ (चित्रकूट) के सब आश्रमोंमें बारह वर्ष रह चुके हैं, पुनः उस लोकका देवता ज्ञानीभक्तको जैसे ' वायुलोक ' तक पहुँचाकर लौटता है, वैसे ही चित्रकूटसे विमानका चोषा चलना लिखा है । यथा–" **चला बिमान तहाँते चोषा** " (लं० दो० ११९) यह चोषा

नोट–*इन लोकोंकी यात्रा इस स्थूलशरीरकी मृत्यु होनेपर ही होती हैं । यहाँ जो कहा जाता है वह साधन दिखाया जाता है । जिससे शरीर छूटने पर जीव पूर्वाभ्याससे तुरंत इन लोकोंका अतिक्रमण कर जाता है ॥

अर्थात् वेगसहित गमन वायुलगसे हुआ । इस लक्ष्यमें जापकने भी वायुलोकतकका साधन प्राप्त किया। पुनः जैसे उस लोकका देवता उस भक्तको 'सूर्यलोक' तक पहुँचाकर लौटता है। वैसे ही विमान भी सबको श्रीअवध पहुँचाकर लौट गया। (इसके बीचमें जो प्रयागमें और शृंगवेरपुरमें विमान उतरा था वह मार्गक्रममें नहीं है, क्योंकि प्रथम ही श्रीअवधका दर्शन कराके लौटकर प्रयागमें उतरा है, वहाँसे श्रीरामजीको श्रीभरतजीका समाचार लेना था और शृंगवेरपुरमें श्रीरामजीकी आज्ञासे इस लिये उतरा कि, श्रीजानकीजीने गंगा-पूजनकी मानताकी थी) इस लक्ष्यमें जापकका भी सूर्यलोकतकका साधन हुआ, क्योंकि श्रीअवध सूर्यवंशियोंकी राजधानी है और श्रीरामजीने भी सूर्यवत् प्रतापसे राज्य किया। यही अवस्था आठवें संबंध भरमें रही । पुनः जैसे सूर्यलोकका देवता उस ज्ञानी भक्तको 'चन्द्रलोक' तक पहुँचाकर लौटता है। वैसे जापक भी नवें संबंधकी चौ० '**कालनेमि कलि०**' के लक्ष्य तकमें जहाँ इसके मनका संपूर्ण बाधाओंमें निर्विघ्नस्थित रहना दिखाया गया, उस लोक तककी यात्राका साधन पूरा किया. क्योंकि, मनका देवता ही चन्द्रमा है। पुनः जैसे उस ज्ञानीभक्तको चन्द्रलोकका देवता 'विद्युल्लोक' तक पहुँचाकर लौटता है, तो विद्युत् प्यारसहित लेती है, वैसे ही जापकका साधन प्रह्लादजीके लक्ष्यमें हुआ, क्योंकि जैसे विद्युत् मेघ फाड़कर घोर आवाजसहित प्रकाशमय स्वरूपसे प्रकट होती है, वैसे वहाँ शरीररूप खंभा मेघवत् है, उसे फाड़कर घोर शब्दसहित तेजोमयरूपसे नरसिंहभगवान् प्रकट हुए और प्यारसहित प्रह्लादजीको गोदमें लिये । यहाँ शरीरको मेघवत् इससे कहा गया कि, यह कर्मपरिणाम है और कर्मेन्द्रियभुजाके देवता इन्द्र हैं, तिनका ऐश्वर्यरूप मेघ हैं। पुनः जैसे उस भक्तका आगेका मार्गगमन होता है, वह अगली चौपाईके अर्थमें दिखावेंगे। वहाँ ही इस मार्गपर श्रुति आदिके प्रमाण भी लिखेंगे ॥

अथ सुमेरुका रूपक।

(७) यह दोहा इस श्रीमन्मानसनामवंदनाकी तत्त्वार्थ सुमिरनी टीकामें नव संबंधरूप नव मणिकाओंसे आगे '**सुमेरु**' रूप है क्योंकि जैसे सुमेरुमें दोनों तरफके तागा पोहे रहते है वैसे इसमेंभी पहिले संबंधसे पाँचवें तककी आत्मोपासनाका फल और छठें संबंधसे नवें तककी ब्रह्मो-पासनाका फल पोहा हुआ है क्योंकि इसमें प्रह्लादरूप जापकका लक्ष्य प्रथम आत्मांतर्यामीमें था, पीछे सगुणब्रह्मद्वारा रक्षा हुई। पुनः जैसे सुमेरु लाँघनेमें दोष माना जाता है क्योंकि वह फलरूप होता है, इससे आगे बढनेमें उसका निरादर होता है, वैसेही यह दोहा भी यहाँ फल-रूप है, अतः आगे साधनका प्रयोजन नहीं है और जैसे सुमेरुके ऊपर भी सुशोभित ग्रंथिका फुलरा होता है, जिससे उसकी शोभा होती है वैसे यहाँसे आगे एकही चौपाई नामकी है उसके अर्थसे संपूर्ण नामप्रसंगकी शोभा बढ़ेगी। उसे आगे उसी चौ० में दिखावेंगे ॥

इति श्रीरामवल्लभाशरण दासानुदास श्रीकान्तशरणकृत श्रीमन्मानसनामवंदनायाः तत्त्वार्थसुमिरनीटीकायां सुमेर्वर्थवर्णने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इति सुमेरुअर्थ समाप्त ।

द्वादशोऽध्यायः।

अथ श्रीमन्मानसनामवंदनाकी अंतिम चौपाई।

मूल।

भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसिदसहूँ ॥१॥

टीका—भाव कुभाव अनख तथा आलससे भी नाम जपनेसे दशों दिशामें मंगल होता है॥१॥

टिप्पणी (लक्ष्य)

(१) प्रथम यथा—" **भावसहित संकर जप्यो, कहि कुभाव मुनि बाल। कुंभकरन आलस जप्यो, अनख जप्यो दसभाल॥** " (विजय दोहावली) इनमें शिवजीका भावसहित जप यथा—" **तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥** " (बा० दो० १०७) तथा वाल्मीकिजीका कुभावजप—यथा—" **उलटा नाम जपत जग जाना। वाल्मीकि भए ब्रह्म समाना॥** " (अ० दो० १९३) पुनः आलससहित कुंभकरणका जप-यथा—" **राम रूप गुन सुमिरि मन, मगन भयउ छन एक।** " (लं० दो० ९२) इसमें ' **गुन** ' में नामका स्मरण जानना चाहिये क्योंकि, गुनसे भी नामका अर्थ होता है, यथा—बालकांड नवें दोहामें " **बिस्वबिदित गुन एक** " कहकर आगे तटस्थ चौ० में वह गुन नामहीको कहा है यथा—" **यहि महँ रघुपति नाम उदारा।** " इसे भूमिकामें विस्तारसे कह आये। तथा नाम संपूर्ण गुणोंका बीजरूप है, बा० दो० २९ में देखो। इसका यह सुमिरन आलससहित यों है कि, यह रावणके जगानेसे उठते ही अँगड़ाते हुए सुमिरन किया है और रावणका अनख जप यथा—" **कहाँ राम रन हतौं प्रचारी॥** " (लं० दो० १०२) ॥

(भावार्थ)

(क) अर्थात् चाहे शिवजीकी तरह आदरसहित तथा वाल्मीकिजीकी तरह उल्टा (अनादर) से जपे चाहे कुंभकरणकी तरह अँगड़ाते जमहाते अथवा चाहे रावणकी तरह वैर-भावसे सुमिरे सबओर मंगल ही मंगल है. यथा—" **तदेव लग्नं सुदिनं तदेव ताराबलं चन्द्रबलं तदेव। विद्याबलं दैवबलं तदेव सीतापतेर्नाम यदा स्मरामि॥** " (सुश्रुतसंहितायाम्) ' **दिसिदसहूँ** ' यथा-क्रमशः पूर्व (दिशा) अग्निकोण (विदिशा) वैसे ही दक्षिण, नैर्ऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर, ईशान, भूतल और आकाश यही दश दिशा हैं, इन्हें ही ऊपर सब ओर कह आये॥

नोट—१ यह चौपाई नामप्रसंगकी शोभासूचक फुलरारूप है ऊपर कह आये। अतः फुलरामें जैसे अनेकों सूत्र होते हैं, वैसे इसमें अनेक अर्थोंकी अपेक्षा होनेसे कहेंगे॥

(२) द्वितीय यथा—इसमें ' **दिसिदशहूँ** ' शब्द पृथ्वीमात्रका बोधक है उसका परिणाम शरीर है तिसमें भी दशेन्द्रिय दशदिशा हैं इनके द्वारा और मंत्रोंके जपनेमें विघ्न होते हैं तो वे मंत्र ही अमंगल करते हैं। इसका कारण यह है कि, इनके विषयोंसे जो मनकी वृत्ति अन्यत्र जाती है तो वे मंत्र अपना निरादर समझकर क्रोधसहित विघ्न करते हैं क्योंकि, जपकी ऐसी विधि है यथा—" **मनो मध्ये स्थितो मंत्रो मंत्रमध्ये स्थितं मनः । मनोमंत्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते ॥** " अर्थात् मनके मध्य मंत्र स्थित रहे जिससे वह कहीं डोले नहीं और मंत्रके अर्थ वा रूपमें मनकी वृत्ति लगी रहे इस प्रकारके मन और मंत्रके योगको जप कहते हैं इसी लिये उन विषयोंसे रक्षार्थ सब मंत्रोंके आराधनमें प्रथम दशोंदिशाका दिग्बंधन विधानपूर्वक किया जाता है तब वे मंगलप्रद होते हैं। परन्तु रामनाम ऐसी विधिकी अपेक्षा नहीं करते उपरोक्त भाव कुभावादिसे चाहे कैसेहूँ जपे मंगल ही करते हैं क्योंकि, आप पूर्णसमर्थ हैं इससे विचारते हैं कि, ये विचारे अजान हैं नहीं तो कुभावादि क्यों करते। जब हमारे सत्कारकी सामग्री (ज्ञानसंपत्ति) से रंक हैं तो क्या लेके सत्कार करें इससे कोपके अतिरिक्त कृपाही करते हैं जैसे कोई धनाढय किसी अपने कंगाल मित्रके यहाँ जानेपर अपने योग्य सत्कारके लिये मान नहीं करता इस कृपा गुणसे मंगल करना आगे भी कहेंगे ॥

(३) तृतीय यथा—दशदिशामय जो संसार है उससे भाव कुभावादि वर्तावसहित रहकर नाम जापकके तई तिनके अमंगलसे रक्षा करनेकी और उनसे मंगल करवानेकी प्रतिज्ञा करते हैं क्योंकि, बाधा वही करता है जिसके प्रतिकूल कार्य किया जाता हो। **शंका**—फिर भावसहित तथा आलसमें यह क्यों अमंगल करेगा ? **समाधान**—यहाँ कर्म करते हुए जपको भावसहित कहते हैं क्योंकि इससे जगत्के साथ भाव रहता है और शरणागति सहित जप आलससहित है क्योंकि इसमें जीव पुरुषार्थोंसे आलसी रहता है। उनमें निष्कामकर्म संसारसे प्रतिकूल कर देता है। यथा—" **धर्मते विरति योगते ज्ञाना ।** " (आ० दो० १७) और शरणागत तो प्रथमहीसे इस संसारके तीनों ऋण ही मार बैठता है इसीसे यह वैर करता है ॥

(अनुसंधानार्थ)

(कै) इस टि० में प्रथम चारोंका स्वरूप दिखाकर तब पृथक् २ उनका कार्य दिखावेंगे. यथा ' **भाय** ' अर्थात् जगत्से प्रीतिसहित साधन ' **कर्म** ' है. क्योंकि, इसमें प्रकृतिके गुण भूत देवताओंका सत्कार होता है और तीनों ऋणोंसे उऋण होकर मोक्षसाधन होता है यथा—" **सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः । अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥** " (गीता. अ० ३) इन कर्मोंको मोक्षकी विधि अर्थात् निष्कामता सहित करते हुए राम नाम जपनेवालेकी दशेन्द्रिय अमंगलसे रक्षा होती है और मंगल भी होता है। पुनः ' **कुभाय** ' अर्थात् जगत्से तथा दशेन्द्रियसमन्वित शरीरसे कुभाव अर्थात् प्रतिकूलतासहित ' **ज्ञान** ' होता है। यथा—" **जितिं पवन मन गो निरस करि मुनि**

ध्यान कबहुँक पावहीं ॥ " (कि० दो० १०) इसमें भी माया दशों दिशारूपा दशें-द्रियोंसे बहुत बाधा करती है। उत्तरकांडके ज्ञानप्रसंगमें प्रकट है इसमें भी नाम अमंगल मिटाकर मंगल ही करते हैं और जगत्से '**अनख**' भाव लिये हुए '**उपासना**' होती है क्योंकि, अनख नाम खीझ और कोहानेका है। जैसे रावण प्रतिबिंबरूपा सीताको हर ले गया तो वे कृपामई हैं परन्तु उसने विपरीत किया कि, शरण न होकर इन्हें पतिसे वियोग कराया इस कुपूतपनेपर आप खीझ गईं और कोहायके उसकी ओर ताकती भी न थीं. यथा—" **तृन धरि ओट कहति बैदेही ।** " (सुं० दो० ८) वहाँ यद्यपि उसका अंतरंगप्रेम था. यथा— " **मन महँ चरन बंदि सुख माना ।** " (आ० दो० २९) परन्तु प्रकटमें बहुत अमंगल किया। वहाँ श्रीजानकीजी जगत्के उपदेशार्थ श्रीरामनाम जपती हुई श्रीरामजीकी ध्यानात्मक उपासना करती थीं। यथा—" **नाम पाहरू दिवस निसि, ध्यान तुम्हार कपाट ।** " (सुं० दो० ३०) तो उस दशदिशारूप दशाननसे कुछ अमंगल न होने पाया और परिणाममें महामंगल हुआ। तथा '**आलसहूँ**' से **शरणागति** ऊपर कह आये इसमें दशेंद्रियाँ पुरुषार्थके तईं खींचती हैं उनसे निवहना कठिन है इसीसे 'आलसहूँ' पर जोर देकर कहे हैं कि, रामनाम इसमें भी मंगल ही करते हैं ॥

उपरोक्त कर्मादि चारोंका कार्य ।

(४) यथा '**कर्म**' यह अहंकारका कार्य है उसके देवता श्रीशिवजी हैं अर्थात् वे ही अनंतरूपसे सब जीवोंके कर्म कर्तृत्वके प्रकाशक हैं इसी लिये जगद्व्यापाररूप कर्मकी अमंगल-स्वरूपता अपने साजसे प्रकट दिखाते हैं यह साज ऊपर दो० २९ चौ० १ में लिख आये। आप नामका अवलंब लिये रहते हैं इससे एकहू अमंगलसे बाधा नहीं होती और ऐसे पुनीत रहते हैं कि, मृतकक्षार भी अंगसंग पाकर परमपावन होजाती है । यथा—'**भवअंगभूति मसानकी सुमिरत सुहावनि पावनी ॥**' (बा० दो० ९) इनके अमंगलराशिसे मंगलराशि होनेका प्रमाण पूर्व बा० दो० २९ चौ० १ में कह आये। तथा—"**यहि महँ रघुपति नाम उदारा। अतिपावन पुरान श्रुति सारा॥ मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी ॥** " (बा० दो० ९) यहाँके नामके विशेषण सहेतुक है। यथा—'**उदारता**' यह कर्म संबंधी गुण है एकसे अनंतदातृत्व सूचक है । तथा '**पावनता**' यह भी प्रायश्चित्त-रूपी कर्मका ही सूचक है और '**मंगल**' आदि कर्मके ही अंग हैं तथा अमंगलहरण भी शुभकर्मका ही परिणाम है अतएव जो कर्मवाले नामकी ओट रहेंगे, उन्हें अमंगलका कौन भय है और दशों दिशा मंगलकी क्या चिंता है शिवजीको ऊपर टि० (१) में भावसहित जापक सप्रमाण कह भी आये ॥

(कँ) '**ज्ञान**' का मंगलदातृत्व छठें संबंधके 'विश्वामित्र' के लक्ष्यमें है। क्योंकि, वहाँ '**सहित दोष दुख दास दुरासा**' के दलनेमें और ज्ञानीके दुःखनिवारणमें दशेंद्रियोंद्वारा अमंगल होनेकी निवृत्ति तथा दोष छुडानेमें उन्हीं २ इन्द्रियोंका मंगलरूप होना नामसे दिखा

आये विश्वामित्रजी जगत्से कुभाव किये हुए वनहीमें रहते थे और तप कर २ के इन्द्रियोंके साथ भी कुभाव ही रखते थे ॥

(खँ) ' अनघ ' से जो उपासनाका मंगलदातृत्व श्रीजानकीजीके लक्ष्यमें कह आये, वह दिखाते हैं. यथा—" **ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाऽव्ययं श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुंदरवरं संशोभितं सर्वदा ॥ संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनं धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ॥** " (कि० मं० श्लोक) अर्थात् इस श्लोकमें कलिमलरूपी रोगध्वंसक दिव्यऔषधिरूप श्रीरामनामामृतको श्रीजानकीजीका जीवन होना कहा गया इसका तात्पर्य यह है कि, इस दिव्य अमृतका प्रभाव दिखानेके लिये ही श्रीजानकीजीने अपना प्रतिविंबरूप लंकामें भेजकर उसकेद्वारा उपासनासहित नामाराधनकी रीति दिखाई है कि, जिससे सब कोई इसी तरह अपनी २ दशा भी समझें और इस नामसे लाभ उठावें, जैसे प्रथम चिकित्सासे रोग जाना जाता है तब दवासेवनरूप उपाय किया जाता है वैसे अपने प्रतिविंबरूपसे स्वेच्छापूर्वक श्रीजानकीजीने लंका जाकर इस कलिमल रोगका स्वरूप दिखाया है कि, जैसे उन्होंने श्रीरामजीको सत्यसंधादि गुणोंमें दृढ़ाकर कंचनमृगके पीछे दौडाया है फिर श्रीलक्ष्मणजीको भी वहीं भेजकर छलीरावणद्वारा हरी गई. इसी प्रकार जीव भी प्रथमोक्त आवरणप्रसंगके प्रथमावरणमें मनरूप मारीचकी तमोगुण वृत्तिके शब्दादिविषय सुखरूप कंचन मृगपर मोहित हुआ। पुनः सत्वगुणको ग्रहण करके तिसके पीछे अपने अंतरात्माको विवेकसहित दौडाया, यही श्रीरामजीका दौडाना हुआ, पुनः जो उसके साथ कर्मेच्छासे रजोगुण ग्रहण किया यही वैराग्ययुक्त ब्रह्मविचारपरायण श्रीलक्ष्मणजीका दौडाना हुआ और पीछे जो स्वभाववश हुआ, यही रावणवश होना है ॥

(गँ) पुनः जैसे वह रथपर लेजाकर उन्हें लंकाकी अशोकवाटिकामें कैदकी भाँति रक्खा, वैसे जीव भी मोहप्रेरित नवों आवरणरूप मार्ग ग्रहण करता हुआ प्रवृत्तिरूप लंकाकी अशोकवाटिकारूप शरीरमें कैद हुआ यहाँ प्रवृत्ति शरीरासक्तिको कहा है और शरीरको अशोकवाटिका इस लिये कहा है कि, अज्ञानी इसके कर्मजन्य सुखोंसे अशोक होना चाहते हैं जैसे वहाँ श्रीजानकीजीको राक्षसियाँ भयंकररूपसे डरवाती थीं, वैसे मुमुक्षुको मोहप्रेरित नानासंकल्पोंकी भयंकरतासे डरना चाहिये वैसी दशामें श्रीजानकीजीने परमोत्कृष्टसाधन नामकोही ग्रहण किया यथा—" **जेहि विधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम । सोइ छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरि नाम ॥** " (आ० दो० ३२) तथा—"**रामेति रामेति सदैव बुद्ध्या विचिंत्य वाचा ब्रुवती तमेव। तस्यानुरूपां च कथां तदर्थमेवं प्रपश्यामि तथा श्रृणोमि ॥** " (वाल्मी० सुं० सर्ग ३२) ऊपरके दोहेका आशय मुमुक्षुको अनुक्षण विचारना चाहिये और नाम जपते हुए छबिकी तरह उपरोक्त मोहवश होनेकी अपनी चूकको बुद्धिरूपी नेत्रसे अहर्निशि देखना चाहिये कि, हमारे ही अज्ञानसे मनरूप मृगाके पीछे पूज्य अंतरात्माको संसाररूपी वनमें योनिरूप कँटीलेवृक्षोंके शुभाशुभ कर्मरूप

काँटोंमें दौडनेसे वैसाही दुःख हुआ जैसे कि, श्रीरामजी अत्यन्त कोमलचरणोंसे उवाहने पाँय घोर वनके कँटीले मार्गमें छलाँग मारते हुए कपटी मृगाके पीछे धावनेमें दुःख उठाये हैं श्रीराम चरण सुकुमारता यथा–" **जानकी करसरोज लालितौ चिंतकस्य मनभृंगसंगिनौ ॥** " (उ० मंगला०) अतएव हमसे बडी ही चूक हुई, ऐसे पश्चात्तापसहित नाम रटना चाहिये, जैसे कि, श्रीजानकीजी रटती थीं । पश्चात्ताप-यथा–' **तात तोहूँसों कहत होति हिए गलानि । ०** ' (गी० सुं० ७) इस पदमें और इसके आगेके १७ वेंसे २० वें पद तकमें विचारना चाहिये । पुनः जैसे रावणके दिखाये हुए ऐश्वर्यको श्रीजानकीजी तुच्छ तथा दुःखमूल विचार कर न ताकती थीं, वैसे इस मुमुक्षु जापकको भी देहसुखमें न भूलना चाहिये और प्राकृतसंकल्पोंको राक्षसियोंके समान विचार कर डरना चाहिये, तब जैसे उन्हें श्रीहनूमान्‌जी प्राप्त हुए वैसे इसे भी प्रबल वैराग्य प्राप्त होगा. पुनः जैसे वहाँ श्रीहनूमान्‌जीने अशोक वाटिका उजारा और लंका जला दिया वैसे इसकी दृष्टिमें भी शरीरका सुख उजाडसम देख पडेगा और संसारी रमणीकता जली हुई खाकसम दिखावेगी । तब यह जीवरूपविभीषणजीकी तरह शुद्ध होकर शरण होगा तो नाम पूर्वके सातवें संबंधकी भाँति " **फिरत संनेह-मगन सुख अपने । नाम प्रसाद सोच नहिं सपने** " की अवस्था प्राप्त कराके दशोंदिशा मंगलमय कर देंगे क्योंकि, वहाँ विभीषणजी नित्य मंगलमय श्रीअवधके उछाहका अनुभव करते थे । यथा–' **नित नवमंगल कोसलपुरी । हरषित रहहिं लोग सब पुरी ॥** ' (उ० दो० १४) और दशोंदिशाके अमंगलकारक रावणका नाश पहिलेही हुआ । इस प्रकार नाम अनख भावके पोषक हैं ॥

(घँ) **शंका**–ऐसा विवेकमय कष्टसाध्य साधन प्राकृत जीवोंसे कैसे हो सकता है जैसे कि, श्रीजानकीजीने दिखाया है, यथा–"**अब जीवन कइ है कपि आस न कोय । कनगुरिया कइ मुँदरी कंकन होय ॥**" (वरवा रा०) तो लाभ कैसे होगा ? **समाधान**–इस लक्ष्यसे श्रीजानकीजीने भक्तिमार्गसहित नामाराधन उपदेशा है क्योंकि, भक्ति विवेकविरागसहितही श्रेष्ठ है यथा–"**श्रुति संमत हरिभगति पथ, संयुत बिरति विवेक ॥**" (उ० दो० ११०) इसीसे इसमें विवेक विरागादिकी पराकाष्ठा दिखाई गई है कि, जिससे जापक स्वसामर्थ्यानुसार निवृत्तिकी ओर चेष्टा किये हुए अगम देखकर उन (श्रीसीताजी) की भाँति अपनेको भी रमावनेकी इच्छा प्रकट करनेके लिये मुखसे 'श्रीसीताराम सीताराम' यह कहे तो इसकी श्रीसीताजीके लक्ष्यसे अपनी विपत्ति दिखाकर रामनामसे वैसी ही रक्षा चाहना सिद्ध होगा । इसमें वचनसे अनुकूलता होगी और कर्मेन्द्रियोंका राजा मुख जो इसमें लगा ही रहेगा तो कर्मसे भी अनुकूलता रहेगी और यथा शक्ति दीनतासे जो ऊपर पश्चात्ताप आदिमें कह आये, मनकी भी अनुकूलता रहेगी, क्योंकि दीनतासे पापोंका प्रायश्चित्त हो जाता है । अतः मन, वचन, कर्मसे जो यह उपरोक्त अभिलाषा प्रकट करेगा तो नामकामतरु शीघ्र ही पूरी करेंगे यथा–"**मन क्रम वचन छाँडि चतुराई । भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥**"

(वा० दो० १९९) इस प्रकार उपरोक्त 'श्रीजानकीजीवनम्' कहनेका अभिप्राय ग्रंथकारका जाना गया कि, जैसे श्रीजानकीजीने रोग स्वीकार करके चिकित्सा प्रकट की और नामको अपना जीवन दिखाया है वैसे ही सबको सेवन करना चाहिये अथवा युगलनाम द्वारा वैसी कामना प्रकट करके नामको अपना जीवन बनाना चाहिये। पुनः यह भी ध्यान देना चाहिये कि, श्रीजानकीजीका हरण और रावणवध आदि ही अवतारके मुख्य कार्य हैं, वे भी युगलनामाराधन प्रकाश करनेके निमित्त हैं तो यह युगलनामाराधन कितना दुर्लभ है तथा जीवोंके सुलभोद्धारका हेतु है जिसके लिये श्रीसीतारामजी अवतार लेते हैं और इसे कष्ट सहकर प्रकाश करते हैं। यथा–"**राम भगतहित नरतनु धारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥ नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥**" (वा० दो० २३) अतएव इस प्रकारसे प्रकट हुए युगलनाममें प्रेम न करना उनकी कृपाका निरादर करना है * ॥

दश नामापराधरक्षा।

(ङं) इस युगलनाम जपसे दशनामापराधरूप दशदिशासे भी अमंगल न होकर मंगल ही मंगल होता है यथा–शिववाक्यम् "**सीतया सहितं यत्र रामनामप्रकीर्तनम्। न तत्र नाम दोषाणां प्रवृत्तिः स्यात्कथंचन॥**" (लोमशसंहितायाम्) वह भी दिखाते हैं कि, श्रीसीतारामजी तत्त्वतः अभिन्न है यह पूर्व ही वा० दो० १८ में दिखा आये. अतः प्रथम सीता नाम सुनकर दंपतिका हृदय कृपामय होजाता है तो पीछे राम शब्द रमावनेके लिये उत्साहित करता है क्योंकि, श्रीजानकीजी कृपारूपिणी हैं यह भी पूर्व वा० दो० १८ में विस्तारसे दिखा आये। इस कृपागुणके उदयमें सर्वज्ञता जो सब जीवोंके पापोंकी चुगली करती है और सर्वशक्तिमत्ता जो दंड देनेमें प्रवृत्त करती है, इन दोनोंकी कुछ नहीं चलती. क्योंकि, कृपाका प्रभाव ही बढ चढकर है यथा–"**रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसंधाना कृपा सा पारमेश्वरी॥**" (भगवद्गुणदर्पणे) अर्थात् जीवमात्रकी रक्षा करनेको मैं ही एक परमसमर्थ हूं ऐसा अनुसंधान करना परमेश्वरकी कृपा है इसके अनुसार जीवोंके पतित होनेमें श्रीसीतारामजी अपनी असावधानी समझते हैं तो उन्हें जीवोंके अपराध देख ही नहीं पडते, तब नामापराध भी इसी गुणमें हवन होते हैं और 'राम' शब्दार्थसे रमावनेकी प्रेरणा होती है तो उस सामर्थ्यके आगे एक जीवका रमावना कुछ भी नहीं रह जाता, जहाँ ऐसी प्रभुता है कि–"**जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकरते त्रयलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम असनामा। अखिललोक दायक विश्रामा॥**" (वा० दो० १९६) यह

नोट– * उपरोक्त युगलनाम महत्त्वका एक सामान्य अंश यहाँ कहा गया और भी विशेषरूपमें कहेंगे। यहाँ श्रीजानकीजीने अपने नरनाट्यसे जीवोंका शृंगार किया है, जैसे माता बालकोंका करती है कि, जिससे पिताकी भी गोदमें बैठनेके योग्य हो जाय और आगे युगलनामका अभिन्नरूपसे अर्थ और महत्त्व कहेंगे॥

कृपाशब्द 'कृपू-सामर्थ्ये' धातुसे होता है । अतः कृपालु अर्थात् सामर्थ्यवान् अपनी आवश्यकता वहाँ समझता है, जहाँ कोई असमर्थ अर्थात् दीन हो, यथा—"**जब लगि मैं न दीन दयालु तैं ।**" (वि० ११४) इससे ऊपर टि० (वँ) के पश्चात्तापपूर्वक दीनताकी यहाँ भी अपेक्षा है । इस दीनतासे कृपा देवीका घूस (रूशवत) खाना न समझना चाहिये. क्योंकि, यह कोई साधन या गुणविशेष नहीं है, यह (रोना आदि दीनता) तो जीवमें सहज है यथा—बालक पैदा होते ही रोता है तो क्या वह गुण अथवा पुरुषार्थ कहायेगा ? अतएव दीनतासमेत युगलनामाराधनसे नामापराध भी न होगा और शीघ्र कल्याण होगा ॥

(चँ) यहाँ उपरोक्त दशों नामापराधोंके पृथक् २ स्वरूप दिखाकर युगल नामाराधनसे तिनकी निवृत्ति दिखाते हैं । यथा—शिवसंहितायाम् हनुमद्वाक्यमगस्त्यं प्रति—" **सन्निन्दा सतनामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधीरश्रद्धा श्रुतिशास्त्रदेशिकगिरा नामार्थवादभ्रमः । नामास्तिक्यनिषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ च धर्मान्तरैः साम्यं नाम च शंकरस्य च हरेर्नामापराधा दश ॥** " अर्थात् प्रथमापराध संतोंकी निंदा सुनना है. क्योंकि, इनसे ही नामकी ख्याति होती है । यह ' कान ' की मलीनता (प्रमाद) से होता है । दूसरा ' **सतनामवैभव** ' अर्थात् भगवन्नामके ऐश्वर्यको जैसे अजामिलादि प्रसंगमें है, सामान्य कथारूप कहना अपराध है. क्योंकि, लघुता होती है । यह ' वाक् ' प्रमादसे होता है और तीसरा ' **श्रीश ईश योः** ' अर्थात् विष्णुभगवान् और शिवजीमें भेदबुद्धि करना अपराध है, क्योंकि अत्यन्त तितिक्षासहित शिवजीने वैराग्यकरके कामको जीता वैसे ही विवेकद्वारा विष्णुभगवान्‌ने क्रोधको जीता तब सजाती होनेसे ऐक्य हुआ । यह बा० दो० २९ चौ० ३ में विस्तारसे कह आये । यह विराग और विवेक दोनों मिलकर त्वग्विषय निवृत्तिके साधन हैं, क्योंकि देह और आत्माका विवेक होनेपर भी विराग विना देहासक्ति नहीं छूटती. वैसे ही विराग होनेसे ही विवेक होता है और केवल विरागसे विवेक विनाभी देहासक्ति नहीं निवृत्त होती । यथा—"**बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु ।**" (उ० दो० ८९) अतएव त्वग्विषयके प्रमादसे गुणोंसहित इनमें प्रेम न होकर भेदबुद्धि होती है, क्योंकि त्वग्विषय (स्पर्श) का निवर्तक विवेकसहित विराग है, वह तितिक्षासे होता है, यह जब प्रिय होती तो इनमें प्रीति होती । चौथा—' **अश्रद्धाश्रुति** ' अर्थात् वेदप्रतिपादित प्रधानतया कर्मकांड है, तिनमें अरुचि कर्मेन्द्रियहस्तप्रमादसे होती है. भाव यह कि, इनमें आस्तिक्य रहनेसे नामसे ही इनके भी फल आ जाते हैं, क्योंकि नामकामतरु सर्वधर्ममय हैं । पाँचवाँ शास्त्रमें अश्रद्धा अर्थात् शास्त्रोंमें प्रधान वेदान्त है उसके सिद्धान्तमें प्रधानतया दृश्यपदार्थको अनित्य विचारकर त्यागना कहा है, उसमें अरुचि उपरोक्त रीतिसे ' नेत्र ' प्रमादसे होती है । छठवाँ देशिकगिरामें अश्रद्धा अर्थात् आचार्यकी वाणीमें अश्रद्धा करना अपराध है, क्योंकि वे मंत्रअनुसार इष्टका ध्यान, लीला, नाम और धामका निवास बतलाकर उपासना दृढ़ाते हैं, जिससे सजातियोंके संगसे भक्ति पीन हो, इसमें अरुचि ' पग ' प्रमादसे होती है जब तक कि,

उसमें इधर उधर विचरनेका विषय रहता है। सातवाँ '**नामार्थवादभ्रमः**' अर्थात् नाम महत्त्वको प्रशंसामात्र समझना कि, जैसे सामान्य तीर्थों व्रतोंका महत्त्व कोटिन यज्ञफल आदि उनमें प्रीतिके लिये कहा जाता है वैसे यह नामका भी महत्त्व है यह अपराध है क्योंकि, नाम सर्व धर्ममय है, जितना कहा जाय थोड़ा ही है। यह 'रसना' के प्रमादसे होता है, क्योंकि, धर्ममय प्रतीति करके नाम जपनेसे धर्मोंका फल वैराग्य होता है तो सब इन्द्रियोंको रस दे २ कर पोषनेवाली रसनाका निरोध होता है, यह अप्रिय लगनेसे इस अपराधकी रुचि होती है, आठवाँ '**नामास्तिक्यनिषिद्धवृत्तिः**' अर्थात् नामके विश्वाससहित निषिद्धवृत्ति रखना, निषिद्ध अर्थात् जिसे घृणित विचारकर लोग नाम भी नहीं लेते, निषिद्धकाम, बुराकाम अथवा व्यभिचार आदि कहकर जनाते हैं, वह परस्त्रीगमन, 'लिङ्गेन्द्रिय' प्रमादसे होता है यह मर्यादा पुरुषोत्तमके नामके विश्वासपर करना उनकी निन्दा कराना भारी अपराध है। नवाँ '**त्यागौ च धर्मान्तरैः**' अर्थात् नामबलसे वर्णाश्रमधर्म त्याग देना अपराध है, क्योंकि इन धर्मोंका आस्तिक्य रखकर नाम जपसे पहिले संबंधमें कहे हुए, तीनों ऋण निवृत्त होते हैं, तब संसारसुख तथा स्वर्गादि सुखकी वासना निवृत्त होती है अतः यह अपराध 'नासा' प्रमादसे जानना चाहिये। तथा दशवाँ–'**साम्यं नाम च शंकरस्य च हरेः**' अर्थात् श्रीरामनाम सम शिवजीके नामको मानना दशवाँ अपराध है, क्योंकि नामहीके बलसे शिवजी विसर्ग (त्यागनेके) योग्य जो पाप (दुःख) रूप चिताभस्म, साँप, बिच्छू, भाँग आदिके विसर्ग (त्याग) विना भी एकरस आनंदपूर्ण रहते हैं, पूर्व बा० दो० २९ चौ० १ में दिखा आये, यदि स्वयं समर्थ होते तो नामकी ओट क्यों लेते, तब जो रूपमें सामर्थ्य नहीं है तो नाममें कहाँसे आवेगा। अतएव इष्टकी समता करनेसे शिवजी दुःखी होते हैं, यह अपराध भी इस लाभकी अरुचिसे होता है, यह विसर्गविषय 'गुदा' इन्द्रियका है परमार्थसाधनपक्षमें गुदाका और उपरोक्त नासाका यही दोनोंविषय (जो यहाँ कहा है) ग्रहण होता है इसका स्वरूप पूर्वोक्त आवरणप्रसंगके नवेंमें प्रकट है। इस प्रकार यहाँ दशों नामापराध दशेन्द्रियप्रमादसे होना सिद्ध हुआ। इसका कारण यह है कि ऊपर टि० (२) में जो इन्द्रियविषयोंसे चंचलमनके दोषसे जपकी अविधि होना तथा मंत्रके देवताका निरादर होना कह आये, वही बात यहाँ भी जानना चाहिये, परंतु वहीं पर जो रामनामको सामर्थ्यवान् दिखाकर क्षमा करना कहा था। वह सामर्थ्य दिखाते हैं जो अन्य नाम व मंत्रोंमें नहींसा है॥

(छ) यह भी कहा है कि नामापराधियोंके अपराध विशेषरूपसे निरंतर नामजपद्वारा निवृत्त होते हैं यथा–"**नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरंत्यघम्। अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि यत्॥**" (पद्मपुराणे श्रीसनत्कुमारवाक्यम्) इसका हेतु यह है कि, पूर्व बा० दो० १९ चौ० ८ के '**जीह जसो०**' में दिखा आये कि, रसनाके रटनसे ही सर्वाङ्गशुद्धि होती है, क्योंकि यह (रसना) सब इन्द्रियोंमें प्रमादकारक है वहींपर रामनामका ऐश्वर्य देखना चाहिये॥

(ञँ) पुनः यही दशेन्द्रिय प्रमादजन्य नामापराधकी निवृत्ति युगलनाम जपसे अति सुगमतासे दिखाते हैं। यथा—नामीके गुणकी शक्ति नामद्वारा जापकका कार्य रूपकी तरह करती है, यह पूर्व ही प्रमाणसहित बा० दो०२३ चौ० १—२ में कह आये, इससे प्रथम सीतानाम लेनेसे उनकी वह शक्ति कि, जिससे वे दशाननकी ओर न ताकती थीं. इस जापकको दशेन्द्रियासक्ति (जो रावणरूप मोहकी ही कार्यावस्था है) निवारण करनेका कार्य वैसा ही करेगी तब यह भी दशेन्द्रियोंकी ओर न ताकेगा, इससे अपराध होगा ही नहीं ॥

(झँ) तथा ऊपर टि० (घँ) के अनुसार भी जो इसकी प्रार्थना मन वचन कर्मसे श्रीसीताजीकी भाँति रमावनेकी होगी तो यह नामापराधवाली परिस्थितिका अभिमानी न रह जायगा और वह दोष बरबस नियुक्त करनेवाली प्रकृतिपर पर्यवसान होगा पुनः यह नामकृपासे शुद्ध हो जायगा यहाँ और ऊपरके सब भाँतिसे नामापराधनिवारणमें दशोंदिशाका मंगल हुआ ॥

(ञँ) इस लिये युगलनाम जपना ही उपासनाका सारसिद्धान्त है। प्रमाण यथा—"**सीता विना भजेद्रामं सीता रामं विना भजेत्। कल्पकोटि सहस्रैस्तु लभते न प्रसन्नताम्**" (जानकीविनोदविलासे) तथा शिवपुराणे शंकरवाक्यं नारदं प्रति—"**सीतयासहितं राम नाम जाप्यं प्रयत्नतः। इदमेव परंप्रेम कारणं संशयं विना ॥**" तत्रैव नारदवाक्यं याज्ञवल्क्यं प्रति—"**सीतयासहितं राम नाम येषां परंप्रियम। त एव कृत कृत्याश्च पूज्याः सर्वसुरेश्वरैः ॥**" पुनः बृहन्नारदीयपुराणे नारदवाक्यम्—"**आदौ सीता पदं पुण्यं परमानंददायकम् । पश्चाच्छ्रीरामनाम्नस्तु कथनं संप्रशस्यते ॥**" इत्यादि बहुत हैं ॥

(टँ) पुनः '**आलसहूँ**' पर जो ऊपर टि० (३) में शरणागतिसहित जपमें मंगल कह आये वह दिखाते हैं यथा—"**पाई न गति केहि पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना। गनिका अजामिल व्याध गीध गजादि खलतारे घना ॥ आभीर जवन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम वारेक तेऽपि पावन होत राम नमामि ते ॥**" (उ० दो० १२९) यहाँ ग्रंथकारने दश प्रकारके आलसियोंको इकट्ठा दिखाकर इनके एक २ दिशाके अमंगल निवारणमें नामके दशोंदिशाका मंगलदातृत्व दिखाया है दिशारूपमें यहाँ ऊपर टि० (२) के अनुसार इन्द्रियाँ ली गई हैं। तिनमें प्रथम कर्मेन्द्रियोंसे दिखाते हैं। यथा—'गणिका' इसका वर्णन पूर्वोक्त बा० दो० २९ चौ० ७ में कर आये, इसे पापोंसे पूर्ण तथा दुःखमें सनी हुई जानकर नामने उसका जो विसर्गविषय था (त्यागनेयोग्य कुसाज था कि, दशोंदिशा अर्थात् हरतरफ के लंपटोंका संग था) उसमें ही उसे सुवा पढानेके व्यसनमें मंगलरूप कर दिया। यहाँ 'विसर्ग' विषयके मंगल करनेमें पृथ्वीतत्त्वकी कर्मेन्द्रियका अमंगल मिटा (इन्द्रिय प्रमाण ऊपर टि० (चँ) में देखो) पुनः 'अजामिल' यह वेश्यागामी 'लिंगेन्द्रिय' का प्रमादी था उसका मंगल करनेमें जलतत्त्वकी कर्मेन्द्रियका अमंगल मिटाना हुआ तथा—'गीध' यह पगका प्रमादी था, क्योंकि पक्षीके

पगका गमन विषय पंखसे होता है, उससे ही उड़कर उसने सूर्यका निरादर करना चाहा था, उसका मंगल करनेमें अग्नितत्त्वकी कर्मेन्द्रियका अमंगल नाश करना है। तथा 'व्याध' अर्थात् वाल्मीकिजी हस्तके प्रमादसे नित्य २ कोटिन ब्राह्मणोंकी हत्या करते थे, इनका मंगल करनेमें पवनतत्त्वकी कर्मेन्द्रियका अमंगल मिटा। पुनः 'गज' यह अपने मुखरूपी सूँडसे समस्त प्रमाद करता था उसका मंगल करके आकाशतत्त्वकी कर्मेन्द्रियसे रक्षा दिखाये। (इति कर्मेन्द्रिय)। तथा 'आभीर' अर्थात् वृजकी ग्वालिनी, उन सबोंने रामनामके अवताररूप श्रीकृष्णजीकी बँसुरीमें श्रवणेन्द्रियसे आसक्त होकर काममोहित होनेमें अमंगलसाज सजाया तो भी मंगलमय हुईं। (अ० प्र० नं० ८ में तथा नवें संबंधमें भी दिखा आये) यहाँ आकाशतत्त्वकी ज्ञानेन्द्रिय 'श्रवण' का अमंगल हरण है। पुनः 'जवन' यह स्पर्शविषयके भयसे डरकर हराम कहा, कि इस (शूकर) ने हमें छूकर ढकेल दिया, इसमें पवनतत्त्वकी त्वगेन्द्रियके अमंगलसे रक्षाकर संपूर्ण मंगल सजाये। तथा 'किरात' अर्थात् चित्रकूटके कोलभिल्लादि जो दिन रात नेत्रोंसे यही ताका करते थे कि, कौन २ जीव मारें, वा किसे लूटें। यथा—"**पापकरत निशिवासर जाहीं। नहिं कटि पट नहिं पेट अघाहीं॥ सपनेहुँ धर्मबुद्धि कस काऊ। यह रघुनन्दन दरस प्रभाऊ॥ जवतें प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥**" (अ० दो० २९०) इसमें '**दरसप्रभाऊ**' और '**निहारे**' के अनुसार 'नेत्र' का मंगल सजाये। तथा- '**दुख दोष**' मिटनेमें ऊपर टि० (कँ) के अनुसार दशों दिशाका मंगल प्रत्यक्ष है। इसमें अग्नितत्त्वकी ज्ञानेन्द्रियका अमंगल दूर हुआ। तथा—'खस' अर्थात् खसी जो वकरा हैं, तिनके काटनेवाले जो सधनकसाई थे, वे भोजनादि सामग्रीके लिये 'रसना' के प्रमाद करके ऐसा काम करते थे। इसमें जलतत्त्वकी ज्ञानेन्द्रियका अमंगल मिटाकर मंगल सजाये, तथा—'स्वपच' भक्त वाल्मीक नामके द्वापरमें हुए, जिनके ग्रासप्रति युधिष्टिरकी यज्ञमें घंटा वजा था, इनका 'नासा' का अमंगल साज मिटा क्योंकि इनकी जातिसे माल्म होता है कि, जो महादुर्गंधयुक्त श्वान तथा सियार (गीदड) भी पचा जाते हैं, दुर्गंधसे वमन नहीं होजाता और हरएक खाद्यका प्रभाव है कि, वह गंधानुसार शुद्धाशुद्धवासना उपजाती है वह मिटकर नामप्रभावसे इनकी लोकोत्तर शुद्धवासना हुई, इन्हें श्रीकृष्णभगवान्ने ही जाना इससे ज्ञात होता है कि, जो नामके सिवाय अन्य भक्ति होती तो किसी भाँतिसे कोई तो जानता ही, पुनः अन्य धर्मोंका अधिकार भी न था। यहाँ पृथ्वीतत्त्वकी ज्ञानेन्द्रियका अमंगल मिटाकर मंगल सजाये। इस प्रकार पुरुषार्थके आलसियोंका नामने एक दिशा (विषय) के अमंगल हरणके साथ २ दशोंसे मंगल किया क्योंकि, प्रत्येक तत्त्वोंमें पंचीकरणकी रीतिसे पाँचों रहती हैं, तिनमें जब एकसे डरकर नामकी ओट भये तो नामने अपनी उदारतासे उनमें मिश्रिततत्त्वोंकी भी समूल बाधा हरण करके संपूर्ण मंगल सजाया॥

पुनः अर्चिरादिमार्गक्रम ।

(९) पूर्वोक्त बा० दो० २७ की टि० (६) में इस मार्गके नवें 'विद्युत्लोक तकका पहुँ-

चना दिखा आये कि, श्रीरामनाम ही विद्युत्की तरह नरसिंहरूपसे इस (जापक) को गोदमें लेते हैं, किंतु वहाँ दोहेके **'पालिहिं'** इस भविष्यपालनेकी प्रतिज्ञासे पाया गया कि, वहाँ यह विद्युत्की सन्निधिमात्र पाया था, पालन कार्य शेष था, उसे इस तटस्थ चौपाईके प्रथमके **' भाव '** शब्दसे दिखाते हैं * इसका अर्थ यहाँ प्यारका है इससे विद्युत्का प्यारसहित गोदमें लेना हुआ। इस भाव शब्दमें विद्युत्का स्वरूप भी है यथा-**' भू-सत्तायाम् '** इस धातुसे भावका अर्थ प्रकाश हुआ क्योंकि, सत्तासे प्रकाश अर्थ होता है। यथा-**' यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलम्० '** (बा० मं-श्लोक) अतएव भाव शब्दसे प्रकाशमय विद्युत्का अपने लोककी सीमातकका लेजाना दिखाये पुनः जैसे विद्युत् उस ज्ञानीभक्तको ' वरुणलोक ' तक ले जाती है वहाँसे वरुणको भी साथ लेकर ' इन्द्रलोक ' तक जाती है. तहाँसे वरुणको लौटाकर फिर इन्द्रको साथ लेती है और ' ब्रह्माके लोक ' तक जाती है तब इन्द्रको भी लौटा देती है और ब्रह्मासहित साकेतलोकके समीप गोलोककी सीमातक जहाँ ब्रह्मज्योति है जाती है, वहाँ उस भक्तको भगवत्पार्षद आदरसे लेकर लिवा जाते है यह सब जापकका दिखाते हैं यथा- विद्युत्के आगे जो वरुणलोक है तहाँके वरुणदेवताका भी भावसहित अर्थात् आरती मंगल आदि करके लेना आगेके **' कुभाव '** से सूचित होता है यथा-जब विद्युत्ने भावसे लिया तो **'कु'** अर्थात् जो जीवोंसे सदा कुत्सितवर्ताव रखनेवाला वह भी ' भाव ' अर्थात् प्रीति (वैसे ही) करता है यह कुत्सितवर्ताववाला वरुण है क्योंकि, वह रसनाका देवता है उसकी विषमतासे रसनाद्वारा नानारसोंको पा २ कर इन्द्रियाँ प्रवल होकर शत्रुता करती हैं। यथा-**' इन्द्रियाणि पराण्याहुः '** (गीता. अ० ३) यहाँ जीव तो विद्युत्के साथ ही रहता है परंतु वरुण भी इसकी आरती मंगल आदि करके साथ २ जाते हैं पुनः **' अनख '** से आगेके ' इन्द्रलोक ' की यात्रा दिखाते हैं पूर्वके भाव शब्दका प्रयोग क्रमानुसार इसके तथा आगेके ' आलसहूँ ' शब्दतक जानना चाहिये। ' अनख ' अर्थात् सुकृत व परमार्थ साधनरूप हितमें जीवोंके साथ अनख अर्थात् वैरभाव इन्द्रका रहता है क्योंकि, इसने नारदजीके ध्यानमें और श्रीभरतजीकी चित्रकूटयात्रामें विघ्न करना चाहा था. तथा राजा शिवि आदिसे भी ऐसे ही किया था। अतः अनखवर्ताववाले जो इन्द्र हैं वे भी वैसे ही भाव करते हैं यहाँसे जापक विद्युत् और इन्द्रसहित इन्द्रलोकका मार्ग देखता हुआ चलता है। पुनः**' आलसहूँ '** से ब्रह्माके लोककी प्राप्ति दिखाते हैं. यथा जीवोंके परमार्थसाधनमें ब्रह्माजी आलससहित वर्ताव रखते हैं क्योंकि, इनके चारों मुखसे उच्चरित जो वेद हैं तिनमें प्रधानतया कर्मकांडकी झोंक है तदनुसार कभी हरिकृपासे जीव त्रिजगयोनिसे छूटकर शूद्रजन्म पाता है उसमें विधिवत् वर्णधर्म निर्विघ्न होजावे तो दूसरे जन्ममें वैश्य हो, फिर वैसे ही धर्म होनेसे दूसरे जन्ममें क्षत्री हो, पुनः पूर्ववत् निर्वाह होजाय और ब्राह्मण होनेपर त्यागसहित धर्म निर्विघ्न करे तो मोक्ष प्राप्त हो, इतने

नोट-* यहाँसे आगेके लोकोंको संकेतकी रीतिसे ग्रंथकारने इस एक ही चौ० में रख दिया है क्योंकि जीवको कुछ करना नहीं हैं जाननामात्र है॥

जन्मोंमें जो कहीं सकामता आदि चूक हो जाय तो फिर चौरासी जाना पडता है ऐसे वर्ताववाले ब्रह्माजी भी भावकरके लेते हैं (यह भाव शब्द क्रमशः आया) और विद्युत्के साथ अपने लोकका मार्ग दिखाते हुए चलते हैं तब आगेके ब्रह्मलोक अर्थात् गोलोकको सीमातकका पहुँचना श्रीगोस्वामीजीने '**मंगल दिसि दसहूँ**' कहकर जनाया है क्योंकि गोलोकके दशोंदिशामें लोकप्रकाशब्रह्म है अर्थात् गोलोकसे परे नित्यअयोध्या (साकेतलोक) है उसी गोलोकके सब ओर ब्रह्मज्योति है। यथा—"**ब्रह्मज्योतिरयोध्यायाः प्रथमावरणे शुभम् । यत्र गच्छन्ति कैवल्याः सोहमस्मीति वादिनः ॥**" तथा—"**गोलोकाच्च परो ज्ञेयः साकेतोऽन्तःपुरप्रियः । गोप्याद्गोप्यतरा गोप्या साऽयोध्यातीव दुर्लभा ॥**" (महारामायणे) अतः इस गोलोककी सीमापर जहाँ दशोंदिशा ब्रह्मज्योति है वहाँ भी भगवत्पार्षद इसका मंगल करके लेते हैं यही 'मंगल दिसि दसहूँ' से लक्षित किया है, यह '**मंगल**' शब्द अंतमें लिखकर फिर '**दिसि दसहूँ**' पर जोर देके कहे हैं इसीसे पूर्व सर्वत्रका मंगल (आरती आदि) जानना चाहिये । वहाँसे फिर विद्युत् और ब्रह्मा दोनों लौट आते हैं और जापक अपने भावानुसार श्रीसीतारामजीकी सेवामें प्राप्त होता है इस चौ० में भी '**नामजपत**' लिखकर दिखाये कि यहाँ तकका यह महत्पुरुषार्थका फल केवल नाम जपते जपते ही प्राप्त होता है किसी २ के मतमें ब्रह्माके लोकमें जीवोंको महाप्रलय तक ठहरना पडता है परंतु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें श्रुतिप्रमाणसहित उपरोक्त ही सिद्धान्तभूत क्रम है कि जीव सीधा नित्यधाममें ही जाकर ठहरता है । यथा-श्रुतिः"**अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवंत्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासा॰स्तान्मासेभ्यः संवत्सर॰संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते**" (छांदो० अ० ४।१९) तथाच—"**स एतं देवयानं पंथानमापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोक॰स वरुणलोक॰स आदित्यलोक॰स चन्द्रलोक॰स प्रजापतिलोक॰स ब्रह्मलोकम् ॥**" इस श्रुतिमें '**स प्रजापतिलोकम्**' के पीछे फिर '**स ब्रह्मलोकम्**' यह लिखा है, इससे प्रजापतिलोकसे तो ब्रह्माका लोक आ ही गया तो पीछेका ब्रह्मलोक वही उपरोक्त गोलोकका बोधक है. ऊपर बा० दो० २७ टि० (६) में जो चतुर्मुख (ब्रह्मा) के लोक तक बारह मार्ग कहे थे उससे आगे यह गोलोक तेरहवाँ है सीधे ब्रह्मलोकप्राप्तिके और भी प्रबल प्रमाण हैं । यथा—श्रुतिः "**अथैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ॥**"(छांदो०) जैसे यह नामाराधन सब साधनोंका राजा है वैसेही इसके आश्रितकी राजमार्ग (आर्चिरादि) से सादरयात्रा भी दिखाये हैं ॥

ग्रंथिके फुलराका रूपक ।

(६) पूर्वोक्त बा० दो० २७ टि० (६) में इस 'तत्त्वार्थसुमिरनी' टीकाका सुमेरु

दिखाकर इस चौपाईसे उसका फुलरा दिखाना कहे थे वह दिखाते हैं कि, जैसे सुसेरुसे निकले हुए दो सूतोंमें अनेक सूतोंकी मिलित चार शाखायें बाँधी जाती हैं वैसे इस चौ० का **'भाव'** शब्द ऊपर टि० (९) के अनुसार सुमेरुके 'नरसिंहरूप' से बाँधा हुआ है जहाँ निर्गुण सगुण दो सूते दिखा आये थे, क्योंकि, वहां जो विद्युत्का रूपक नरसिंहजीमें दिखाये थे वही यहाँके भाव शब्दमें भी आया और सूत्रोंकी चार शाखारूप भाव, कुभावादि चारों हैं जिनमें अनेक अर्थरूप सूत्र हैं । पुनः फुलराका रंग प्रायः लाल होता है कि, जिससे लाल रंगवाले अनुरागका उद्दीपन हो वैसे यहाँ भी **' मंगल '** शब्द है इसी नामवाले मंगल देवताका भी रंग लाल ही होता है । भाव यह कि इसके अनेकार्थ विचारनेसे तथा मार्गोंका मंगल आदि फल विचार करनेसे सहजमें ही अनुराग होगा यही इसकी ललाई है । पुनः जैसे फुलराका शिरोभाग छत्राकार आकाशमंडलसम गोलाकार होता हैं वैसे ही इसमें **' दिसि दसहूँ '** में प्रकट है । यह रूपक सूक्ष्ममें कहा गया विशेष विचारकरके जानना चाहिये ॥

प्रकरण सारांश ।

इस प्रकरणके प्रथम दोहार्थमें जीवका अनित्यशरीरसंबंध छूटना कहा गया और मंत्रसंस्कारका साक्षात्कार हुआ तथा आर्चिरादिमार्गके आठवें लोकतकका पार होना कहकर उसीमें सुमेरुका रूपक भी दिखाया गया । पुनः इस चौपाईमें समष्टिमें नाममाहात्म्य कहा गया और आर्चिरादिमार्गकी पूर्ति हुई तथा टीकाके फुलराका रूपक भी स्पष्ट हुआ ॥

अथ अखिलप्रकरण नं० १० ।

अथ जापकके हृदयरूप गर्भमें नामकी अवस्था और अवतारका प्रसंग ।

(१) जैसे दशवाँ मास लगते ही गर्भसे बालक पैदा होता है तो उसके सर्वाङ्ग देख पडते हैं, वैसे नव संबंधके नव दोहोंके आगे दशवें दोहेमें नामरूप नरसिंहके जन्मका संपूर्णरूपक कह आये वहाँ नामके पंचसंस्काररूप अंग भी देख पडे जैसे जीवोंके जन्ममें सजातीय हर्षते हैं, वैसे इनके जन्ममें ब्रह्मादिक हर्षे और जैसे लोकमें बारहौं तक मंगलगान होता है वैसे यहाँ भी अर्चिरादिमार्गके बारहलोकोंका मंगल होना है । पुनः बालकका नामकरण होता है वैसे इनका भी ऊपर दो० की टि० (९) में **' नरकेसरी '** यह नाम करण प्रसिद्ध हुआ । यहाँ इनके जन्मोत्सवकी मंगल बधाई और बारहौं पर्यंत हुआ ॥

अथ नामरूप ईश्वरकी द्वितीयभावानुसार पंचधास्थिति ।

(२) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (वे) के क्रमसे यहाँ **' अर्चावतार '** का प्रसंग है वह दोहार्थमें प्रकटा, क्योंकि, वहाँ जापकके देहरूपी खंभामें पंचसंस्काररूप अंगोंसमेत नामकी आकृति देख पडना कहा गया उसमें चार प्रकारके अर्चारूपोंमें सबसे श्रेष्ठ स्वयंव्यक्त

स्वरूप है क्योंकि, उपरोक्त खंभासे स्वयं प्रकट हुए कहीं २ स्वयंव्यक्तविग्रह प्रकटमें भी आश्रितोंकी रक्षा करते हैं. वैसेही ये भी प्रह्लादरूप जापक पुजारीकी रक्षा किये। चरित्रभागके भी इस प्रसंगमें अर्चावतारका रूपक ग्रंथकारने कहा है। यथा—"**काढि कृपान० तवतें सब पाहन पूजन लागे ॥**" (इसे पूर्व बा० दो० २६ चौ० ५ में लिख आये) ॥

अथ नामांतर दश अवतारोंके साक्षात्का प्रसंग।

(३) पूर्व बा० दो० २० के '**कल्कीअवतार**' के अनुसंधानका यहाँ साक्षात्कार हुआ। वह अवतार घोर कलियुगमें रक्षार्थ होगा वैसे यहाँ इनका भी '**कनककसिपु कलिकाल**' से रक्षार्थ है। पुनः वह भविष्यमें होगा वैसे नामके भी इस लक्ष्यका प्रयोजन जापकके मृत्युकालमें होनेसे भविष्यकी रक्षा है ॥

अथ नामांतर भक्तिरसप्रकरण।

(४) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (४) के क्रमसे यहाँ '**शांतरस**' की सिद्धावस्थाका प्रसंग है। इसका साधनांग अ० प्र० नं० ५ टि० (४) में कहा गया था वहाँ जो अंतर्यामीके साक्षात्कारमें रसकी पूर्ति कहे थे वह यहाँ सब हुई और प्रह्लादजीके समान जापकका लक्ष्य था वे शांतरसमें ही गिने जाते हैं ॥

अथ नामांतर पंचसंस्कारप्रसंग।

(५) पूर्वोक्त अ० प्र० नं० १ टि० (५) के क्रमसे यहाँ '**मंत्र**' संस्कारकी सिद्धावस्थाका प्रसंग है वह दोहार्थमें दिखा आये और मंत्रसिद्धिमें देवता प्रकट होता है वैसे वहाँ मंत्रके देवतारूप नाम अंगसहित प्रकट हुए ॥

अथ नामान्तर भक्तिप्रकरण।

(६) इसके पूर्व अ० प्र० नं० ९ टि० (६) में '**प्रौढ़ा**' भक्ति दिखा आये। यहाँ भी उसीकी स्थाईदशा थी, किंतु इतनी विशेषता हुई, कि वहाँ स्वभावादिबाधासे कुछ २ विक्षेप भी होता रहा और यहाँ उन सबका बीज ही न था, एकरस आनंदमय अवस्थासहित नित्यधामकी प्राप्ति हुई ॥

अथ नामान्तर ज्ञानप्रकरण।

(७) इसके पूर्व अ० प्र० नं० ९ टि० (७) में ज्ञानकी पूर्णावस्थाकी निर्विघ्नस्थिति दिखा आये। यहाँ विशेषता यह हुई कि, वहाँ (ज्ञानप्रकरणमें) घुनाक्षरन्यायकी सिद्धि कही हुई है और अनेकों विघ्नोंकी शंकाभी थी. किंतु जापककी यहाँ सहजमें प्रह्लादकीसी सिद्धावस्था रही, जिसमें अनेकों विघ्न कुछ न करसके और उनको ब्रह्मानंद ही प्राप्त होता है. जो इस सगुणप्राप्तिवालेके परमानंदसे न्यून है यथा—"**इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा ॥**" (बा० दो० २१५) यह श्रीजनकजीका वचन है जो सिद्ध ज्ञानियोंमें अग्रगण्य हैं जिनकी भगवान्‌ने श्रीमुखसे प्रशंसा किया है। यथा—

" कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । " (गीता. अ० ३) अतएव उस उत्तरकांडके स्वतंत्रज्ञानका भी सर्वस्व इस नामाराधनके एकांशमें ही स्थित है ॥

अथ नामान्तरभगवत्साधर्म्यप्राप्ति ।

(८) पूर्वके अ० प्र० नं० ९ टि० (८) में जो ' **परधामा** ' की अवस्थामात्र आना कहे थे । वह यहाँ साक्षात् नित्यधाम (परधाम) की प्राप्ति दिखाई गई तब यह भी भगवत्की तरह अक्षय परधामका रहनेवाला (परधामा) हुआ. यथा—"**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायंते प्रलये न व्यथंति च ॥**" (गीता. अ० १४)

अथ नामान्तर पंचकोशोत्क्रमणक्रम ।

(९) पूर्व अ० प्र० नं० ९ टि० (९) में जापककी ' **आनंदमय** ' कोशमें स्थिति दिखा आये । यहाँ उसी अवस्थासहित इसकी कोशाधार अनित्यशरीर संबंधसे भी पृथक् होकर नित्यधामकी प्राप्ति दिखाई गई ॥

नवों दोहोंके सारांशमें अर्थपंचक ।

यथा—" **ज्ञेयं प्राप्यस्य रामस्य रूपं प्राप्तुस्तथैव च । प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च ॥ अर्थपंचकमेतत्तु संक्षेपेण वदामि ते ।**" (श्रीहनुमत्संहिता अ० ७) अर्थात् श्रीरामजीका ज्ञेयस्वरूप (१) प्राप्त होनेवाला जीवस्वरूप (२) प्राप्तिका उपाय (३) फल (४) तथा प्राप्तिके विरोधीका जानना (५) अर्थपंचकज्ञान कहाता है, वह इस नामप्रसंगमें दिखाते हैं । यथा—पहिले संबधसे पाँचवें (ज्ञातृ-ज्ञेय सं०) तकमें प्रत्येक संबंधके अ० प्र० टि० (२) में क्रमशः पाँचोंरूप ईश्वर (श्रीरामजी) के दिखाये गये हैं । और छठें संबंधमें चित्तशुद्धिसमेत गीधराजके लक्ष्य तकमें ' जीवस्वरूप ' का ज्ञानानंद स्वरूपतादि छवों लक्षणोंसमेत ज्ञान हुआ तथा सातवें संबंधमें विरोधीका स्वरूप अर्थात् त्रिगुणात्मक मायाका स्वरूप और उसकी तीनों अवस्था तथा तीनों शरीरोंका ज्ञान हुआ । पुनः आठवें संबंधमें फलस्वरूपका साक्षात्कार हुआ, क्योंकि वहाँ ही जीवके ज्ञानानंदस्वरूपतादि छवोंगुणोंकी निर्विघ्नस्थिति तथा प्रकृतिसे वियुक्त विज्ञानमयकोशका साक्षात्कार हुआ और नवें संबंधमें प्राप्तिका उपायस्वरूप साक्षात्काररूपमें दिखाया गया, क्योंकि उसका संबंधोद्धार ' **जीह जसोमति** ० ' (बा० दो० १९ चौ० ८) से है उसी लक्ष्यपर नवें संबंधभरमें रामनामका जीवके विचारादिनिमित्तविना, श्रीराम स्नेहके साधनीभूत चारों युग तथा चारों वेदोंके धर्मोंका दातृत्व दिखाया गया है और अकेले ही नामका उनकी काल, कर्म, गुण, स्वभावकी बाधाहरण करना भी प्रत्यक्ष हुआ तथा जीवको नित्यधाम पर्यंत पहुँचाना नामका ही दिखाया गया । अतएव संबंधोद्धारसहित नवेंसंबंधका विचार कर केवल जिह्वासे नामरटना ही सर्वोपरि सिद्धान्तभूत उपाय है ॥

अथ नव दोहोंके हेतु ।

इस नामप्रकरणके नव दोहोंमें कहे जानेके अनेकों हेतु जान पडते हैं, तिनमेंसे कुछ लिखते हैं:—

(१) नाम ग्रंथकारके इष्ट हैं, पूर्व ही भूमिकामें दिखा आये । इस लिये अंकोंकी सीमा नवही तक विचारकर नव दोहोंमें परत्व कहे हैं तदनुसार कल्याणदायक पुरुषार्थोंकी सीमाका भी इन्हींमें पर्यवसान किये अर्थात् आगे जो कोई अन्यपुरूषार्थोंको खोजे तो शून्य ही हाथ लगेगा, क्योंकि विघ्नोंसे निर्वाह न होगा और इनका तो एकरस निर्वाह करना दिखा आये । कहा भी है, यथा—" **तुलसी अपने रामको भजन करहु निःशंक । आदि अंत निर्बाहिवो जैसे नवको अंक ॥** " (तुलसी सतसई) तथा—" **रामनाम छोड़ि जो भरोसो करै और रे । तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे ॥** " (वि० ६७) ॥

(२) नामसे भये हुए नव ही संवंध हैं तथा जीव और ईश्वरके नव आवरण भी दिखा आये । अतः संवंधोंसे आवरणोद्धार हेतु भी नव ही दोहे हैं ।

(३) भगवत्साधर्म्यके एक अनीहादि नव गुणोंके प्राप्त्यर्थ भी ।

(४) ब्रह्मके जाननेके लिये ब्राह्मणके नव गुण होते हैं, वैसे नामने भी ब्रह्मका परिज्ञान नव दोहोंके स्वरूपसे प्रकट किया है, इस लिये भी ।

(५) नव दोहोंमें कहकर यह भी दिखाये हैं कि, जैसे नवका पहाडा लिखते हुए जोड़नेपर नहीं घटता, अर्थात् दूने तिगुने आदिमें यकाई दहाई जोड़नेपर समान ही रहता है । यथा—" **जैसे घटत न अंक नव, नवके लिखत पहार ।** " (तुलसी सतसई) वैसे ही यह नामाराधन कैसे हूँ काल तथा बाधामें न घटेगा ॥

(६) जैसे बालक गर्भमें आकर नव मास पीछे जन्म लेता है, वैसे ही, इनका भी गुरुरूप पिताद्वारा हृदयरूप गर्भमें आकर नवसंबंधज्ञानरूप नव मासपर साक्षात्रूप जन्म दिखानेके हेतुसे भी. (यह प्रत्येक अ० प्र०की टि० (१) में दिखाते आये हैं)

(७) श्रीरामजीका जन्म वनगमन तथा राज्याभिषेक, सब नवमी २ तिथिको हुए, इसी लिये उनके नामका भी नरकेसरी अवतार नवें दोहारूप नौमी तिथिमें कहे हैं ।

(८) नवों अवतारोंके गुण प्रकटनार्थ भी क्योंकि, दशवाँ अवतार तो अंतिम दोहामात्रमें है ॥

(९) ग्रंथकारको यह नामप्रकरण सुमिरनीके रूपकमें कहना अभीष्ट था, वह आगे टीकाके नामकरणमें दिखावेंगे । सुमिरनी प्रायः सत्ताईस मणिकाकी होती है और नव दोहारूप नव मणिकाके प्रत्येकमें जो नामके तीन (र अ म) वर्णोंके अर्थ हैं, वही नवके तिगुने २७ होते हैं, इस विचारसे भी नव ही दोहे हैं ॥

टीकाका नामकरण ।

ऊपरके नवें हेतुमें इस टीकाका सुमिरनीस्वरूप लिख आये । पुनः ऊपर इसके सुमेरु और फुलरा भी प्रकट हैं यहाँ अब नामकरण दिखाते हैं कि, फुलराकी चौ० '**भाय कुभाय०**' के